HI-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

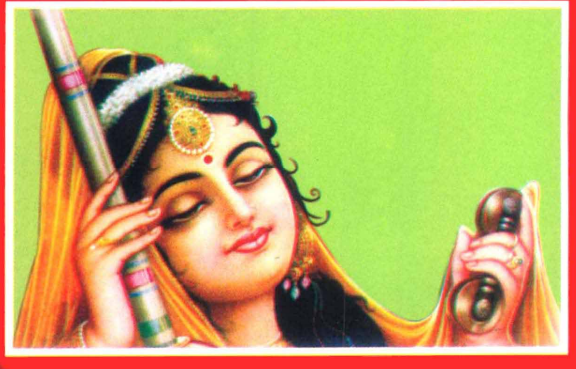

राजस्थान का इतिहास

(प्रारंभ से 1956 ई. तक)

HI-02

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा (राज.)

राजस्थान का इतिहास (प्रारंभ से 1956 ई. तक)

पाठ्यक्रम निर्माण समिति (Course Development Committee)

अध्यक्ष

प्रोफेसर (डॉ.) नरेश दाधीच

कुलपति

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

संयोजक

डॉ. याकूब अली खान

सह-आचार्य, इतिहास

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सदस्य

1. **प्रो.(डॉ) के.एस. गुप्ता**
   सेवानिवृत्त आचार्य, इतिहास
   मोहन लाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
2. **प्रो. रहमान अली**
   सेवानिवृत्त आचार्य, इतिहास
   विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन
3. **प्रो. जी.एस. व्यास**
   सेवानिवृत्त आचार्य, इतिहास
   एम.डी.एस. विश्वविद्यालय, अजमेर
4. **प्रो. सैयद जहीर हुसैन**
   आचार्य, इतिहास
   दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
5. **डॉ. बी.के. शर्मा**
   सह-आचार्य, इतिहास
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा
6. **डॉ. कमलेश शर्मा**
   सह-आचार्य, इतिहास
   वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

सम्पादन एवं पाठ्यक्रम लेखन

सम्पादक

प्रो. टी.के. माथुर

सेवानिवृत्त आचार्य, इतिहास

एम.डी.एस. विश्वविद्यालय, अजमेर

इकाई लेखक	इकाई संख्या	इकाई लेखक	इकाई संख्या
• **डॉ. एच.सी. जैन** व्याख्याता, इतिहास राजकीय महाविद्यालय, अजमेर	(1)	• **डॉ. जगदीश मीणा** व्याख्याता, इतिहास राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर	(2)
• **डॉ. ललित पाण्डेय** निदेशक, साहित्य संस्थान राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर	(3)	• **डॉ. एस.के. पुरोहित** सेवानिवृत्त सह-आचार्य, इतिहास जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर	(4)
• **प्रो. जी.एस. व्यास** सेवानिवृत्त आचार्य, इतिहास एम.डी.एस. विश्वविद्यालय, अजमेर	(5)	• **डॉ. ओ.पी. शर्मा** सेवानिवृत्त व्याख्याता अजमेर	(6)
• **डॉ. जे.के. ओझा** जैन महाविद्यालय, कानौड़ जिला उदयपुर	(7)	• **प्रो. जिगर मोहम्मद** आचार्य, इतिहास जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू	(8)
• **डॉ. चन्द्र मणी सिंह** निदेशक जवाहर कला केंद्र, जयपुर	(9)	• **डॉ. तारा जैन** व्याख्याता, इतिहास राजकीय महाविद्यालय, पाली	(10)
• **डॉ. मकसूद अहमद खान** व्याख्याता, इतिहास अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़	(11)	• **डॉ. एच.एस. शर्मा** सेवानिवृत्त संयुक्त निदेशक राजस्थान डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स जयपुर	(12)
• **डॉ. इकबाल फातिमा** व्याख्याता, इतिहास राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़	(13)	• **डॉ. के.सी. माथुर** व्याख्याता,इतिहास राजकीय महाविद्यालय, भीलवाडा	(14)

- **डॉ. मीना गौड़** (15)
  सह-आचार्य, इतिहास
  मोहन लाल सुखड़िया विश्वविद्यालय,
  उदयपुर
- **डॉ. विनीता परिहार** (16)
  सह-आचार्य, इतिहास
  जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
  जोधपुर
- **डॉ. निधि शर्मा** (17)
  व्याख्याता, इतिहास
  राजकीय महाविद्यालय, कोटा
- **डॉ. सज्जन पोसवाल** (18)
  व्याख्याता,इतिहास
  राजकीय महाविद्यालय, झालावाड़

अकादमिक एवं प्रशासनिक व्यवस्था

प्रो. नरेश दाधीच	**प्रो. एम.के. घड़ोलिया**	**योगेन्द्र गोयल**
कुलपति	निदेशक	प्रभारी
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,कोटा	**संकाय विभाग**	पाठ्य सामग्री उत्पादन एवं वितरण विभाग

पाठ्यक्रम उत्पादन

योगेन्द्र गोयल

सहायक उत्पादन अधिकारी,

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

पुनः उत्पादन अगस्त 2012 ISBN NO- 13/978-81-8496-087-7

इस सामग्री के किसी भी अंश को व. म. खु. वि., कोटा की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप मे 'मिमियोग्राफी' (चक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

व. म. खु. वि., कोटा के लिये कुलसचिव व. म. खु. वि., कोटा (राज.) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित

वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय, कोटा

राजस्थान का इतिहास (प्रारम्भ से 1206 ई. तक)

		पृष्ठ संख्या
इकाई -1	राजस्थान इतिहास के स्रोत	8
इकाई -2	प्रागैतिहासिक राजस्थान	29
इकाई -3	कलिबंगा, आहाड़ और बैराठ के संदर्भ में प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक राजस्थान	41
इकाई -4	जनपद युगीन राजस्थान	54
इकाई -5	राजपूतों की उत्पत्ति	78
इकाई -6	पृथ्वीराज चौहान त्रित्या एवं उसका युग	85
इकाई -7	महाराणा कुंभा, राणा सांगा, एवं महाराणा प्रताप के अधीन मेवाड़	101
इकाई -8	राजपूत– मुगल संबन्ध, आमेर के मानसिंह, बीकानेर के रायसिंह, मारवाड़ के जसवंत सिंह एवं जयपुर के सवाई जयसिंह के विशेष संदर्भ में	129
इकाई -9	मध्यकालीन राजस्थान में कला, स्थापत्य, एवं चित्रकला	140
इकाई -10	मध्यकालीन राजस्थान में भक्ति आन्दोलन	159
इकाई -11	मध्यकालीन राजस्थान में सूफी आन्दोलन	172
इकाई -12	राजस्थान में ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना-सन् 1817-18 ई. की संधियाँ : कारण,धाराएँ एवं प्रभाव	187
इकाई -13	1857 ई. का विप्लव: कारण एवं परिणाम	201
इकाई -14	राजस्थान मे किसान आन्दोलन : बिजौलीय एवं शेखावटी	219
इकाई -15	गोविन्दगिरि एवं मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में राजस्थान में आदिवासी आन्दोलन	236
इकाई -16	राजस्थान के स्वतन्त्रता आन्दोलन में प्रजामण्डलों का योगदान-मेवाड़, जोधपुर, भरतपुर के विशेष संदर्भ में	250
इकाई -17	राजपूताने की रियासतों का विलय तथा राजस्थान राज्य का निर्माण	266
इकाई -18	राजस्थान में महिलाओं की स्थिति तथा उनके उत्थान का प्रयास	279

इकाई-1

राजस्थान के इतिहास स्रोत

(Sources for the History of Rajasthan)

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

(अ) पुरातात्विक स्रोत

1.2 उत्खनित पुरावशेष

1.3 शिलालेख

1.3.1 संस्कृत शिलालेख

1.3.2 फारसी शिलालेख

1.4 ताम्रपत्र

1.5 सिक्के

1.6 स्मारक एवं मूर्तियाँ (दुर्ग, मन्दिर, स्तूप तथा स्तम्भ)

1.7 चित्रकला

(ब) साहित्यिक स्रोत

1.8 संस्कृत साहित्य

1.9 राजस्थानी साहित्य

1.9.1 साहित्यिक ग्रन्थ

1.9.2 रासो साहित्य

1.9.3 ख्यात साहित्य

1.10 फारसी भाषा में लिपिबद्ध साहित्य

(स) पुरालेखीय सामग्री

1.11 प्रमुख पुरालेखीय सामग्री

1.12 अन्य अभिलेखीय सामग्री

1.13 सारांश

1.14 बोध प्रश्न

1.15 सन्दर्भ ग्रन्थ

1.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अनुशीलन के पश्चात् आप यह जान सकेंगे कि

- राजस्थान के इतिहास स्रोत के रूप में पुरातात्विक स्रोतों का क्या महल है?

- उत्खनित पुरावशेश शिलालेख, ताम्रपत्र, सिक्के, स्मारक, मूर्तियाँ इत्यादि किस तरह राजस्थान का विश्वसनीय इतिहास प्रस्तुत करते हैं?
- क्या साहित्यिक स्रोत राजस्थान के इतिहास की कड़ियों को जोड़ने में सहायक है?
- पुरालेखीय सामग्री आधुनिक राजस्थान के इतिहास लेखन का ताना-बाना बुनने में किस तरह सहायक हे?
- राजस्थान के इतिहास स्रोत के रूप में पुरातात्विक, साहित्यिक तथा पुरालेखीय स्रोतों का
- तुलनात्मक अध्ययन ।
- आधुनिक काल में किन विद्वानों एवं इतिहासकारों ने राजस्थान के इतिहास को एक निश्चित स्वरूप देने की कोशिश की ।

1.1 प्रस्तावना

प्रारम्भ से ही भारतीय इतिहास में राजस्थान का महत्वपूर्ण स्थान रहा है । जब हम स्रोतों को आधार बनाकर राजस्थान के इतिहास की चर्चा करते हैं तो यह ऊपरी पायदान पर दिखाई देता है । किसी भी काल का इतिहास लेखन हम प्रामाणिक स्रोतों के बिना नहीं कर सकते हैं । राजस्थान के सन्दर्भ में इतिहास लेखन हेतु पुरातात्विक, साहित्यिक और पुरालेखीय सामग्री के रूप में सभी प्रकार के स्रोत उपलब्ध हैं । ये स्रोत हमारे वर्तमान ज्ञान के आधार पर राजस्थान का एक ऐसा चित्र प्रस्तुत करते हैं कि किस तरह मानव ने राजस्थान में कालीबंगा, आहड़, गिलूंड, गणेश्वर इत्यादि स्थलों पर सभ्यताएं विकसित की । इससे पूर्व भी मानव ने बागौर जैसे स्थलों पर प्रस्तरयुगीन सभ्यताओं का निर्माण किया था । स्वतन्त्रता से पूर्व राजस्थान का विशाल प्रदेश अनेक छोटी-बडी रियासतों में विभाजित था । इन सभी रियासतों का इतिहास अलग-अलग था और यह इतिहास सामान्यतः उस राज्य के संस्थापक तथा उसके घराने से ही प्रारम्भ होता था और उसमें राजनैतिक घटनाओं तथा युद्धों के विवरणों का ही अधिक महत्व था । अन्य राज्यों का उल्लेख प्रसंगवश किया जाता था । समूचे राजस्थान का इतिहास लिखने की दिशा में पहला कदम मुहणोत नैणसी ने उठाया । आधुनिक काल में सबसे पहले जेम्स टॉड ने समूचे राजस्थान का इतिहास लिखा और एक नई दिशा प्रदान की । तदन्तर कविराजा श्यामलदास गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जैसे मनुष्यों ने राजस्थान के इतिहास में विविध आयाम जोडकर पूर्णता प्रदान करने की कोशिश की ।

इतिहास मानव विकास-क्रम की सुसंगत एवं क्रमबद्ध जानकारी प्राप्त करने का एक श्रेष्ठ साधन है, जिसे ज्ञान की मानविकी शाखा के अन्तर्गत रखा जाता है । यह उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर भूतकाल में घटित घटनाओं, संस्कृति की धाराओं तथा मानव की विभिन्न क्षेत्रों में प्राप्त उपलब्धियों अथवा असफलताओं का तथ्यात्मक एवं विश्लेषणात्मक अभिज्ञान कराकर हमारे ज्ञान के क्षितिज को विस्तारित करता है । इस दृष्टि से इतिहास कला एवं विज्ञान दोनों है । जिन नानाविध साधनों एवं साक्ष्यों का अज्ञात अथवा अल्पज्ञात इतिहास को जानने-समझने के लिए प्रयोग किया जाता है, वो इतिहास को जानने के स्रोत अथवा साधन कहलाते हैं ।

यह तो नहीं कहा जा सकता है कि राजस्थान का इतिहास प्रसिद्ध होते हुए भी इतिहासविहीन रहा है । वस्तुत भारत में राजस्थान उन गिने-चुने स्थलों में रहा है, जहाँ अभिलेखों तथा अन्य माध्यमों से ऐतिहासिकता को अंकित करने की परम्परा की शुरुआत हुई । निसन्देह समय के प्रवाह तथा निरन्तर

युद्धों की घटनाओं से राजस्थान की प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष ऐतिहासिक सामग्री शनै शनै नष्ट होती गई । इसके अतिरिक्त इतिहास के प्रति उदासीनता के भाव ने भी इतिहासकारों के लिए राजस्थान के प्राचीन एवं मध्यकालीन आधुनिक इतिहास लेखन के लिए चुनौती खड़ी की है । राजस्थान इस दृष्टि से सौभाग्यशाली रहा है कि यहीं जेम्स कर्नल टॉड से पहले मुहणोत नैणसी जैसे ख्यात लेखकों ने इस अंचल का इतिहास लिख दिया था जो यद्यपि मूल रूप से मारवाड को केन्द्र में रखकर लिखा गया था । टॉड ने 19 वीं शताब्दी के तीसरे दशक में आधुनिक पद्धति से राजस्थान के इतिहास लेखन की एक अद्वितीय पहल की । टॉड का इतिहास 'एनल्स एण्ड एण्टीक्वीटीज ऑफ राजस्थान' दोषपूर्ण होते हुए भी आज राजस्थान के सन्दर्भ में 'मील का पत्थर है । इसमें उसके द्वारा संग्रहित अभिलेखों, सिक्कों, बहियों, खातों आदि के आधार पर लिखा मेवाड, मारबाड, बीकानेर, जैसलमेर, सिरोही, बूँदी ब कोटा का इतिहास है । टॉड के इतिहास के प्रकाशन के पश्चात् ही राजस्थान के इतिहास लेखन के प्रति देश-विदेश के विद्वानों की रुचि जागत हुई और राजस्थान के विभिन्न स्रोतों की खोज का जो सिलसिला प्रारम्भ हुआ, वह आज भी जारी है । इस शोधपूर्ण खोज में कविराजा श्यामलदास, मुंशी देवीप्रसाद, सूर्यमल्ल मीसण, दयालदास सिंढायच, बांकीदास, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, विश्वेश्वरनाथ रेऊ, जगदीश सिंह गहलोत, रामकर्ण आसोपा मुंशी ज्वाला सहाय, रामनाथ रतनू, हरविलास शारदा (सारडा), अगरचन्द नाहटा, लुई जिपिओ तैस्सितोरी, मथुरालाल शर्मा दशरथ शर्मा, गोपीनाथ शर्मा, रघुवीर सिंह आदि का अति महत्वपूर्ण योगदान रहा । सम्प्रति वी.एस. भटनागर, के.एस. गुप्ता, के.सी. जैन, आरपी. बास, जी.एस.एल. देवडा, दिलबाग सिंह, भंवर भादानी, देवीलाल पालीवाल आदि विद्वान इतिहासकारों के द्वारा राजस्थान के इतिहास को समृद्ध बनाने की कोशिश जारी है ।

(अ) पुरातात्विक स्रोत

पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री का राजस्थान के इतिहास के निर्माण में एक बड़ा स्थान है । इसके अन्तर्गत खोजों और उत्खनन से मिलने वाली ऐतिहासिक सामग्री है । गोपीनाथ शर्मा ने लिखा है, "यह ठीक है कि ऐसी सामग्री का राजनीतिक इतिहास से सहज और सीधा सम्बन्ध नहीं है, परन्तु इमारतें भवन, किले, राजप्रसाद, घर, बस्तियाँ, भग्नावशेष मुद्राएँ, उत्कीर्ण लेख, मूर्तियाँ, स्मारक आदि से हम ऐतिहासिक काल क्रम का निर्धारण तथा वास्तु और शिल्प-शैलियों का वर्गीकरण कर सकते हैं । जन-जीवन की पूरी झांकी पुरानी बस्तियों तथा अन्य प्रतीकों से प्रस्तुत की जा सकती है । स्मारकों के अध्ययन से न केवल स्थापत्य और मूर्तिकला ही जानी जाती है, अपितु उनसे उस समय के धार्मिक विश्वास, पूजा-पद्धति और सामाजिक जीवन पर भी प्रकाश पडता है । प्रागैतिहासिक काल से मध्यकाल के अनेक भग्नावशेष तत्कालीन अवस्था का चित्र हमारे सम्मुख उपस्थित करते हैं । इसी प्रकार सिक्के, शिलालेख एवं दान-पत्र भी अपने समय की ऐतिहासिक घटनाओं एवं स्थिति के साक्षी है । पुरातात्विक सामग्री का अध्ययन हम निम्न भागो में कर सकते हैं ।

1.2 उत्खनित पुरावशेष

इतिहास लेखन को नए आधार पर खडा करने हेतु इतिहासकारों का ध्यान लम्बे समय से राजस्थान के पुरातत्व की ओर है । प्राक् ऐतिहासिक एवं ऐतिहासिक राजस्थान के इतिहास को जानने के लिए पुरातात्विक साक्ष्य राजस्थान में बडी मात्रा में उपलब्ध हैं । पुरातात्विक स्रोतों में उत्खनित पुरावशेष, मृद्भाण्ड, औजार एवं उपकरण, शैलचित्र, शिलालेख, सिक्के, स्मारक (दुर्ग, मन्दिर, स्तूप,

स्तम्भ), मूर्तियाँ आदि प्रमुख हैं । राजस्थान में पुरातात्विक सर्वेक्षण कार्य सर्वप्रथम (1871 ई.) प्रारम्भ करने का श्रेय ए.सी.एल. कार्लाइल को जाता है । कालान्तर में राजस्थान में व्यापक स्तर पर उत्खनन कार्य प्रारम्भ किया गया । इसका श्रेय एस.आर. राव, डी.आर. भण्डारकर, दयाराम साहनी, एच.डी. सांकलिया, बी.एन. मिश्र, आर.सी. अग्रवाल, बी.बी. लाल, एस.एन. राजगुरू, डी.पी. अग्रवाल, विजय कुमार, ललित पाण्डे, जीवन खरकवाल जैसे विद्वानों को जाता है । इन विद्वानों द्वारा किये गये उत्खननों से यह प्रमाणित हुआ कि यहाँ पाषाणयुगीन एवं ताम्रपाषाण कालीन संस्कृतियाँ अवस्थित थी । उत्खननों द्वारा जो पुरावशेष प्राप्त हुए हैं, वे वस्तुत इतिहास लेखन के लिए सामग्री उपलब्ध करवाते हैं । इन पुरातत्ववेत्ताओं की बागौर कालीबंगा, नगरी, बैराठ, आहड, गिलुण्ड, तिलवाडा, गणेश्वर रंगमहल, रेढ़ सांभर, मण्डोर डीडवाना सुनारी, नोह, जोधपुरा बालाथल आदि के उत्खनन कार्य में महत्वपूर्ण भूमिका रही । इन स्थानों से प्राप्त सामग्री के आधार पर राजस्थान की कई नवीन संस्मृतियों का ज्ञान होता है । यहाँ से प्राप्त पाषाण उपकरण, मृद्भाण्ड, धातु उपकरण, आभूषण तथा दैनिक जीवन में काम आने वाली अनेकानेक वस्तुएँ आदि की सहायता से संस्तृतियों के विकासक्रम को समझने में सहायता मिलती है ।

राजस्थान की अरावली पर्वत श्रृंखला में तथा चम्बल नदी की घाटी में ऐसे शैलाश्रय प्राप्त हुए हैं, जिनसे प्रागैतिहासिक काल के मानव द्वारा प्रयोग में लाये गये पाषाण उपकरण, अस्थि अवशेष एवं अन्य पुरा सामग्री प्राप्त हुई है । इन शैलाश्रयों की छत, भित्ति आदि पर प्राचीन मानव द्वारा उकेरे गये शैलचित्र तत्कालीन मानव जीवन की झलक देते हैं । इनमें सर्वाधिक आखेट दृष्य उपलब्ध होते हैं । बूँदी में छाजा नदी तथा कोटा में चम्बल नदी क्षेत्र उल्लेखनीय है । इनके अतिरिक्त विराटनगर (जयपुर), सोहनपुरा (सीकर) तथा हरसौरा (अलवर) आदि स्थलों से चित्रित शैलाश्रय प्राप्त हुए हैं ।

1.3 शिलालेख

पुरातात्विक स्रोतों के अन्तर्गत अन्य महत्वपूर्ण स्रोत अभिलेख हैं । इसका मुख्य कारण उनका तिथियुक्त एवं समसामयिक होना है । ये साधारणत पाषाण पट्टिकाओं, स्तम्भों, शिलाओं, ताम्रपत्रों, मूर्तियों आदि पर खुदे हुए मिलते हैं । इनमें वंशावली, तिथियाँ, विजय, दान, उपाधियाँ, शासकीय नियम, उपनियम, सामाजिक नियमावली अथवा आचार संहिता, विशेष घटना आदि का विवरण उत्कीर्ण करवाया जाता रहा है । इनके द्वारा सामन्तों, रानियों, मन्त्रियों एवं अन्य गणमान्य नागरिकों द्वारा किये गये निर्माण कार्य, वीर पुरूषों का योगदान, सतियों की महिमा आदि जानकारी मिलती है । इनकी सहायता से संस्कृतियों के विकास क्रम को समझने में भी सहायता मिलती है । प्रारम्भिक शिलालेखों की भाषा संस्कृत है, जबकि मध्यकालीन शिलालेखों की भाषा संस्कृत, फारसी, उर्दू राजस्थानी आदि है । जिन शिलालेखों में मात्र किसी शासक की उपलब्धियों की यशोगाथा होती है, उसे 'प्रशस्ति' भी कहते हैं । महाराणा कुम्भा द्वारा निर्मित कीर्ति स्तम्भ की प्रशस्ति तथा महाराणा राजसिंह की राज प्रशस्ति विशेष महत्वपूर्ण मानी जाती है । शिलालेखों में वर्णित घटनाओं के आधार पर हमें तिथिक्रम निर्धारित करने में सहायता मिलती है । बहुत से शिलालेख राजस्थान के विभिन्न शासकों और दिल्ली के सुल्तानों तथा मुगल सम्राटों के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हैं । शिलालेखों की जानकारी

सामान्यत विश्वसनीय होती है परन्तु यदा कदा उनमें अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी पाया जाता है, जिनकी पुष्टि अन्य साधनों से करना आवश्यक हो जाता है । यहीं हम राजस्थान के चुने हुए प्रमुख शिलालेखों का ही अध्ययन करेंगे, जिससे उनकी उपयोगिता का उचित मूल्यांकन हो सके ।

1.3.1 संस्कृत शिलालेख

घोसुण्डी शिलालेख (द्वतीय शताब्दी ईसा पूर्व) यह लेख कई शिलाखण्डों में टूटा हुआ है । इसके कुछ टुकड़े ही उपलब्ध हो सके हैं । इसमें एक बड़ा खण्ड उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है । यह लेख घीसुण्डी गाँव (नगरी, चित्तौड) से प्राप्त हुआ था । इस लेख में प्रयुक्त की गई भाषा संस्कृत और लिपि ब्राह्मी है । प्रस्तुत लेख में संकर्शण और वासुदेव के पूजा ग्रह के चारों ओर पत्थर की चारदीवारी बनाने और गजवंश के सर्वतात द्वारा अश्वमेघ यज्ञ करने का उल्लेख है । इस लेख का महत्व द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व में भागवत धर्म का प्रचार, संकर्शण तथा वासुदेव की मान्यता और अश्वमेघ यज्ञ के प्रचलन आदि में है ।

मानमोरी अभिलेख (713 ई.) यह लेख चित्तौड के पास मानसरोवर झील के तट से कर्नल टॉड को मिला था । चित्तौड की प्राचीन स्थिति एवं मोरी वंश के इतिहास के लिए यह अभिलेख उपयोगी है । इस लेख से यह भी ज्ञात होता है कि धार्मिक भावना से अनुप्राणित होकर मानसरोवर झील का निर्माण करवाया गया था ।

सारणेश्वर प्रशस्ति (953 ई.) उदयपुर के श्मशान के सारणेश्वर नामक शिवालय पर स्थित इस प्रशस्ति से बराह मन्दिर की व्यवस्था, स्थानीय व्यापार, कर, शासकीय पदाधिकारियों आदि के विषय में पता चलता है । गोपीनाथ शर्मा की मान्यता है कि मूलत यह प्रशस्ति उदयपुर के आहड गाँव के किसी वराह मन्दिर में लगी होगी । बाद में इसे वहाँ से हटाकर वर्तमान सारणेश्वर मन्दिर के निर्माण के समय में सभा मण्डप के छबने के काम में ले ली हो ।

बिजौलिया अभिलेख (1170 ई.) यह लेख बिजौलिया कस्बे के पार्श्वनाथ मन्दिर परिसर की एक बड़ी चट्टान पर उत्कीर्ण है । लेख संस्कृत भाषा में है और इसमें 93 पद्य हैं । यह अभिलेख चौहानों का इतिहास जानने का महत्त्वपूर्ण साधन है । इस अभिलेख में उल्लिखित 'विप्र: श्रीवत्सगोत्रेभूत्' के आधार पर डॉ. दशरथ शर्मा ने चौहनों का वत्सगोत्र का ब्रहामण कहा है । इस अभिलेख से तत्कालीन कृषि धर्म तथा शिक्षा सम्बन्धी व्यवस्था पर भी प्रकाश पड़ता है । लेख के द्वारा हमें कई स्थानों के प्राचीन नामों की जानकारी मिलती है जैसे कि जाबालिपुर (जालौर), शाकम्भरी (सांभर), श्रीमाल (भीनमाल) आदि ।

चीरवे का शिलालेख (1273 ई.) चीरवा (उदयपुर) गाँव के एक मन्दिर से प्राप्त संस्कृत में 51 श्लोकों के इस शिलालेख से मेवाड के प्रारम्भिक गुहिलवंशीय शासकों, चीरवा गाँव की स्थिति, विष्णु मन्दिर की स्थापना शिव मन्दिर के लिए भू-अनुदान आदि का ज्ञान होता है ।

इस लेख द्वारा हमे प्रशस्तिकार रत्नप्रभसूरि, लेखक पार्श्वचन्द्र तथा शिल्पी देलहण का बोध होता है जो उस युग के साहित्यकारों तथा कलाकारों की परम्परा में थे । लेख से गोचर भूमि, पाशुपत षैवधर्म सही प्रथा आदि पर प्रभूत प्रकाश पडता है ।

रणकपुर प्रशस्ति (1439 ई.) रणकपुर के जैन चौमुख मंदिर से लगे इस प्रशस्ति में मेवाड के शासक बापा से कुम्भा तक वंशावली है । इसमें महाराणा कुम्भा की विजयी का वर्णन है । इस लेख

में नाणक शब्द का प्रयोग मुद्रा के लिए किया गया है । स्थानीय भाषा में आज भी नाणा शब्द मुद्रा के लिए प्रयुक्त होता है । इस प्रशस्ति में मन्दिर के सूत्रधार दीपा का उल्लेख है ।

कीर्ति स्तम्भ प्रशस्ति (1460 ई.) यह प्रशस्ति कई शिलाओं पर खुदी हुई थी औरसंभवत कीर्ति स्तम्भ की अन्तिम मंजिल की ताकों पर लगाई गई थी । किंतु अब केवल दो शिलाएँ ही उपलब्ध हैं जिन पर प्रशस्ति है । हो सकता है कि कीर्ति स्तम्भ पर पडने वाली बिजली के कारण ये शिलाएँ टूट गयी हों । वर्तमान में 1 से 28 तथा 162 से 187 श्लोक ही उपलब्ध हैं । इनमें बापा, हम्मीर, कुम्भा आदि शासकों का वर्णन विस्तार से मिलता है । इससे कुम्भा के व्यक्तिगत गुणों पर प्रकाश पडता है और उसे दानगुरु, षैलगुरू आदि विरुदों से सम्बोधित किया गया है । इससे हमें कुम्भा द्वारा विरचित ग्रंथों का ज्ञान होता है जिनमें चण्डीशतक, गीतगोविन्द की टीका, संगीतराज आदि मुख्य हैं । कुम्भा द्वारा मालवा और गुजरात की सम्मिलित सेनाओं को हटाना प्रशस्ति 179 वे श्लोक में वर्णित है । इस प्रशस्ति के रचयिता अत्रि और महेष थे ।

रायसिंह की प्रशस्ति (1594 ई.)कृबीकानेर दुर्ग के द्वार के एक पार्श्व में लगी यह प्रशस्ति बीकानेर नरेश रायसिंह के समय की है । इस प्रशस्ति में बीकानेर के संस्थापक राव बीका से रायसिंह तक के बीकानेर के शासकों की उपलब्धियों का जिक्र है । इस प्रशस्ति से रायसिंह की मुगलों की सेवा के अन्तर्गत प्राप्त उपलब्धियों पर प्रकाश पडता है । इसमें उसकी काबुल, सिन्ध, कच्छ पर विजयों का वर्णन किया गया है । इस प्रशस्ति से गढ़ निर्माण के कार्य के सम्पादन का ज्ञान होता है । इस प्रशस्ति में रायसिंह के धार्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का उल्लेख है । इस प्रशस्ति का रचयिता जाता नामक एक जैन मुनि था । यह संस्कृत भाषा में है ।

आमेर का लेख (1612 ई.)कृआमेर के कछवाह वंश के इतिहास के निर्माण में यह लेख महत्वपूर्ण है । इसमें कछवाह शासकों को रघुवंशीतलक कहा गया है । इसमें पृथ्वीराज, भारमल, भगवन्तदास और मानसिंह का उल्लेख है । इस लेख में मानसिंह को भगवन्तदास का पुत्र बताया गया है । मानसिंह द्वारा जमुआ रामगढ़ के दुर्ग के निर्माण का उल्लेख है । लेख संस्कृत एवं नागरी लिपि में है ।

जगन्नाथराय का शिलालेख (1652 ई.) उदयपुर के जगन्नाथराय मंदिर के सभा मण्डप के प्रवेश हार पर यह शिलालेख उत्कीर्ण है । यह शिलालेख मेवाड के इतिहास के लिए उपयोगी है । इसमें बापा से महाराणा जगतसिंह तक के शासकों की उपलब्धियों का उल्लेख है । इसमें हल्दीघाटी युद्ध, महाराणा जगतसिंह के समय में उसके द्वारा किये जाने

वाले दान-पुण्यों का वर्णन आदि किया गया है । इसका रचयिता तैलंग ब्राह्मण कृष्णभट्ट तथा मन्दिर का सूत्रधार भाणा तथा उसका पुत्र मुकुन्द था ।

राजप्रशस्ति (1676 ई) उदयपुर सम्भाग के राजनगर में राजसमुद्र की नौचौकी नामक बांध पर सीढ़ियों के पास वाली ताको पर 25 बड़ी शिलाओं पर उत्कीर्ण ' राजप्रशस्ति महाकाव्य' देश का सबसे बड़ा शिलालेख है । इसकी रचना बांध तैयार होने के समय रायसिंह के कल में हुई । इसकारचनाकार रणछोड़ भट्ट था । यह प्रशस्ति संस्कृत भाषा में है, परन्तु अन्त में कुछ पंक्तियों हिन्दी भाषा में है । इसमे तालाब के काम के लिए नियुक्त निरीक्षकों एवं मुख्य शिल्पियों के नाम है । इसमे तिथियों तथा एतिहासिक घटनाओं का सटीक वर्णन है । इसमें वर्णित मेवाड़ क प्रारम्भिक में उल्लिखित है की राजसमुद्र के बांध बनवाने के कार्य का प्रारम्भ दुष्काल पीड़ितों की सहायता के लिए किया गया था । महाराणा राज सिंह की उपलब्धियों की जानकारी के लिय यह प्रशस्ति अत्यन्त उपयोगी है । इस प्रशस्ति

से यह भी ज्ञात होता है कि राजसमुद्र तालाब की प्रतिष्ठा के अवसर पर 46,000 ब्राह्मण तथा अन्य लोग आये थे । तालाब बनवाने में महाराणा ने 1,05,07,608 रुपये व्यय किये थे । यह प्रशस्ति 17वीं शताब्दी के मेवाड़ के सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक जीवन को जानने के लिए उपयोगी है ।

1.3.2 फारसी शिलालेख

भारत में मुस्लिम राज्य की स्थापना के पश्चात् फारसी भाषा के लेख भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं । ये लेख मस्जिदों, दरगाहों, कब्रों, सरायों, तालाबों की घाटों, पत्थरों आदि पर उत्कीर्ण करके लगाये गये थे । राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास के निर्माण में इन लेखों से महत्वपूर्ण सहायता मिलती है । इनके माध्यम से हम राजपूत शासकों और दिल्ली के सुल्तानों तथा मुगल शासकों के मध्य लड़े गये युद्धों, राजस्थान के विभिन्न क्षेत्रों पर समय-समय पर होने वाले मुस्लिम आक्रमणों, राजनीतिक सम्बन्धों आदि का मूल्यांकन कर सकते हैं । इस प्रकार के लेख सांभर, नागौर, मेड़ता, जालौर, सांचोर, जयपुर, अलवर, टोंक, कोटा आदि क्षेत्रों में अधिक पाये गये हैं ।

फारसी भाषा में लिखा सबसे पुराना लेख अजमेर के ढ़ाई दिन के झौंपडे के गुम्बज की दीवार के पीछे लगा हुआ मिला है । यह लेख 1200 ई. का है और इसमें उन व्यक्तियों के नामों का उल्लेख है जिनके निर्देशन में संस्कृत पाठशाला तोडकर मस्जिद का निर्माण करवाया गया । चित्तौड़ की गैबी पीर की दरगाह से 1325 ई. का फारसी लेख मिला है जिससे ज्ञात होता है कि अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ का नाम खिज्राबाद कर दिया था । जालौर और नागौर से जो फारसी लेख में मिले हैं, उनसे इस क्षेत्र पर लम्बे समय तक मुस्लिम प्रभुत्व की जानकारी मिलती है । पुष्कर के जहाँगीर महल के लेख (1615 ई.) से राणा अमरसिंह पर जहाँगीर की विजय की जानकारी मिलती है । इस घटना की पुष्टि 1637 ई. के शाहजहानी मस्जिद, अजमेर के लेख से भी होती है ।

1.4 ताम्रपत्र

इतिहास के निर्माण में तामपत्रों का महत्वपूर्ण स्थान है । प्राय राजा या ठिकाने के सामन्तों द्वारा ताम्रपत्र दिये जाते थे । ईनाम, दान-पुण्य, जागीर आदि अनुदानों को ताम्रपत्रों पर खुदवाकर अनुदान-प्राप्तकर्ता को दे दिया जाता था जिसे वह अपने पास संभाल कर पीढ़ी-दर-पीढ़ी रख सकता था । ताम्रपत्रों में पहले संगत भाषा का प्रयोग किया गया परन्तु बाद में स्थानीय भाषा का प्रयोग किया जाने लगा । दानपत्र में राजा अथवा दानदाता का नाम, अनुदान पाने वाले का नाम, अनुदान देने का कारण, अनुदान में दी गई भूमि का विवरण, समय तथा अन्य जानकारी का उल्लेख किया जाता था । इसलिए दानपत्रों से हमें कई राजनीतिक घटनाओं, आर्थिक स्थिति, धार्मिक विश्वासों, जातिगत स्थिति आदि के बारे में उपयोगी जानकारी मिलती है । कई बार दान पत्रों से विविध राजवंश के वंश क्रम को निर्धारित करने में सहायता मिलती है । आहड के ताम्रपत्र (1206 ई.) में गुजरात के मूलराज से लेकर भीमदेव द्वितीय तक सोलंकी राजाओं की वंशावली दी गई है । इससे यह भी पता चलता है कि भीमदेव के समय में मेवाड़ पर गुजरात का प्रभुत्व था । खेरोदा के ताम्रपत्र (1437 ई.) से एकलिंगजी में महाराणा कुम्भा द्वारा दान दिये गये खेतों के आस-पास से गुजरने वाले मुख्य मार्गो, उस समय में प्रचलित मुद्रा धार्मिक स्थिति आदि की जानकारी मिलती है । चौकली ताम्रपत्र (1483 ई.) से किसानों से वसूल

की जाने वाली विविध लाग-बागों का पता चलता है । पुर के ताम्रपत्र (1535 ई.) से हाडी रानी कर्मावती द्वारा जौहर में प्रवेश करते समय दिये गये भूमि अनुदान की जानकारी मिलती है ।

1.5 सिक्के

राजस्थान के इतिहास लेखन में सिक्कों (मुद्राओं) से बडी सहायता मिलती है । ये सोने, चांदी, तांबे या मिश्रित धातुओं के होते थे । सिक्के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं भौतिक जीवन पर उल्लेखनीय प्रकाश डालते हैं । इनके प्राप्ति स्थलों से काफी सीमा तक राज्यों के विस्तार का ज्ञान होता है । सिक्कों के ढेर राजस्थान में काफी मात्रा में विभिन्न स्थानों पर मिले हैं । 1871 ई. में कार्लायल को नगर (उणियारा) से लगभग 6000 मालव सिक्के मिले थे जिससे वहां मालवों के आधिपत्य तथा उनकी समृद्धि का पता चलता है ।

रैढ़ (टोंक) की खुदाई से वहाँ 3075 चांदी के पंचमार्क सिक्के मिले । ये सिक्के भारत के प्राचीनतम सिक्के हैं । इन पर विशेष प्रकार का चिह्न अंकित हैं और कोई लेप नहीं है । ये सिक्के मौर्य काल के थे । 1948 ई. में बयाना में 1921 गुप्तकालीन स्वर्ण सिक्के मिले थे । तत्कालीन राजपूताना की रियासतों के सिक्कों के विषय पर केब ने 1893 में 'द करेंसीज आफ दि हिन्दू स्टेट्स ऑफ राजपूताना' नामक पुस्तक लिखी, जो आज भी अद्वितीय मानी जाती है । विद्वान पुरातत्ववेत्ता एवं मुद्राशास्त्री कनिंघम, रेपसन, रेऊ आदि के अध्ययन से राजपूताना के सिक्कों के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है । 10-11वीं शताब्दी में प्रचलित सिक्कों पर गधे के समान आकृति का अंकन मिलता है, इसलिए इन्हें गधिया सिक्के कहा जाता है । इस प्रकार के सिक्के राजस्थान के कई हिस्सों से प्राप्त होते हैं । मेवाड में कुम्भा के काल में सोने, चाँदी व ताँबे के गोल व चौकोर सिक्के प्रचलित थे । महाराणा अमरसिंह के समय में मुगलों के संधि हो जाने के बाद यहाँ मुगलिया सिक्कों का चलन शुरू हो गया । मुगल शासकों के साथ अधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों के कारण जयपुर के कछवाह शासकों को अपने राज्य में टकसाल खोलने की स्वीकृति अन्य राज्यों से पहले मिल गई थी । यहाँ के सिक्कों को 'झाडशाही' कहा जाता था । जोधपुर में विजयशाही सिक्कों का प्रचलन हुआ । बीकानेर में 'आलमशाही' नामक मुगलिया सिक्कों का काफी प्रचलन हुआ । ब्रिटिश सत्ता की स्थापना के बाद कलदार रुपये का प्रचलन हुआ और धीरे-धीरे राजपूत राज्यों में ढलने वाले सिक्कों का प्रचलन बन्द हो गया ।

1.6 स्मारक एवं मूर्तियों (दुर्ग, मंदिर, स्तूप तथा स्तम्भ)

राजस्थान में अनेक स्थलों से प्राप्त भवन, दुर्ग, मंदिर, स्तूप, स्तम्भ आदि स्तूप तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास की जानकारी प्राप्त होती है । प्राचीन दुर्ग एवं भवन राजस्थान में स्थान-स्थान पर देखे जा सकते हैं । चित्तौड़, जालौर, गागरोन, रणथम्भौर, आमेर, जोधपुर, बीकानेर, जैसलमेर, कुम्भलगढ, अचलगढ़ आदि दुर्ग इतिहास के बोलते साक्ष्य हैं । दुर्गों में बने महल, मन्दिर, जलाशय आदि तत्कालीन समाज एवं धर्म की जानकारी देते हैं ।

राजस्थान के प्रसिद्ध मन्दिर यथा देलवाडा एवं रणकपुर के जैन मन्दिर आमेर का जगत शिरोमणि मंदिर, नागदा का सास-बहू का मंदिर, उदयपुर का जगदीश मंदिर, ओसियां का सच्चिमाता एवं जैन मंदिर, झालरापाटन का सूर्य मंदिर आदि उल्लेखनीय हैं । इनके अतिरिक्त किराडू, बाडोली,

पुष्कर आदि स्थानों के मंदिर भी इतिहास के अध्ययन के लिए उपयोगी है । ये मंदिर धर्म एवं कला के अध्ययन के लिए विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं । मूर्तियों के गहन अध्ययन से तत्कालीन वेशभूषा, श्रृंगार के तौर-तरीकों, आभूषणों, विविध वाद्य यंत्रों, नृत्य की मुद्राओं आदि का बोध होता है । राजस्थान में स्थापत्य एवं तक्षणकला के लिए चित्तौड़ दुर्ग स्थित कीर्ति स्तम्भ एक श्रेष्ठ उदाहरण है । आमेर का जगत शिरोमणि का मंदिर, मुगल-राजपूत समन्वय की दृष्टि से उल्लेखनीय है ।

1.7 चित्रकला

राजस्थान के लोगों की चित्रकला में रुचि आदि काल से रही है । शैलचित्र इसके उदाहरण हैं । जैसलमेर के जैन भण्डार से प्राचीनतम सचित्र ग्रंथ प्राप्त हुए हैं । ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी तक के सचित्र ग्रंथों में निशीथचूर्णि त्रिषीष्टशलाका पुरुष चरित्र, नेमिनाथ चरित्र, सुपासन चरित्रम्, गीत गोविन्द आदि प्रमुख हैं । विभिन्न राज दरबारों में आश्रित चित्रकारो ने अपने-अपने ढंग से चित्र बनाने प्रारम्भ किये । अत विभिन्न चित्र शैलियों मेवाड शैली आमेर शैली, मारवाड शैली, बूंदी शैली, किशनगढ़ शैली, कोटा शैली, नाथद्वारा शैली आदि का विकास हुआ । माखाड शैली के अन्तर्गत चित्रित उत्तराध्ययन सूत्र, पंचतन्त्र तथा जयपुर शैली में बारहमासा, रागमाला आदि राजस्थानी चित्र शैली के तो श्रेष्ठ उदाहरण है ही, साथ ही इतिहास के स्रोत भी । नाथद्वारा की कलम से बने पुष्टिमार्ग से प्रभावित श्रीनाथजी के चित्र तथा प्राकृतिक चित्रण अत्यन्त सजीव हैं । किशनगढ़ एवं बूँदी का नारी का श्रृंगार चित्रण तथा कोटा का शिकार दृश्य उल्लेखनीय हैं । राजस्थान चित्रकला से सांस्कृतिक इतिहास को लिखने में काफी सहायता मिलती है ।

(ब) साहित्यिक स्रोत

राजस्थान इतिहास लेखन के लिए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, राजस्थानी, हिन्दी, फारसी आदि कृतियाँ बडी उपयोगी हैं । इन कृतियों के रचयिता या तो राज्याश्रय प्राप्त थे या स्वांत सुखाय की दृष्टि से लिखने वाले थे । इन कृतियों से तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन, युद्ध प्रणाली आदि पर काफी प्रकाश पडता है । यद्यपि इन ग्रंथों में अक्सर अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन मिलता है, फिर भी इसका ऐतिहासिक महत्त्व कम नहीं हो जाता है । निसन्देह ये ग्रंथ अपने रचना काल की । प्रवृत्तियों तथा गतिविधियों के बहुमूल्य साक्ष्य हैं किन्तु इनका उपयोग सन्तुलित एवं पैनी दृष्टि से करने की जरूरत है ।

1.8 संस्कृत साहित्य

ऐतिहासिक साहित्यिक स्रोतों में संस्कृत साहित्य का बड़ा महल है । मध्यकालीन राजस्थान के इतिहास के लिए कई ग्रंथ हैं जो अनूप संस्कृत पुस्तकालय, बीकानेर; पुस्तक प्रकाश, जोधपुर; प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर; उदयपुर साहित्य संस्थान, उदयपुर; प्रताप शोध संस्थान, उदयपुर; नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ (मध्यप्रदेश) आदि में सुरक्षित हैं ।

पृथ्वीराज विजयजयानक ने 12वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में पृथ्वीराज विजय महाकाव्य लिखा था । इस काय में सपादलक्ष चौहानों की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उपलब्धियों का वर्णन मिलता है । यह अजमेर के उत्तरोत्तर विकास को जानने के लिए भी उपयोगी है ।

हम्मीर महाकाव्यनयनचन्द्र सूरी कृत 1403 ई. का हम्मीर महाकाव्य चौहानों के इतिहास की जानकारी तो उपलब्ध कराता ही है, साथ ही, अलाउद्दीन खिलजी की रणथभौर विजय एवं उस समय की सामाजिक, धार्मिक अवस्था का बोध कराने में बडा सहायक है । इसमें दिये गये वर्णन को यदि फारसी तवारीखों से तुलना करते हैं तो प्रतीत होता है कि लेखक ने बडे छानबीन के साथ तथा समसामयिक इतिहास सामग्री के आधार पर रणथम्भौर के चौहानों का वर्णन किया है । अलाउद्दीन खिलजी के द्वारा किये गये रणथम्भौर के आक्रमण की कई घटनाओं को समझने के लिए इसका एक स्वतन्त्र महत्व है । इससे हम्मीर के चरित्र पर अच्छा प्रकाश पड़ता है ।

राजवल्लभमहाराणा कुम्भा के मुख्य शिल्पी मण्डन ने 15वी शताब्दी में इसकी रचना की थी । यह ग्रंथ स्थापत्य कला को समझने की दृष्टि से बडा महत्वपूर्ण है । इसके द्वारा नगर, ग्राम, दुर्ग, राजप्रसाद, मन्दिर, बाजार आदि के निर्माण की पद्धति पर पूरा प्रकाश पडता है । इस ग्रंथ में कुल 14 अध्याय हैं ।

भीट्टकाव्ययह काव्य 15वीं शताब्दी में रचा गया था । इसमें जैसलमेर की राजनीतिक तथा सामाजिक स्थिति का वर्णन है । महाराजा अक्षयसिंह के प्रासादों का तथा तुलादान आदि का इसमें रोचक वर्णन है ।

राजविनोद इस ग्रंथ की रचना भट्ट सदाशिव ने बीकानेर के महाराजा कल्याणमल (16वीं शताब्दी) की आज्ञा से की थी । इसमें विविध विषयों जैसे सामाजिक, आर्थिक, सैन्य आदि का वर्णन है । लेखक ने इसमें किलों के निर्माण तथा सैनिक उपकरणों संम्बन्धी विषयों पर भी प्रकाश डाला है।

एकलिंग महात्म्यमहाराणा कुम्भा रचित एकलिंग महात्म्य से गुहिल शासकों की वंशावली तथा मेवाड के सामाजिक संगठन की झांकी मिलती है ।

कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनकं काव्यम्जयसोम विरचित 16वि शताब्दी का यह ग्रंथ बीकानेर के शासकों के वैभव और विद्यानुराग पर अच्छा प्रकाश डालता है । इस युग के पुस्तकालय, मन्दिर, पाठशालाएँ, भिक्षुग्रह, नगर, फाटक, बाजार, बस्तियों, राजप्रसाद आदि से सम्बन्धित जानकारी के लिए भी यह ग्रंथ उपयोगी है ।

अमरसार इसकी रचना पंडित जीवाधार ने 16वीं शताब्दी में की थी । इस काक से महाराणा प्रताप और अमरसिंह प्रथम के सम्बन्ध में अच्छा प्रकाश पडता है । तत्कालीन रहन-सहन, आमोद-प्रमोद, जनजीवन की झांकी के लिए अमरसार एक महत्वपूर्ण स्रोत है ।

राजरत्नाकर इस ग्रंथ की रचना 17वीं शताब्दी में विद्वान लेखक सदाशिव ने महाराणा राजसिंह के समय में की थी । इसमें 22 सर्ग हैं । महाराणा राजसिंह के समय के समाज चित्रण तथा दरबारी जीवन के वर्णन में लेखक ने अपनी निपुणता का परिचय दिया है । तत्कालीन शिक्षण व्यवस्था एवं पाठ्यक्रम के लिए भी यह ग्रंथ उपयोगी है ।

अजितोदय जोधपुर नरेश अजीतसिंह के दरबारी कवि जगजीवन भट्ट द्वारा रचित अजितोदय (17वीं शताब्दी) मारवाड के इतिहास की रचना के लिए एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है । इस ग्रंथ में महाराजा जसवंतसिंह और अजीतसिंह के समय में युद्धों, सन्धियों, विजयों के साथ-साथ उस समय के प्रचलित रीतिरिवाजों और परम्पराओं की भी जानकारी मिलती है । मारवाड की कई ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन के लिए इस ग्रंथ का बडा उपयोग है ।

1.9 राजस्थानी साहित्य

इतिहास विषयक राजस्थानी कृतियाँ गद्य और पद्य दोनों में मिलती हैं । सामान्यत ये रचनाएँ राज्याश्रय में लिखी गई । ऐसी ऐतिहासिक गद्य कृतियों में ख्यात, बात, विगत, वंशावली, हाल, हकीकत, याददास्त, बही आदि को ले सकते हैं । राजस्थानी पद्य कृतियों में रासो, विलास, प्रकाश, रूपक, वचनिका वैलि, भमाल, झूलणा, दूहा, छंद आदि को लिया जा सकता हैं । 16वी शताब्दी से पूर्व रासो साहित्य प्रचुर मात्रा में मिलता है । इसके पश्चात राजस्थान के ऐतिहासिक गद्य के अनेक रूप देखे जा सकते हैं जैसे कि ख्यात, बात, वंशावली, पीढ़ियावली, पट्टावली, विगत हकीकत, हाल, याद, वचनिका आदि । राजस्थानी परम्परा में ख्यात इतिहास को कहते हैं । वात में किसी व्यक्ति या जाति या घटना या प्रसंग का संक्षिप्त इतिहास होता है । ख्यात बड़ी होती है और वात छोटी होती है । वंशावली और पीढ़ियावली में पीढ़ियाँ दी जाती हैं, जिनके साथ में प्राय व्यक्तियों का संक्षिप्त या विस्तृत परिचय रहता है । पट्टावली में जागीरदारों के पट्टे अर्थात् जागीरों का विवरण रहता है । हकीकत और हाल में किसी घटना या प्रसंग का विस्तृत विवरण होता है । याद याददाश्त को कहते हैं । वचनिका ऐतिहासिक काव्य होता है । कतिपय ऐतिहासिक दृष्टि से उपयोगी राजस्थानी साहित्य निम्न हैं

1.9.1 साहित्यिक स्रोत

कान्हड़दे प्रबन्ध इसकी रचना कवि पद्मनाभ ने जालौर के शासक अखैराज के आश्रय में 15वी शताब्दी में की थी । इस काव्य का आधार अलाउद्दीन द्वारा जालौर आक्रमण है जिसमें जालौर शासक कान्हड़दे, उसका लड़का वीरमदे तथा उसके अनेक साथी तुर्की सेना से लड़कर काम आये परन्तु इसमें कई महत्वपूर्ण राजनीतिक तथा सामाजिक तथ्य भी छिपे पडे है । इस कृति में कुछ अनैतिहासिक अंश में जुडे हुए हैं । इस अवसर पर किये गये जौहर का भी कवि ने अच्छा वर्णन किया है । इतिहासकार गोपीनाथ शर्मा के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक ने इसमें वर्णित अंशों को राजकीय ऐतिहासिक सामग्री से पुष्ट किया था ।

राव जैतसी रो छन्द इसकी रचना बीठू सूजे ने 16वीं शताब्दी में की थी । इस ग्रंथ द्वारा बीकानेर के शासक जैतसी की युद्ध प्रणाली का बोध होता है तथा स्थानीय रीति-रिवाजों की जानकारी मिलती है । इस कृति में कामरान द्वारा भटनेर किले पर किये गये आक्रमण का वर्णन है जिसमें बीकानेर के कई वीर किले को मुगलों के चंगुल से बचाने के प्रयास में खेत रहे ।

वेलि क्रिसन रुकमणी रीइसकी रचना कुँवर पृथ्वीराज राठौड ने की थी । वह अकबर के दरबार का सम्मानित दरबारी था । यह कृति मूलत भक्ति रस से सम्बन्धित है परन्तु इससे तत्कालीन रहन-सहन, रीति-रिवाज उत्सव, त्योहार, वेशभूषा आदि पर मी अच्छा प्रकाश पडता है ।

राजरूपकइसकी रचना वीरभाण ने की थी । यह जोधपुर के महाराजा अभयसिंह का समकालीन था । इसमें अभयसिंह द्वारा लडे गये कई युद्धों का आँखों देखा वर्णन है ।

सूरज प्रकाशकृइसकी रचना जोधपुर के महाराजा अभयसिंह के दरबारी कवि करणीदान ने की थी । इसमें भी अभयसिंह के समय के युद्धों का आँखों देखा वर्णन है । उस समय के सामाजिक इतिहास के अध्ययन के लिए इसका अधिक उपयोग है । तत्कालीन वेशभूषा, खानपान, रीति-रिवाज, विवाह

उत्सव, आखेट, यज्ञ, दान, पुण्य यात्रा आदि का सजीव वर्णन इस ग्रंथ में किया गया है । वर्णन धारा प्रवाह तथा भाषा लावण्य इस ग्रंथ की विशेषता है ।

1.9.2 रासो साहित्य

मध्यकाल में राजस्थानी विद्वानों ने राजाओं एवं राजघराने की प्रशंसा में काव्यों की रचना की । इस प्रकार के काव्यों में इतिहास की भी सामग्री उपलब्ध है । ऐसे काव्यों को रासो साहित्य कहा जाता है । रासो ग्रंथ में चन्दरबरदाई का पृथ्वीराज रासो, नरपति नाल्ह का विसलदेव रासो, कविया गोपालदास का लावा रासो, कविजान का क्यामखाँ रासो, दौलत विजय का खुमाण रासो, गिरधर आसिया का संगत रासो, जोधराज का हम्मीर रासो आदि प्रमुख हैं । ज्यादातर रासो साहित्य व 16वीं शताब्दी के पूर्व लिखा गया । रासो साहित्य का ऐतिहासिक उपयोग अत्यन्त छानबीन से करने की जरूरत है । रासो साहित्य से हमें तत्कालीन राजपूत राज्यों की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्थिति के बारे में उपयोगी जानकारों उपलब्ध होती है ।

1.9.3 ख्यात साहित्य

ये राजस्थानी भाषा में लिखा ऐसा साहित्य है जो 16वीं शताब्दी के आस-पास लिखा जाने लगा । ऐसा साहित्य जो ख्याति को प्रतिपादित करे, ख्यात साहित्य कहलाता है । ख्यात शब्द संस्कृत के शब्द प्रख्यात का अपभ्रंश है । अधिकांशत ख्यात लेखक दरबारी चारण या भाट होते थे किन्तु मुहणोत नैणसी इसके अपवाद हैं । खातों में प्राय प्रसिद्ध राजपूत राजवंशों की स्थापना राजाओं का वंशक्रम, घटनाओं, उनकी उपलब्धियों एवं कार्यकलापों आदि का वर्णन मिलता है । ख्यातों से विभिन्न ठिकानों के बारे में भी जानकारी मिलती है । इसके अतिरिक्त प्रसंगवश ये ख्यातें सामाजिक एवं आर्थिक इतिहास को जानने के लिए विशेष रूप से उपयोगी हैं । यद्यपि ख्यातों का वर्णन अक्सर अतिश्योक्तिपूर्ण होता है परन्तु सावधानीपूर्वक इनके उपयोग से स्थानीय इतिहास का ताना-बाना अच्छी तरह से बुना जा सकता है ।

राजस्थान की प्रसिद्ध ख्यातें है-मुहणोत नैणसी री ख्यात, दयालदास री ख्यात, जोधपुर राज्य री ख्यात, जैसलमेर री ख्यात, मुण्डियार री ख्यात, बांकीदास री ख्यात, राठौडों री खात आदि । कतिपय प्रमुख ख्यातकारों एवं उनकी रचनाओं का वर्णन आगे के पृष्ठों में किया गया है ।

मुहणोत नैणसी (1610-1670 ई.) नैणसी जोधपुर के दीवान जयमल का ज्येष्ठ पुत्र था तथा 27 वर्ष की आयु में राज्य सेवा में नियुक्त हुआ था । शीघ्र ही वह देश दीवान बनकर जोधपुर के महाराजा जसवंतसिंह का विश्वासपात्र अधिकारी बन गया । दुर्भाग्यवश अपने जीवन के अंतिम वर्षो में वह महाराजा का कोपभाजन बन गया और मजबूरी में आत्महत्या करनी पडी ।

उसने 1643 ई. से ही स्वतन्त्र रूप से इतिहास लेखन विषयक सामग्री इकट्ठी करना प्रारम्भ कर दिया था । नैणसी की प्रसिद्ध रचना नैणसी री ख्यात एवं मारवाड रा परगना री विगत है । ख्यात से राजस्थान विशेष रूप से मारवाड के अतिरिक्त गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, बघेलखण्ड और मध्यभारत के राजनीतिक इतिहास पर अच्छा प्रकाश पडता है । बह मारवाड के सभी परगनों का क्रमबद्ध विस्तृत ब्योरा भी लिखना चाहता था । इसके लिए उसने परगनों का सर्वेक्षण करवाये । उसने जगह-जगह के चारण-भाटों, आदि से भिन्न-भिन्न देशों या राज्यों का इतिहास मंगवाकर संग्रह किया । वह जहाँ

भी जाता था तो स्थानीय कानूनगो से पुराना हाल मालूम करके लिख लेता था । इसी भाँति अपने रिश्तेदारों एवं परिचितों से भी संग्रह मंगवाया करता था ।

नैणसी री ख्यात का रचनाकाल 1643 से 1666 ई. तक का है । ख्यात में चौहानों तथा भाटियों का काफी विस्तार से विवरण दिया गया है । चौदहवीं शताब्दी के बाद के राजपूतों के राजनीतिक इतिहास के लिए यह ख्यात फारसी ग्रंथों से भी ज्यादा महल की है । विभिन्न रियासतों की भूगोल विषयक जानकारी के लिए ख्यात उपयोगी है । नैणसी री ख्यात की सत्यता तथा यथार्थता की सभी लेखकों ने एक मर में प्रशंसा की है । 'मारवाड रा परगना री विगत' से मारवाड के परगनों, कलों की आबादी, वही के जन-जीवन, सामाजिक, धार्मिक व आर्थिक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश पडता है । मुंशी देवीप्रसाद ने नैणसी को 'राजस्थान का अबुल फजल' कहा है । कालीकारंजन कानूनगो ने उसे अबुल फजल से भी अधिक योग्य बतलाया है । नैणसी अबुल फजल की भाँति राज्याश्रित इतिहासकार नहीं था । उसका इतिहास संयोजन संभवत अबुल फजल से अधिक वैज्ञानिक, स्पष्ट तथा निष्पक्ष है । राजस्थान इतिहास लेखन में नैणसी के ग्रंथ निसन्देह अमूल्य आधार ग्रंथ हैं ।

बांकीदास आशिया (1781 - 1833) चारण लेखकों में बांकीदास का काफी महत्वपूर्ण स्थान है । मुनि जिनविजय ने उसे एक महान् कवि और इतिहासकार स्वीकार किया है । वह जोधपुर के महाराजा मानसिंह का विश्वासपात्र व्यक्ति था । महाराजा मानसिंह उससे प्रथम भेंट में इतने प्रभावित हो गये थे कि बांकीदास को लाख पसाव के सम्मान से सम्मानित किया । जोधपुर राज्य दरबार के अलावा अन्य राज्यों के शासक भी बांकीदास की विद्वता का सम्मान करते थे । बांकीदास डिंगल, पिंगल, संस्कृत, फारसी आदि भाषाओं का अच्छा जानकार था । वह स्मरण शक्ति का भी धनी था । बांकीदास स्वाभिमानी एवं निर्भीक था । उसकी प्रसिद्ध रचना उसकी ख्यात है जिसे ऐतिहासिक टिप्पणी संग्रह कहना अधिक उपयुक्त है । इसमें लगभग 3000 फुटकर बातें है जो एक पंक्ति से लेकर छः पंक्ति तक है । याददास्त के रूप में लिखी कई बातें बडी उपयोगी व महत्वपूर्ण हैं । कइ ऐसी बातें हैं जो अन्यत्र नहीं मिलती । उसकी ख्यात की एक कमी यह है कि इसके वर्णन में क्रमबद्धता का अभाव है और कई बार इनकी पुनरावृत्ति हुई है । गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार बांकीदास की ख्यात इतिहास का खजाना है । राजपूताना व तमाम राज्यों के इतिहास सम्बन्धी रत्न उसमें भरे पडे हैं । गोपीनाथ शर्मा ने ख्यात के महत्त्व के बारे में लिखा है, "इनकी बातों में अनेक प्रकार के भौगोलिक विषयों, रहन-सहन, रीति-रिवाज, वाणिज्य-व्यवस्था आदि पर प्रकाश पडता है । " मध्यकालीन समाज के समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए ख्यात की उपादेयता असंदिग्ध है ।

दयालदास सिंढायच (1798-1891 ई.) बीकानेर के चारण जाति के दयालदास में कई खूबियाँ एक साथ थी । वह इतिहासकार. ख्यातकार, कवि और तत्कालीन मारवाड़ी भाषा का उच्चकोटि का गद्य लेखक था । बह बीकानेर के महाराजा रतनसिंह का राजदरबारी था । बीकानेर नरेश को इस बात का बडा दुख था कि कर्नल टॉड ने बीकानेर राजवंश को राजस्थान के राज्यों में द्वितीय श्रेणी का माना था । वह चाहते थे कि टॉड की यह मान्यता निरस्त हो । इस कारण महाराजा ने दयालदास को बीकानेर राज्य का इतिहास लिखने का आदेश दिया । दयालदास की रचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृति 'बीकानेर रै राठौड़ा री ख्यात' है, जो 'दयालदास री ख्यात' के नाम से अधिक प्रसिद्ध है ।

दयालदास एक राज्याश्रित इतिहासकार था और उसने बीकानेर नरेशों की उच्चता बतलाने में ही अपनी लेखनी का भरपूर प्रयोग किया जिससे उसकी ख्यात कई स्थानों पर एकपक्षीय वर्णन चित्रित

करती है । फिर भी उसका ग्रंथ राजस्थान के इतिहास लेखन की स्रोत सामग्री की दृष्टि से उपयोगी है । सबसे बडी बात यह है कि बीकानेर राज्य का क्रमबद्ध इतिहास हमें सर्वप्रथम दयालदास की खात से ही मिलता है ।

सूर्यमल्ल मीसण (1815-1888 ई) बूँदी के महाकवि सूर्यमल्ल मीसण की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना 'वंश भास्कर' है । यह पद्य में लिखा गया महाकाव्य है । सुनीति कुमार चाटुर्य्या का कहना है, 'सूर्यमल्ल मीसण अपनी कारयित्री और सांस्कृतिक शिक्षा का उपयोगी काल बीत जाने के बाद संसार में आए । संस्कृत के महाभारत का प्रतिस्पर्द्धी पिंगल और प्राकृत मिश्रित भाषा में रचा हुआ यह विशाल ऐतिहासिक महाकाव्य वंश भास्कर इनकी महती कृति है ।

आलमशाह खान की टिपणी है कि, "वंश भास्कर जिसके पारायण से राजाओं ने राजत्व समझा, पण्डित-शास्त्रियों ने नीति और शस्त्र गुना, कलावन्तों ने कलाएँ जानी, कवि-आचार्य साहित्य की परख करने में समर्थ बने और राजस्थान के इतिहास प्रणेताओं ने इसे आधार बनाकर चलने में ही अपनी सिद्धि देखी । युवा मरुवीरों ने इसमें अपने रक्त का रंग देखा, बालवृन्द ने, केसरिया रंग का जादू समझा तो वृद्धजनों ने इसे पढ़कर मूँछों पर अपने हाथ धरे । इस प्रकार वंश भास्कर काव्य और इतिहास के रूप में ही नहीं, अपितु भारतीय ज्ञान परम्परा के समृद्ध कोष और राजस्थानी सभ्यता-संस्कृति के स्मारक के रूप में प्रख्यात हुआ ।"

चार हजार मुद्रित पृष्ठों में सदा लाख छंदों के वंश भास्कर में मूलत: बूँदी के हाडा चौहानों का इतिहास है । बूँदी राज्य के इतिहास को लिपिबद्ध करते समय प्रसंगवश उन राज्यों और शासकों का वर्णन भी मिलता है, जिनके बूँदी नरेशों के साथ दूर-पास के सम्बन्ध थे । यह ग्रन्थ वीर प्रसंगों, युद्ध वर्णनों तथा उपयोगी ज्ञान की विस्तृत जानकारी देने वाला अद्‌वितीय ग्रंथ है । आलमशाह खान के अनुसार "नगर जीवन और क्षयमान सामन्तकाल के जन-जीवन का साकार चित्र जिस प्रकार वंश भास्कर में मिलता है, अन्यत्र दुर्लभ है ।" सूर्यमल्ल मीसण ने बूँदी के शासक महाराव रामसिंह के आदेश पर 1840 ई. में लिखना प्रारम्भ किया लेकिन 1856 ई. में यकायक उसने लिखना बन्द कर दिया । यद्‌यपि उसकी कृति त्रुटि रहित नहीं है । उसने बिना ऐतिहासिक परख के सामग्री को जोड दिया तथा घटनाओं और तथ्यों का विश्लेषण नहीं किया । वह मूलत: एक कवि था, अत: साहित्यिक कृति में अधिक तथ्यों की तलाश बेईमानी होगी । सूर्यमल्ल मीसण की अन्य रचना वीर सतसई है । यह वीर रस प्रधान कृति है । इसकी पृष्ठभूमि 1857 ई. की क्रांति है । परन्तु कृति को क्रांति का प्रतीक मानना अति उत्साही कदम होगा ।

1.10 फारसी भाषा में लिपिबद्ध साहित्य

पूर्व मध्यकालीन एवं उत्तर मध्यकालीन ऐतिहासिक विवरणों को क्रमबद्ध करने अथवा सत्यापित करने अथवा रिक्त स्थान को भरने के लिए फारसी तवारीखों का अपना महत्व है । मध्यकालीन फारसी स्रोत ग्रन्थ अधिकांशत: उन लोगों द्‌वारा लिखे गये अथवा लिखवाये गये हैं, जो घटनाओं के न्यूनाधिक रूप से साक्षी रहे हैं । अत: इनकी विश्वसनीयता है । यद्‌यपि इन्हें सर्वथा निर्दोष नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इन्होंने अपने मुस्लिम शासक अथवा उत्तराधिकारियों की तारीफ आलंकारिक भाषा में करने में न तो परहेज किया और न उनकी कमियों अथवा पराजय को ईमानदारी से अभिव्यक्त किया । कतिपय बादशाहों द्‌वारा लिखी गयी आत्मकथाओं में तथा कुछ की जीवनियों में भी राजस्थान

इतिहास से सम्बन्धित सामग्री मिलती है । हसन निजामी कृत ताजुल मआसिर (12वीं शताब्दी) से अजमेर नगर की समृद्धि, पृथ्वीराज चौहान तृतीय के अंतिम दिनों तथा मुस्लिम विजय का अभिज्ञान होता है । अजमेर, जालौर तथा नागौर आदि स्थानों पर मुस्लिम प्रभाव के वर्णन के लिए मिनहाज उस सिराज कृत तबकाते नासिरी (13वी शताब्दी) उल्लेखनीय है । हजरत अमीर खुसरो की तारीख-ए-अलाई, देवलरानी खिज्रखाँ, खजाइनुल फुतूह (13 वीं- 14वीं शताब्दी), इत्यादि रचनाओं में अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड एवं रणथम्भौर विजय की जानकारी उपलब्ध होती है । जियाउद्दीन बरनी की तारीख-ए-फिरोजशाही एवं याहया बिन अहमद सरहिन्द की तारीख-ए-मुबारकशाही (14 शताब्दी) में खिलजी वंश के शासकों के साथ-साथ राजस्थान इतिहास से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री भी इनमें उपलब्ध है ।

इसी प्रकार बाबर की आत्मकथा बाबरनामा तथा जहाँगीर की तुजुके जहाँगीरी और जीवनियों में गुलबदन बेगम कृत हुमायूँनामा आदि से राजस्थान सम्बन्धित उपयोगी जानकारियाँ प्राप्त होती हैं । बाबरनामा से बाबर के साथ सांगा के सम्बन्ध, तुजुके जहाँगीर से जहाँगीर एवं मेवाड के साथ सन्धि की परिस्थितियों एवं शर्तो का पता चलता है । इसके अतिरिक्त राजपूतों का मद्य प्रेम, राजपूत राजकुमारियों का शाही घरानों में विवाह, दशहरा, होली, दीपावली आदि पर्वों के बारे में विस्तृत जानकारी मिलती है । हुमायूँनामा से हुमायूँ के मारवाड और मेवाड के शासकों के साथ सम्बन्धो की जानकारी मिलती है । अबुल फजल कृत अकबरनामा में मेवाड, अलवर, भरतपुर और जयपुर के आस-पास के क्षेत्रों की विस्तृत भौगोलिक जानकारी दे रखी है । प्रताप एवं अकबर के सबको के एक पक्षीय विवरण को भी जानने के लिए भी अकबरनामा उपयोगी है । इसी प्रकार अबुल फजल का ही आईने अकबरी अजमेर की जलवायु राजस्थान की वेश-भूषा, राजस्थान में मनाये जाने वाले पर्व-त्यौहार, मुद्रा आदि के बारे में जानकारी उपलब्ध कराती है । अब्बास खाँ सरवानी की तारीख-ए-शेरशाही से मारवाड के शासक व मालदेव के सम्बन्धों का ज्ञान होता है, चाहे एक पक्षीय । इसी प्रकार अब्दुल हमीद लाहौरी कृत बादशाहनामा, मुहम्मद साकी मुस्तैदखां द्वारा रचित मासिर-ए-आलमगिरि शाहजहाँकालीन राजस्थान के लिए उपयोगी है । बादशाहों द्वारा जारी किये गये फरमानों, दरबार के अखबारों आदि से भी राजस्थान के इतिहास को जानने में सहायता मिलती है ।

(स) पुरालेखीय सामग्री

राजस्थान इतिहास जानने के मूल स्रोतों में लेखबद्ध सामग्री का बडा महत्व है । वर्तमान काल से पूर्व लिखे अथवा लिखवाये गये राजकीय, अर्द्ध राजकीय अथवा लोक लिखित साधन पुरालेखीय सामग्री के अन्तर्गत आते हैं । विशिष्ट प्रशासकीय सामग्री को जिस अधिकृत रूप से कार्यालय विशेष या पुरालेखागार की अभिरक्षा और भावी संदर्भ के लिए सुरक्षित रखा जाता है, पुरालेखागार कहलाता है । पुरालेखागार में रखे पुराने अभिलेखों का शोध आदि प्रयोजन के लिए पाठक बिना किसी प्रतिबन्ध के देख एवं प्रयोग कर सकते हैं । मध्यकाल एवं आधुनिक काल में राजस्थान की विभिन्न रियासतों में प्रशासकीय प्रलेखों को व्यवस्थित रूप से रखा जाता था, साथ ही, पाण्डुलिपियों, ग्रंथों आदि का भी संग्रह किया जाता था । ऐसे संग्रह स्वतन्त्र रूप से भी मन्दिरों, मठों, हवेलियों, ठिकानेदारों के आवासों आदि में भी मिलते हैं ।

1.11 प्रमुख पुरालेखीय सामाग्री

मुगल प्रशासन में सरकारी कागज पत्रों को संग्रहित करने की प्रवृत्ति थी । मुगलों का प्रभाव राजपूत शासकों पर भी पडा । इन्होंने भी राजकीय पत्रावलियों के संग्रह की ओर ध्यान देना प्रारम्भ किया । राजस्थान में पुरालेखीय स्रोत का विशाल संग्रह राज्य अभिलेखागार, बीकानेर और उसके अधीन विभिन्न वृत्त अथवा जिला अभिलेखागारों में सुरक्षित है ।

राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली में भी राजस्थान से संबन्धित काफी रिकॉर्ड उपलब्ध हैं । यह रिकॉर्ड उत्तर मध्यकालीन और आधुनिक काल के इतिहास के मुगल शासन एवं ब्रिटिश सरकार से सम्बन्धित हैं ।

सम्पूर्ण अभिलेख सामग्री को राजकीय संग्रह तथा संस्थागत या निजी सामग्री को व्यक्तिगत संग्रह के रूप में विभाजित करते हु ए फारसी, उर्दू, राजस्थानी और अंग्रेजी भाषा में लिखित पुरालेख साधन में वर्गीकृत किया जा सकता है

(अ) फारसी / उर्दू भाषा में लिखित सामग्री में फरमान, मन्सूर, रुक्का, निशान, अर्जदाश्त, हस्बुलहुक्म, सनद, इन्शा, वकील रिपोर्ट और अखबारात आदि उपलब्ध होते हैं ।

(ब) राजस्थानी / हिन्दी भाषा में पट्टे-परवाने, बहियाँ, खरीदे, खतत, अर्जियाँ, हकीकतें याददाश्त, रोजनामचे, गाँवों के नक्शे, हाले-हवाले पानडी, अखबार आदि मुख्य है ।

(स) अंग्रेजी भाषा में लिखी अथवा प्रकाशित पुरालेख सामग्री में राजपूताना एजेन्सी रिकॉर्ड, रिकॉर्ड्स ऑफ फॉरेन एण्ड पॉलिटिकल डिपार्टमेन्ट, टूर मेमाइर्स पत्रादि संकलन आदि आते हैं ।

उपर्युका सामग्री क्षेत्र अथवा प्राचीन रजवाडों के सम्बन्धानुसार निम्न रूप में भी जानी जाती है

1. जोधपुर रिकॉर्ड, बीकानेर रिकॉर्ड अथवा मारवाड रिकॉर्ड्स ।
2. जयपुर रिकॉर्ड
3. कोटा रिकॉर्ड अथवा हाडौती रिकॉर्ड्स
4. उदयपुर रिकॉर्ड अथवा मेवाड रिकॉर्ड्स ।

संस्थागत या निजी संग्रहालयों में राजस्थानी शोध संस्थान चौपासनी, जोधपुर में सुरक्षित शाहपुरा राज्य का रिकॉर्ड, प्रताप शोध संस्थान उदयपुर में गौरीशंकर हीराचन्द ओझा संग्रह, शोध संस्थान, जनार्दन राय नागर राजस्थान विद्यापीठ, उदयपुर में नाथूलाल व्यास संग्रह तथा राजस्थान के इतिहास एवं साहित्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण पाण्डुलिपियाँ, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर का आबू कलेक्शन, नटनागर शोध संस्थान, सीतामऊ (म. प्र.) में सुरक्षित गुलगुले रिकॉर्ड्स, अगरचन्द नाहटा कलेक्शन, बीकानेर आदि मुख्य हैं ।

जयपुर राज्य से संबन्धित रिकॉर्ड्स भी अत्यधिक महल के हैं । डी. वी.एस. भटनागर के अनुसार, यह भण्डार (जयपुर रिकॉर्ड्स) ऐतिहासिक तथ्यों को जानने के लिए एक विशाल खजाना है और भण्डार का गहन अध्ययन निश्चित रूप से राजस्थान के इतिहास की अनेक मूलों को सुधारने में सहायक हो सकता है । जयपुर रिकॉर्ड्स को मुख्य रूप से पाँच भागों में बाँटा जा सकता है

(1) खरीता खरीता उन पत्रों को कहते हैं जो एक शासक के द्वारा दूसरे शासक को भेजे जाते थे । इन पत्रों से जयपुर के शासकों की नीति, उनका मुगलों-मराठों से संबंध तथा राजाओं के गोपनीय समझौते, आदि की जानकारी मिलती है ।

(2) अखबारात यह मुगल दरबार द्वारा प्रकाशित दैनिक समाचारों का संग्रह है । इनसे मुगल दरबार की महत्वपूर्ण नियुक्तियाँ एवं राजस्थान के विभिन्न शासकों के कार्य-कलापों की जानकारियाँ मिलती हैं ।

(3) वकील रिपोर्ट्स मुगल दरबार में राजपूत राज्यों का एक प्रतिनिधि रहता था, जिसे वकील कहा जाता था । इन वकीलों के माध्यम से शासकों को मुगल दरबार की गतिविधियों की रिपोर्ट प्राप्त होती थी, जो वकील रिपोर्ट कहलाती थी । इनके अध्ययन से न केवल राजपूत शासकों और मुगल सम्राटों के आपसी सम्बन्धो का पता चलता है, अपितु मुगल दरबार में होने वाली कूटनीतिक घटनाओं, राजनीतिक षड्यन्त्रों, उत्तराधिकार संघर्षो और अमीरों की दलबन्दी की भी जानकारी मिलती है । वकील रिपोर्ट्स से राजस्थान के तिथिक्रम को ठीक से निर्धारित करने में भी सहायता मिलती है । मुगलकालीन इन सम्बन्धों से हिन्दु-मुस्लिम संस्कृतियों के समन्वय की भी जानकारी मिलती है । इनसे मुगलकालीन जनजीवन की भी जानकारी मिलती है ।

(4) परवाना शासक द्वारा अपने अधीन कर्मचारियों अथवा अन्य कर्मचारियों को भेजे गये पत्र फरमान कहलाते थे । इन पत्रों से विभिन्न राज्यों की राजनीतिक घटनाओं के अतिरिक्त सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति की भी जानकारी मिलती है । जयपुर के अलावा अन्य अभिलेखागारों यथा उदयपुर, जोधपुर, कोटा आदि में भी पर्याप्त सामग्री मिलती है । 1878 ई. से कोटा अनुभाग का रिकॉर्ड शुरू होता है । इसमें करीब 6000 बस्ते हैं । प्रत्येक बस्ते में लगभग 6 पत्र सुरक्षित हैं, जो तिथिक्रम में व्यवस्थित हैं । इन्हें चार भागों में विभक्त किया जा सकता है

(अ) दोवर्की दो परतों वाले दस्तावेज दोवर्की नाम से जाने जाते हँ । इन पत्रों में मुख्य रूप से दैनिक प्रशासन, युद्ध संबन्धित खर्चा, घायलों के उपचार आदि पर प्रकाश पड़ता है ।

(ब) जमाबंदी ये पत्र राजस्व से संबन्धित हैं । अधिकतर पत्रों में चुंगी तथा जंगलात का हिसाब आदि है । ये पत्र राज्य की आर्थिक स्थिति जानने के लिए उपयोगी हैं ।

(स) मुल्की ये हिसाब सम्बन्धित बहियाँ हैं जिनमें 3 वर्ष सें लेकर 10 वर्ष तक का हिसाब मिलता है । इनमें राज्य की आमदनी, कर्मचारियों के वेतन आदि से सम्बन्धित ब्यौरा है ।

(द) तलकी इनमें राजाओं के आदेश तथा अन्य राज्य के शासकों, सामन्तों एवं अन्य कर्मचारियों को भेजे हुए पत्रों की नकलें हैं ।

(5) सियाद हजूर तथा दस्तूर कौमवार जयपुर राज्य से सम्बन्धित ये पुरालेख बड़े महत्व के हैं । राज परिवार की दैनिक आवश्यकताओं के खर्च का विवरण हमें सियादहजूर के प्रलेखों में मिलता है । दस्तूर कौमवार में हमें राज्य के अधिकारियों के नाम एवं जातिवार ब्यौरा मिलता है, जिससे उस समय की सामाजिक, धार्मिक तथा आर्थिक स्थिति का ज्ञान होता है ।

1.12 अन्य अभिलेखीय सामाग्री

अन्य अभिलेखागार सामग्री में आमेर रिकॉर्ड जयपुर अभिलेखागार से सम्बन्धित ही हैं । यद्यपि इनमें जयपुर राजस्व से सम्बन्धित सामग्री अधिक है, फिर भी अन्य राज्यों के राजनीतिक, सामाजिक एवं प्रशासनिक इतिहास को लिखने में इसका बडा महत्व है । यहीं सुरक्षित पत्रों में विभिन्न राज्यों के उच्च अधिकारियों द्वारा जयपुर के अधिकारियों को लिखे गये पत्र उल्लेखनीय हैं ।

1585 से 1799 ई. के मध्य दिल्ली बादशाहों द्वारा लिखे गये 140 फरमान, 18 मन्सूर तथा 132 निशान जयपुर रिकॉर्ड में सुरक्षित हैं । फरमान और मन्सूर बादशाह द्वारा अपने सामन्तों, शाहजादों, शासकों या प्रजा को स्वयं अन्य से लिखवाकर भेजा जाता था । इन पत्रों पर तुगरा या राजा का पंजा लगा रहता था । निशान नामक पत्र शाहजादों या बेगमों द्वारा बादशाह के अतिरिक्त अन्य को लिखे गये पत्र कहलाते थे । फरमान एक ओर राजपूत राजाओं की तत्कालीन मुगल शासन की स्थितियों से अवगत कराते हैं तो दूसरी ओर उनके जन-प्रभाव को भी इंगित करते हैं ।

हमें अभिलेखागार में संग्रहित पुरालेख सामग्री में अन्य कई प्रकार के प्रलेख प्राप्त होते हैं । जैसा पूर्व में बताया जा चुका हैं । इनमें अर्जदास्त, हस्बुलहुक्म, रम्ज, अहकाम, सनद, रूक्का, दस्तक, अखबरात आदि हैं । अर्जदाश्त प्रजा द्वारा बादशाहों या शाहजादों द्वारा बादशाहों को लिखे जाने वाले पत्र थे । हस्बुलहुक्म बादशाही आज्ञा से सम्बन्धित थे, जो वजीर अपनी ओर से लिखता था । रम्ज तथा अहकाम बादशाहों द्वारा अपने सचिव को लिखवाई गई टिप्पणी थी, जिसके आधार पर सचिव पूरा पत्र तैयार करता था । सनद नियुक्ति अथवा अधिकार हेतु प्रदान किया जाता था । रूक्का निजी पत्र कहलाता था । परवर्तीकाल में राजा की ओर से प्राप्त पत्र को खास रुक्का कहते थे । दस्तक के आधार पर सामान एक स्थान से दूसरे स्थान पर ला-ले जा सकते थे । यह आधुनिक परमिट के समान था । राज्य और दरबार की कार्यवाहियों की प्रोसिडिंग्स को अखबारात कहा जाता था ।

17वीं शताब्दी से प्राप्त खरीता नामक सामग्री शासकों के पारस्परिक पत्र-व्यवहार हैं । इनका संग्रह खतूत संग्रह कहलाता है । उदाहरणार्थ, जयपुर रिकॉर्ड संग्रहित फारसी-उर्दू लिपि में लिखित खरीता संग्रह को खतूते-महाराजन (1657-1719 ई) कहा जाता है । इसी प्रकार 1712 से 1947 ई. तक के जोधपुर राज्य के संग्रहित खरीते 32 फाइलों को खतूत फाइल के रूप में जाना जाता है । खरीतों से तत्कालीन शासकों की मनोवृत्तियों का अभिज्ञान होता है । साथ ही, इनसे तत्कालीन युग की सामाजिक-धार्मिक-आर्थिक स्थितियों का मूल्यांकन भी होता है ।

राजपूत राज्यों में बहियां लिखने की परम्परा मध्यकाल से ही शुरू हो चुकी थी । जिन बहियों में राजा की दैनिक चर्या का उल्लेख रहता था, उन्हें हकीकत बीहयें कहा जाता था । जिनमें शासकीय आदेशों की नकल होती थी, उन्हें हकूमत री बही, महत्वपूर्ण व्यक्तियों से प्राप्त पत्रों की नकल जिसमें रहती थी, उसे खरीता बही, विवाह आदि से संबन्धित बही, 'ब्याह री बही' सरकारी भवनों के निर्माण से सम्बन्धित बहियाँ, कमठाना बही इत्यादि प्रकार की बहियाँ राज्य अभिलेखागार, बीकानेर में उपलब्ध हैं । सबसे प्राचीन बही राणा राजसिंह (1652-1680 ई) के समय की है । इस बही से राजसिंह के काल में मेवाड राज्य के परगनों की, उनकी आर्थिक आमदनी तथा अन्य प्रकार के हिसाब-किताब की जानकारी मिलती है । दूसरी प्राचीन रही जोधपुर हुकुमत री वही है । इस बही का उपयोग मुगल बद्दशाह शाहजहाँ

की बीमारी से औरंगजेब की मृत्यु तक के सन्दर्भ में महाराजा जसवन्तसिंह युगीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक स्थितियों को जानने के लिए किया जा सकता है ।

ठिकाना दस्तावेजों में बहियों की अपनी विशिष्टता है । इन बहियों के माध्यम से त्यौहार और उन्हें मनाने की विधि, शादी आदि अवसरों पर होने वाले खर्चे तथा विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों का लेखा-जोखा प्राप्त होता है । इनसे नगर में जातियों की संरचना, स्त्रियों की स्थिति आदि के बारे में जानकारी मिलती है । इस प्रकार बहियाँ सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास के लिए महत्वपूर्ण साधन हँ ।

1.13 सारांश

राजस्थान के इतिहास लेखन में पुरातात्विक, साहित्यिक और पुरालेखीय स्रोत आधारभूत सामग्री प्रदान करते हैं । पुरातात्विक स्रोत विश्वसनीयपूर्ण होते हैं जबकि साहित्यिक स्रोतों से मानवीय हस्तक्षेप होने के कारण सन्देह की दृष्टि से देखे जाते हैं । पुरालेखीय सामग्री भी इसी के समकक्ष होती है । यह उल्लेखनीय है कि राजस्थान के इतिहास के स्रोतों के रूप में इस सामग्री की पर्याप्त उपलब्धता है ।

आधुनिक काल के राजपूताने के प्राचीन शोधकों में कर्नल टॉड (1782-1835) पहले व्यक्ति थे । उन्होंने सैकडों शिलालेखों, दानपत्रों, अनेक ग्रंथों, ख्यातों तथा फारसी तवारीखों, दानपत्रों, स्मारकों और पुरातन सामग्री के आधार पर राजपूताने का एनल्स एण्टीक्वीटीज नामक जो इतिहास ग्रन्थ लिखा वह पहला और असाधारण ग्रन्थ था । टॉड ने घोडो हाथियों, ऊँटों आदि पर हजारों मील की यात्रा पर जो कार्य किया, वह उनकी असाधारण गवेषणा, अथाह परिश्रम और कुशाग्र बुद्धि का परिचय देता है । टॉड के 'एनल्स' के पश्चात् ही राजस्थान के इतिहास को यूरोप, अमेरिका और हिन्दुस्तान के साक्षर बर्ग में प्रसिद्धि मिली । यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि टॉड ने अपने ग्रन्थ में भौगोलिक, इतिहासपरक समाजशास्त्रीय, धार्मिक और आर्थिक तथ्यों को प्रस्तुत कर एक मिसाल कायम की । उसने राजपूत जाति की उत्पत्ति, सामन्तशाही, राजस्थान की भू-संरचना, कृषि उत्पादन, अकाल, आय-व्यय, धर्म-सम्प्रदाय, मान्यताएँ एवं विश्वास, स्थापत्य आदि विषयों का पूर्व-मध्यकाल से 1820 तक का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है ।

जहाँ तक टॉड के इतिहास का प्रश्न है, उसके पश्चात् राजस्थान की वीर भूमि में कतिपय ऐसे दिग्गज इतिहासकार हुए हैं जिनके शोध को राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय दर्जा प्राप्त है । इनमें वीर विनोद के लेखक श्यामलदास दधवाडिया (1836-1894), गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (1863-1947), डॉ. दशरथ शर्मा (1903-1976), महाराजकुमार, रघुवीर सिंह (1908-1991), डॉ. गोपीनाथ शर्मा (1909-1996). डॉ. मथुरालाल शर्मा (1896-1976) अत्यन्त उल्लेखनीय है । इन महान् इतिहासकारों का राजस्थान के इतिहास के पुनर्लेखन में जो योगदान है, वह चिरस्थायी है । इन इतिहासकारों ने राजस्थान अथवा इसके विशेष भाग का इतिहास अत्यन्त सावधानी से लिखा तथा टॉड के इतिहास की गम्भीर गलतियों को अध्यवसाय एवं लगन से संशोधित किया । मुनि जिन विजय, अगरचन्द नाहटा इटालियन डॉ. लुई

जिपिओ तैस्सितोरी आदि संग्राहकों ने हमारे लिए इतना कुछ छोडा जिससे टॉड लिखित 'एनल्स' का संशोधन तो हुआ ही साथ ही, उसके द्वारा अधूरे पक्ष भी उजागर हुए ।

1.14 बोध प्रश्न

(क) विस्तृत उत्तरीय प्रश्न

1. राजस्थान के इतिहास को जानने के लिए पुरातात्विक स्रोतों का महत्व बताइये ।
2. मध्यकालीन राजस्थान पर प्रकाश डालने वाले प्रमुख साहित्यिक स्रोतों का विस्तार सहित उल्लेख कीजिए ।
3. आधुनिक राजस्थान के बारे में हमें जिन स्रोतों की छानबीन करनी पडती है, उनका संक्षिप्त परिचय दीजिये ।

(क) लघु स्तरीय प्रश्न

1. राजस्थान के इतिहास के स्रोत के रूप में सिक्कों का महत्त्व समझाइये ।
2. ख्यात साहित्य से आप क्या समझते हैं? नैणसी की ख्यात का महत्व बताइये ।
3. "शिलालेख राजस्थान के इतिहास जानने की रीढ़ की हड्डी हैं ।" कथन की समीक्षा कीजिये।
4. जयपुर रिकॉर्ड पर संक्षिप्त टिपणी लिखिये ।

(ख) बहु विकल्पीय प्रश्न

1. राजस्थान के इतिहास पर सर्वप्रथम कार्य करने वाला ब्रिटिश इतिहासकार था ।
   (अ) ग्रांड डफ (ब) विंसेट स्मिथ
   (स) कर्नल टॉड (द) जॉन मैल्कम
2. राजस्थान के सबसे प्राचीन जो सिक्के प्राप्त हुए है, कहलाते हैं
   (अ) झाडशाही (ब) गधिया
   (स) द्रुम (द) आहत
3. पृथ्वीराज रासो का लेखक है ।
   (अ) जयचन्द सूरी (ब) चन्दरबरदाई
   (स) जयानक (द) चन्द्रशेखर
4. अचलदास खींचीरी वचनिका से कहाँ का इतिहास मुख्य रूप से ज्ञात होता है ।
   (अ) जालौर (ब) जैसलमेर
   (स) अजमेर (द) गागरोन
5. राजस्थान का अबुल फजल किसे कहा गया है?
   (अ) दयालदास (ब) बांकीदास
   (स) नैणसी (द) सूर्यमल्ल भीसण

उत्तर

1. (स) 2. (द) 3. (ब) 4. (द) 5. (स)

1.15 संदर्भ ग्रंथ

1. राजस्थान के इतिहास के स्रोत, जयपुर, 1995 - गोपीनाथ शर्मा
2. राजस्थान के इतिहास के स्रोत, जयपुर, 1988 - कृष्ण स्वरूप गुप्ता एवं गोपाल वल्लभ व्यास
3. युगयुगीन राजस्थान, जोधपुर, 1991 - सुखवीर सिंहगहलोत
4. आधुनिक राजस्थान का इतिहास, जयपुर, 1995 - एम.एस. जैन
5. Rajasthan Through the Ages, Part I, Bikaner, 1996 - Dashrath Sharma
6. Social Life in Medieval Rajasthan, Agra, 1968 - Gopi Nath Sharma

इकाई - 2

प्रागैतिहासिक राजस्थान

(Pre-Historic Rajasthan)

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 भारत में प्रागैतिहासिक काल

2.3 राजस्थान का पुरापर्यावरण एवं भूगोल

2.4 राजस्थान मे प्रागैतिहासिक काल

2.4.1 निम्न पुरा पाषाणकाल

2.4.2 मध्य पुरा पाषाणकाल

2.4.3 उच्च पुरा पाषाणकाल

2.5 मध्यपाषाणकाल

2.6 सारांश

2.7 बोध प्रश्न

2.8 संदर्भ ग्रन्थ

2.0 उद्देश्य

- प्रागैतिहासिक या प्राक् इतिहासकाल जिसे सामान्य भाषा मे पाषाणयुग कहा जाता है
- की अवस्था के विषय मे जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- उन पुरातात्विक प्रमाणों की जानकारी प्राप्त करेंगे जो राजस्थान से प्राप्त हुई है ।
- उस काल के लोगों के जीवन-यापन में प्रयुक्त औजारों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।
- राजस्थान में प्रागैतिहासिककाल के प्रसार-प्रचार और इतिहास के पुनर्निर्माण की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे ।

2.1 प्रस्तावना

वर्तमान 21वीं शताब्दी मे हमे यह जानकर अत्यन्त आश्चर्य होता है कि मानव जाति ने इस धरती पर अपने अस्तित्व के प्रारंभिक चरण से लेकर मध्य पाषाणकाल तक के समय में जो सामान्यत: भारत में 6 लाख वर्ष पूर्व से 10 हजार वर्ष तक माना जाता है, शिकारी / संग्रहकर्ता के रूप मे बिताया, कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य ने नव पाषाण काल मे खेती करना व कृषि कार्य के माध्यम से उत्पादन करना सीखा । इससे पूर्व वह पूर्णत: प्रकृति पर निर्भर रहा । अपनी आजीविका के लिए प्रकृति से प्राप्त फल, कन्द मूल, पशु पक्षियों को मारकर अपना आहार जुटाता था इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारंभिक मानव प्रकृति और पर्यावरण पर पूर्णत: आश्रित रहा था । मनुष्य आज से पाँच लाख वर्ष पूर्व धरती पर अवतरित हो गया था और प्रागैतिहासिक काल में भारत के विभिन्न क्षेत्रों मे इसके निवास

के प्रमाण मिले हैं, इसलिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि भारत मे मानव इतिहास के निवास के बाद उसके औजार परम्परा मे आये बदलाव के साथ-साथ राजस्थान मे प्रागैतिहासिक संस्कृति के बारे में जानकारी प्राप्त की जावे ।

प्रागैतिहासिक पुरातत्व बहुधा नदियों के किनारे पहाड़ियों, गुफाओं, शैलाश्रयों आदि मे प्राप्त होते हैं क्योंकि ऐसे क्षेत्रों मे मनुष्य के निवास के लिए प्राकृतिक रूप से निर्मित निवास स्थल गुफाएँ एवं शैलाश्रय के रूप मे थे एवं खाद्य सामग्री के रूप में कन्द-मूल आदि बहुतायत मे उपलब्ध थे ।

भारतीय प्राक् इतिहास में यूरोप एवं अफ्रीका की प्रागैतिहासिक संस्तुतियों से अनेक समानताएं पाई जाती है इससे यह भी आभास होता है कि मानवों का पलायन संस्कृति के आदिकाल से ही होता है । 1816 ई मे आर.बी.फ्रूट ने प्रथमतः भारतीय पुरातात्विक संस्कृतियों का विभाजन पुरापाषाणकाल नवपाषाणकाल प्रारंभिक लौहकाल एवं उदर लौहकाल किया। 1962 ई. मे प्रथम एशियाई संगोष्ठी नई दिल्ली मे हुई जिसमें पूर्व नवपाषाण युगीन संस्कृति के लिए अफ्रीका संस्कृति के नियतीकरण का प्रयोग स्वीकार किया गया, इस विभाग में निम्न पुरापाषाणकाल, मध्य पुरापाषाणकाल का स्थान तो था, परन्तु विभिन्न क्षेत्रों मे सर्वेक्षण एवं उत्खननों के परिणामस्वरूप प्रकाश मे आने वाले उपकरण ब्लेड और ब्यूरीन का कोई स्थान नही था, ये उपकरण यूरोपीय उच्च पुरा पाषाणकाल के समकक्ष थे, प्रो.एचडी.सांकलिया ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक प्री हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान में यूरोपीय सांस्कृतिक विभाग का प्रयोग प्रथम बार किया, भारत के अधिकांश भागों में इस संस्कृति के उपंकरण(ब्लेड एवं ब्यूरीन) बहुतायत से उपलब्ध होते हैं एवं यह विभाजन सर्वसम्मति से स्वीकार किया जाने लगा ।

राजस्थान का रेगिस्तान सिंध, पंजाब व गुजरात के क्षेत्रों मे 4-5 लाख वर्ग मील के विस्तृत भू-भाग में फैला हुआ है । यह एक पर्वतीय प्रदेश है । अरावली पर्वत शृंखला मरुप्रदेश को दो भागो में विभाजित करती हैं । इसके उत्तर-पश्चिम में थार का रेगिस्तान है और दक्षिण पूर्व भाग में मेवाड़ की पहाडियाँ और पठार है । उत्तर मे घग्घर और सरस्वती नदियाँ है, अमलानंद घोष ने प्राचीन सरस्वती और दृषदावती नदियों के किनारे प्राचीन पुरास्थलों को खोजा था वर्तमान में ये नदियां विलुप्त हो चुकी है । दक्षिण पूर्व में माही व बनास नदियों के क्षेत्र में बनास संस्कृति के अवशेष मिलते हैं ।

राजस्थान के इस भू-भाग में परागकणों का कई वैज्ञानिकों एवं पुरावनस्पीतशास्त्रियों ने अध्ययन करके यह पता लगाया कि प्रागैतिहासिक काल में राजस्थान का भू-भाग अधिक आर्द्र और हरा-भरा था । मानव जीवन के लिए पानी की आपूर्ति अनिवार्य है । यहां की झीलें डीडवाना सांभर, लूणकरणसर, बप्प, मलहार और पंचपदा आदि तत्कालीन समय मीठे पानी की झीलें रही थी । यह क्षेत्र मनुष्य के रहने के अनुकुल था, इसलिए प्रागैतिहासिक काल में मनुष्यों ने राजस्थान को अपना निवास स्थान बनाया ।

2.2 भारत मे प्रागैतिहासिक कल

भारत में पुरापाषाण युगीन सभ्यता का विकास प्लाइस्टोसीन (अतिनूतन) काल या हिमयुग मे हुआ । आद्य इतिहास (होलीसीन) काल के प्रथम अवशेष महाराष्ट्र के बोरी नामक स्थान से मिले हैं । धरती पर मानव की प्रथम उपस्थिति मध्य प्लाइस्टोसीन अर्थात पाँच लाख वर्ष पूर्व की नही ठहरती हैं, इस काल में पृथ्वी की सतह का बहुत अधिक भाग खासकर अधिक ऊँचाई पर और उसके आस-पास

के स्थान बर्फ की चादरों से ढका रहता था, किन्तु पर्वतों को छोड उष्ण कटिबंधीय क्षेत्र बर्फ से मुक्त रहता था ।

पुरापाषाणयुग की अवस्थाएँ

(1) निम्न पुरापाषाण काल - 5 लाख से 50 हजार ई.पू के बीच

(2) मध्य पुरापाषाण काल - 50 हजार से 40 हजार ई.पू के बीच

(3) उच्च पुरापाषाण काल - 40 हजार से 10 हजार ई.पू के बीच

भारतीय निम्न पुरापाषाण कालीन अध्ययन की दृष्टि से विन्ध्य का पठार सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, इस क्षेत्र के अन्तर्गत अहमदाबाद और मिर्जापुर जिले आते हैं, इसके उत्तर मे गंगाघाटी है और दक्षिण में सोहन नदी है, विन्ध्य के पठार की प्रमुख नदी बेलन है इस क्षेत्र की पुरा पाषाणकालीन संस्कृतियों का क्रमबद्ध रूप नदी के सेक्सन मे मिलता है।

पश्चिमी भारत में पुरापाषाण कालीन संस्कृतियों की खोज का श्रेय डॉ. एच.डी.सांकलिया और वी.एन.मिश्रा को जाता है, पश्चिमी भारत मे माही, साबरमती, बेडच, वागन, गंभीरी, कदमाली, लूनी आदि नदियों के किनारे से एँश्युलियन परम्परा के उपकरण खोजे गए, राजस्थान के डीडवाना क्षेत्र में डेकन कॉलेज पूना द्वारा किये गये

शोधकार्य से यह ज्ञात होता है कि निम्न पुरापाषाण कालीन मानव राजस्थान में 3 लाख 90 हजार वर्ष आ गया था । यहाँ से प्राप्त कार्बन 14 तिथि से साबित होता है कि राजस्थान सम्पूर्ण भारत में निम्न पुरापाषाण कालीन मानव का सर्वाधिक प्राचीन केन्द्र था ।

भारत में निम्न पुरापाषाण कालीन संस्कृति की खोज का श्रेय सर्वप्रथम आर.ब्रुस फूट को जाता है उन्होने 1863ई. में मद्रास के पास पल्लवरम नामक स्थान से अवशेष खोजे परन्तु निम्न पुरापाषाणकाल की वैज्ञानिक एवं विधिवत तरीके से खोज का श्रेय येल एवं केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के एच.डी.ई. टेरा और टी.टी.पेटरसन को जाता है जिन्होनें कश्मीरघाटी, पोतवार के पठार, मद्रास की कार्ट लॉयर नदी तथा होशंगाबाद घाटी मे विधिवत सर्वेक्षण का कार्य प्रारंभ करके निम्न पुरापाषाणकाल की खोज की, इसके पश्चात एम.सी.बीर्कट ने आन्धप्रदेश मे कलकत्ता विश्वविद्यालय ने मयूरभंज में कार्य किया, इस प्रकार यह प्रमाणित हो गया कि भारत में निम्न पुरापाषाणकाल मे मानव कांगड़ा और कश्मीर के हिम क्षेत्र से प्रारम्भ होकर, राजस्थान व कच्छ के रण क्षेत्र, आसाम के अतिवृष्टि वाले क्षेत्र, बिहार के बीहड जंगलों तथा कोंकण, सौराष्ट्र आदि क्षेत्र मे फैला हुआ था, निम्न पुरापाषाणकाल को पुरातत्ववेत्ता 5 लाख से 50 हजार वर्ष ई.पू के मध्य भारत मे विकसित हुआ मानते है ।

2.3 राजस्थान का पुरा पर्यावरण एव भूगोल

राजस्थान प्रदेश 23.' 03 से 30.' 12 उत्तरी अक्षांश एवं 60.' 30 से 78.' 17 पूर्वी देशान्तर रेखाओं के मध्य स्थित है । राज्य का कुल क्षेत्रफल 3,42,274 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में स्थित यह भू-भाग अपनी अनेकता मे एकता समेटे हुए है । इसके 66000 वर्ग मील रेतीले क्षेत्र के अतिरिक्त 430 मील लम्बे अरावली पर्वत शृंखला ने भौगोलिक दृष्टि से इसे विभाजित कर रखा है । अरावली पर्वत की शृंखला आबू पर्वत के गुरु शिखर से प्रारम्भ होकर अलवर के सिंघाना तक विस्तृत है । विश्व की इस प्राचीन पर्वत श्रृंखला का उत्तर-पश्चिमी भाग वर्षा के अभाव मे सूखा रह गया है, यह क्षेत्र अरावली पर्वत की सूखी ढाल पर है, उत्तर-पश्चिमी भाग विशेषकर जोधपुर, जैसलमेर व बीकानेर का भू-भाग आता है

। इस प्रदेश की जलवायु शुष्क है । यहां पर विशाल एवं उच्च बालू रेत के टीलों की प्रधानता है इस क्षेत्र मे वर्षा के अभाव के कारण प्रागैतिहासिककाल मे बसावट की गहनता का अभाव दिखाई देता है । इस क्षेत्र मे बहने वाली प्रमुख नदियों मे लूनी नदी महत्वपूर्ण है । यह अजमेर के आनासागर से निकल कर जोधपुर, बाड़मेर व जालौर जिलो का सिंचन कर कच्छ की खाडी मे जा समाप्ती हैं । सूकडी, जोजरी, बांडी सरस्वती, मीठडी आदि इसकी सहायक नदियां है । अरावली पर्वत शृंखला के दक्षिणी - पूर्वी भाग में अच्छी वर्षा होती है तथा यहां कई नदियों बहती है इसलिए राजस्थान का यह भाग अत्यन्त उपजाऊ हैं । इस क्षेत्र मे रहने वाली प्रमुख नदियों मे चम्बल बनास, बेडच,बनास की सहायक कोठारी कालिसिंध, माही, साबरमती आदि नदियां हैं ।

सामाजिक विकास के प्रारंभिक स्तर पर प्रागैतिहासिक मानव के इतिहास का स्वरूप ज्यादा इस पर निर्भर था कि वह किस प्रकार वहां तत्कालीन पर्यावरण के साथ परस्पर सम्पर्क करता था । बिना भूगोल के इतिहास अधूरा रहता है और अपने एक प्रमुख तत्व से वंचित हो जाता हैं । यही कारण है कि इतिहास को मानव जाति के इतिहास और पर्यावरण का इतिहास दोनो ही परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं । मिट्टी, वर्षा, वनस्पति, जलवायु और पर्यावरण मानव संस्कृति के विकास मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है ।

राजस्थान की जलवायु का प्रागैतिहासिक काल मे अपना महत्व रहा है 1960 के दशक में पुरावनस्पति शास्त्रियों पुरातत्ववेत्ताओं ने इस क्षेत्र का सर्वेक्षण किया जिसमें अमलानन्द घोष, गुरूदीपसिंह अल्चिन, गोढी, हेगडे, धीर, वी.एन.मिश्रा, सिन्हा आदि विद्धान सम्मिलित थे । इन्होने सर्वप्रथम लूनी बेसीन मे सर्वेक्षण के दौरान पाया कि यहां

10,000 वर्ष पूर्व सांभर, डीडवाना, पुष्कर और लूणकरणसर क्षेत्र का जलवायु मनुष्यों के रहने के अनुकूल था । इस प्रदेश की मिट्टी रेतीली थी यहां पर उष्णकटिबंधीय क्षेत्र अधिक होने से वर्षा का अभाव था जबकि दक्षिणी-पूर्वी भाग में मिट्टी अधिक उपजाऊ थी इसलिए यहां सिचाई के अभाव के बावजूद अच्छी फसलें हों जाती थी । इस भू-भाग मे ताम्रपाषाण युगीन बस्तियां काफी संख्या मे फैली हुई है । इसकी भौगोलिक अवस्थाओं को देखते हुए प्रतीत होता है कि प्रागैत्हिासिककालीन संस्कृति का विस्तार इस भू-भाग में जलवायु के अनुकूल रहने के कारण हुआ होगा ।

2.4 राजस्थान मे प्रागैतिहासिक चरण

राजस्थान के मरूभूमि क्षेत्र मे प्रारंभिक पुरापाषाणकालीन संस्कृति के पाए जाने वाले प्रस्तर उपकरणों मे हस्तकुठार (हैण्ड एक्स) कुल्हाडी, क्लीवर और खंडक(चौपर) मुख्य है यहाँ से प्राप्त प्रस्तर उपकरण सोहनघाटी क्षेत्र में पाए जाने वाले प्रस्तर उपकरणों की तरह ही है । प्राप्त उपकरण पंजाब की सोन संस्कृति एवं मद्रास की हस्त कुल्हाडी संस्कृति के मध्य संबंध स्थापित करती है ।

चित्तौडगढ (मेवाड) मे सर्वेक्षण कर डॉ.वी.एन मिश्रा ने 1959 में गंभीरी नदी के पेटे से जो चित्तौड़गढ के किले के दक्षिणी किनारे पर स्थित है 242 पाषाण उपकरण खोजे थे । यह 242 उपकरण दो कर सर्वेक्षण कर एकत्रित किए गए । प्रथम संग्रह मे 135 उपकरण तथा दूसरे संग्रह मे 107 उपकरण एकत्र किए गए हँ । 135 उपकरणों मे से तीन हस्त कुल्हाड़ी दो छीलनी (स्क्रेपर) एक कछुए की पीठ, के सदृश क्रोड और नौ फलक हैं । द्वितीय संग्रह में सात हस्त कुल्हाड़ी दो विदलक (क्लीवर) तथा चार क्रोड हैं । वि.एन.मिश्रा से पूर्व 1953-54 में भारतीय पुरातत्व एवं सर्वेक्षण दिमाग के प्रयासों से

चित्तौडगढ के गंभीरी और बेड़च नदी के पेटे से (चौपर हस्त कुल्हाडी तथा फलक) प्रस्तर उपकरण खोजे थे । राजस्थान के प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति को जानने के लिए यह खोज अत्यन्त महत्वपूर्ण थी और इससे प्रारंभिक पाषाण संस्कृतियों के अध्ययन की व्यापक संभावनाएँ निर्मित हुई थी, इसी क्रम में 1954-55 से 1963-64 तक इस मेवाड के भू-भाग मे आने बाले पुरातत्ववेत्ताओं द्वारा प्राकइतिहास की दृष्टि से सर्वेक्षण किया गया । जिसके अन्तर्गत गंभीरी बेडच, कादमली और चंबल नदी के समीपवर्ती क्षेत्रों से जिसमें चित्तौड़ नगरी और भैसरोड़गढ, सोन्नीता, बल्लूखेडा, बानसेन, भूटिया, चांपाखेडी, हाजारी खेड़ी, सिरडी तथा टुकरडा से क्वार्टजाईट, चर्ट जैस्पर, चेल्सीडोनी तथा नोट आदि के प्रस्तर उपकरण मिले ।राजस्थान मे प्रागैतिहासिक काल का विकास कई चरणों मे हुआ है । अरावली पर्वतमाला यहां के क्षेत्र को उत्तरी-पूर्वी और दक्षिणी-पश्चिमी भागों मे विभाजित करती है, पश्चिमी भाग मरूस्थलीय है और मारवाड के नाम से जाना जाता है, जहां पर छोटी-छोटी पहाड़िया रेत के टीलों के रूप में विकीसत हुई हैं । इस क्षेत्र मे लूणी नदी बहती है पूर्वी भाग मे बेडच, गंभीरी, वाजन, कांदमली और चंबल नदियां बहती हैं, यह क्षेत्र मेवाड के नाम से जाना जाता हैं । इस क्षेत्र में पुरावनस्पति वैज्ञानिकों, पुराविदो एवं अन्य विद्वानों को समय-समय पर किये गये उत्खननों सर्वेक्षणों से नदियों के किनारों पर विभिन्न प्रकार के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं जो तत्कालीन मान्व के क्रिया कलापों के बारे में जानकारी देते हैं । राजस्थान के इस भू-भाग से प्राप्त पाषाण उपकरणों के आकार प्रकार एवं इन पर धार बनाने के लिए फलकीकरण के आधार पर किये गये परिवर्तनों को देखते हुए उपकरणों के निर्माण व विकास को निम्न भागों मे बांटा गया है-

2.4.1 निम्न पुरापाषाणकालीन उपकरण

इस काल के उपकरणों में मुख्यत: पेबुल, उपकरण, हैन्डएक्स, क्लीवर फ्लेक्स पर बने ब्लेड और स्क्रेपर, चौपर और चांपिंग उपकरण आदि हैं, इन्हें कोर उपकरण समूह मे सम्मिलित किया जाता है, इन उपकरणों के निर्माण हेतु क्वार्टजाइट (Quartzit) ट्रेप (Trap) जैसे कठोर पाषाणों का प्रयोग किया जाता था । राजस्थान मे इन उपकरणों को प्रकाश मे लाने का श्रेय प्रो.वी.एनमिश्रा, एस.एन.राजगुरू, डी.पी अग्रवाल, गोढी, गुरूदीप सिंह वासन, आर.पी.धीर को जाता हैं, इन्होनें जायल और डीडवाना मेवाड मे चित्तौड़गढ(गंभीरी बेसीन) कोटा (चम्बल बेसीन) और नगरी (बेड़च बेसीन) क्षेत्रों में अनेक निम्न पुरापाषाणकालीन स्थल स्तरीकृत ग्रेवेल से प्राप्त किये । इन ग्रेवेलो से तत्कालीन समय की जलवायु पर भी पर्याप्त प्रकाश पडता हैं ।

2.4.2 मध्य पुरापाषाण कालीन उपकरण

इस काल की संस्कृति के अवशेष भारत में सर्वप्रथम नेवासा (महाराष्ट्र) से प्राप्त हुए है, इसलिए प्रो.एच.डी. सांकलिया ने इस संस्कृति के उपकरणों को नवासा उपकरण का नाम दिया हैं । बीसवी शताब्दी के साठवें दशक के बाद हुई खोजों के फलस्वरूप मध्य पुरापाषाणकाल का भारत के सभी भागों मे विस्तार मिला हैं । इस काल की संस्कृति के अवशेष महाराष्ट्र, कर्नाटक, आन्धप्रदेश, तमिलनाडु उड़ीसा, बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, उत्तरी केरल, मेघालय, पंजाब और कश्मीर के विभिन्न स्थलों से प्राप्त हुए हैं ।

महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक तथा उत्तरप्रदेश की नदी घाटियों के क्षेत्र से इस संस्कृति के प्रमाण निम्नपुरापाषाण काल और उच्च पुरापाषाण काल के बीच मे मिलते है इसलिए इस संस्कृति को मध्यपुरा पाषाणकाल के नाम से जाना जाता हैं । मध्य पुरापाषाण काल के स्थल निम्न पुरापाषाणकाल की तुलना में संख्या मे अधिक प्राप्त हुए हैं, जिसके आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने यह माना हैं कि इस काल में जनसंख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई थी । मध्य पुरापाषाणकालीन संस्कृति के स्थलों को मुख्य रूप से तीन भागो मे विभाजित किया जा सकता है -

(i) Cave & Rock Shelter Site इस प्रकार के उपकरणों के उदाहरण भीम बैठका के शैलाश्रयों से मिलते है, जो मध्य प्रदेश में स्थित हैं । (ii) Open air work Shopes site ऐसे पुरास्थलों से तात्पर्य यह हैं कि मध्यपुरापाषाणकालीन मानव उपकरण बनाता था, यह क्षेत्र कई हैक्टयर मे फैला हुआ होता हैं इस प्रकार के पुरास्थल कर्नाटक में काफी संख्या मे मिले हैं । (iii) River site ऐसे पुरास्थल कृष्णागोदावरी, नर्बदा पंजाब के सोहन नदी आदि के किनारों से प्राप्त होते हैं । नदी किनारों के पुरास्थलों से एक लाभ यह होता हैं कि इनके उपकरणों का सापेक्ष निर्धारण किया जा सकता है ।

पुरापाषाण काल के द्वितीय चरण से संबंधित संस्कृति को मध्यपुरापाषाण के नाम से जाना जाता हैं । स्तरीकरण की शृंखला में इस संस्कृति के अवशेष निम्न पुरापाषाणकाल के ऊपरी स्तरों से प्राप्त होते हैं । दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान में इस संस्कृति के अवशेष कंदमाली नदी के किनारे भूटिया, हजारा खेड़ी, चांपाखेडी तथा पश्चिमी राजस्थान में सूनी बेसीन से प्राप्त होते है । प्रो.वी.एन मिश्रा ने बताया कि चित्तौड के निकटवर्ती क्षेत्र में निम्न पुरापाषाण व मध्य पुरापाषाण काल के मध्य कोई अन्तराल नहीं था, निम्न पुरापाषाणकाल में जो हैन्डएक्स और क्लीवर क्वार्टजाईट के निर्मित होते थे, वे मध्य पाषाणकाल में चर्ट से निर्मित होने लगे थे । इस काल के उपकरणों के निर्माण मे फ्लेक्स तकनीक का प्रयोग किया गया हैं, राजस्थान इस संस्कृति के पुरास्थलों मे एकाएक संख्या में वृद्धि दिखाई देती हैं, पुराविदो ने इसका कारण जनसंख्या मे वृद्धि माना हैं इस काल में हैन्डएक्स, स्क्रेपर, बोरर पोइन्ट आदि उपकरण बनाये जाते थे ।

मध्य पुरापाषाणकालीन संस्कृति में तृतीय श्रेणी के प्राप्त पुरास्थलों का विशेष महत्व था, क्योंकि नदी के किनारे के सेक्शन में विभिन्न कालों में हुई मिट्टी के जमाव से पाषाणकालीन उपकरणों की तुलनात्मक स्थिति ज्ञात की जा सकती है और इस अवस्था के ऐसे अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं । सामान्यत: मध्य पुरापाषाणकालीन उपकरण ग्रेवल डिपोजिट के मिलते हैं । ग्रेवल डिपोजिट से तात्पर्य छोटे-छोटे कंकरों की सतह से है, राजस्थान में ग्रेवल डिपोजिट के साथ रेत का जमाव भी मिलता हैं । राजस्थान के कुछ ऐसे स्थलों के नाम लूनी बेसिन क्षेत्रों मे मिले हैं, इसी के आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने यह मत व्यक्त किया हैं कि मध्य पुरापाषाणकाल में रेत का जमाव इस तथ्य का सूचक हैं कि इस समय पर्यावरण ने कुछ समय के लिए शुष्क अवस्था आई थी परन्तु मध्य पुरापाषाणकाल की संस्कृति के समय की किसी भी प्रकार की वनस्पति के परागकण नहीं मिलने के कारण इस काल की जलवायु के सम्बन्ध में कुछ निश्चित रूप से कहना संभव नही हैं । महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश एवं उत्तरप्रदेश की बेलनघाटी से कुछ जानवरों के जीवाश्म मिले हैं जिसके आधार पर पुरातत्ववेत्ताओं ने अनुमान लगाया है कि इस काल में हिरण जंगली सांड और गैंडे जैसे जानवर थे । मध्यपुरारगषाणकाल के औजारों को फ्लेक उपकरण फैक्ट्री भी कहा जाता है । क्योंकि इस काल की संस्कृति के अधिकांश उपकरण

फ्लेक(चिप्पड़) पर बने हुए मिले हैं । मध्य पुरापाषाणकाल के उपकरण सामान्यत: दो विधियों से बनाये गये थे - (1) Levdious इस पद्धति से तात्पर्य यह हैं कि मूल पत्थर जिसे कोर कहा जाता हैं इस पर एक - दूसरे पत्थर की सहायता से फ्लेक निकाला जाता था, उस फ्लेक की सतह उभरी हुई होती थी इस विधि से मनचाहे आकार का फ्लेक्स प्राप्त किया जाता था, इस पद्धति को Levdious पद्वति इसलिए कहा जाता हैं क्यों इस प्रकार के उपकरण प्रथम बार पेरिस के Levdious नामक स्थान से मिले थे ।

(2) Block on Block तकनीकी - इस पद्धति के अन्तर्गत जिस पेबुल से फ्लेक्स निकाला जाता था, उसको हाथ मे पकड़ लिया जाता था और इस पेबुल को जमीन पर स्थिर पत्थर पर रखकर जिस पत्थर का कोना नुकीला होता था उसे जोर से मारा जाता था, इस प्रकार जो फ्लेक्स प्राप्त होता था, उससे स्क्रेपर बनाया जाता था ।

मध्य पुरापाषाणकालीन संस्कृति के मुख्य प्रस्तर उपकरण-

(1) स्क्रेपर- इनके विभिन्न प्रकार होते हैं । कुछ स्क्रेपर तीखी और सीधी धार बाले हैं, इन सीधी धार बाले स्क्रेपर को पुन: दो भागो मे बांटा जाता हँ, कुछ मे धार एक ओर होती थी तो कुछ में दोनो ओर होती थी, इसके अतिरिक्त स्क्रेपर, उतलधार वाले व अवतल धार वाले होते थे ।

(2) पोइन्टस्

(3) बोरर

(4) नाईफ (चाकू जैसे)

मध्य पुरा पाषाण काल में निम्न पुरापाषाणकालीन संस्कृति के मनुष्यों द्वारा प्रयुक्त उपकरणों में हैण्डएक्स और क्लीवर परम्परा का चलन मिलता हैं ।

2.4. उच्च पुरापाषाणकाल -

1970 से पूर्व तक यह माना जाता था कि भारत में उच्च पुरापाषाण काल का अभाव रहा हैं परन्तु बीसवीं शताब्दी के सातवें एवं आठ्वे दशक में पुरातत्व वेत्ताओं ने इस काल की संस्कृति के अध्ययन हेतु सर्वेक्षण कर इस ओर शोधकार्य आरंभ किया । जिसमें उत्तर प्रदेश तथा बिहार के दक्षिणी पठारी क्षेत्र मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्नाटक, गुजरात और राजस्थान से इस काल की संस्कृति के प्रमाण अस्तित्व में आयें । उच्च पुरापाषाणकाल के प्रस्तर उपकरणों की मुख्य विशेषता ब्लेड उपकरणों की प्रधानता रही । ब्लेड सामान्यत: पतले और संकरे आकार के लगभग समानान्तर पार्श वाले उन पाषाण फलकों को कहते हैं, जिनकी लम्बाई उनकी चौडाई की कम से कम दुगुनी होती हैं । उच्च पुरापाषाणकाल मे मनुष्यों ने अपने प्रत्येक कार्यो के लिए विशिष्ट प्रकार के उपकरण बनाने की तकनीकी विकीसत कर ली थी । इस काल की संस्कृति का प्रधान उपकरण ब्यूरीन (burin) था । इससे तात्पर्य ऐसे उपकरण से हैं जो छिलने अथवा नक्काशी करने के काम में प्रयुक्त होता था दूसरे शब्दों मे तक्षणी भी कहा जा सकता हैं । इसका प्रयोग हड्डी, हाथीदाँत, सींग आदि की नक्काशी करने के काम मे लिया जाता था इस काल की संगति की दूसरी विशेषता यह रही कि आधुनिक मानव जिसे जीव विज्ञान की भाषा में होमोसेपियन्स (Homo Sapines) कहते है । इसी काल मे पृथ्वी पर अवतरित हुआ था।

उच्च पुरापाषाणकाल से संबंधित संस्कृति के उपकरणों की खोज का श्रेय आस्ट्रेलियन नेशनल यूनिवर्सिटी, कैनबरा के ग्रुप के साथ, गुरूदीपसिंह, वी.एन.मिश्रा आदि को जाता हैं, राजस्थान में बूढ़ा पुष्कर से इस संस्कृति के उपकरण प्राप्त हुए हैं ये उपकरण मुख्यत: ब्लेड पर निर्मित हैं यहां से प्राप्त उपकरण मध्य पुरापाषाणकाल की तुलना में अधिक विकसित है और फलक ब कोर पर निर्मित उपकरण भी मिले हैं । ये उपकरण अपेक्षाकृत अधिक लम्बे एवं पतले हैं, ब्लेड ब्यूरिन इस संस्कृति के प्रमुख उपकरण हैं । पाषाण निर्मित उपकरणों के निर्माण में चर्ट, चेल्सीडोनी, अगेट और जैस्पर जैसे मुलायम प्रस्तरों का प्रयोग उपकरणों के निर्माण में किया गया हैं, कहीं-कहीं पर क्वार्टजाइट जैसे कठोर पाषाण का प्रयोग भी किया गया हैं । उच्च पुरापाषाणकाल के उपकरण लाइम स्टोन की पहाडियों सोजत से जो सूनी नदी की घाटी में भी सर्वेक्षण के दौरान प्रकाश में आये है ।

बोध प्रश्न - 1

निम्नलिखित प्रश्नो को सावधानी से पढे और सही तथा सबसे उपयुक्त पर निशान लगाएँ -

1. पुरापाषाणकालीन संस्कृति को तीन चरणों मे किस आधार पर विभक्त किया गया है?

(क) जलवायु में परिवर्तन

(ख) पत्थर के औजारों के प्रकार

(ग) पशु-पक्षी के अवशेषों के आधार पर

(घ) पत्थर के औजारो के प्रकार, मौसम मे परिवर्तन और पशु पीक्षओं के अवशेषों के

2. प्रागतिहासिक समाज का अध्ययन करने मे प्रमुख स्त्रोत क्या है ?

(क) साहित्यिक स्त्रोतों की सहायता सें

(ख) सिक्को की सहायता सें

(ग) शिलालेखों की सहायता से

(घ) पुरातात्विक अवशेषो की सहायता से

3. निम्नपुरापाषाणकालीन संस्कृति के औजार हैं -

(क) हाथ की कुल्हाड़ी और चीरने के उपकरण

(ख) चीरने व काटने के उपकरण

(ग) ब्लेड, क्रोड ब नुकीले उपकरण

(घ) काटने के प्रस्तर उपकरण

4. पुरापाषाण युगीन अर्थव्यवस्था थी -

(क) भोजन उत्पादन पर आधारित थी ।

(ख) शिकार पर आधारित थी ।

(ग) कंदमूल फल के संग्रहण पर आधारित थी ।

(घ) जंगली जानवरों के शिकार पेड-पौधो से प्राप्त कंदमूल फल के संग्रह पर आधारित थी ।

2.5 मध्य पाषाण

मध्य पाषाण का मानव इतिहास में एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक क्रम माना जाता हैं । पुराविदो का मानना है कि इस काल में पृथ्वी के धरातल पर नदियों, पहाड़ों व जंगलों का स्थिरीकरण हो गया

था तथा अब पुराप्रमाण भी अधिक संख्या में मिलने लगते हैं । भारत में मध्य पाषाणकालीन स्थल निम्न स्थलों से प्राप्त होते हैं -

1. बाडमेर मे स्थित तिलवाडा 2. भीलवाड़ा मे स्थित बागोर, 3. मेहसाणा मे स्थित लंघनाज 4. प्रतापगढ़ मे स्थित सरायनाहर, 5. उत्तरप्रदेश मे स्थित लेकडुआ, 6. मध्य प्रदेश होशंगाबाद मे स्थित आदमगढ़ 7. वर्धमान (बंगाल) जिले ने स्थित वीरभानपुर, 8. दक्षिण भारत के वेल्लारी जिले में स्थित संघन कल्लू ।

मध्य पाषाणकालीन सर्वाधिक पुरास्थल गुजरात मारवड़ एवं मेवाड के क्षेत्रों से प्राप्त होते हैं इस काल में एक ओर यहां देखने में आता हैं कि मध्यपाषाणकालीन मानवों ने अब अनेक ऐसी बस्तियों की और प्रस्थान किया था जो पुरापाषाणकाल की अपेक्षा नये थे इस कारण यह माना जा सकता है कि इस काल मे जनसंख्या की वृद्धि हुई होगी ।

मध्यपाषाणकालीन मानव ने प्रधान रूप से जिन स्थलों को अपने निवास के लिए चुना उनको निम्न भागो मे विभक्त किया जा सकता हैं - 1. रेत के थुहे- मध्यपापाणकालीन मानव ने रेत के थुहों को अपना निवास स्थान बनाया था । रेगिस्तानी क्षेत्रों मे रेत के थुहों की बालू अपेक्षाकृत अधिक जमाव वाली होती है इसलिए इन स्थानों मे तत्कालीन मानव ने अपना निवास स्थान बनायें जिनके समीप पानी पर्याप्त मात्रा मे उपलब्ध रहा होगा । नागौर जिले में स्थित डीडवाना और सांभर झील जो अब नमक के प्रमुख स्रोत हैं दस हजार वर्ष पूर्व मीठे पानी की झीलें थी इससे यह सिद्ध होता हैं कि इन स्थानों में मध्यपाषाणकालीन मानव रहा होगा । सांभर और डीडवाना से लिये गये मिट्टी के नमूनों से तत्कालीन वनस्पति की सूचना प्राप्त होते हैं जिसके आधार पर यहां कहा जा सकता है कि मध्यपाषाणकालीन मानव झाड़ी और कांटेनुमा वनस्पति से परिचित था । 2. शैलाश्रय- मध्यभारत के रिमझिम सतपुड़ा और कैमुर पर्वतों मे शिलाओं और शैलाश्रयों में मध्यपाषाणकालीन मानव के सर्वाधिक निवास स्थल थे, इन शैलाश्रयों से मध्यपाषाणकालीन मानवों के सर्वाधिक प्रमाण मिलते है । 3. चट्टानी क्षेत्र - मेवाड मे चट्टानों से संलग्न मैदानी क्षेत्रों में मध्यपाषाणकालीन स्थल मिलते हैं दक्षिण में भी ऐसे स्थल मिलते हैं इन चट्टानी मैदानों के क्षेत्रो से जो मध्य पाषाणकालीन स्थल मिले हैं वह छोटी अवधि के होते थे क्योंकि चट्टानी क्षेत्रों मे पानी वर्ष भर मे तीन या चार माह से अधिक नही रहता था । मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के अवशेष ही एवं पश्चिमी राजस्थान में सर्वप्रथम अस्तित्व में आये तिलवाड़ा पुरास्थल बाडमेर जिले के पूर्वी हिस्से मे है, वी.एन.मिश्रा ने इस पुरास्थल पर उत्खन्न कर प्रस्तर निर्मित लघु अष्म उपकरणों को खोजा, इन उपकरणों के निर्माण में प्रेशर तकनीक का प्रयोग किया गया था । उपकरणों को बनाने में प्रयुक्त मुख्य प्रस्तर चर्ट चेल्सीडोनी था । राजस्थान मे इस काल की तिथि 8000 B.C. निर्धारित की है ।

बागोर - अक्षांश 25.° 23 एवं 74.° 23 पूर्वी देशान्तर पर पूर्वी राजस्थान के अभी तक ज्ञात मध्य पुरा पाषाणिक पुरास्थलों में सबसे महत्वपूर्ण है । जो बनास नदी की सहायक कोठारी नदी के बायें तट पर भीलवाड़ा से पश्चिम में स्थित हैं । बागोर के लगभग 7 मीटर ऊँचे वायु जनित निक्षेप से निर्मित रेतीले टीले को स्थानीय लोग महासती कहते है । यह टीला पूर्व से पश्चिम 200 मीटर लम्बा और उदर से दक्षिण में 150 मीटर चौड़ा हैं । बागोर नामक गॉव में एक किमी. पूर्व दिशा में स्थित इस पुरास्थल की खोज सन् 1967 में दकन कॉलेज पूणे के वी.एन. मिश्र एवं साउथ एशिया इंस्टीट्यूट हीडल बर्ग जर्मनी के एल.एस.लेश्निक ने की थी । सन् 1968-1970 के मध्य डेकन कॉलेज, पूना

विश्वविद्यालय के पुरातत्व विभाग तथा राजस्थान के पुरातत्व एक संग्रहालय विभाग के संयुक्त तत्वावधान में वी.एन.मिश्रा के निर्देशन में इस पुरास्थल का उत्खनन किया गया । पाँच स्तरों बाले 1.50 मीटर से 1.75 मीटर मोटे जमाव को प्रारम्भ में तीन सांस्कृतिक कालों मे विभाजित किया गया था । बागोर में दो सांस्कृतिक कालों (1) मध्य पाषाणकाल और (2) लौह पाषाणकाल के पुरावशेष मिले हैं । दोनो के मध्य एक लम्बे समय का अन्तराल रहा होगा । प्रथम सांस्कृतिक काल को पुन: दो उपकालों में विभाजित किया गया हैं ।

प्रथम उपकाल - बागोर के प्रथम उपकाल का जमाव 50 सेमी से 80 सेमी के बीच मिला है । इस उपकाल के स्तरों से बहुसंख्यक लघु पाषाण उपकरण तथा पशुओं की हड्डियां मिली हैं । लघुपाषाण उपकरणों के निर्माण के लिये क्वार्टजाईट एवं चर्ट का मुख्य रूप से उपयोग किया गया हैं । अधिकांश उपकरण ब्लेड पर बने हुए हैं । विषम बहु समलम्बचतुर्भुज, चन्द्रिक बाणाग्र तथा स्करेपर आदि उल्लेखनीय हैं । क्रोड तथा फलक पर बने हुए स्क्रेपर तथा ब्यूरिन अत्यल्प हैं । इस प्रकार बागोर के प्रथम उपकाल के मध्यपाषाणिक उपकरणों को मृदभाण्ड, पूर्व के ज्यामितिय चरण से सम्बन्धित किया जा सकता हैं । पत्थर के हथौड़े सील लोढ़े आदि यही से प्राप्त अन्य पाषाणिक पुरावशेष हैं । बागोर के प्रथम उपकाल से चीतल, सांभर, चिंकारा आदि हिरण, खरगोश, लोमड़ी, भेड़, बकरी, सूअर, गाय, बैल तथा भैंस आदि पशुओं की हड्डियॉ मिली हैं । इनमें जंगली तथा पालतू दोनो ही प्रकार के पशुओं की हड्डियां प्राप्त हुई हैं । इस प्रकार प्रथम उपकाल के लोगों का आर्थिक जीवन जंगली पशुओं के शिकार तथा पशुपालन पर आधारित रहा प्रतीत होता हैं । लोग रहने के लिए झोंपड़ियां बनाते थे उनके फर्श का निर्माण पत्थर के छोटे-छोटे टुकड़ो से किया जाता था । झोंपड़ियां बांस बल्ली तथा घास-फूस से बनाई जाती थी । इस उपकाल से एक मानव कंकाल प्राप्त हुआ है । जिसे पश्चिम से पूर्व दिशा में सिर, करके चित लैटाकर आवास क्षेत्र के अन्दर ही दफनाया गया था । यह कंकाल लगभग 17 से 19 वर्ष की महिला का हैं।

द्वितीय उपकाल - इस उपकाल का सांस्कृतिक जमाव 30 से 59 सेमी के बीच मे मिला है । यद्यपि लघु पाषाण उपकरण इस उपकाल गे भी चलते रहे किन्तु उनकी संख्या में उलरोलर कमी दृष्टिगोचर होती है । पशुओं की जो हड्डियॉ मिली उनमें से कुछ जंगली पशुओं की और कुछ पालतू पशुओं की,जिनमें-भेड़, बकरी, गाय तथा बैल प्रमुख थे । लोगो का जीवन आखेट एवं पशु पालन पर आधारित था, इस उपकाल में उत्कीर्ण अलंकरण से युक्त हस्त निर्मित मृदभाण्ड तथा ताम्र उपकरण प्रचलित हो गये थे । द्वितीय उपकाल मे बागोर के लोग सम्भवत: मेवाड तथा मालवा की ताम्र पाषाणिक संस्कृतियों के सम्पर्क में आए । ताम्र उपकरणों में एक भाला तथा तीन बाणाग्र उल्लेखनीय हैं ।

इस काल के लोग भी घास-फूस की झोपड़ी बनाते थे । जिनके फर्श पत्थरों के छोटे-छोटे टुकडों से निर्मित होते थे पर इस काल में तीन मानव के कंकाल मिले है, जिन्हे पूर्व-पश्चिम दिशा में मुड़ी हुई अवस्था में लेटा कर आवास क्षेत्र के अन्दर ही दफनाया गया था । द्वितीय सांस्कृतिक काल में आवास क्षेत्र बागोर के मध्यवर्ती भाग तक ही सीमित था । इस काल का जमाव 35 से 75 सेमी. के बीच मिला है । इस काल से लघु पाषाण उपकरण तथा पशुओं की हड्डियाँ बहुत कम संख्या में मिलती हैं । इस काल के वर्तन पूर्णत: चाक निर्मित हैं । लौह उपकरण, कांच के मनके, ईंटों से बनी हुई इमारतें इस काल की अन्य प्रमुख विशेषताऐं हैं । इस काल से एक मानव कंकाल मिला हैं । यह कंकाल 40-42 वर्ष की आयु की किसी महिला का हैं । कंकाल के गले में चिपका हुआ एक धातु का मुस्लिम काल का सिक्का हैं ।

बागोर के प्रथम काल के दोनो उपकालों की तिथि निर्धारण के लिए रेडियो कार्बन तिथियां उपलब्ध हैं । पांच में से 3 तिथियां प्रथम उपकाल तथा 2 तिथियां द्वितीय उपकाल से सम्बन्धित हैं । ये सभी तिथियां हड्डियों के नमूनों पर आधारित हैं । प्रथम उपकाल 5000 ई.पू. से 2800 ई.पू के बीच से तथा द्वितीय उपकाल का समय 2800 ई.पू से 700 ई.पू के बीच निर्धारित किया हैं ।

मध्यपाषाणकालीन संस्कृति के प्रचार-प्रसार के बाद भारत में अन्य स्थानों की तरह राजस्थान में नवपाषाणकाल के कोई प्रमाण नही मिले हैं । राजस्थान मे तत्कालीन मानव में सीधे ही मध्यपाषाणकाल से ताम्रपाषाणकाल मे पर्दापण किया ।

2.6 सारांश

राजस्थान में पुरातत्ववेत्ताओं एवं मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये सर्वेक्षणों, उत्खननों एवं शोध कार्यो से प्राप्त पुरातात्विक अवशेषों के अध्ययन से इस क्षेत्र की प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति के सामाजिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं की जानकारी मिलती हैं, तत्कालीन समय की जलवायु में आये बदलाव एवं उस काल के मानवों द्वारा प्रयुक्त पाषाण उपकरणों के आधार पर पुरापाषाणकालीन संस्कृति को तीन अवस्थाओं मे विभाजित किया गया। निम्नपुरापाषाणकाल का मानव हाथ की कुल्हाड़ियां चीरने काटने के उपकरण का प्रयोग करता था । मध्य पुरापाषाणकाल में मुख्य उपकरण प्रस्तर (Flake) पर निर्मित थे । उच्च पुरापाषाण कालीन संस्कृति के प्रमुख उपकरण तक्षणी और खुरचनी थे ।

शेष भारत की तरह राजस्थान में भी मध्यपाषाणकाल के उपकरण 8000 ई.पू. से मिलने प्रारंभ होते है । इस काल में यहां की जलवायु में भी काफी परिवर्तन आया । इस अवस्था में पशुओं जैसे - हाथी, बैल, नीलगाय, हिरण, जंगली भालू और कई प्रकार के पक्षियों की अस्थियाँ उत्खनन मे प्राप्त हुई हैं । मध्यपाषाणकाल में मनुष्यों ने सूक्ष्म उपकरणों और छोटे प्रस्तरों के औजार बनाने की दिशा में तकनीकी विकास किया । मध्य पाषाणकाल में मुख्य उपकरण जड़े, क्रोड, नुकीले उपकरण, त्रिकोणीय उपकरण और नवचंद्राकार उपकरण बनायें ।

अरावली की प्राकृतिक बनावट मे ग्रेनाइट पत्थर बड़े भारी, ठोस तथा गहरे नील वर्णस्लेट के पत्थर कई प्रकार क्वार्टजाइट और रंगत के सिस्ट स्लेट पत्थर बहुतायत से पाये जाते हैं। अरावली तथा उससे संबन्धित पहाडियों मे खनिज पदार्थो की कमी नहीं हैं। राजस्थान का नम जलवायु पाषाण युगीन बस्तियों के निवास के अनुकूल रहा था, इस क्षेत्र में प्रागैतिहासिक काल में बहने बाली नदियों के आस-पास का पारिस्थितिकी भी एक सा रहा होगा । इस प्रकार राजस्थान में प्रागैतिहासिक कालीन संस्कृति के उपलब्ध पुरास्थलों से तत्कालीन मनुष्यों के सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर पर्याप्त जानकारी उपलब्ध होती हैं ।

2.7 बोध प्रश्न - 2

1. राजस्थान के कौनसे पुरास्थल से उच्चपुरापाषाणकालीन संस्कृति के अवशेष प्रकाश मे आये हैं?

   (क) बुढ़ा पुष्कर क्षेत्र से　　(ख) सूनी बेसीन क्षेत्र से

   (ग) डीडवाना क्षेत्र से　　(घ) बेडच बेसीन क्षेत्र से

2. पूर्वी राजस्थान मे मध्यपाषाणकालीन संस्कृति का महत्वपूर्ण पुरास्थल कौनसा हैं?
   (क) बागोर (ख) तिलवाडा
   (ग) सोजत (घ) नगरी
3. निम्नलिखित कथनो मे से सबसे सही कथन कौनसा हैं?
   (क) मध्यपाषाण युग के लोगो का जीवन यापन जानवरों के शिकार पर निर्भर था ।
   (ख) सामाजिक जीवन कंदमूल फल के संग्रह पर निर्भर था ।
   (ग) उनका जीवन जानवरों का शिकार करना व जंगली फलो का संग्रह करना था ।
   (घ) उनका जीवन खाद्य सामग्री के उत्पादन पर निर्भर था ।
4. मध्यपाषाण युगीन मानव के सामाजिक विकास पर प्रकाश डालिये (10 पंक्तियाँ मे) -

   .....

   .....

   .....

2.8 संदर्भ ग्रन्थ

1. प्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री ऑफ द बेडच बेसीन साउथ राजस्थान, पूना व 1967 - मिश्र वी.एन.
2. द प्री एण्ड प्रोटो हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एण्ड पाकिस्तान 1994 -सांकलिया एच.डी
3. इन साइक्लोपीडियॉ ऑफ इण्डियन आर्कियालॉजी भाग प्रथम व द्वितीय -घोष ए.एन.
4. प्राचीन भारत की संस्कृति और सभ्यता । - कौशाम्बी डी.डी.

इकाई - 3

कालीबंगा, आहड और बैराठ के संदर्भ में प्रागैतिहासिक एवं ऐतिहासिक राजस्थान

(Proto-historic and historic Rajasthan with special reference to klibangan, Ahar and Bairath)

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 कालीबंगा का उत्खन्न

3.3 प्राक-हडप्पा युगीन कालीबंगा

3.4 सामाजिक जीवन

3.5 हडप्पा युगीन कालीबंगा

3.6 सामाजिक जीवन

3.7 अनुभागीय सारांश

3.8 ताम्रपाषाण युग-आहड

3.9 आहड-सामाजिक जीवन

3.10 अनुभागीय सारांश

3.11 बैराठ

3.12 सारांश

3.13 बोध प्रश्न

3.14 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि -

- राजस्थान के उत्तरी भाग में नगरीय सभ्यता का क्या स्वरूप था?
- ताम्रपाषाण युगीन संस्कृतियों का विकास किस क्षेत्र में हुआ तथा उनका स्वरूप क्या था?
- बैराठ का इतिहास में क्या महत्व है?

3.1 प्रस्तावना

1856 ई में अंग्रेजों द्वारा लाहौर से कराँची के मध्य रेल्वे लाइन का कार्य करते समय पंजाब में रावी नदी के किनारे टीलों में दबे हुए पुरावशेषों का सर्वप्रथम ज्ञान हुआ । 1872 ई. में अलेक्जेण्डर कनिंघम ने भी पुरावशेषों का अध्ययन किया तथा प्राचीन सभ्यता का अनुमान लगाया । 1921 ई.

में दयाराम साहनी ने सर्वप्रथम इन टीलों में पुरातात्विक उत्खन्न प्रारम्भ किया तथा यह उजागर हुआ कि हडप्पा ग्राम के समीप इन टीलों में हमारे देश की प्राचीन सभ्यता के अवशेष दबे हुए हैं । इसीलिए इस सभ्यता को हड़प्पा सभ्यता कहा जाने लगा । कालान्तर में यहाँ अन्य अनेक विद्वानों ने भी उत्खनन कार्य किया जिनमें माधोस्वरूप वत्स, केदारनाथ शास्त्री, मार्टीमर कीलर आदि उल्लेखनीय है । 1922 ई. में राखल दास बनर्जी ने सिंध क्षेत्र में हड़प्पा से लगभग 600 कि.मी. दक्षिण-पश्चिम में मोहनजोदड़ो का उत्खनन किया । धीरे-धीरे हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की तरह अन्य अनेक पुरास्थल खोज डाले गये जिनमें चनहुदड़ों, सुत्कगेनडोर उल्लेखनीय हैं । इन पुरास्थलों की खोज से सर्च विश्व को यह ज्ञात हो गया कि भारत में भी प्राचीनकाल में एक महान सभ्यता का विकास हुआ था जिसमें बड़े-बड़े नगरों की स्थापना हो चुकी थी । यही नही विश्व के अब क्षेत्रों में ज्ञात हुई तत्कालीन अन्य सभ्यताओं की तुलना में विशिष्ट थी जैसे-सुरक्षात्मक दीवार द्वारा रक्षित गढ़ी क्षेत्र,सीधी और चौड़ी सड़कें तथा उनके दोनों ओर पक्की नालियाँ आदि हडप्पा सभ्यता के नगरों की प्रमुख विशेषतायें थी ।

1947 ई. में स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही हमारे देश का विभाजन हो गया । हडप्पा, मोहनजोदड़ो जैसे प्राचीन हड़पा सभ्यता के प्रमुख केन्द्र पाकिस्तानी भू-भाग के अन्तर्गत चले गये । तत्पश्चात् भारतीय पुरातत्ववेत्ताओं एवं इतिहासकारों ने भारतीय क्षेत्र का गहन सर्वेक्षण कार्य किया । 1952 ई में अमलानन्द घोष के द्वारा उत्तरी राजस्थान में घग्घर नदी (प्राचीन सरस्वती नदी घाटी) के क्षेत्र में 25 से अधिक टीले खोज डाले गये । इनमें से एक कालीबंगा नामक पुरास्थल भी प्रकाश में आया । कालीबंगा, दिल्ली से 310 कि. मी. उत्तर पश्चिम में सूखी घग्घर नदी के बायें किनारे पर दो टीलों के रूप में स्थित है । घग्घर नदी को प्राचीन काल में सरस्वती नदी कहा जाता था । इसका वैदिक साहित्य में उल्लेख प्राप्त होता है ।

3.2 कालीबंगा का उत्खनन

1960-61 ई में भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग के बी.बी लाल एवं बी. के. थापड़ के निर्देशन में कालीबंगा का उत्खनन प्रारम्भ हुआ जो लगभग एक दशक तक विभिन्न सत्रों में किया गया । कालीबंगा के ये टीले आस पास की भूमी से लगभग 12 मीटर ऊँचे थे तथा आधा कि.मी. तक विस्तृत थे । इस उत्खनन कार्य से यह स्पष्ट हुआ कि यहाँ इन टीलों में केवल हडप्पा युगीन सभ्यता के ही अवशेष नहीं दबे हैं बल्कि उससे भी पहले की सभ्यता के अवशेष हैं । हडप्पा सभ्यता से पहले की सभ्यता को विद्वानों ने प्राक् हड़पा सभ्यता कह कर संबोधित किया है ।

कालीबंगा में मुख्यत: दो टीले हैं, प्रथम-पश्चिमी टीला, जो अपेक्षाकृत छोटा लेकिन ऊंचा है, द्वितीय-पूर्वी टीला, जो अपेक्षाकृत नीचा (कम ऊंचाई का) तथा विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है । पश्चिमी टीले को जड़ी क्षेत्र तथा ही टीले को नगरीय क्षेत्र ढहा जाता है । पश्चिमी टीले के निम्न स्तरों में प्राक्-हड़पा संस्कृति के अवशेष प्राप्त हुए है । इन्ही प्राक्हडप्पा कालीन पुरावशेषों के ऊपरी स्तरों में हड़पा कालीन संस्कृति के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं ।

3.3 प्राक्-हड़प्पा युगीन कालीबंगा

कालीबंगा में प्राक्हड़पा युगीन निवासियों की बस्ती एक सुरक्षात्मक दीवार (परकोटा) द्वारा सुरक्षित की गई थी । यह दीवार 4.10 मी. मोटी एवं 30 X 20 X 10 सेमी. के आकार की कच्ची

ईटों द्वारा निर्मित की गई थी । यह परकोटा उत्तर से दक्षिण 250 मी. लम्बा तथा पूर्व से पश्चिम 180 मी. चौडा था । इस बस्ती में मकानों के निर्माण के लिए भी कच्ची ईटों का ही प्रयोग हुआ था । पक्की ईटें केवल स्नानागार, नाली एवं कुऐं आदि के निर्माण में प्रयुक्त हुई है।

प्राक् हडप्पा युगीन कालीबंगा की संस्कृति के परिचय का प्रमुख माध्यम उनकी विशिष्ट कुंभकार कला थी जिसका प्रमाण है विभिन्न प्रकार के मृदभाण्ड । विद्वानों ने इन्हें छः भागों में वर्गीकृत किया है जिन्हें फेबरिक 'ए', फेबरिक 'बी' ..... सी, 'डी', 'ई', 'एफ' नाम दिया गया है ।

फेबरिक 'ए': ये मृद्भाण्ड लाल एवं गुलाबी रंग के थे तथा इनकी बनावट सुथरी नहीं थी इन पर काले एवं सफेद रंग से अलंकरण किया गया था ।

फेबरिक 'बी' : इन्हें सावधानी से बनाया गया था तथा ऊपरी भाग पर लाल जिल्द चढ़ाई गयी थी तथा निचले भाग को खुरदरा बनाया गया था ।

फेबरिक 'सी': इस श्रेणी में लाल एवं बैंगनी झाई युक्त मृद्भाण्ड थे । इन पर काले रंग से अलंकरण किया गया था ।

फेबरिक 'डी' : ये लाल रंग के मोटे तथा मजबूत किस्म के पात्र थे । इनमें भारी घड़े एवं तसलें मुख्य थे । तसलों के भीतरी भाग में खुरच कर अलंकरण किया जाता था ।

फेबरिक 'ई' : इस श्रेणी के पात्रों में लाल रंग के छोटे तथा मझोले आकार के मृद्भाण्ड यथा-ढक्कन, कटोरियाँ सपीठ पात्र, थालियाँ आदि प्राप्त हुई हँ ।

फेबरिक 'एफ' : इस श्रेणी में सलेटी रंग के पात्र थे । इन पर सफेद एवं काले वर्णक से अलंकरण किया गया है ।

अन्य घरेलू सामग्री के अन्तर्गत त्रिभुजाकार पक्की मिट्टी के केक, घीया प्रस्तर तथा तामड़े प्रस्तर के मणके, शंख की चुड़ियाँ, पक्की मिट्टी की खिलौना गाडी, पहिये, खण्डित बैल की मृण्मूर्ति कड़े, हड्डी की बनी सलाइयाँ, पत्थर के सिलबट्टे, मिट्टी की गेंद, ताम्बें के परशु आदि भी प्राप्त हुए हैं ।

3.4 सामाजिक जीवन

प्राक् हड़पा युगीन कालीबंगा की बस्ती के चारों तरफ परकोटे की उपस्थिति तत्कालीन समाज में असुरक्षा की भावना का संकेत है । संभव है बाढ़ से भी सुरक्षार्थ इसका निर्माण किया गया है ।

ये लोग अपने आवासों का निर्माण कच्ची ईटों से करते थे । स्नानागार तथा नालियों के निर्माण में पक्की ईटों का प्रयोग किया गया है । घरों की दीवार तथा फर्श पर गारे का पलस्तर किया जाता था । खाना बनाने के लिए तन्दूर तथा चूल्हों का प्रयोग होता था । इन पर भी पलस्तर किया जाता था ।इनके आर्थिक जीवन में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान था । ये उन्नत तरीके से कृषि कार्य करते थे । एक साथ दो फसलों की उपज प्राप्त करना जानते थे । हल, संभवतया लकड़ी के होते थे । सिंचाई के लिए बांध एवं नहरों का प्रयोग करते थे । ये लोग जी एवं गेहूँ का मुख्य रूप से उत्पादन करते थे।

सिलबट्टों से अनाज पीसकर रोटी बनायी जाती होंगी जिन्हें तन्दूर एवं चूल्हों पर पकाया जाता था । ये लोग मांसाहारी भी थे । भेड़, बकरी, एवं मछली आदि का मांस खाया जाता था ।

पशुपालन, यहाँ के निवासियों का प्रमुख व्यवसाय था । ये लोग गाय, भैंस, भेड़ बकरी एवं बैल को विशेष रूप से पालते थे । बैल कृषि कर्म हेतु तथा बैलगाड़ी द्वारा सामान ढोने में काम लिया जाता था ।

प्राक् हड़प्पा कालीन कालीबंगा के निवासी सौन्दर्य प्रिय थे । गले में मणिकाओं की माला धारण करते थे । आँखों में अंजन या सुरमा डालने में सलाइयों का प्रयोग करते थे । बाल संवारते थे । हाथ एवं पैरों में चुड़ियाँ एवं कड़े पहनते थे ।

कार्बन - 14 पद्धति के आधार पर प्राक् हड़प्पा कालीन बस्ती का तिथिक्रम 2400 ई. पु. निर्धारित हुआ है । इसके पश्चात् इस बस्ती को रेत द्वारा आवृत किये जाने के प्रमाण मिले हैं । संभव है रेत का विस्तार किसी प्रकार के भूकम्प का संकेत हो । स्पष्ट है जलवायु परिवर्तन के कारण इन लोगों ने इस स्थान को त्याग दिया था ।

3.5 हड़प्पा युगीन कालीबंगा

राजस्थान के उत्तरी भाग के अतिरिक्त हडप्पा संस्कृति से सम्बद्ध स्थल अभी तक अन्यत्र प्राप्त नहीं हुए हैं इससे स्पष्ट है कि हड़प्पा संस्कृति का विस्तार राजस्थान के उत्तरी भाग तक ही सीमित था ।

नगर योजना: हड़पा संस्कृति के अन्य पुरास्थलों की भांति कालीबंगा में भी दो टीले दिखाई देते हैं पश्चिम में ऊँचा एवं छोटा टीला, पूर्व में अपेक्षाकृत कम ऊँचा एवं बड़ा टीला । छोटे टीले को गढ़ी क्षेत्र कहा जाता है तथा बड़े टीले को नगरीय क्षेत्र । इन दोनों को अलग-अलग परकोटे से सुरक्षित किया गया है । यह परकोटे की दीवार 900 मी. मोटी है तथा इसके निर्माण में 40x20x10 तथा 30x15x7 5 सेमी. की ईटों का प्रयोग किया गया है ।

कालीबंगा के नगर की व्यवस्था को देखकर ऐसा लगता है कि इसे एक निश्चित योजना के आधार पर बसाया गया था । सम्पूर्ण नगर में उत्तर से दक्षिण की ओर तथा पूर्व से पश्चिम की ओर जाने बाली चौड़ी-चौड़ी सड़कें जो 7.20 मी. चौड़ी थी और एक दूसरे को समकोण पर काटती थी । इन सडको के जाल से सम्पूर्ण नगर कई चौकोर खण्डों में विभक्त हो गया था । इन चौकोर खण्डों को मोहल्ला या कॉलोनी कहा जा सकता है इन सड़कों के किनारे ऊँचे-ऊँचे चबूतरे मिले हैं जिन पर सम्भवतया दुकानें लगती थी । मोहल्लों में जाने के लिए इन प्रमुख सड्कों से आधी चौड़ी (36 मी0) मोहल्ले की सड़क होती थी तथा इससे आधी चौड़ी (1.80 मी.) गली की सड़क होती थी । प्राय: भवनों के प्रमुख द्वार गली की सड़क पर खुलते थे । इन तीनों प्रकार की सडकों के दोनों ओर पक्की ईटों से निर्मित गंदे पानी के निकास हेतु नालियाँ बनायी गयी थी जो ढकी हुई थी ।

सामान्यत: घर पर्याप्त लम्बे चौड़े होते थे । इनके मध्य में ऑगन तथा तीन ओर कक्षों का निर्माण किया जाता था । इनके मुख्य द्वार गली की ओर खुलते थे जो 70-75 सेमी. चौड़े थे । द्वार पर प्राय: एक ही फाटक लगाया जाता था । मिट्टी कूट कर मकानों के फर्श का निर्माण किया जाता था । मकानों की छत समतल होती थी जिनका निर्माण लकड़ी की शहतीरों से किया जाता था । मकानों से गंदे पानी के निकास हेतु नालियाँ थी जो गली की नाली में खुलती थी और यह गली की नाली मोहल्ले की नाली में जो मुख्य सड़क के पार्शव में बनी नाली में खुलती थी । इस प्रकार अंतत: गंदा पानी शहर के बाहर चला जाता था । इन नालियों की सफाई की समुचित व्यवस्था थी ।

3.6 सामाजिक जीवन

कालीबंगा के नगर एवं मकानों के भग्नावशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है कि अधिकांश लोगों का जीवन सामान्य रूप से समृद्ध था । समाज में धर्मगुरू (पुरोहित), चिकित्सक, कृषक, कुंभकार, बढ़ई, सोनार, दस्तकार, जुलाहे, ईंट एवं मणके निर्माता, व्यापारी आदि व्यवसायों से समबद्ध लोग निवास करते थे । संभवत: धर्मगुरू का तत्कालीन समाज में महत्त्वपूर्ण स्थान था । यह वर्ग गढ़ी क्षेत्र में निवास करता था और धार्मिक क्रियायें करता एवं करवाता था । इसके साथ ही गढ़ी क्षेत्र में शासक वर्ग एवं अन्य महत्वपूर्ण कर्मचारी तथा सम्पन्न लोग निवास करते थे । नगर क्षेत्र में सामान्य जन रहते थे।

उत्खनन में प्राप्त साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि ये लोग दोनों प्रकार की भोज्य सामग्री का उपयोग करते थे शाकाहारी लोग फल, फूल, दूध, दही, जी, गेहूँ आदि का प्रयोग करते थे तथा मांसाहारी लोग भेड़, बकरी, हिरण, सुअर, मछली, कछुआ, मुर्गा आदि के मांस का । कालीबंगा के निवासियों के जीवन में त्यौहार एवं धार्मिक उत्सवों का महत्व था साथ ही खिलौने, पासे, मत्स्य कांटे आदि की उपलब्धता ने इनके जीवन में मनोविनोद के महत्व को भी प्रदर्शित किया है ।

धार्मिक जीवन : उत्खनन में प्राप्त मूर्तियाँ, मुद्राएँ, मृदपात्र तथा कुछ पाषाण की कलाकृतियाँ ऐसी उपलब्ध हुई हैं जिनसे तत्कालीन न्विासियों के धार्मिक जीवन का ज्ञान होता है ।

कालीबंगा के गढ़ी क्षेत्र में कच्ची ईटों के चबूतरे पर सात आयताकार अग्निवेदिकाएं प्राप्त हुई हैं । इनमें कुछ जले हुए अन्न केदाने तथा कोयले भी प्राप्त हुए हैं । इनको देखकर यह अनुमान किया जा सकता है ये किसी न किसी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान का अंग थी । इस प्रकार की अग्निवेदिकाएँ तत्कालीन अन्य पुरास्थलों जैसे बाणावली, राखीगढ़ी आदि में हुए उत्खनन में भी प्राप्त हुई हैं ।

कालीबंगा के निवासियों के जीवन में सरसती नदी का विशेष महत्व तो था ही साथ ही घरों में अण्डाकार कुएँ भी मिले हैं और अग्निवेदिकाओं के पास भी कुआॅ मिला है, संभवत: स्नान या पवित्रता संबन्धित किसी प्रकार की अवधारणा विद्यमान थी । मृत्यु के पश्चात् के विषय में कालीबंगा के निवासी किस प्रकार का विश्वास रखते थे यह तो स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता लेकिन

उत्खनन में जो शवाधान प्राप्त हुए हैं उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दे मृत्युपरांत जीवन के विषय में किसी न किसी प्रकार का विश्वास अवश्य रखते थे क्योंकि मृतकों के साथ खाद्य सामग्री, आभूषण मणके, दर्पण तथा विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्ड आदि रखे हुए मिले हैं ।

आर्थिक जीवन: कालीबंगा के भग्नावशेषों से अनुमान लगाया जा सकता है कि सामान्यतया सभी लोगों का जीवन समृद्ध था । सुख एवं समृद्धि के लिये लोगों ने विविध प्रकार के साधनों का उपयोग किया था ।

सरस्वती नदी द्वारा लाई जाने वाली उपजाऊ मिट्टी उनके कृषि जीवन की समृद्धि का कारण थी । अस्थि अवशेषों, मृदभाण्डों पर अंकित चित्रों तथा खिलौनों से उनके पशु धन का ज्ञान होता है, वे भेड़ बकरी, गाय-भैंस, बैल सुअर एवं ऊँट आदि पालते थे ।

हड़प्पा संस्कृति के नगरों की समृद्धि का मुख्य स्रोत उस समय का उन्नत व्यापार एवं वाणिज्य था । यह व्यापार एवं वाणिज्य देश के अन्य क्षेत्रों से तथा विदेशों से, जल एवं स्थल दोनों मार्गो से हुआ करता था । कालीबंगा से हडप्पा संस्कृति के अन्य केन्द्रों को अनाज, मणके तथा ताम्बा भेजा जाता था । कालीबंगा को तामा संभवत: गणेश्वर क्षेत्र (सीकर एवं झुन्झुनू) से प्राप्त होता था । ताम्बें

का प्रयोग, अस्त्र-शस्त्र तथा दैनिक जीवन में उपयोग आने वाले उपकरण, बर्तन एवं आभूषण बनाने में होता था ।

स्थानीय उद्योग पर्याप्त विकसित थे । कुभंकार का मृद्भाण्ड उद्योग अत्यन्त विकसित था । वह विभिन्न प्रकार के मृद्भाण्ड चाक पर बनाता था तथा भट्टों में अच्छी तरह पकाता था । इनमें मर्तबान, कलश बीकर, तश्तरियाँ, पाले, टोंटीदार बर्तन, छिद्रित भाण्ड एवं थालियाँ मुख्य हैं । हस्त निर्मित कुछ बडे मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं जो अन्नादि संग्रह हेतु काम में लिये जाते थे । इन मृदभाण्डों पर काले एवं सफेद वर्णकों से चित्रण भी किया जाता था जिसमें आडी तिरछी रेखाएँ, लूप, बिन्दुओं का समूह, वर्ग, वर्गजालक, त्रिभुज, तरंगाकार रेखाएँ, अर्द्धवृत्त, एक दूसरे को काटते वृत्त, शल्कों का समूह आदि के प्रारूप मुख्य हैं । इनके अतिरिक्त पीपल की पत्तियाँ तथा

चौपतिया फूल आदि का अंकन भी प्राप्त हुआहै । बड़े एवं मोटे बर्तनों पर 'कुरेदकर' भी अलंकरण किया गया है । किन्ही किन्हीं मृदपात्रों पर 'ठप्पे' लगे हुए मिले हैं तथा कुछ पर तत्कालीन लिपि में लिखे लेख भी प्राप्त हुए हैं । उत्खनन में विभिन्न प्रकार की मुद्राएँ (मोहरे), मूर्तियां, चूड़ियाँ, मणके, औजार आदि से ज्ञात होता है कि हड़प्पा सभ्यता कालीन कालीबंगा समाज में शिल्पकला का उचित स्थान रहा है ।

सोना, चाँदी, अर्द्ध बहुमूल्य प्रस्तर, शंख आदि से आभूषणों का निर्माण किया जाता था । स्त्रियों कानों में कर्णाभरण कर्णफूल, बालियाँ पहनती थी, बालों में पिने लगाती थी । गले में गणकों का हार धारण करती थी । हाथों में शंख, मिट्टी, ताम्र एवं शेलखड़ी से निर्मित चूड़ियाँ पहनती थी । अंगुलियों में अंगूठी पहनती थी । एक शव के साथ ताम्रदर्पण एवं कान के पास कुण्डल भी मिला है । स्पष्टतया कालीबंगा निवासी प्रसाधन प्रेमी थे ।

कालीबंगा के लोग मृतकों के शव तीन प्रकार से विसर्जित किया करते थे :-

(1) सशरीर शवाधान : इस विधि में आयताकार या अण्डाकार गर्त में शव को पीठ के बल लिटा दिया जाता था जिसका सिर उत्तर की ओर एवं पैर दक्षिण की ओर रखे जाते थे । शवों के साथ उनकी सामाजिक स्थिति के अनुसार मृदपात्र एवं अन्य सामग्री भी रखी जाती थी । यहाँ एक शवाधिगर्त ऐसा मिला है जिसकी दीवारें ईटों से बनायी गयी है,उन पर पलस्तर किया गया है तथा इसमें रखे गये शव के साथ 72 मृद्पात्र प्राप्त हुए हैं- इससे सहज ही यह अनुमान होता है कि यह किसी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति का शव था ।

(2) आयताकार गड्डे: ये शवाधान गर्त आयताकार हैं लेकिन इनमें शवों के अस्थि अवशेष नहीं मिले हैं । संभवत: यह प्रतीकात्मक शवाधान विधि रही होगी । संभवत: जब किसी व्यक्ति की मृत्यु दूरस्थ प्रदेश में हो जाती थी और उसका शव यहाँ नहीं लाया जा सकता था तब ऐसी विधि द्वारा धार्मिक कर्मकाण्ड सम्पन्न किये जाते रहे होंगे ।

(3) प्रतीकात्मक शवाधान इस विधि में एक अण्डाकार गर्त बनाया जाता था जिसमें मृद्पात्र, आभूषण, मणके, दर्पण इत्यादि सामग्री रख दी जाती थी । इनमें भी शवों के अवशेष नहीं मिले हैं ।

3.7 अनुभागीय सारांश

हडप्पा सभ्यता के समय उत्तरी राजस्थान के हनुमानगढ़ जिले में घग्घर नदी (प्राचीन काल में यह सरस्वती नदी का मार्ग था) के किनारे कालीबंगा नामक नगर स्थित था । सुरक्षात्मक दीवार

द्वारा रक्षित यह हडप्पा संस्कृति का राजस्थान में मुख्य केन्द्र था । उत्खनन में यही हड़पा संस्कृति से भी पूर्वकालीन संस्कृति के पुरावशेष प्राप्त हुए है जिसे 'प्राक् हड़प्पा युगीन संस्कृति' कहा जाता है । कालीबंगा के हडप्पा युगीन गढ़ी क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया गया था जिसके दक्षिणी अर्द्धांश में अग्निवेदिकाएँ प्राप्त हुई हैं । कार्बन-14 तिथीकरण के आधार पर प्राक् हड़प्पा कालीन कालीबंगा की कालावधि 2400 ई0 पु0 से 2200 ई0 पु0 के मध्य तथा हडप्पा युगीन कालीबंगा की 2150 ई0 पु0 से 1700 ई0 पु0 के मध्य स्वीकार की जाती है ।

3.8 ताम्रपाषाण युग आहड

जिस समय हरियाणा, पंजाब, सिंध, गुजरात, उत्तरी राजस्थान तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हड़प्पा संस्कृति पूर्ण रूप से व्याप्त थी लगभग उसी समय या उसके कुछ परवर्ती काल में दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में जिस संस्कृति का उदय हुआ वह 'आहड संस्कृति या बनास-संस्कृति के नाम से जानी जाती है । इस संस्कृति का सर्वप्रथम ज्ञान उदयपुर नगर के पूर्व में स्थित आहड नामक ग्राम से हुआ, इसीलिए इसे 'आहड संस्कृति' कहा गया है । इसी प्रकार इस संस्कृति से सम्बन्धित सर्वाधिक पुरास्थल बनास नदी एवं उसकी सहायक नदियों के आस-पास के क्षेत्र में ज्ञात हुए हैं, इसलिए इस संस्कृति से समद्ध लगभग 50 पुरास्थल प्रकाश में लाये जा चुके हैं । राजस्थान में आहड संस्कृति के चार प्रमुख पुरास्थलों का उत्खनन किया जा चुका है -

(1) आहड (उदयपुर) (2) गिलुण्ड (उदयपुर) (3) बालाथल (उदयपुर) (4) ओजीयाना (भीलवाड़ा)

'आहड, उदयपुर नगर के पूर्व में रहने बाली नदी के बांये तट पर स्थित है । प्राचीन काल में इसे 'तांम्बवटी' या 'ताम्रवती' के नाम से जाना जाता था । 10वी. 11वी. सदी में 'अघाटपुर या 'अघाट दुर्ग' भी इसे ही कहा जाता था । वर्तमान में स्थानीय लोग इसे 'धूलकोट' के नाम से जानते हैं । यह धूलकोट (मिट्टी का दुर्ग) 500 मी0 लम्बा तथा 250 मी0 चौडा तथा 15 मी0 ऊँचा एक मिट्टी का टीला है जो अपने में प्राचीन अवशेषों को दबाये हुए है ।

'आहड़ की खोज 1954-55 ई0 में रत्न चन्द्र अग्रवाल ने की तथा उन्होंने यहीं लघुस्तर पर उत्खनन करके इसके महत्व की स्थापना की । तत्पश्चात 1961-62 ई0 में प्रो0 एच0 डी0 सांकलिया, रत्नचन्द्र अग्रवाल तथा विजय कुमार एवं कुछ विदेशी विद्वानों ने मिलकर यहाँ विशाल पैमाने पर उत्खनन कार्य किया। इस उत्खनन से यह ज्ञात हुआ कि इस स्थल पर यह बस्ती अनेक बार बसी है तथा उजड़ी है जिसे मोटे तौर पर दो महत्वपूर्ण कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है:-

(1) निम्न स्तरों से सम्बन्धित संस्कृति 'आहड संस्कृति' है ।

(2) ऊपरी स्तरों की बस्ती परवर्ती कालीन बस्ती थी । यह लौह युगीन सभ्यता की परिचायक है।

'आहड ' संस्कृति से सम्बद्ध स्थलों पर हमें उत्खननों में कहीं कहीं पर पाषाण उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं और कहीं पर केबल ताम्र उपकरण ही उपलब्ध हुए हैं । ताम्र उपकरणों के साथ विशिष्ट प्रकार के काले और लाल मृद्भाण्ड मिलना इस संस्कृति की विशेषता रही है ।

यह संस्कृति पर्याप्त क्षेत्र में प्रचारित- प्रसारित थी । उदयपुर जिले में आहड, गिलुण्ड, बालाथल, दारौली एवं चित्तौडगढ जिले में हिंगवानियो, भगवानपुरा, उमान्द, नागौली भीलवाड़ा जिले में ओजियाना, डूरिया, गीगाखेड़ा, उन्चा कादूकोटा अमली, बिहार तथा डूंगरपुर जिले में झाडोल, बेसपुरा, देपुरा कारेलिया

आदि इस संस्कृति के प्रमुख पुरास्थल हैं । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह संस्कृति उदयपुर, चित्तौडगढ, भीलवाड़ा एवं डूँगरपुर जिलों तक विस्तृत थी।

3.9 आहड़ - सामाजिक जीवन

आहड संस्कृति के निवासियों का रहन-सहन, खान-पान, वस्त्राभूषण, व्यवसाय, आमोद-प्रमोद के साधन आदि की जानकारी उत्खनन में प्राप्त आवास, उपकरण, मृण्मूर्ति, मृद्पात्र आदि से भली भांति होती है ।

आवास : आहड संस्कृति पूर्णत: ग्रामीण संस्कृति थी । यहाँ के निवासी अपनी आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण यही कर लेते थे और इन वस्तुओं के निर्माण के लिए कच्चा माल आस-पास के क्षेत्रों से प्राप्त करते थे । उत्खनन से यह स्पष्ट हुआ है कि लगभग 2000 ई0 पु0 में ये लोग इस स्थान पर आये और स्थानीय तौर पर उपलब्ध पत्थरों से नींव डाल कर अपने निवास हेतु भवनों का निर्माण किया । इन्होंने मदनों की दीवारें ईटों से बनायी थी, कुछ दीवारें बांस की चटाइयों के दोनों ओर मिट्टी का पलस्तर करके भी बनायी गयी थी । भवनों की फर्श काली चिकनी मिट्टी को कूट-कूट कर बनायी तथा छत घास-फूस, बांस-बल्लियों की सहायता से हल्के वजन की बनायी । आवासों की छत वर्तमान की तरह दोनों ओर से ढलवां बनायी जाती थी । छत को बीच में से ऊँचा रखने के लिए मकानों के मध्य में लकडी के आधार स्तंभों का प्रयोग किया जाता था । फर्श में इन स्तंभों के गाड़ेने के अवशेष उपलब्ध हुए हैं । आवास पर्याप्त लम्बे चौड़े होते थे । उत्खनन में एक 30 x 15 फुट तथा एक 45 फुट लम्बे आवास के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं । इनको बीच में बाँस की चटाइयों से निर्मित दीवारें खड़ी करके अनेक खण्डों में बांट दिया जाता था । एक तरफ के खण्ड का रसोई के रूप में प्रयोग किया जाता था । रसोई में एक से अधिक चूल्हे एक साथ प्राप्त हुए हैं जिन पर गारे का लेप भी किया जाता था । स्पष्ट है सभी लोग मिलजुल कर रहते थे ।

खानपान : रसोई घर के आस पास सिलबट्टे प्राप्त हुए हैं जिनमें एक सिल का माप 4 x 3 फुट है । अनेक पशुओं की अस्थियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं ये लोग गेहूँ जार एवं चावल का खाद्यान्नों के रूप में उपयोग करते थे तथा मछली, कछुआ, भेड़-बकरी, भैंसा, मुर्गी, हिरण, सुअर आदि जानवरों का मांस भी खाते थे । इन्हें शाकाहार के साथ साथ मांसाहार भी प्रिय था ।

वस्त्राभूषण : आहड के उत्खनन में चार मानव मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं तथा कुछ मृदभाण्डों पर विशिष्ट प्रकार का चित्रण है जिससे हम इस संगति के निवासियों के वस्त्राभूषणों की जानकारी प्राप्त करते हैं । एक खण्डित नारी मृण्मूर्ति कमर के नीचे लहँगा धारण किये हुए है तथा मृद्पात्रों की काली सतह पर सफेद बिन्दुओं से ऐसा चित्रण किया गया है जो छींट जैसा अलंकरण दिखाई देता है । इस प्रकार परोक्षत: अनुमान किया जा सकता है कि आभूषणों में गणकों का सर्वाधिक उपयोग होता था । ये कार्नेलियन क्रिस्टल फेयान्स जैस्पर सेलखड़ी तथा लेपिस लाजुली से बने है । कुछ अस्थियों से बने मणके भी प्राप्त हुए है । मिट्टी से बने लम्बे एवं गोल कर्णभूषण तथा चूड़ियाँ भी प्राप्त हुई हैं । मणकों से माला हार, करधनी का निर्माण किया जाता था । हाथ पैरों में कड़े चूड़ियां, छल्ले धारण करते थे । बालों मे पिने तथा कानों में कर्णभूषण ।

मनोरंजन : आमोद-प्रमोद के लिए इस संस्कृति के लोगों के जीवन में आखेट का महत्व था । वन्य क्षेत्रों से बन्द जीवों का आखेट एक ओर जहाँ प्रिय मनोरंजन कर्म था तो दूसरी ओर खाद्य सामग्री

की उपलब्धता भी । इसी तरह मछली पकड़ना भी दोनों उद्देश्यों की पूर्ति का साधन था । बच्चों के लिए खिलौनों का महत्व था उत्खनन में हाथीघोड़े, बैल तथा गाड़ी के पहियों की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हँ । (कोई भी कलाकृति जो मिट्टी से निर्मित हो तथा फिर अग्नि में पका ली गयी हो उसे मृण्मूर्ति (Terracotta) कहा जाता है ।

आर्थिक जीवन : आहड निवासियों के आर्थिक जीवन में कृषि पशुपालन, ताम्र उद्योग, मृद्भाण्ड उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य आदि सभी साधनों का महत्व था । ये लोग कृषि में गेहूँ ज्वार एवं चावल की खेती करते थे । कृषि उपकरणों में ताम्बें की कुलहाडियाँ उपलब्ध हुई हैं । पशुओं में गाय, भैंस, बैल, भेड़, बकरी पाली जाती थी । ये लोग हाथी एवं घोडे से भी परिचित थे । इनके आर्थिक जीवन में ताम्र उद्योग एवं मृद्भाण्ड उद्योग का विशेष महल रहा होगा लेकिन ये उद्योग-धंधे इनके समुदाय के लिए ही थे ।

मृद्भाण्ड उद्योग : प्राचीनकाल में धातुओं की अनुपस्थिति में दैनिक जीवन में उपयोग हेतु मिट्टी के बर्तनों का बहुतायत से उपयोग होता था । मृद्भाण्ड तत्कालीन कलाकार की कला प्रवृत्तियों के आधार स्वरूप भी थे । आहड संस्कृति के प्रमुख पात्र 'काले और लाल' रंग के होते थे । इनका निचला भाग तो लाल होता था, किन्तु कंधे से ऊपर का एवं भीतर का सम्पूर्ण भाग काला होता था । ये उल्टी तपाई विधि से पकाये जाने के परिणामस्वरूप इस प्रकार के विशिष्ट रंग के बन जाते थे । इस विधि को विज्ञान की भाषा में क्रमश: 'अपचयन की स्थिति में जलन' और 'ऑक्सीकरण की स्थिति में जलन कहा जाता है । इन मृदपात्रों पर सफेद वर्णक से छोटी-छोटी बिन्दुओं द्वारा त्रिभुज, चतुष्कोण वृत्त, रेखाएँ, जालक तथा घासनुमा आकृतियों का अंकन किया जाता था । इन मृद्पात्रों के साथ गहरे लाल रंग के मृद्भाण्ड भी प्राप्त हुए हैं । इन पर उकेरण विधि, 'ऊपर चिपकाई गई विधि' तथा 'तराश कर अलंकरण किया जाता था । ये पात्र आकार में बडे हैं संभवतः इनमें अन्नादि संग्रह किया जाता रहा होगा ।

ताम्र उद्योग : आहड संस्कृति के निवासी ताम्र उपकरणों का निर्माण करना भलीभांति जानते थे । हड़प्पा संस्कृति और गंगाघाटी की ताम्र निधि संस्कृति के अतिरिक्त आहड संस्कृति के पुरास्थलों से ही सर्वाधिक ताम्र उपकरण प्राप्त हुए हैं । आहड क्षेत्र में लगभग 40 खदानें हैं जहाँ वर्तमान में भी खुदाई करके ताम्र खनिज निकाला जाता था । आर0 सी0 अग्रवाल ने आहड से 12 कि0 मी0 दूर मतून एवं उमरा नामक स्थलों पर ताम्र निष्कर्षण के साक्ष्य प्राप्त किये हैं । स्पष्ट है आहड निवासियों को तात धातु सहज उपलब्ध थी इसी कारण से उन्हें लघुपाषाण उपकरणों की आवश्यकता नहीं हुई जबकि इसी संस्कृति के पुरास्थल गिलूण्ड से कुछ लधुपाषाण उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं ।उत्खनन में ताम्बें की कुल्हाडियाँ छल्ले' चूड़ियॉ तथा सलाइयाँ प्रास हुई है ।कुल्हाडियाँ आयताकार, सपाट और जिनका धारयुक्त भाग अर्द्ध चन्द्राकार है प्राण हुई हैं । एक गह्डे में ताम्र खनिज तथा एक तामे का पत्तर भी प्राप्त हुआ है । ये लोग ताम्र धातु का निष्कर्षण यहीं पर करते थे । विद्वानों का अनुमान है कि ये लोग इस क्षेत्र में ताम्र खनिज की उपलब्धता के कारण ही आकर बसे थे ।

व्यापार-वाणिज्य : इस संस्कृति के लोग एक ऐसे सामाजिक ढांचे में अवस्थित थे जिससे यह आशा नहीं की जा सकती कि इनका व्यापार-वाणिज्य अन्य स्थलों से भी होता था । यदि कुछ होता भी था तो उसे हम इनकी अर्थव्यवस्था का मुख्य भाग नहीं कह सकते । मालवा, नवदाटोली, अवरा, नागदा, एरसा तथा कायथा से इनका सम्बन्ध था । इन सभी स्थानों पर काले और लाल' मृदभाण्डों की बहुतायत है और इन पर किया गया अलंकरण भी समानता प्रदर्शित करता है यह भी संभव है कि ताम्बें के उपयोग

की विधि इन्हीं से सीखी गई हो । स्पष्ट है कि अन्य स्थलों से इन लोगों का कोई सम्बन्ध या सम्पर्क था तो उसका एक मात्र कारण 'ताम्र' ही रहा होगा ।

अत: स्पष्ट है कि ये लोग अन्यत्र से आये थे । प्राकृतिक आकर्षणों ने लोगों को यहाँ खींचा और उनसे संस्कृति के नये चरणों का प्रारंभ दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में कराया । उदयपुर का यह भाग तीन ओर से पर्वतों से घिरा है जिसमें आवागमन के लिए कुछ घाट बने हैं । उत्तर-पूर्व की ओर खुला भाग चम्बल और यमुना घाटी की ओर है । इसलिए अतीत में लगभग 2000 ई0पू0 में इसी भाग से लोग यहाँ आये । इन लोगों ने बनास नदी घाटी क्षेत्र में बस कर परिवेश का पूरा लाभ उठाया और लगभग 700-800 वर्षो तक रहते रहे ।

3.10 अनुभागीय सारांश

दक्षिण-पूर्वी राजस्थान में चम्बल एवं उसकी सहायक नदी बनास के किनारे लगभग 2000 ई0पु0 में जिस संस्कृति का विकास हुआ उसे 'बनास संस्कृति' या 'ताम्र पाषाण युगीन संस्कृत कहा जाता है । इस संस्कृति का सर्वप्रथम ज्ञान उदयपुर के निकट आहड नामक पुरास्थल से हुआ इसलिए इसे "आहड संस्कृति' भी कहा जाता है । यह ग्रामीण संस्कृति थी । ये लोग काले एवं लाल रंग के मृद्भाण्ड बनाते थे तथा ताम्र उपकरणों का उपयोग करते थे । इस संस्कृति का कालमान 2000 ई0 पू0 से 1200 ई0पू0 के मध्य माना जाता है ।

3.11 बैराठ

राजस्थान राज्य के उत्तर-पूर्व में जयपुर जिले का 'विराटनगर' या 'बैराठ' कस्बा एक तहसील मुख्यालय है । यह क्षेत्र पुरातत्त्व एवं इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र है । प्राचीनकाल में 'मत्स्य जनपद', मत्स्य देश एवं मत्स्य क्षेत्र के रूप में उल्लिखित किया जाने वाला यह क्षेत्र वैदिक युग से वर्तमान काल तक निरन्तर अपना विशिष्ट महत्व प्रदर्शित करता रहा है । यह क्षेत्र पर्याप्त बन्द सम्पदा वाला पर्वतीय प्रदेश है । ऊँचे ऊँचे पर्वतों के निकट छोटी छोटी ग्रेनाइट चट्टानों की पहाडियाँ भी हैं, इनमें नैसर्गिक रूप से निर्मित सुरक्षित आश्रय स्थल भी हँ । इस प्रकार से प्राचीन काल में मानव के लिए यहाँ अनुकूल पर्यावरणीय परिस्थितियाँ दिखाई देती है ।

पाषाण युग: पर्वतीय कन्दराओं, गुफाओं एवं वन्य प्राणियों वाला यह क्षेत्र प्रागैतिहासिक काल से मानव के आकर्षण का केन्द्र रहा है । इस क्षेत्र में मानव की उपस्थिति के प्रमाण पाषाण युग से ही प्राप्त होने लगते हैं । प्रागैतिहासिक काल में मानव ने आसानी से उपलब्ध पाषाण, लकडी एवं हड्डी का किसी न किसी प्रकार से उपयोग किया है । लकडी एंव हड्डी दीर्घकालीन परिस्थितियों में नष्ट हो गयी, लेकिन पाषाण जिसको उसने उपयोगी बनाने के लिए थोड़ा बहुत गढ़ा है तराशा है उपलब्ध होते हैं । इसीलिए इस युग के मानव को पाषाण युगीन मानव कहा जाता है । इस क्षेत्र में ढ़िगारिया एवं भानगढ़ से 'पेबुल टूल' प्राप्त हुए है । जिन्हें पुरापाषाण युगीन उपकरण (Palaeolithic tools) कहा जाता है । पुरापाषाण युगीन मानव पूर्णत: प्रकृति जीवी था । प्राकृतिक रूप से उपलब्ध फल-फूल, कन्द-मूल, आखेट में मारे गये वन्य पशुओं से अपनी भूख मिटाता था । पाषाण युग की द्वितीय अवस्था 'मध्य पाषाण युग' के उपकरण बैराठ के उत्तर एवं दक्षिण दोनों भागों से प्राप्त हुए हैं ।इस काल में पर्यावरण मेंभारी परिवर्तन हुए जिसके कारण वन्य पशु अनुकूल स्थलों की ओर गमन कर गये । बड़े जानवरों के शिकार पर आश्रित

रहने वाला मानव अब छोटे छोटे जानवरों का आखेट करने लगा । इसी कारण से उसे अब अपेक्षाकृत छोटे औजार बनाने पड़े जिन्हें लघुपाषाण उपकरण कहा जाता है । इस काल में मानव पानी की झीलों के किनारे टीलों पर अस्थायी रूप से झोंपीड़ियां बना कर रहने लगा था । धीरे धीरे उसने हाथ से मृद्पात्रों का निर्माण करना सीखा । ये कम पके' तथा रेत से निर्मित, बेड़ो एवं भोंडे तथा मोटे हैं ।

इस काल में मानव के मन में सौन्दर्य भावना का उदय दिखाई देता है । लघुपाषाण उपकरणों पर कलात्मक रेखांकन इसका उदाहरण हैं उसे शैलाश्रयों की सपाट भित्ति अब एक विस्तृत केनवास के रूप में उपलब्ध हुई । मृद्भाण्ड निर्माण के साथ पात्रों की सतह भी उसकी कलात्मक प्रवृत्तियों का आधार बनी । इसलिए लघुपाषाण युगीन मानव ने सर्वप्रथम अपने आश्रय स्थलों (शैलाश्रय) की छत एवं दीवारों पर लाल रंग से विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण किया है । विराट नगर की पहाडियों-गणेश डूँगरी, बीजक डूँगरी तथा भीम डूँगरी के शैलाश्रयों में चित्रांकन उपलब्ध होता है । यह चित्रांकन लघुपाषाण युग से प्रारंभ होकर दीर्घकाल तक किया जाता रहा है । ये शैलचित्र तत्कालीन मानव द्वारा निर्मित उसके जीवन के विविध पक्षों की स्पष्ट जानकारी के प्रामाणिक स्रोत हैं ।

ताम्र युग:- मध्य पाषाण युग के पश्चात धातु युग का प्रादुर्भाव हुआ और धातुओं में सर्वप्रथम ताम्र धातु का । ताम्र पाषाण की अपेक्षा अधिक सुदृढ़, सुडौल, सुन्दर एवं उपयोगी सिद्ध हुआ । इसे इच्छानुसार आकृति प्रदान की जा सकती थी । अब उसे स्थायी औजार उपलब्ध हुए ।धातु ज्ञान ने तत्कालीन मानव जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया । इस काल में वह मृदभाण्डों का निर्माण भी चाक पर करने लगा था । ये पात्र 'आकर कलर पात्र' परम्परा के नाम से जाने जाते है । हाथ लगाने से झरने लगते हैं तथा हाथों पर सिन्दूर या गेरु का रंग लगने लगता है । इन मृदभाण्डों पर उकेरण विधि द्वारा अलंकरण किया जाता था । जोधपुरा (जयपुर) एवं गणेश्वर (सीकर) के उत्खनन से ऐसे साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं । ये लोग ताम्र धातु को खनिज से निकालना तथा उससे उपकरणों का निर्माण करना जानते थे । इससे उनकी तत्कालीन समाज में प्रतिष्ठा स्थापित हुई । सीमित तौर पर हुए उत्खनन से उनके सामाजिक जीवन पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पडता । विद्वानों का अनुमान है कि इनके द्वारा प्राप्त किया गया ताम्र तथा निर्मित किये गये उपकरण तत्कालीन केन्द्रों को भी भेजे जाते थे । आर0सी0 अग्रवाल के मतानुसार ये लोग अपने ताम्र उपकरणों को तत्कालीन सैंधव केन्द्रों को भी निर्यात करते थे ।

इनके जीवन में आखेट का महत्व था उत्खनन में अनेक अस्थियों के टुकड़े मिलना इसका प्रमाण है । मछली पकड़ने के कॉटे भी प्राप्त हुए हैं । अन्य ताम्र उपकरणों में कुल्हाड़ियाँ, चाकू भाले, बाणाग्र, छेणियाँ,. चूड़ियाँ, छल्ले, पिनें आदि प्राप्त हुई हैं । इस क्षेत्र की ताम्र युगीन संस्कृति दक्षिण-पूर्वी राजस्थान की ताम्र संस्कृति (आहड संस्कृति) से पूर्णत: मित्र है तथा किंचित पूर्वकालीन थी ।

लौह युग : इस क्षेत्र में पेन्टेड ग्रे पात्र परम्परा (सलेटी रंग के चित्रित पात्र) के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं । गंगाघाटी में यह संस्कृति 1100 ई0 पू0 में विद्यमान थी तथा पांचवी शताब्दी ई0पू0 तक प्रचलित रही । ये पात्र सलेटी रंग के हैं इन पर काले एवं गहरे भूरे रंग से किया गया चित्रांकन प्राप्त हुआ है । ये पात्र पतले एवं हल्के हैं । इनका यह विशिष्ट रंग अपचयन विधि से पकाने के कारण हुआ लगता है । चित्रांकन के प्रारूपों में अधिकांशत: ज्यामितिक आकृतियों जैसे आडी तिरछी रेखाएँ, बिन्दुएँ, अर्द्धवृत्त, वृत्तों की शृंखला, स्वास्तिक आदि का अंकन प्राप्त हुआ है । पात्र प्रकारों में मुख्यत: कटोरे एवं तश्तरियाँ प्रमुख है ।

ये लोग निवास हेतु बाँस एवं सरकण्डों से आवास का ढाँचा तैयार करके उस पर मिट्टी का पलस्तर करते थे । कहीं कहीं पर कच्ची ईटों के आवासों के प्रमाण भी मिले हैं । इनका जीवन ग्रामीण संस्कृति का दिखाई देता हैं । मुख्य व्यवसाय कृषि एवं पशुपालन था । खाद्यान्नों में गेहूँ एवं चावल का उत्पादन किया जाता था । पशुओं में गाय, भैंस, बैल एवं सुअर तथा अश्व पालते थे । उत्खनन में भेड़-बकरी की हड्डियाँ भी मिली हैं । इन्हें भी दूध, माँस एवं चर्म के लिए पाला जाता था ।

इस संस्कृति के लोग लोह धातु से परिचित थे । अतरंजीखेड़ा (उत्तर प्रदेश) के उत्खनन में इस संस्कृति के मृद्पात्रों के साथ लोहे के अवशेष प्राप्त हुए हैं । ये लोग लोहे से चाकू तीर, कला हँसिया, कुदाल, कुल्हाडी, चिमटा, कील आदि उपकरणों का निर्माण करते थे ।पेन्टेड ग्रेपात्र संस्कृति (PWG) के पश्चात् बैराठ क्षेत्र में उत्तरी-काली चमकीली मृद्पात्र संस्कृति (Northern Black Polished Ware, NBP) के पुरावशेष प्राप्त होते, हैं । इस संस्कृति के ये विशेष मृद्पात्र सामान्यत: उत्तरी भारत में मिले हैं और इन पर काले रंग की चमकीली सतह है इसीलिए इसका यह विशेष प्रकार का नामकरण किया गया है ।

इन मृद्पात्रों को भली प्रकार तैयार की गई मिट्टी से घूमते हुए चाक पर तैयार किया जाता था । सूखने पर आग में तपाया जाता था । गिरने पर धात्विक खनक सुनाई देती है । ये मृद्पात्र पतले एवं हल्के होते हैं । पात्रों में प्रमुखत: किनारों की थालियाँ, कटोरे, ढक्कन तथा छोटे कलश हैं । इस संस्कृति का कालक्रम पाँचवी शताब्दी ई० पू० से द्वितीय शताब्दी ई० पू० माना जाता है । इस काल में लोहे का व्यापक रूप से उपयोग होने लगा था, जिससे उत्पादन में भारी वृद्धि हुई । संभवत इसी कारण से उत्तरी भारत में द्वितीय नागरक क्रांति का सूत्रपात हुआ । अतिरिक्त उत्पादन में भारी वृद्धि नागरक क्रांति का प्रमुख कारण है नागरक समाज का आर्थिक जीवन जटिल होने लगा, परिणामस्वरूप वस्तु-विनिमय' से परेशानी होने लगी । इन्हीं आवश्यकताओं, आर्थिक जटिलताओं ने सिक्कों के प्रचलन का मार्ग प्रशस्त किया । ताम्र एवं रजत निर्मित आहत सिक्के (Punch Marked Coins) हमारे देश के प्राचीनतम सिक्के हैं । लेख रहित ताम्बें के सिक्के भी इनके समान प्राचीन माने गये हैं । सिक्कों के प्रचलन से व्यापार वाणिज्य के विकास में भारी प्रगति हुई ।

मौर्य साम्राज्य कालीन बैराठ: मौर्य काल में 'बैराठ' का विशेष महत्व था। यहाँ मौर्य सम्राट अशोक के काल में प्रस्तर खण्डों पर दो शिलालेख उत्कीर्ण कराये गये थे । प्रथम जो बीजक की पहाडी पर स्थित था, को 1837 ई0 में कैप्टन बर्ट ने खोजा तथा सुरक्षा की दृष्टि से इसे 1840 ई0 में कलकत्ता संग्रहालय में ले जाया गया । द्वितीय-भीम डूंगरी के पूर्वी भाग की तलहटी में एक शिलाखण्ड पर अंकित है । 1871-72 ई0 में कालाईल ने इस क्षेत्र का गहन सर्वेक्षण किया तथा 1936 ई0 में बीजक की पहाड़ी पर दयाराम साहनी ने पुरातात्विक उत्खनन किया । उत्खनन में मौर्यकालीन अशोक स्तंभ, बौद्ध मंदिर एवं बौद्ध विहार के ध्वंसावशेष प्राप्त हुए । 1962 ई0 में एन.आर. बनर्जी ने पुन: उत्खनन किया । 1990 ई0 में गणेश डूंगरी, बीजक डूँगरी एवं भीम डूँगरी के शैलाश्रयों में अनेक चित्रित शैलाश्रय खोजे गये । इस प्रकार बैराठ क्षेत्र पुरासम्पदा से सम्पन्न होने के कारण पुरावेत्ताओं एवं इतिहासकारों के लिए आकर्षण का केन्द्र रहा है । बैराठ में किये गये पुरातात्विक उत्खननों से यह प्रमाणित होता है कि यह बौद्ध धर्मानुयायियों के लिए एक महत्वपूर्ण केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित था तथा मौर्य सम्राट अशोक का इस क्षेत्र से विशेष लगाव था । परवर्ती काल में इसका धंस किया गया, क्योंकि स्तंभ, छत्र, स्तूप

आदि के हजारों टूटे हुए टुकडे प्राप्त हुए हैं। दयाराम साहनी के मतानुसार यह विनाशलीला हूण शासक मिहिरकुल द्वारा की गई । हूण शासक मिहिरकुल ने छठी शताब्दी ई0 के प्रारंभिक काल में पश्चिमोत्तर भारतीय क्षेत्र में 15 वर्षो तक शासन किया था । चीनी यात्री व्हेनसांग अपने विवरण में लिखता है कि मिहिरकुल ने पश्चिमोत्तर भारत में 1600 स्तूपों और बौद्ध विहारों को ध्वस्त किया तथा 9 कोटि बौद्ध उपासकों का वध किया । संभवत: इस विनाशकाल में ही बौद्ध धर्मानुयायियों ने कूट लिपि (गुप्त लिपि) का इन पहाडियों के शैलाश्रयों में प्रयोग किया है । गुप्त कालीन ब्राह्मी लिपि को अत्यधिक अलंकृत करके लिखा जाना ही कूट लिपि (गुप्त लिपि) शंख लिपि है । इसका लाल रंग से 200 से अधिक शिलाखण्डों की विभिन्न सतहों पर अंकन प्राप्त हुआ है ।

3.12 सारांश

उत्तर-पूर्वी राजस्थान में जयपुर जिले का विराटनगर या बैराठ प्राचीन काल में मत्स्य जनपद कहलाता था । पुरातात्विक दृष्टि से यह क्षेत्र महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है । यहाँ उत्खनन में मौर्य कालीन बौद्ध मंदिर (स्तूप) एवं बौद्ध विहार के अवशेष प्राप्त हुए हैं । मौर्य सम्राट अशोक के ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्णित दो शिलालेख भी यहाँ से प्राप्त हुए हैं ।

3.13 बोध प्रश्न

1. आहड संस्कृति की मुख्य विशेषताऐ लिखिए (100 शब्द)
2. आहड संस्कृति के निवासियों के आर्थिक जीवन का वर्णन. कीजिए । (150 शब्द)

3.14 संदर्भ ग्रंथ

1. सिंधु सभ्यता - शुक्ल एवं थपल्याल
2. Excavations at Kalibangan- The Early Harappans - B.B Lal & J.P Joshi
3. आहड - एच0 डी0 सांकलिया
4. Excavations at Bairath - D.R Sahni

इकाई - 4

जनपद युगीन राजस्थान

(Rajasthan during the ages of Janapad)

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 बुद्धकालीन जनपद

4.3 जनपद युगीन राजनीति की विशेषताएँ

4.4 जनपद युग में राजस्थान

4.4.1 मत्स्य जनपद

4.5 मगध साम्राज्य की राजनीति और उसका राजस्थान पर प्रभाव

4.6 मौर्य सम्राट और राजस्थान

4.6.1 बैराट स्थित बीजक की पहाडी से प्राप्त बौद्ध अवशेष;

4.6.2 अशोक के पश्चात मगध साम्राज्य और राजस्थान

4.7 शुंगकाल में राजस्थान पर यवन आक्रमण

बोध प्रश्न

4.8 यवन आक्रमण का प्रभाव और विभिन्न गणजातियों का राजस्थान आगमन

4.9 राजस्थान की प्रमुख गणजातियाँ

4.9.1 मालव;

4.9.2 यौधेयों;

4.9.3 आर्जूनयन;

4.9.4 राजन्य;

4.9.5 आभीर;

4.9.6 शूद्रगण;

4.9.7 शिबिजनपद;

4.9.8 उदिहीक जनपद;

4.9.9 शाल्व जनपद;

4.10 सारांश

4.11 बोध प्रश्न

4.12 संदर्भ ग्रन्थ

4.0 उद्देश्य

– जनपदयुगीन राजस्थान का परिचय करवाना ।

- मगध साम्राज्य और राजस्थान के सम्बन्धों से अवगत करवाना ।
- मौर्य सम्राटों और शुंग शासकों के राजस्थान के साथ सम्बन्धों का अध्ययन करना ।
- इण्डो-यवन आक्रमण के कारण राजस्थान में आकर बसने हाली गणजातियों का परिचय करवाना।

4.1 प्रस्तावना

भारत में छठी शताब्दी ई.पू. से ही राजनीतिक घटनाओं का प्रामाणिक विवरण लगता है । इस शताब्दी में महात्मा बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों का अवतरण हुआ था । इस समय तक वैदिक जन किसी क्षेत्र विशेष में स्थायीरूप से बस चुके थे । जनों को भौगोलिक अभिज्ञता ठोस रूप से मिल जाने पर वह क्षेत्र विशेष सम्बन्धित जनपद के नाम से पुकारा जाने लगा ।

हमें बुद्धकालीन भारत में राजतन्त्रीय एवं प्रजातन्त्रीय राज्यों के बारे में जानकारी मिलती है । कुछ प्रजातन्त्रीय जनों ने तो मिलकर संघों का निर्माण कर लिया था । इसके अलावा इस काल में एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर अधिकार करने की होड़ भी दृष्टिगोचर होती है, जिसमें मगध राज्य को सर्वाधिक सफलता प्राप्त हुई थी । इस काल में जनपदों का महाजनपदों में परिवर्त्तन हो रहा था । अत: बुद्धकालीन भारत (छठी शताब्दी ई.पू.) को विद्वान महाजनपदों का युग कहकर पुकारते हैं ।

मगध के शासकों ने तो अपनी साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का परिचय देते हुए मौर्यकाल तक लगभग सम्पूर्ण भारत पर ही अपना अधिकार करके साम्राज्य की कल्पना को साकार स्वरूप प्रदान कर दिया था । मौर्य काल में राजस्थान निश्चित रूप से उनके साम्राज्य का अंग बन चुका था ।

अत: मगध राज्य जिसका विस्तार महात्मा बुद्ध के समय हर्यक वंश की स्थापना के साथ प्रारम्भ हुआ था, वह परवर्ती राजवंशों के समय पल्लवित होकर चन्द्रगुप्त मौर्य के समय विशाल साम्राज्य में परिवर्तित हो गया । इस प्रकार वैदिक काल से भारत में साम्राज्य की जो कल्पना की गई और जिसका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है उसे व्यवहार में परिवर्तित करके मौर्य शासकों ने राजनीतिक क्षेत्र में अपना वर्चस्व स्थापित किया ।

4.2 बुद्धकालीन महाजनपद

ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ में भारत छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था । वैदिक युग में आर्य सभ्यता के प्रतिनिधि नौ राज्यों का वर्णन ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में मिलता है । जिनके नाम हैं- गन्धार, कैकय, मद्र, वश-उशीनर मत्स्य, कुरु, पंचाल, काशी और कोसल । इससे परे अंग और मगध जनपद थे जिनमें वैदिक धर्म का पूर्णतया प्रचार नहीं हो पाया था । दक्षिणापथ में अभी तक आर्येतर जनों का प्राधान्य था । उनमें शबर, आन्ध्र, पुलिन्द, मुतिब और नैषध प्रमुख थे । पांचवी शताब्दी ई.पू. अर्थात् पाणिनि के काल में भारतदेश जनपदों में विभाजित था । 600 ई.पू. से 100 ई.पू. में रचित बौधायन धर्मसूत्र में सौबीर, आरट्ट, सुराष्ट्र, अवन्ति, मगध, अंग, पुण्ड्र और वंग का उल्लेख मिलता है । महाभारत के भीष्मपर्व में लगभग 250 जनपदों और कर्णपर्व में मुख्य जनपदों की सूचियाँ मिलती हैं । पुराणों के भुवनकोश में भी जनपदों की सूचियाँ मिलती हैं । जिनमें कोसल, वत्स और मगध का जनपद के रूप में उल्लेख उपलब्ध होता है यह विवरण परीक्षित के अभिषेक से लेकर महापद्मनन्द के काल तक का है ।

छठी शताब्दी ई.पू. में भारत की राजनीतिक स्थिति का विवरण बौद्धग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय और जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में मिलता है । अंगुत्तरनिकाय की सूची में 16 महाजनपदों के नाम मिलते हैं - अंग,मगध, काशी, कोसल, वज्जि मल्ल, चेतिया(चेदि); वंस(वत्स), कुरु, पंचाल, मच्छ(मत्स्य), सूरसेन(शूरसेन), अस्सक (अश्मक), अवन्ति, गन्धार और कम्बोज । महावस्तु में 16 महाजनपदों की सूची दी गई है उसमें गन्धार और कम्बोज के स्थान पर शिवि और दशार्ण का उल्लेख मिलता है । दीघनिकाय में इन जनपदों का दो-दो के जोड़ों में उल्लेख किया गया है- जैसे कासी-कोसल; वज्जि-मल्ल, चेति-वंस, कुरु-पंचाल तथा मच्छ-सूरसेन । जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में सोलह महाजनपदों की जो सूची दी गई है वह बौद्ध ग्रन्थ अंगुत्तरनिकाय मे दी गई सूची से भिन्न है । इस सूची में सोलह महाजनपदों के नाम इस प्रकार मिलते हैं - अंग, बंग (वंग), मगह(मगध), मलय, मालवक (अवन्ति), अच्छ वच्छ (वत्स), कोच्छ (कच्छ), पाड़ (पुण्ड्र), लाढ़(राढ़), वज्जि (वृज्जि), मोलि (मल्ल), कासी (काशी), कोसल (कोशल), अवाह तथा सम्भुतर (सुम्होतर) ।

उपर्युक्त दोनों सूचईयों मे से अंगुत्तरनिकाय में दी गई सूची को अधिक विश्वसनीय माना जाता है । यद्यपि छठी शती ई.पू. में जनपदों की संख्या और भी अधिक थी । हालांकि सिकन्दरकालीन इतिहासकारों ने भी 30 से अधिक जनपदों का उल्लेख किया है ।

जनपद युग में वज्जि और मल्ल गणराज्यों के अलावा कुछ लघुजनपद भी थे जिनके नाम है दर्शाण औदुमर, वंग, सुह्य, मद्र, योन, शिवि, बाहिक कैकय, उद्यान, सिन्धु-सौवीर, सुराष्ट्र, अपरान्त महाराष्ट्र, महिंसक कलिंग, मूलक और आम्र । भरतसिंह उपाध्याय ने इन जनपदों पर प्रकाश डाला है । वज्जि गणराज्य के सदस्य लिच्छवि, विदेह, ज्ञातृक, उग्र, भोग, एक्ष्वाकु और कौरव थे । महापरिनिब्बान सुत में बुद्धकालीन निम्न गणज़ातियों के नाम मिलते हैं -

कुशीनारा के मल्ल, पावा के मल्ल, कपिलवस्तु के शाक्य, रामग्राम के कोलिय पिप्पलिवन के मोरिय, अल्लकप्प के बुलि केसपुत्त के कालाम और सुंसुमार गिरी के भग्ग ।

4.3 जनपदयुगीन राजनीति की विशेषताएँ

बुद्धकालीन भारत में सार्वभौम सत्ता का अभाव था । सम्पूर्ण राष्ट्र छोटे-छोटे जनपदों में बँटा हुआ था जो अपने अस्तित्व को बनाये रखने हेतु प्रयत्नशील थे । डॉ. श्रीराम गोयल ने छठी-पाँचवी शती ई.पू. को संघर्षरत जनपदों का युग कहकर पुकारा है । लेकिन विकेन्द्रीकरण के इस काल में हमें केन्द्रीकरण की प्रवृति भी दृष्टिगोचर होती है । महात्मा बुद्ध के समय सोलह महाजनपदों में से कोसल, वत्स, अवन्ति और मगध इस काल के चार सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य बन चुके थे । उनमें सार्वभौम सत्ता के लिये संघर्ष प्रारम्भ हो चुका था । धीरे-धीरे लघु जनपद मगध में सम्मिलित हो गये और बह साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर होने लगा । मौर्यकाल तक पहुँचते मगध ने विशाल साम्राज्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया ।

भारतीय इतिहास के लिये विवेच्य काल संक्रमण काल था क्योंकि छठी शताब्दी ई.पू. में हमारे देश के पश्चिमी सीमान्त को ईरानी आक्रमण और फिर मौर्यकाल में सिकन्दर के आक्रमण का सामना करना पड़ा था । जिससे प्रभावित होकर कई गणजातियो ने पंजाब को छोड़कर राजस्थान को अपना निवास स्थान बना लिया था ।

4.4 जनपद युग में राजस्थान

4.4.1 मत्स्य जनपद - बौद्ध ग्रन्थ अंगुतरनिकाय में 16 महाजनपदों की सूची मिलती है उसमें राजस्थान के केवल एक राज्य का उल्लेख आया है । मत्स्य जनपद का उल्लेख प्राय: सूरसेनों के साथ हुआ है। उस लोकप्रिय राज्य का नाम मत्स्य था । मत्स्य जनपद कुरु जनपद के दक्षिण में और सूरसेन के पश्चिम में था । दक्षिण में इसका विस्तार समहतः चम्बल नदी तक था और पश्चिम में सरस्वती नदी तक । इसमें आधुनिक अलवर प्रदेश, धौलपुर, करौली, जयपुर, भरतपुर के कुछ भाग सम्मिलित थे । इसकी राजधानी विराट नगर (आधुनिक बैराट) थी । महाभारत के अनुसार पाँच पाण्डवों ने अपने अज्ञातवास का समय यहीं पर व्यतीत किया था । इसके समीप उपलब्ध नाम का कस्बा था ।

पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने ग्रन्थ राजपूताने का इतिहास खण्ड प्रथम में महाभारतकालीन मत्स्य राज्य की चर्चा करने के बाद लिखा है कि चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा साम्राज्य स्थापना तक राजस्थान का इतिहास बिल्कुल अन्धकार में है । डॉ. दशरथ शर्मा ने इस विषय पर केवल कुछ पृष्ठों में प्रकाश डाला है ।

मत्स्य एक प्राचीन राज्य था जिसका उल्लेख ऋग्वेद में मिलता है । शतपथ ब्राह्मण में मत्स्य राजा ध्वसन द्वैतवन का नाम आया है, उसने सरस्वती के निकट अश्वमेघ यज्ञ किया था । गोपथ ब्राह्मण में शाल्व, कौशीतकि उपनिषद् में कुरु-पंचाल तथा महाभारत में जालन्धर दोआब के त्रिगर्त और मध्य भारत के चेदिवंश के साथ मत्स्य का उल्लेख मिलता है । यद्यपि विदेह के समकालीन मत्स्य नरेश का नाम ज्ञात नहीं है लेकिन इतना अवश्य है कि यह राज्य जनपद युग में अत्यन्त महत्वपूर्ण था ।

महाभारत के अनुसार मत्स्य राज्य गौधन से सम्पन्न था इसलिये इस पर अधिकार करने हेतु त्रिगर्त और कुरु राज्य आक्रमण किया करते थे । मनुस्मृति में तो कुरु, मत्स्य. पंचाल और शूरसेन भूमि को ब्रह्मर्षि देश कहा गया है । मत्स्य प्रदेश के लोग ब्राह्मणवाद के अन्य भक्त माने जाते थे । मनुस्मृति में तो यहाँ तक कहा गया है कि मस्त, कुरुक्षेत्र, पंचाल तथा शूरसेन में निवास करने वाले लोग युद्ध क्षेत्र में अपना शौर्य प्रदर्शन करने में निपुण थे । इस प्रकार अपनी वीरता, पवित्र आचरण और परम्पराओं का पालन करने के विशिष्ट गुण के कारण मत्स्य राज्य के निवासियों का समाज में आदरपूर्ण स्थान था । महाभारत के अनुसार मत्स्य नरेश विराट पाण्डवों का मित्र एवं रिश्तेदार था । महाभारत में राजा विराट के वीर पुत्र उत्तर का उल्लेख भी मिलता है । महाभारत के युद्ध में विराट युधिष्ठिर की तरफ से लड़कर वीरगति को प्राप्त हुआ था । द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वस्थामा ने विराट की सेना का संहार किया था । विराट के भाई शतानीक, मदिराज, सूर्यदत्त, श्रुतानीक श्रुतध्वज, बलानीक जयानीक जयाश्व, रथवाहन चन्द्रोदय, समरथ तथा रानियाँ - सुरथा, सुदेष्णा और तीन पुत्र-उत्तर, शंख और श्वेत थे । शंख द्रोणाचार्य और श्वेत भीष्मपितामह के हाथों मारे गये थे । उत्तर ने भी शल्य के हाथों वीर गीत प्राप्त की थी ।

चीनी यात्री युवान च्वांग ने अपने यात्रा विवरण में वैराट का उल्लेख किया है । उसने सातवीं शताब्दी के मध्य में यहाँ यात्रा की थी । उसने लिखा है कि बैराट 14 या 15 ली अर्थात 25 मील के घेरे में फैला हुआ था । यहाँ के लोग वीर और पुष्ट होते थे, यहाँ के राजा फी-शे (वैश्य) जाति का था और युद्ध में अपनी बहादुरी के लिये प्रसिद्ध था । कनिंघम फी-शे का तात्पर्य बैस राजपूतों से लेते हैं

। मत्स्यों के एक अन्य नगर उपलब्ध का नाम महाभारत में मिलता है । जहाँ पाण्डवों ने वैराट में अपना वनवास समाप्त किया था । उपलब्ध की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहना कठिन है ।

पाली साहित्य में मत्स्यों को शूरसेन तथा कुरु से सम्बन्धित बतलाया गया है । लेकिन मत्स्य राज्य का उन दिनों राजनीतिक वर्चस्व समाप्त हो गया था क्योंकि उसके पडौसी राज्य अवन्ति, शूरसेन तथा गन्धार अत्यन्त शक्तिशाली थे । जनपद काल में राजस्थान अवन्ति तथा गन्धार को जोड़ने वाली कड़ी मात्र था । एक परम्परा के अनुसार गन्धार नरेश पुक्कुसाती ने अवन्ति के प्रद्योत पर आक्रमण कर उसे पराजित किया था । ऐसी परिस्थिति में प्रद्योत द्वारा अपना राज्य विस्तार करते हुए राजस्थान के बडे भू-भाग को भी अधिकृत करने की सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि उन दिनों जनपदों में अपने पडौसी राज्यों पर आक्रमण करके राज्य का विस्तार करने की होड मची हुई थी । तत्पश्चात् उत्तर बुद्ध युग में भारत को विदेशी आक्रमणों का सामना करना पडा ।

छठी शती ई.पू. उत्तर पश्चिमी भारत पर ईरानी शासक साइरस (558-530 ई.पू.) के नेतृत्व में आक्रमण हुआ था । भारतीय सीमान्त पर ईरानियों का प्रभुत्व डेरियस तृतीय के काल में 330 ई.पू. तक रहा । तत्पश्चात् भारत पर सिकन्दर का (330-326 ई.पू.) आक्रमण हो गया । राजस्थान पर ईरानी एवं यूनानी आक्रमण का कोई प्रभाव नहीं पडा । पूर्वी भारत में यह समय मगध साम्राज्य के उत्कर्ष का था । मगध के शासकों का ध्यान कोसल और वत्स राज्य को अधिकृत करने में लगा रहा । इसलिये मध्यदेश की पश्चिमी सीमा पर स्थित राजस्थान मगध साम्राज्य के दबाव से बचा रहा । हेमचन्द रायचौधरी की मान्यता है कि राजस्थान का नाम कौटिल्य द्वारा गिनाये गये संघ राज्यों या गैर राजतन्त्रात्मक राज्यों की सूची में नही मिलता । इसलिये यह सम्भावना है कि मत्स्य राज्य अपनी स्वाधीनता खोने तक राजतन्त्रात्मक ही बना रहा । उन्होंने यह सम्भावना व्यक्त की है कि किसी समय चेदि राज्य ने मत्स्य राज्य पर आक्रमण किया था । महाभारत में भी चेदि और मत्स्य के राजा सहज का उल्लेख मिलता है । डॉ. डी.सी. शुक्ल ने रायचौधरी की इस मान्यता को अस्वीकार किया है कि राजस्थान पर चेदि नरेश ने कभी अधिकार किया था ।

4.5 मगध साम्राज्य की राजनीति और उसका राजस्थान पर प्रभाव -:

छठी शताब्दी ई.पू. में जो राजतंत्रीय एवं गणतांत्रिक जातियों के राज्य थे उनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है । उनमें चार राजतन्त्र- कोसल, मगध, वत्स और अवन्ति प्रमुख थे । प्रारंभ में कोसल और मगध में तथा वत्स और अवन्ति में संघर्ष था । बाद में मगध ने कोसल, वत्स, और अवन्ति को जीत लिया और एक विशाल साम्राज्य का निर्माण करने में सफल हुआ ।

छठी शताब्दी ई. पू. मगध में हर्यंक वंश का शासन था । उसने 543 ई.पू. अपने राजवंश की स्थापना की थी । बुद्ध का समकालीन मगध का राजा बिम्बसार (543-491 ई.पू.) था । उसने बिहार के पूर्वोत्तर अंग राज्य को जीतकर मगध में मिला लिया । उसे काशी का प्राप्त विवाह में कोसल राज्य से मिला था । उसने वज्जिसंघ का विघटन किया और कोसल राज्य को पराजित किया । उसकी राजधानी प्रारम्भ में गिरिव्रज थी लेकिन बाद में उसने राजगह को अपनी राजधानी बनाया । उसने वत्स, मद, गन्धार और कम्बोज से मैत्री पूर्ण सम्बन्ध बनाये । 491 ई.पू. बिम्बसार को बन्दीगह में डालकर अजातशत्रु शासक बना उसे काशी प्रान्त हेतु कोसल से संघर्ष करना पडा । उसने गणराज्यों के बज्जिसंघ को भी पराजित कर दिया । उसके बाद उदायी (459-443ई.पू) मगध का शासक बना उसने गंगा तथा

सोन नदी के संगम पर पाटलिपुत्र नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया । सिंहली ख्यातों के अनुसार उदायी के बाद अनुरुद्ध, मुण्ड, नागदासक (443-411 ई.पू.) ने राज्य किया । लेकिन मगध में षड्यन्त्रों से तंग आकर जनता ने काशी प्राप्त के शासक शिशुनाग (411 -393 ई.पू.) को बुलाकर उसे मगध के सिंहासन पर बैठाया । उसने अवन्ति को जीतकर मगध में मिला लिया । उसने पुन: राजगृह को राजधानी बनाया और वैशाली को अपनी दूसरी राजधानी बनाया ।

शिशुनाग का अवन्ति पर अधिकार था इसलिये उसके पडौसी राज्य मत्स्य पर भी उसका प्रभाव अवश्य रहा होगा क्योंकि साम्राज्यवाद के युग में स्वतन्त्रता पूर्वक रहना कठिन था ।

शिशुनाग के बाद कालाशोक (393-365 ई.पू.) मगध का शासक बना उसने पाटलिपुत्र को अपनी राजधानी बनाया । कालाशोक के 10 पुत्र (365-343ई.पू.) हुए जिन्होंने संयुक्त शासन किया । उनमें नन्दिबर्धन सबसे योग्य था लेकिन विलासी भी था । उसके समय राजपरिवार में व्याभिचार और षड़यन्त्र बढ़ गये थे उसकी शूद्रा स्त्री से उत्पन्न महापद्मनन्द ने लगभग चौथी शती ई.पू. शैशुनाग वंश का अन्त करके मगध में नन्दवंश की स्थापना की ।

नन्दवंश में नौ राजा हुए जिन्हें नव नन्द (343-321 ई.पू.) कहते हैं । महाबोधिवंश के अनुसार उनके नाम थे- उग्रसेन, पण्डुक, पण्डुगति भूतकाल, राष्ट्रपाल, गोविषाणक दशासिद्धक, कैवर्त और धननन्द । इनमें उग्रसेन पिता था और शेष पुत्र । उग्रसेन को ही पुराणों में महापद्मनन्द कहा गया है।

पुराणों में महापद्मनन्द को अत्यन्त बलवान, लोभी और क्षत्रिय राजाओं का विनाश करने वाला कहा गया है । पुराणों में कहा गया है कि वह इक्ष्वाकुवंशियो, पात्रचालों, कौरवों, हैहयों, कालको, एकलिंगो, शूरसेनों, मैथिलों और अन्य राजाओं को जीतकर दूसरे परशुराम के समान एकराट और एकछत्र होकर शासन करेगा । हिमालय और विंध्य के बीच सम्पूर्ण द्यी के ऊपर सर्वमान्य राजा होगा । इस विवरण से स्पष्ट है कि उसकी विजयों से मगध साम्राज्य का बहुत विस्तार हो गया था ।

हमारा विचार है कि महापद्मनन्द एक विशाल साम्राज्य का स्वामी था और राजस्थान (मत्स्य राज्य) के समीप शूरसेन पर उसने विजय प्राप्त की थी । अत: राजस्थान क्षेत्र को उसके प्रभाव क्षेत्र में अवश्य रखा जा सकता है । लेकिन इस सम्बन्य में डी.सी.शुक्ल का मत विचारणीय है । उनकी मान्यता है कि महापद्मनन्द द्वारा पराजित राज्यों की सूची में मत्स्य राज्य का नाम नहीं मिलता है । अत: यह माना जा सकता है कि राजस्थान क्षेत्र उस समय स्वतन्त्रता का उपभोग करता रहा ।

महापद्मनन्द के पुत्रों में धननन्द ही प्रसिद्ध हुआ । यूनानी लेखकों ने उसे अग्रामीज कहा है । उसको अपने पिता से विशाल धनराशि और साम्राज्य तथा विशाल सेना प्राप्त हुई । यूनानी लेखक कर्टियस के शब्दों में गंगा घाटी और प्राची के राजा अग्रामीज ने अपने राज्य में (पश्चिम से) प्रदेश करने बाले मार्गो की रक्षा करने के लिये दो लाख पैदल, बीस हजार घुड़सवार, दो हजार रथ और तीन हजार हाथी रखे थे लेकिन नन्द सम्राट् जनता के प्रिय न थे उन्होंने ब्राह्मण परम्परा से अपना अभिषेक नहीं करवाया था । उनकी उग्र नीति और लोभी आर्थिक नीति के कारण प्रजा उनसे घृणा करती थी । शूद्र स्त्री की सन्तान होने से समाज में उन्हे विशेष आदर प्राप्त नहीं था । इन परिस्थितियों में चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य ने मिलकर नन्द साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और उन्हें पराजित करके मगध में मौर्य वंश की स्थापना की।

4.6 मौर्य सम्राट और राजस्थान

नन्द वंश के पतन के पश्चात् मगध में मौर्य वंश का राज्य 321 ई.पू. स्थापित हुआ। चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलिपुत्र के सिंहासन पर बैठने के पश्चात सम्पूर्ण आर्यावर्त पर विजय प्राप्त की जिसमें सुदूर पश्चिम तथा पूर्व के प्राप्त सम्मिलित थे। पश्चिम अप्रान्त में सुराष्ट्र प्रान्त चन्द्रगुप्त मौर्य के साम्राज्य में सम्मिलित होने का प्रमाण रुद्रदामा के गिरनार अभिलेख में मिलता है। विन्ध्य के कुछ प्रदेश भी चन्द्रगुप्त के साम्राज्य में सम्मिलित थे। सिकन्दर के स्वदेश लौट जाने के बाद पंजाब पर भी चन्द्रगुप्त मौर्य का अधिकार हो गया था। यूनानी लेखक प्लुटार्क और जस्टिन ने उल्लेख किया है कि चन्द्रगुप्त ने 6 लाख सैनिक लेकर सारे भारत पर अपना अधिकार कर लिया। महावंस में तो चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप का स्वामी कहा गया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में सिकन्दर का सेनापति सैल्यूकस निकेटर हुआ। उसने 305 ई. पू. भारत पर आक्रमण किया। किन्तु उत्तरापथ में मौर्य सेनाओं की सशक्त स्थिति देखकर सैल्यूकस को छोटे-मोटे युद्ध के बाद चन्द्रगुप्त मौर्य से सन्धि करनी पडी। इस सन्धि के अनुसार सैल्यूकस द्वारा चन्द्रगुप्त मौर्य को हेरात, कन्धार, काबुल और बलूचिस्तान देने पडे। उसने अपनी पुत्री हेलन का विवाह चन्द्रगुप्त से कर दिया, उपहार स्वरूप चन्द्रगुप्त ने उसे 500 हाथी प्रदान लिये। इसके बाद दूत विनिमय भी हुआ। मेगस्थनीज सैल्यूकस के दूत के रूप में पाटलिपुत्र में रहने लगा। इससे चन्द्रगुप्त मौर्य की पश्चिमोत्तर सीमा हिन्दुकुश तक पहुँच गई।

चन्द्रगुप्त मौर्य के समय साम्राज्य सीमा पश्चिमोत्तर में हिन्दुकुश से दक्षिण पूर्व में बंगाल की खाड़ी और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक थी, परन्तु इसमें कश्मीर, कलिंग और दक्षिण के कुछ भाग सम्मिलित न थे। साम्राज्य के कुछ भाग ऐसे थे जिन्हे आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। इनमें कुछ जीते हुए गणतन्त्र पश्चिमोत्तर में यवन, कम्बोज, दक्षिण पश्चिम सुराष्ट्र तथा महाराष्ट्र के आसपास की जातियों को आन्तरिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

चन्द्रगुप्त मौर्य का राजस्थान पर आधिपत्य था जिसकी पुष्टि निम्न प्रमाणों के आधार पर की जा सकती है-

1. प्लुटार्क के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य ने छः लाख सैनिकों की सेना लेकर सम्पूर्ण भारत पर विजय प्राप्त की थी।
2. वैराट से अशोक का अभिलेख प्राप्त हुआ है। हम जानते हैं कि अशोक ने केवल कलिंग पर ही विजय प्राप्त की थी, इसलिये मत्स्य प्रदेश (वैराट) पर विजय प्राप्त करने का श्रेय चन्द्रगुप्त मौर्य को दिया जा सकता है।
3. महावंस में चन्द्रगुप्त मौर्य को सम्पूर्ण जम्बू-द्वीप का स्वामी कहा गया है जिसमें राजस्थान का प्रदेश भी सम्मिलित था।
4. 7वी. शताब्दी के प्रारम्भ में किसी मौर्य शासक का दक्षिण-पश्चिम राजस्थान तथा पूर्वी मालवा पर अधिकार था। चित्रांग नामक मौर्य राजा ने चित्तौड़ दुर्ग का निर्माण करवाया था। डा. दशरथ शर्मा ने भी चित्तौड़ पर मौर्यो के शासन की पुष्टि करते हुए लिखा है कि चौहान नरेश सम्भरीश ने जब मेवाड पर आक्रमण किया तब चित्तौड़ पर मौर्य शासक शासन कर रहा था यद्यपि चित्तौड़ पर चौहान आक्रमण होना विवाद का विषय है। सम्भवतः चित्तौड़ पर शासन करने वाला चित्रांग साम्राज्यिक मौर्या का ही कोई वंशज था।

डी.सी. शुक्ल का मत है कि मौर्यकाल में राजस्थान के आसपास के क्षेत्र - उत्तर प्रदेश, सिन्ध, गुजरात और मालवा पर मगध साम्राज्य का अधिकार था । ऐसी परिस्थिति में यह सम्भव नहीं था कि यह प्रदेश मौर्य साम्राज्य से बाहर रहकर अपनी स्वतन्त्रता का उपभोग करता रहे ।

अब प्रश्न उठता है कि राजस्थान पर अधिकार करने वाला प्रथम मौर्य शासक कौनसा था? हमें जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनसे संकेतित है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने ही पहली बार राजस्थान पर अधिकार किया था । इसका प्रमाण यह है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी साम्राज्य की सीमा का विस्तार सौराष्ट्र तथा काठियाबाड़ तक किया था जिसकी पुष्टि रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख से होती है जिसमें चन्द्रगुप्त के राष्ट्रीय वैश्य पुष्यगुप्त द्वारा सुदर्शन झील के निर्माण का विवरण मिलता है । हेमचन्द्र रायचौधरी का मत है कि अवन्ति पर मौर्यो का पूरा प्रभाव था । इसलिये इस बात की सम्भावना है कि चन्द्रगुप्त मौर्य जिसका साम्राज्य अवन्ति तथा सुराष्ट्र में फैला हुआ था उसने राजस्थान पर भी अवश्य अधिकार किया होगा ।

चन्द्रगुप्त मौर्य के निधन (297 या 300 ई.पू.) के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी बिन्दुसार बना । यूनानी लेखकों ने उसे अमिट्रोचेटि या अमित्रघाती (शत्रुओं का संहार करने वाला) कहकर पुकारा है । उसने चन्द्रगुप्त मौर्य से प्राप्त साम्राज्य को सुरक्षित बनाये रखा । सीरिया के शासक एण्टिओकस सोटर ने अपने डिमैकस को और मिश्र के सम्राट टालमी फिलाडेल्फस ने डायोनिसिअस को उसके दरबार में राजदूत बनाकर भेजा । बिन्दुसार ने 25 वर्ष तक राज्य किया था । तारानाथ के अनुसार बिन्दुसार और चाणक्य ने लगभग 16 नगरों को नष्ट किया और पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के बीच के सारे प्रदेशों को अपने आधिपत्य में ले लिया । सम्भवत: दक्षिण भारत पर विजय उसी ने की थी । प्रो. श्रीराम गोयल इस मत से सहमत नहीं है ।

बिन्दुसार के समय तक्षशिला में विद्रोह हुआ था, जिसे अशोक ने दबाया । अशोक ने तक्षशिला के विद्रोह को दबाकर खसों के प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था । खसों का कश्मीर में राज्य था । लेकिन बिन्दुसार के राज्यकाल में कश्मीर पर विजय की गई । इस मत को प्राय: स्वीकार नहीं किया जाता ।

जहाँ तक राजस्थान का प्रश्न है बह बिन्दुसार के राज्यकाल में भी मौर्य साम्राज्य का अंग बना रहा ।

बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् अशोक (273 ई.पू.) चार वर्ष बाद मगध का सम्राट बना । उसने अपने पितामह और पिता से प्राप्त साम्राज्य को असुष्ण बनाये रखा । अभिलेखों से जात होता है कि अशोक ने अपने राज्यकाल में कलिंग को जीतकर उसे मौर्य साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया था ।

राजस्थान चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही मगध साम्राज्य का अंग बनकर देश की मुख्य धारा में समिलित हो गया था । बिन्दुसार के समय भी यही स्थिति बनी रही । अशोक के समय राजस्थान बौद्ध धर्म की गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र बन गया जिसकी पुष्टि जयपुर के निकट बैराट नामक स्थल से प्राप्त अशोक के भाब्रू अभिलेख से होती है जो अब कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित है ।

अशोक ने एक राजा के रूप में बौद्ध साहित्य के प्रचार में रुचि ली थी । इस विषय में उसके भाब्रु पाषाण शिला फलक लेख का साक्ष्य इस प्रकार है:- " मगध के राजा प्रियदर्शी ने संघ को अभिवादन करके कहा - (मैं आपके) स्वास्थ्य और सुखविहार की (कामना करता हूँ) आप लोगों को विदित है (की) बुद्ध, धम्म और संघ में मेरी कितनी श्रद्धा और अनुरक्ति है । भदन्तो । जो कुछ भी भगवान बुद्ध द्वारा

भाषित है वह सब सुभाशित है । किन्तु भदन्तो! जो कुछ मुझे दिखाई देता है (अर्थात् प्रतीत होता है) कि धर्म चिरस्थायी होगा योग्य हूँ मैं उसे कहने को(अर्थात् उसे कहना, उसकी घोषणा करना मेरा कर्त्तव्य है । भदन्तो! ये धर्म पर्याय है- विनय समुकस, अलयवसानि अनागत भयानि मुनिगाथा मोनेयसुत उपतिसपसिन तथा लाधुलोवाद में मुशावाद का विवेचन करते हुए भगवान् बुद्ध द्वारा जो कुछ कहा गया है । भदन्तो। मैं चाहता हूँ क्या? - कि इन धर्म पर्यायों को बहुसंख्यक भिक्षुपाद व भिक्षुणियाँ प्रतिक्षण सुने और उन पर मनन करें । इसी प्रकार उपासक और उपासिकाएँ भी । भदन्तो! इसी प्रयोजन के लिये इसे लिखवाता हूँ कि लोग मेरे अभिप्राय को जान लें ।" इस विवरण से स्पष्ट है कि बौद्ध धर्मावलम्बी अशोक ने लोगों से प्रार्थना की कि वे विनय समुत्कर्ष आर्यवंशा: अनागत भयानि, मुनिगाथा, मोनेय सूत्रम, उप्पलिव्य के प्रश्न तथा राहुल्वाद आदि ग्रन्थो का अध्ययन करें ।

4.6.1 बैराट स्थित बीजक की पहाडी से प्राप्त बौद्ध अबशेष

बैराट से 1837 ई. में कैप्टन बर्ट को भाब्रु अभिलेख मिला था । इसके पश्चात् कार्लाइल (1871 -72) कनिंघम (1864-65) और डी.आर. भण्डारकर ने इस क्षेत्र का अध्ययन किया था । अशोक ने बैराट को अति महत्त्वपूर्ण स्थान मानते हुए यहाँ पर शिलालेख उत्कीर्ण करवाया तथा बौद्ध स्तूप, गुहागृह, सौर श्रावक गृह का निर्माण करवाया । अशोक ने बौद्ध स्तूप में बुद्ध के अस्थि अवशेष भी स्थापित करवाये । वर्तमान में बीजक की पहाडी पर केवल मौर्यकालीन अवशेष ही बचे हैं जो अपने स्वर्णिम अतीत की कहानी कहते हुए प्रतीत होते हैं । महावीर प्रसाद शर्मा ने तोरावटी का इतिहास में लिखा है कि बैराट चन्द्रगुप्त मौर्य का जन्म स्थान था लेकिन बौद्ध ग्रन्थों से इस मत की पुष्टि नहीं होती है । बीजक की पहाडी पर जो बौद्ध मन्दिर या स्तूप के अवशेष मिलते हैं वे मौर्यकालीन है । पहाडी पर प्लेट फार्म की लम्बाई चौड़ाई 60-70 मीटर है । इस मैदान के बीच में गोलाकार परिक्रमा युक्त ईटों का मन्दिर दृष्टिगोचर होता है । मन्दिर के गोलाकार भीतरी द्वार पर इस समय 27 लकडी के खम्भे लगने के स्थान स्पष्ट दिखलाई देते हैं । यहाँ से प्राप्त ईटों पर बुद्ध उपदेशों के अक्षर दृष्टिगोचर होते हैं । गोलाकार मन्दिर या बौद्ध स्तूप आयताकार चारदीवारी से घिरा हुआ है । यह दीवार 12 इंच मोटी ईटों से बनी है । इसके अन्दर का क्षेत्र 70 फीट उत्तर से दक्षिण तक लम्बा एवं 44 फीट 6 इंच पूर्व से पश्चिम को चौडा है । इन दीवारों में जिन ईटों का प्रयोग किया गया है उनकी माप 20" x 10.5" x 3" है । इस प्लेटफार्म पर भिक्षु-भिक्षुणीयों के श्रवण-मनन करने हेतु श्रावक गृह के अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं । बार-बार उत्खनन करने से इसका मूल स्वरूप विलुप्त हो गया है । इसके अलावा बहुत बडा समतल मैदान बना हुआ है । इस मैदान के सामने पश्चिम की तरफ ऊँचाई पर एक छोटा प्लेट फार्म या चबूतरा बना है । जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यहाँ कोई पूजनीय वस्तु रखी गई थी । जिसको लक्ष्य कर साधक उपासना करते थे । इस बौद्ध स्तूप या मन्दिर को देखने से ऐसा लगता है कि इसकी कई बार मरम्मत की गई थी, परन्तु इसके मूल ढाँचे को नहीं बदला गया । यह ढाँचा चूने के बजाय गारे तथा मिट्टी से बनाया गया है तथा उस पर चूने का प्लास्टर किया हुआ है । डॉ. दयाराम साहनी ने इस स्थल का सर्वेक्षण कार्य किया था ।

पहाड़ी के नीचे भिक्षु-भिक्षुणियों के निवासगृह के अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं जिनकी संख्या 25 हैं । पूर्व की तरफ 12 कोठरियाँ स्पष्ट दिखलाई देती हँ इनमे से 6 बड़े और 6 छोटे आकार की हैं । ये तीन समानान्तर कतारों में बनी हुई थी तथा परस्पर एक बरामदे से जुडी हुई थी । चीनी

यात्री युवान-च्वांग ने यहाँ पर बौद्ध विहार होने की सम्भावना प्रकट की थी । पहाड़ी पर दो गुफाएँ भी देखी जा सकती हैं । पुराविद् आर.सी. अग्रवाल का मत है कि ढूँढने पर बीजक पहाड़ी क्षेत्र में अशोक के कुल 8 अभिलेख मिलने की सम्भावना है । दो अभिलेख तो प्राप्त हो चुके हैं । विराटनगर में भीमसेन की डूंगरी से भी अशोक का अभिलेख मिला है, इसे कार्लाइल ने 1871 -72 ई. में खोज निकाला था । कनिंघम ने इसे पढ़कर विचार प्रकट किया कि यह अशोक का पूरा लेख है जो पाली भाषा में लिखा हुआ था ।

इस लेख में कहा गया है कि - देवताओं के प्रिय इस प्रकार कहते हैं - ढाई वर्ष से अधिक हुए जब मैं उपासक हुआ पर मैंने उद्योग नहीं किया परन्तु एक वर्ष से अधिक हुए जब मैं संघ में आया हूँ तब से मैंने अच्छी तरह उद्योग किया है..... ।

बीजक की पहाड़ी से अशोक स्तम्भ के 100 पालिश युक्त चुनार पत्थर के टुकडे मिले हैं । दयाराम साहनी का मत है कि यहाँ पर दो अशोक स्तम्भ थे । बीजक की पहाड़ी से कुछ पंचमाकं मुद्राएँ भी मिली हैं । यहाँ से मिट्टी के बर्तन, मिट्टी की मूर्तियाँ, तश्तरियाँ, थालियाँ आदि प्राप्त हुई हैं । जिससे अब यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बैराट मौर्यकालीन धर्म एवं संस्कृति का महत्वपूर्ण केन्द्र था ।

अशोक के निधन (236 ई.पू।) के पश्चात् मौर्य साम्राज्य का विघटन प्रारम्भ हो गया ।

4.6.2 अशोक के पश्चात् मगध साम्राज्य और राजस्थान

स्मिथ के अनुसार अशोक की मृत्यु 232 ई.पू. के पश्चात् उसका उत्तराधिकारी कुणाल बना और उसका दूसरा पुत्र जालौक कश्मीर राज्य का अधिपति बना । कुणाल का पुराणों में सुयश नाम भी मिलता है । उसने आठ वर्ष राज्य किया । उसके पश्चात् दशरथ मगध का शासक बना उसके अभिलेख नागार्जुनी की गुहाओं से मिले हैं जो उसने आजीवकों को दान में दिये थे । बौद्ध ग्रन्थ परिशिष्ट पर्वण में कुणाल के पुत्र का नाम समप्रति मिलता है । पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत है कि मौर्य साम्राज्य कुणाल के दो पुत्रों-दशरथ और सम्प्रति में बँट गया था । सम्प्रति को राज्य का पश्चिमी और दशरथ को पूर्वी भाग मिला । सम्प्रति की राजधानी कहीं पाटलिपुत्र और कहीं उज्जैन बतलाई गयी है । राजस्थान, मालवा गुजरात तथा काठियावाड़ के कई मन्दिर जिनको बनवाने वाले का नाम ज्ञात नहीं है । जैन लोग उसे राजा सम्पति का बनवाया हुआ मान लेते हैं । राम्वल्लभ सोमानी ने लिखा है कि मेवाड की स्थानीय परम्पराओं में मौर्य सम्राट सम्प्रति का सम्बन्ध महत्वपूर्ण स्थलों से जोड़ा जाता है । यद्यपि जिन जैन मन्दिरों का सम्बन्ध सम्प्रति से जोडा जाता रहा है उन्हें उसके द्वारा निर्मित नहीं माना जा सकता है । लेकिन इतना तो कहा ही जा सकता है कि उन क्षेत्रों पर सम्प्रति का राज्य अदृश्य रहा होगा ।

पुराणों के अनुसार दशरथ के बाद पाटलिपुत्र के राज सिंहासन पर शालिशुक, देव वर्मा, शतधनुष और बृहद्रथ ने शासन किया । बृहद्रथ विलासी प्रवृत्ति का व्यक्ति था इसलिये उसके द्वारा सेना का निरीक्षण करते समय सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने उसकी हत्या कर दी । पुराणों से संकेतित है कि यह घटना 185 ई.पू में घटित हुई ।

बृहद्रथ की हत्या के बाद भी राजस्थान में मौर्यवंशीय शासक विभिन्न स्थानों पर शासन करते रहे । मेवाड के इतिहास से ज्ञातव्य है कि मौर्य राजा चित्रांग (चित्रांगद) ने चित्तौड का दुर्ग बनवाया

था । चित्तौड़ का एक तालाब भी मौर्य का बनवाया हुआ माना जाता है । इसी प्रकार कोटा के कनसुआ के शिलालेख (738 ई.) में मौर्य राजा धवल का नाम मिलता है ।

शुंग वंश में पुष्यमित्र शुंग प्रथम शासक था । जो बृहद्रथ के समय उज्जयिनी का गवर्नर रह चुका था । उसने 60 वर्ष शासन किया जबकि जैन ग्रन्थों में उसका राज्यकाल 36 वर्ष बतलाया गया है । शायद उसके 60 वर्ष के राज्यकाल में गवर्नर रहने का कार्यकाल भी जोड़ दिया गया है । इस प्रकार यदि पुष्यमित्र शुंग ने मौर्य गवर्नर के रूप में पश्चिमी मालदा में शासन किया तब उसके पडौस में स्थित राजस्थान पर उसका शासकीय नियन्त्रण अवश्य रहा होगा ।

4.7 शुंग काल में राजस्थान पर यवन आक्रमण 187- 75 ई.पू.

यह घटना भारत पर यवन आक्रमण है । जिसके परिणामस्वरूप पंजाब की कई जातियाँ राजस्थान में आई और आकर यही पर बस गई ।

भारत पर यवन आक्रमण का संकट उत्तर मौर्यकालीन सम्राटों के समय उपस्थित हो गया था । पुष्यमित्र शुंग के शासन काल में यवनों (बाख्त्री) ने पूरी तैयारी के साथ भारत पर आक्रमण किया । पतजील ने अपने महाभाष्य में लिखा है कि वतनों ने मध्यमिका (चित्तौड के पास नगरी नामक स्थान) और साकेत पर आक्रमण किया और उसे घेर लिया । गार्गी संहिता के अनुसार दुष्ट विक्रान्त यवनों ने मथुरा, पांचाल, (गंगा-यमुना का दोआब), साकेत और कुसुमध्वज को अपने अधीन कर लिया परन्तु उनमें आपस में ही घोर युद्ध छिड गया । इसलिये वे मध्यदेश में ठहरे नहीं । पुष्यमित्र शुंग ने यवनों का घोर प्रतिरोध किया और उनको मध्यदेश से निकाल कर सिन्धु के किनारे तक खदेड़ दिया । मालविकाग्निमित्र के अनुसार पुष्यमित्र की सेना उसके पौत्र वसुमित्र के नेतृत्व में पश्चिमोत्तर भारत में घूम रही थी । इस सेना की मुठभेड़ यवनों से सिन्धु नदी के किनारे पर हुई । इसमें यवन पराजित हुए ।इस यवन आक्रमण का नेता कौन था? इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है । कुछ इतिहासकारों के अनुसार पुष्यमित्र के समय भारत पर हुए यवन आक्रमण का नेता डिमिट्रियस और कुछ के अनुसार मीनाण्डर था । कुछ विद्वानों के अनुसार भारत पर यवनों का एक आक्रमण हुआ था जबकि कुछ लोग दो आक्रमणों की कल्पना करते हैं । टार्न ने एक यूनानी आक्रमण के पक्ष में तर्क रखा है । साकल नरेश मीनाण्डर के पाटलिपुत्र के मार्ग में साकेत (अयोध्या) और मध्यमिका दोनो एक सिलसिले में नहीं हो सकते । ऐसी परिस्थिति में डिमिट्रियस और उसके दामाद मीनाण्डर ने एक साथ ही दोनों ओर युद्ध की घोषणा कर आक्रमण किया । डिमिट्रियस स्वयं सिन्धु की सीमाओं को पार करता हुआ चित्तौड के समीपस्थ नगर माध्यमिका को जीतता हुआ पाटलिपुत्र पहुँचा और मीनाण्डर मथुरा, पात्रचाल तथा साकेत होता हुआ ।

उपर्युक्त वितरण के आधार पर कहा जा सकता है कि भारत पर यवन आक्रमण पुष्यमित्र शुंग के राज्यारोहण से कुछ पहले या उसके राज्य काल में हुआ । वदनों ने राजस्थान में मध्यमिका पर अधिकार कर लिया लेकिन शुंग सम्राट ने उन्हें पराजित कर दिया और सिन्धु नदी तक के भू-भाग पर अधिकार कर लिया । इसलिये सम्भवत: राजस्थान पुष्यमित्र शुंग के साम्राज्य मैं सम्मिलित था । लेकिन इसे प्रमाणित करना कुछ कठिन है । हाँ इतना अवश्य है कि राजस्थान यवन आक्रमण की गूंज से प्रभावित अवश्य हुआ ।

4.8 यवन आक्रमण का प्रभाव और विभिन्न गणजातियों का राजस्थान में अधिवासन

मौर्य साम्राज्य के विघटन के पश्चात् भारत पर हुए यवन आक्रमण का राजस्थान के इतिहास पर विशेष प्रभाव पडा । पंजाब की कई गणजातियाँ शुंग-कण्व काल में राजस्थान में आई और यहीं पर बस गई । राजस्थान अपने पड़ौसी राज्यों हेतु शरण-स्थली था । जब भी इसके पड़ौसी राज्यों या गंगा घाटी पर आक्रमणकारियों का दबाव पडता तो वहाँ के लोग यहाँ पर आकर शरण लिया करते थे । यवनों के आक्रमण से मालव, शिवि, आर्जुनायन, आभीर आदि गणजातियाँ पंजाब से स्थानान्तरित होकर राजस्थान आ गई । शुंग-कण्व काल में पंजाब से राजस्थान आने वाली गणजातियों के इतिहास पर बहुत कम शोध कार्य हुआ है क्योंकि शोध सामग्री स्वरूप उनकीमुद्राएं तथा कुछ शिलालेख मात्र ही उपलब्ध हैं ।

प्रस्तुत विवेचन में हम पंजाब से राजस्थान आने वाली गणजातियों के इतिहास को रेखांकित करने का प्रयास करेंगे । जिन्होंने राजस्थान के इतिहास को प्रभावित किया है ।

इण्डो यूनानी आक्रमण के फलस्वरूप भारत के उत्तरी पश्चिमी क्षेत्र में निवास कर रही गणजातियाँ अनुमानत: द्वितीय शताब्दी ई.पू. के प्रारम्भिक दशकों में राजस्थान आई थीं । इन गण अथवा जनजातियों में शिवि, आर्जुनायन, राजन्य तथा मालव प्रमुख थे । इसके अलावा यौधेयों, सम्भवत: पहले से ही पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश के साथ साथ उत्तर-पूर्वी राजस्थान में शासन कर रहे थे । इस अवधि में राजस्थान को प्रभावित करने वाली अन्य जनजातियों में आभीर, उत्तमभद्र तथा शुद्रक भी थे । मत्स्य जनपद राजस्थान में पहिले विद्यमान था तथा यह जनपद मगध के उत्कर्ष के समय उसमें विलीन हो गया था । शूरसेन में मथुरा स्थित था लेकिन इसकी गतिविधियों का राजस्थान के पूर्वी भाग पर प्रभाव पड़ा । इसके अलावा यह तथ्य भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि पूर्वकाल में राजस्थान में आहत सिक्के लोकप्रिय थे । गणजातियों ने पहली बार अपने सिक्के ढलवाये या तथा लगाकर जारी किये । उन सिक्कों पर गणजातियों ने अपने लेख भी उत्कीर्ण करवाये । यह तथ्य सूचित करता है कि ईसा पूर्व की अन्तिम शताब्दी और ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में राजस्थान में व्यापार वाणिज्य का विकास तेजी से हुआ और यहाँ पर संस्कृत भाषा का पर्याप्त उत्थान हुआ।

राजस्थान में जो जातियाँ इण्डोयूनानी आक्रमण के बाद यहाँ आई थीं उनके लिये अंग्रेजी में ट्राइब शब्द काम में लिया जाता है । जायसवाल ने उनके लिये गण शब्द का प्रयोग किया है । उन्होंने गण को एक विशिष्ट शासन पद्धति मानते हुए संघ शब्द को भी इसका पर्यायवाची माना है । पाणिनि ने संघ अथवा गण को एक सहकारी समूह की तरह स्वीकार किया है जिसमें उच्च एवं निम्न वर्ग में भेद नहीं होता है । वैदिक साहित्य, महाभारत, अंगुत्तर-निकाय और पाणिनि के व्याकरण ग्रन्थ में प्राचीन गणों का उल्लेख मिलता है जो अपनी आवश्यकता के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान पर पलायन कर जाते थे । उसी परम्परा के आधार पर ही उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त की गणजातियाँ पलायन कर राजस्थान में आ पहुँची थीं ।

4.9 राजस्थान की प्रमुख गणजातियों का एतिहासिक विवरण

4.9.1 मालव - मालव जाति ने प्राचीन भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निबाही है । इस जाति का मूल निवास स्थान पंजाब था, बही से इसका प्रसार उत्तरी भारत, राजस्थान, मध्य भारत, लाट

देश, वर्तमान में भड़ौच, कच्छ, बड़नगर तथा अहमदाबाद में हुआ और अन्त में माल्वा में इस जाति ने अपने राज्य की स्थापना की । मालवो का सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी में मिलता है । मालवों ने अपने गणस्वरूप को 600 ई.पू. से 400 ई. तक बनाये रखा । समुद्रगुप्त द्वारा पराजित मालवों ने अब गणशासन पद्धति को त्याग कर एकतन्त्र को स्वीकार कर लिया । उन्होंने दशपुर-मध्यमिका (चित्तौड) क्षेत्र में औलिकर वंश के नाम से शासन किया । पाणिनि के अनुसार मालव और क्षुद्रक वाहीक देश के दो प्रसिद्ध गणराज्य थे । दोनों की राजनीतिक सत्ता और पृथक् भौगोलिक स्थिति थी । युद्ध के समय ये दोनों गण मिलकर साथ लड़ते थे । इस संयुक्त सेना की संज्ञा क्षौद्रक मालवी थी । सिकन्दर के आक्रमण के समय मालव-क्षुद्रक गणों की सेना को साथ-साथ लडना था परन्तु सेनापति के चुनाव को लेकर उनमें मतभेद उत्पन्न हो गया । डायोडोरेस के अनुसार उन्होंने शत्रु का अलग-अलग मुकाबला किया । पाणिनि ने दोनों जातियों को आयुधजीवी संघ कहकर पुकारा है । उन दिनों दे समृद्ध दशा में थे, भण्डारकर के अनुसार यूनानी लेखकों के द्वारा वर्णित औक्सिद्रकाई क्षुद्रक ही थे । पतंजलि के महाभाष्य तथा जैन ग्रन्थ भगवतीसूत्र में मालवों का उल्लेख मिलता है । सिकन्दर के आक्रमण के पूर्व वे पंजाब में स्थित थे । स्मिथ के अनुसार मालव झेलम और चिनाब के संगम के निचले भाग में निवास करते थे । मैक्रिण्डल का मत है कि चिनाब और रावी के मध्य का मैदानी भू-भाग जो सिन्धु और चिनाब के संगम तक फैला हुआ था, मालवों के अधीन था । हेमचन्द्र रायचौधरी मालवों को निचली रावी घाटी में नदी के दोनो किनारो पर अवस्थित मानते हैं । एरियन के अनुसार मालव क्षुद्रकों के साथ सिकन्दर के विरुद्ध संघ निर्मित करने को सहमत हो गये थे परन्तु शत्रु का आक्रमण अकस्मात हो जाने के कारण दोनों गणों को शत्रु के विरुद्ध कार्यवाही करने का अवसर नहीं मिला । इस विस्मयकारी आक्रमण से मालव पराजित हुए । मालवों ने अपने किलानुमा नगरों से निरन्तर संघर्ष किया परन्तु सदैव पराजित हुए । मालवों ने समर्पण करने की अपेक्षा नगरों को त्याग कर वनों और रेतीले क्षेत्र में निवास करना उचित समझा । मैक्रिण्डल का मत है कि मालवों के आक्रमण में स्वयं सिकन्दर भी घायल हो गया था तब उसने उनकी स्त्रियों और बालक-बालिकाओं का संहार करने का आदेश तक दे दिया था । लेकिन मालव निराश नहीं हुए । एरियन की मान्यता है कि सिकन्द्र ने गालवों को बुलाकर उनसे सन्धिवार्ता की थी जिसमें वे सफल हुए । मालवों तथा क्षुद्रकों की संयुक्त सेना में 90,000 या 80,000 पदाति, 10,000 घुड़सवार, 900 या 700 रथ थे । कर्टियस के अनुसार मालवों ने सिकन्दर को कुछ बहुमूल्य वस्तुएँ तथा घोडे और रथ भेंट किये थे ।

संस्कृत साहित्य में मालदों के शारीरिक गठन का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि दे असाधारण कद काठी के थे । इनकी लम्बाई 104 अंगुल अथवा 6 फीट 4 इंच के लगभग होती थी ।

कौटिल्य ने गणों के साथ सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने की सलाह अर्थशास्त्र में दी है । इससे प्रतीत होता है कि मौर्यकाल मे भी गणजातियों ने अपनी स्वतन्त्रता बनाए रखी थी । यद्यपि कौटिल्य की सूची में मुद्रक, कुकुर, कुरु, पाचाल आदि पंजाब या मध्य देश की गणजातियों का उल्लेख मिलता है मालवों का नहीं । इसलिए इस बात की सम्भावना है कि मौर्यकाल या शुंगकाल में मालवों ने अपना मूल निवास स्थान छोड दिया और राजपूताना की ओर पलायन कर गये । इस बात की पूर्ण सम्भावना है कि पलायन काल में मालव और क्षुद्रकों में समागम हो गया इसलिये बाद में क्षुद्रकों का उल्लेख नहीं मिलता है । जायसवाल का मत है कि मालवों ने भटिण्डा के मार्ग से राजपूताना में प्रवेश किया । इसकी पुष्टि करते हुए उन्होंने लिखा है कि वर्तमान में भी मालवी बोली फिरोजपुर से भटिण्डा

तक बोली जाती है । प्रारम्भ में मालवों के पंजाब तथा राजपूताना में निवास करने की जानकारी महाभारत में भी उपलब्ध है । एरियन ने लिखा है कि अर्कीसनेज (चेनाब) मल्लोई अर्थात् मालवों के अधीन क्षेत्र में सिन्धु में जाकर मिलती है । इस प्रकार मल्ल (मालव) जाति चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के राज्यकाल तक तो पंजाब में रही । मौर्य साम्राज्य के निर्बल होने तथा उस पर इण्डो ग्रीक आक्रमण होने पर वह पंजाब छोड़कर राजस्थान में आ गई । उपलब्ध प्रमाणों के अनुसार मालव सर्वप्रथम पूर्वी राजस्थान मे आकर बसे थे । विभिन्न साक्ष्यों से संकेतित है कि यह स्थान टौंक जिले का नगर या कर्कोट नगर नामक स्थान था जो आधुनिक राजस्थान के निर्माण से पूर्व उणियारा ठिकाने के अन्तर्गत आता था।

इस स्थल की खोज 1871 -72 ई. में सर्वप्रथम कार्लाइल ने की थी । उन्हें यहाँ से 6000 ताम्र मुद्राएँ प्राप्त हुई थी । उनमें से 110 मुद्राएँ इण्डियन म्यूजियम कलकत्ता में संगृहीत की गई थीं । उन मुद्राओं का अध्ययन बिन्सेण्ट स्मिथ ने किया था । डॉ. स्मिथ का विचार था कि इन सिक्कों में से 35 सिक्के ऐसे थे जो बाहर से लाये गये और शेष 75 सिक्के नगर में ही ढाले गये थे ।

कार्लाइल ने इन सिक्कों का अध्ययन करके 40 मुख्य नामों की पहचान की थी उनमें से 20 तो मालवगण प्रमुखों के नाम हैं । इन मुद्राओं पर ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया था और उनका निर्माण काल मुद्राशास्त्रियों ने द्वितीय शताब्दी ई.पू. से चतुर्थ शताब्दी ई. के मध्य माना है । इन मुद्राओं की लिखावट में कम अक्षरों का प्रयोग किया गया है । इनका भार तथा आकार भी न्यूनतम है । गण प्रमुखों का नाम लिखने में भी लिपिक्रम एक समान नहीं रखा गया है । कुछ सिक्कों पर ब्राह्मी वर्ण इस प्रकार लिखे गये हैं कि उनको बाँये से दाएँ पढ़ना पड़ता है ।

मालव आर्थिक दृष्टि से समृद्ध थे । कर्कोट नगर से मुद्राओं के अलावा मन्दिर, बाँध, तालाब तथा माला की मणियाँ उत्खनन में प्राप्त हुई हैं ।

जयपुर नगर से 56 मील की दूरी पर स्थित रेढ़े से भी मलावों के सम्बन्ध में जानकारी मिलती है । रेढ़े तीसरी शती ई.पू. से द्वितीय शताब्दी ई. तक आबाद रहा था । उस समय यहाँ मालव निवास कर रहे थे । यहाँ से मालवों की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं । रेढ़े से 2 खाई से एक लेड सील प्राप्त हुई थी जो मालवगण से सम्बंधित है । उस पर ब्राह्मी में लिखा हुआ है । लेड सील पर (मा.) ल-व-ज-न-प-द उत्कीर्ण है जिसे द्वितीय शताब्दी ई.पू का माना जाता है । यह सील राज्य के अधिकारी काम में लेते थे । रेढ़ से 300 मालवगण के सिक्के प्राप्त हो चुके हैं । मालव सिक्कों की विशेषताएँ निम्न रूप में कही जा सकती हैं -

मालव सिक्के गोलाकार थे । इन पर मालव नाम अथवा मालवानाम् जय लिखा हुआ था । कुछ मुद्राओं पर लेख मुद्राओं के पृष्ठ भाग पर लिखा है । सिक्कों पर उज्जैन चिहन, सांप, लहरदार नदी नन्दिपाद, त्रिकोण, परशु माला, वृक्ष, कूबड वाला बैल भी उत्कीर्ण है । स्मिथ ने मालव सिक्कों का न्यूनतम भार व 7 ग्रेन तथा डायामीटर 2 इंच बताया है जबकि रेढ़ के सिक्कों का न्यूनतम भार 2.41 ग्रेन तथा अधिकतम भार 43.84 ग्रेन है । उनका आकार .3 इंच, .6 इंच के मध्य है ।

मलावों का क्षहरात शकों से संघर्ष का उल्लेख नासिक गुहालेख में मिलता है, जो द्वितीय शती ई. के प्रारम्भ का माना जाता है । इस अभिलेख में ऋषमदत्त द्वारा उत्तम भद्रों की सहायता हेतु आना तथा मालवों को पराजित करने का विवरण मिलता है । दशरथ शर्मा का मत है कि उत्तम भद्र पंजाब के क्षत्रियों की एक शाखा थी जिसने अजमेर पुष्कर के उर्वरक क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था । इस तरह मालवों की शक्ति कुछ समय के लिए क्षीण हो गई । उधर रुद्रदामा के जूनागढ़ अभिलेख से भी

ध्वनि निकलती है कि 150 ई. के बाद पश्चिमी राजस्थान के अधिकांश भाग पर शकों का अधिकार हो गया था । ऐसी स्थिति में मालवों का स्वाधीनतापूर्वक रहना कठिन था ।

नान्दसा यूप लेख से संकेतित है कि बाद में शकों के गृहयुद्ध में लिप्त हो जाने का लाभ उठाकर मालव पुन: स्वतन्त्र हो गये थे । नान्दसा यूप लेख 226 ई. का है उससे ज्ञातव्य है कि मालव नेता श्रीसोम अथवा नन्दिसोम ने एक षष्ठिरात्र यज्ञ करके अपने गण की स्वतन्त्रता की घोषणा की थी । नान्दसा के एक अन्य लेख में उनके सेनापति भीट्टसोम का नाम मिलता है । इससे स्पष्ट है कि दक्षिणी-पूर्वी राजस्थान पर मालवों का शासन था । अब मालवगण धीरे-धीरे कुलीन तन्त्र में परिवर्तित हो गया था । नान्दसा यूप लेख मालवों की आनुवांशिक शासन प्रणाली का संकेत देकर तथा उन्हें ईक्ष्वाकु वंश से जोड़कर गौरव अनुभव करने की सूचना देता है ।

काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि द्वितीय शताब्दी ईस्वी में नाग वंश शक्तिशाली होकर मालवा, गुजरात ओर राजस्थान तथा पूर्वी पंजाब के अधिपति हो गये थे, तब मालव उनके प्रतिनिधि के रूप में जयपुर, अजमेर, मेवाड क्षेत्र में राज्य कर रहे थे । लेकिन तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पश्चात् मालवों में फूट पड गई । डॉ. डी.सी शुक्ल का मत है कि तीसरी शताब्दी ईस्वी के पश्चात् मालव तीन शाखाओं में विभाजित हो गये जो विजयगढ़, बड़वा, दशपुर और मन्दसौर में निकस करती थीं । औलिकर (दशपुर-मन्दसौर) तो स्वयं को मालावों से संबन्धित मानते थे । उनके अभिलेखों में कृत मालव संवत् का प्रयोग मिलता है । ऐसा माना जाता है कि बड़वा और विजयगढ़ के शासक मालवों की ही शाखा थे । वैसे राजस्थान के अधिकांश यूप लेख मालवगण के भू-भाग के आसपास पाये गये हैं ।

मालवों के सम्बन्ध में समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति से भी जानकारी मिलती है । प्रयाग-प्रशस्ति के अनुसार मालव, यौधेयों, अर्जुनायन, मद्रक, आभीर, प्रार्जुन, सनकानिक काक, खरपरिक आदि प्रत्यन्त गणराज्यों ने समुद्रगुप्त को कर देकर उसकी सभा में उपस्थित होने का वचन दिया, लेकिन 371 ई. के विजयगढ़ अभिलेख का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि यौधेयों गण अभी तक स्वतन्त्रता का उपभोग कर रहे थे । कलवों का उल्लेख पुराणों(भागवत) में भी मिलता है । भागवत पुराण में मालवों का स्वतन्त्र शासक रूप में और विष्णु पुराण में आबू के शासक के रूप में उल्लेख मिलता है । समुद्रगुप्त के बाद मालव मन्दसौर की ओर पलायन कर गये । स्कन्दगुप्त के समय वे प्रयाग तक चले गये ।

उदयपुर जिले के वल्लभनगर तहसील के ग्राम बालाथल जहाँ डॉ ललित पाण्डेय ने उत्खनन करवाया था, वहाँ से प्राप्त मृद्भाण्डों पर ब्राह्मी का 'म' उत्कीर्ण है । इसलिये इसे मालव प्रभावित क्षेत्र माना जा सकता है । इनकी दो मुद्राएँ मेवाड के नगरी मध्यमिका से प्राप्त हुई है जिससे स्पष्ट है कि मालव राजस्थान के पूर्वी एवं दक्षिणी भाग के शासक थे ।

ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में मालवों का शकों के साथ संघर्ष होने का विविरण नासिक गुहा लेख में मिलता है । यह संघर्ष क्षहरात वंश के साथ हुआ था । जूनागढ़अभिलेख में प्रथम रुद्रदामा (130- 150 ई.) का मालदा, गुजरात, काठियावाड़, सिन्धु सौबीर पश्चिमी विनध्य तथा अरावली क्षेत्र (निषाद) और मरूक्षेत्र पर विजय करने का उल्लेख आता है । इसलिये यह निश्चित है कि उसका राजस्थान के मालवों के साथ फिर से संघर्ष हुआ होगा । ऐसी सम्भावना है कि मालव रुद्रदामा प्रथम के पश्चात् कार्दमक शकों में जो पारिवारिक संघर्ष हुआ उसका लाभ उठाकर पुन: स्वतन्त्र हो गये जिसकी पुष्टि नान्दसा यूप लेख जो 226 ई. का है उससे होती है ।

4.9.2 यौधेयों-गण - मालवों की तरह यौधेय भी एक स्वतन्त्रता प्रिय जाति थी । पाणिनि की अष्टाध्यायी के अनुसार यौधेयों एक कुलीन तन्त्रीय गण था । इस आधार पर यौधेयो की प्राचीनता छठी शताब्दी ई. पू तक सिद्ध होती है । पाणिनि ने यौधेयो का उल्लेख त्रिगतां के साथ किया है तथा लिखा है कि आयुधजीवी संघ थे अर्थात् यह संघ आयुधों पर निर्भर था । पुराणों में उन्हें उशी नरों का उत्तराधिकारी बताया गया है । पर्जीटर के अनुसार उशीनर ने पंजाब में कई जातियों को बसाया था । वायुपुराण और विष्णु पुराण में यौधेयो का उशीनरों के संदर्भ में उल्लेख मिलता है । मजूमदार तथा पुसालकर के अनुसार यौधेयों 'योध' शब्द से बना है । महाभारत में यौधेयों युधिष्ठिर का पुत्र बतलाया गया है । इस प्रकार दे युधिष्ठिर की संतान थे । बुद्ध प्रकाश इस मत के समर्थक है जबकि स्वामी ओमानन्द ने इस मत को भ्रान्तिपूर्ण बतलाया है । उनका विचार है कि महाभारत में द्रोण एवं कर्णपर्व में अर्जुन द्वारा यौधेयो को पराजित करने का उल्लेख आता है । साथ ही उन्हें युधिष्ठिर को कर देने वाला भी कहा गया है । यौधेयों का उल्लेख पुराणों के अलावा शकटायन व्याकरण, जैमिनीय ब्राह्मण में भी मिलता है । जैमिनीय ब्राह्मण में यौधेयों राजा शैब्य पुण्यकेश द्वारा यज्ञ करने का विवरण मिलता है।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति तथा रुद्रदामा प्रथम के जूनागढ़ अभिलेख तथा नवीं शताब्दी के सोमदेव सूरि के ग्रन्थ यशस तिलक चम्पू महाकाव्य में यौधेयो की चर्चा मिलती है । दसवीं शताब्दी के अपभ्रंश ग्रन्थो में भी यौधेयो का वर्णन आता है । इस प्रकार यौधेयों गण जाति का 600 ई.पू. से 1000 ई.पू. तक का निरन्तर विवरण मिलता है ।

एरियन के अनुसार जब सिकन्दर व्यास नदी पर पहुँचा तो उसे व्यास नदी के पार एक उपजाऊ देश की जानकारी मिली जहाँ के लोग साहसी और योद्धा थे । जायसवाल के अनुसार एरियन द्वारा जिस जाति का विवरण दिया गया है वह यौधेयों जाति थी । यौधेयो का राज्य सहारनपुर पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक विस्तृत था जहाँ से उनकी मुद्राएँ मिली हैं । यौधेयो का साम्राज्य पूर्व की ओर मगध साम्राज्य की सीमा तक फैला हुआ था । सिकन्दर के आक्रमण के समय कुछ गणों का नाम न मिलने का कारण यह था कि वह ऐसे कई गणों को जीत भी नहीं पाया था । यौधेयो ने सिकन्दर के आक्रमण का सामना नहीं किया था इसलिये यूनानी लेखकों ने उनका उल्लेख नहीं किया है । संभवत: चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अशोक के समय यौधेयो से उनके सच मैत्रीपूर्ण रहे होंगे । कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में गणों के साथ सन्धि करने का उल्लेख किया है ।

यौधेयो शुंगकाल में विशेष रूप से अवतरित हुए । मालव-यौधेयों गण ऐसे थे जो सम्भवत: मौर्य शुंग काल में भी जीवित रहे और शक-कुषाणों से भी संघर्ष करके अपना अस्तित्व बनाए रखा ।

अ.स. अल्तेकर के अनुसार यौधेयो का शासन का विस्तार तथा क्षेत्र पूर्व में सहारनपुर से पश्चिम में बहावलपुर तक तथा उत्तर पश्चिम में लुधियाना से दक्षिण पूर्व में दिल्ली तक था जहाँ से उनकी मुद्राएँ मिली हैं । यौधेयों तीन गणों का एक संघ था । इनमें से एक की राजधानी पंजाब में रोहतक, द्वितीय गण उत्तरी पांचाल में था जो बहुधान्यक कहा जाता था तथा तृतीय गण उत्तरी राजपूताना का क्षेत्र था । अष्टम शती के महाकवि स्वंयभू का विचार था कि मरूभूमि के निकट शूरसेन यौधेयों का ही भाग क्षेत्र था । जायसवाल का मत है कि सतलज के किनारे पर रहने वाले जोहिया राजपूत यौधेयों से ही सम्बन्धित थे । कंनिघम ने यौधेयों का मूल राज्य जोहियाबार माना था जो मुलान जिले में स्थित था । यौधेयों की कांस्य-ताम्र धातु मुद्राएँ बहुधान्यक से मिली हैं जिन पर यौधेयोंनां बहु धान्यके या बहु धन यौधेयों लिखा है । इनकी एक मुद्रा पर यौधेयोनां भूधान्यके लेख उत्कीर्ण है । राजस्थान में यौधेयों का

विस्तार बीकानेर राज्य के उत्तरी प्रदेश गंगानगर आदि पर बतलाया जाता है । संभवत: यौधेयों का वर्चस्व द्वितीय शताब्दी ई पू. से समुद्रगुप्त के राज्यकाल तक बना रहा । साँचों में ढली हुई उनकी मुद्राएँ रोहतक, हरियाणा से प्राप्त हुई हैं जिन पर बीरबल साहनी ने पूरा ग्रन्थ ही लिख डाला था । यौधेयो को समुद्रगुप्त से पूर्व शकों से पराजित होना पडा था । उस समय भी वे उत्तरी राजस्थान में राज्य कर रहे थे । लेकिन बाद में कुषाणों ने अहाने राज्य का विस्तार कर लिया जब यौधेयो का क्षेत्र उत्तरी राजस्थान उनके हाथ से चला गया । द्वितीय शती ई. से राजस्थान के सूरतगढ़ और हनुमानगढ़ में कुषाण मुद्राएँ प्राप्त होने लगती हैं । उनके सिक्के रंगमहल तथा सांभर से भी मिले हैं । सुई विहार अभिलेख से ज्ञात होता है कि कुषाणों का उत्तरी राजस्थान पर अधिकार था । रुद्रदामा प्रथम के उत्कर्ष के बाद कुषाण राजस्थान पर अपना प्रभुत्व बनाये न रख सके । रुद्रदामा प्रथम की विजयों के फलस्वरूप मतन्त्रता प्रेमी यौधेयो को कुचल दिया गया और उन्हें अपने अधीन कर लिया लेकिन उन्होंने द्वितीय शताब्दी ई. में अपनी स्वतन्त्रता के लिये फिर प्रयास किया जिसमें वे सफल रहे उन्होंने कुषाणों को सतलज के पार भगा दिया ।

अल्तेकर का मत है कि कुषाणकाल तक यौधेयों राजतन्त्र शासन पद्धति अपना चुके थे । वे वीरता में अग्रणी और कार्तिकेय के उपासक थे । महाभारत में उन्हें मत्त मयूरक कहा गया है । कुषाणों के पतन के बाद उनका फिर उत्तरी राजस्थान पर अधिकार हो गया था । समुद्रगुप्त के राज्यकाल तक बे अपने अस्तित्व को बनाये रहे । यौधेयो का एक अभिलेख राजस्थान के भरतपुर जिले से प्राप्त हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि दे अपने नेता का चुनाव करते थे । इस लेख को अभिलेख शास्त्री गुप्तकाल का मानते हैं । इस लेख में यौधेयोंगण के नेता के लिए महाराज तथा महासेनापति उपाधियों का प्रयोग किया गया है । इस प्रकार यौधेयो का शासन शुंगकाल से चौथी शताब्दी ईस्वी तक पूर्बी पंजाब, सतलज तथा यमुना नदी के मध्य के क्षेत्र, पश्चिम उत्तर प्रदेश एवं उत्तरी राजस्थान तक विस्तृत था । इनकी मुद्रा निधियाँ दिल्ली एवं करनाल के मध्य स्थित सोनपत से प्राप्त हुई हैं । सम्भ्वत: यौधेयों राजस्थान में द्वितीय शताब्दी ईस्वी के मध्य तक अवश्य आ गये थे । उनकी मुद्राएँ तीन प्रकार की हैं - प्रथम - शुंगकालीन मुद्राएँ जिन पर चलता हुआ हाथी तथा वृषभ अंकित हैं । द्वितीय- दे मुद्राएँ जिन पर कार्तिकेय अंकित हैं । तृतीय- वे मुद्राएँ जिन पर यौधेयों गणस्य जय: उत्कीर्ण है । इन पर एक योद्धा का अंकन है, जो हाथ में भाला लिये हुए है, इसकी त्रिभंगी मुद्रा है । कुछ सिक्कों पर द्वि तथा त्रि लिखा है जिसका तात्पर्य कुषाणों से दो या तीन बार संघर्ष करना माना जाता है । अलेक्लजेण्डर को उनका मुद्रांक मिला था जिस पर "यौधेयग़ेनां जय मन्त्रधराणाम उत्कीर्ण था । मुद्रांक के नीचे चलता हुआ ननिद प्रदर्शित है । अग्रोहा से भी यौधेयो का मुद्रांक मिला है ।

पुराणों में यौधेयो का राजतन्त्र की तरह वर्णन किया गया है लेकिन कालान्तर में यह कुलीन तन्त्र में परिवर्तित हो गया तथा इस गण में 5000 सदस्यों की सभा होती थी । जबकि उनके भरतपुर अभिलेख तथा अग्रोहा मुद्रांक लेख से संकेतित होता है कि उनके नेता का चुनाव होता था शासन व्यवस्था गणतान्त्रिक थी । कहा जाता है कि यौधेयो ने युद्धक प्रकार के सिक्के कुषाण मुद्रा माला से प्रभावित होकर जारी किये थे । बी. स्मिथ का मत है कि यौधेयो के युद्धक सिक्के चन्द्रगुपा विक्रमादित्य की उत्तरी विजय पूर्ण होने तक अर्थात् 360 ई. तक विद्यमान थे । अत: निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यौधेयो का राजनीतिक वर्चस्व चौथी शताब्दी ईस्वी तक विद्यमान रहा । विजयगढ लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति तथा अन्य परवर्ती साहित्य से यौधेयों के अस्तित्व की पूर्ण जानकारी मिलती है ।

4.9.3 आर्जुनायन

आर्जुनायन भी एक प्राचीन गण जाति थी । उनका पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि के महाभाष्य तथा महाभारत में उल्लेख मिलता है । गण पाठ में उनका उल्लेख राजन्य के साथ किया गया है । ऐसा माना जाता है कि आर्जुनायन एक नवीन समुदाय था और उसकी स्थापना शुंगों के बाद हुई थी । शकों और कुषाणों को पराजित करने में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी थी । समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में उनका उल्लेख गुज साम्राज्य के सीमान्त क्षेत्र के निवासियों के संदर्भ में आता है । इस प्रकार यौधेयों 380 ई. तक वर्तमान थे । उन्होंने 100 ई.पू. के आसपास अल्प मात्रा में सिक्के चलाये थे । अन्ततः दे राजपूताना में निवास करने लगे थे । इनका निवास स्थान आगरा और मथुरा के पश्चिमी भाग में भरतपुर और अलवर क्षेत्र में था । वे स्वयं को पाण्डव राजकुमार अर्जुन का वंशज मानते थे । पाणिनि की अष्टाध्यायी में आर्जुनको का उल्लेख मिलता है जो वासुदेव के उपासक थे अतः उन्हें वासुदेवक कहा जाता था । डी.सी. शुक्ल के अनुसार आर्जुनायन तथा प्रराग -प्रशस्ति के आर्जुन सम्मदतः प्राचीन आर्जुनकों की शाखा थी । बुद्ध प्रकाश का मत है कि आर्जुनायन सीथियन जाति से सम्बन्धित थे । दशरथ शर्मा के अनुसार उन्होंने शकों तथा कुषाणों के विरूद्ध मालवों से मिलकर संघर्ष किया था । इनकी मुद्राएँ धातु निर्मित हैं । उन पर आर्जुनायना जय अंकित हैं जिसका तात्पर्य है आर्जुनायनों की जय हो । ये मुद्राएँ उत्तर क्षत्रपों, यौधेयो, औदश्वरों तथा राजन्यों के सिक्के जैसे हैं तथा उन पर ब्राह्मी लिपि का प्रयोग किया गया है । कनिंघम ने प्राचीन सतलज के किनारे पर स्थित अजुधन नामक स्थान उनकी स्मृति को जीवित रखे हुए हैं।

आर्जुनायनों की मुद्राओं पर एक खड़ी हुई आकृति तथा कूबड़ूवाला वृषभ, हाथी तथा ऊँट का अंकन प्रमुख रूप से है । मैकिण्डल का मत है कि यूनानी लेखकों ने जिस अगलसी या अगलसोई जाति का उल्लेख किया है वे अर्ज़नायन ही थे ।

4.9.4 राजन्य - राजन्य एक प्राचीन जनपद था । उनका उल्लेख पाणिनि की अष्टाध्यायी; पंतजलि के महाभाष्य और महाभारत में प्राप्त होता है । पाणिनि के अनुसार अंधकवृष्णियों के दो राज्य थे । काशिका के अनुसार राजन्य ऐसे परिवारों के नेता थे जो शासन करने हेतु चिहिनत किये गये थे । हम जानते हैं कि अंधकवृणि एक संघ था तथा इस संघ में कार्यपालिका की शक्ति दो राजन्यों में निहित थी । इनका विधिवत चुनाव होता था । रण संघों में गण व राजन्य दोनों के नाम से सिक्के ढाले जाते थे । उनके कुछ सिक्कों पर केवल राजन्य नाम ही मिलता है । स्मिथ ने इनके सिक्कों की व्याख्या करते हुए उन्हें क्षत्रिय देश के सिक्के माना था जबकि काशीप्रसाद जायसवाल का मत था कि राजन्य एक स्वतन्त्र राजनीतिक इकाई थे । उनकी मुद्राएँ 200 से 100 ई.पू. के मध्य जारी की गई थी । स्मिथ ने राजन्यों का क्षेत्र मथुरा, भरतपुर तथा पूर्वी राजपूताना स्वीकार किया था । काशीप्रसाद जायसशल को उनके सिक्के होशियारपुर जिले के मनसवाल से प्राप्त हुए थे । इसलिए ऊन्होंने होशियारपुर उनका मूल निवास स्थान माना है । राजन्यों की मुद्राओं तथा मथुरा के उत्तरी शकों की मुद्राओं में काफी समानता है । उन पर ब्राह्मी तथा खरोष्ठी में लेख उत्कीर्ण है । सिक्कों पर एक मानव आकृति अंकित हौ जो शायद कोई देवता है, जिसका दायाँ हाथ ऊपर उठा हुआ है। इन पर खरोष्ठी में 'राजन जनपदस' उत्कीर्ण है । उनके इस प्रकार के सिक्कों पर कूबडवाला बैल अंकित है एवं उन पर ब्राह्मी लेख उत्कीर्ण है । इसके अलाबा उनकी मुद्राओं पर वृक्ष एवं चीते का अंकन भी मिलता है । डी.सी शुक्ल का मत है कि राजन्य गुंगकाल में उत्तरी और उत्तरी पश्चिमी राजस्थान आये थे ।

4.9.5 आभीर - शुंग कुषाण काल में जिन गणों का उत्कर्ष हुआ उनमें आभीर गण भी प्रसिद्ध है । आभीरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विवाद है । कुछ विद्वान उन्हें विदेशी उत्पत्ति का मानते हैं । वे पाँचवी शती ई.पू. के आसपास पंजाब से निर्वासित हो गये थे तथा वहाँ से पश्चिमी, मध्य तथा र्दाक्षेणी भारत चले गये । बुद्ध प्रकाश के अनुसार आभीरों का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया के अपिरु नामक स्थान से था । महाभारत मैं भी आभीरों का उल्लेख मिलता है । इस विवरण में कहा गया है कि आभीरों के अपवित्र स्पर्श से सरस्वती नदी विनशन नामक स्थान पर लुप्त हो गई थी । इसका अर्थ यह लिया जाता है कि कुरुक्षेत्र के आसपास कुरुओं की शक्ति क्षीण हो गई थी । महाभारत के अनुसार आभीरों ने अर्जुन को जब वह महाभारत के युद्ध के पश्चात् द्वारका लौट रहा था, पराजित किया था । पुराणों में आभीरों को चतुर, म्लेच्छ तथा दस्यु की तरह अभिहित किया गया है । परवर्ती काल में आभीर दक्षिणी पश्चिमी राजस्थान में अवस्थित हो गये इसकी सूचना यूनानी लेखकों से भी प्राप्त होती है । टॉलेमी ने आभीरों का वर्णन अबीरिया नाम से किया है, जिन्हें सामान्य भाषा में अहीर कहा जाता है । अभिलेखीय प्रमाणों के अनुसार बे पश्चिमी भारत में शासन करते थे, इन्होंने प्रतिहारों पर आक्रमण किया था । आभीरों का मण्डोर के कक्कुक से 861 ई. में युद्ध हुआ था । कक्कुक ने उन्हें पराजित किया था । आभीरों पर विजय के उपलक्ष में घटियाला में स्तम्भ स्थापित किया गया था । मार्कण्डेय पुराण में आभीरों को दक्षिण भारत का निवासी कहा गया है । हेमचन्द्र रायचौधरी के अनुसार वे उत्तरी महाराष्ट्र में शासक थे ।

4.9.6 शूद्रगण

यहाँ शूद्र अथवा शूद्रयाण का तात्पर्य वर्ण व्यवस्था के चतुर्थ वर्ण से भिन्न है । सिकन्दर ने जब भारत पर आक्रमण किया तब यह उत्तरी पश्चिमी भारत की प्रमुख जनजाति थी । यूनानी लेखकों ने इसका विवरण सोग्दी, सोद्र, सोग्द्री, सोगदोई नाम से किया है । इसको मस्सनोई से भी संबन्धित किया जाता है । संस्कृत-साहित्य में उनका नाम आभीरों के विवरण के साथ आया है । महाभारत के अनुसार शूद्रों और आभीरों के क्षेत्र में सरस्वती विलुप्त हो गई थी । पुराणों में शूद्रों को उदिच्य निवासी कहा गया है । सम्भवत: उनका प्रारम्भिक मूल निवास उत्तरी-पश्चिमी भारत में था । वायुपुराण, कूर्म पुराण तथा ब्रह्माण्ड पुराण से भी यही सूचना मिलती है । अर्थवेद में एक शूद्र स्त्री का मूजवन्त तथा बाह्लीक के साथ वर्णन मिलता है । सभी विवरणो में शूद्रों का सन्बन्ध उत्तरी-पश्चिमी भारत से बतलाया गया है । यूनानी लेखक डायोडोरस के अनुसार सिकन्दर ने साद्रई गण में अलेक्जेण्ड्रिया नामक नगर को स्थापित किया था एवं उस नगर में 10,000 व्यक्तियों को बसाया गया था । सम्भवत: किसी समय इस गण के निवासी राजस्थान में पलायन करके आये होंगे ।

4.9.7 शिबि जनपद

मौर्यो के बढ़ते हुए प्रभाव, सिकन्दर के आक्रमण और इण्डो-यूनानियों के आक्रमण से बाध्य होकर कई गण जातियाँ पंजाब छोड़कर राजस्थान आई थीं । उनमें से शिवि गण के लोग मेवाड के नगरी नामक स्थान पर राजस्थान में स्थानान्तरित हुए । काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गण जातियों का पलायन उनका स्वतन्त्रता के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता है । यूनानी क्लासिकल लेखकों,

कर्टिअस, स्ट्रेबो तथा एरियन के अनुसार चौथी शताब्दी ई.पू. में सिकन्दर के स्वदेश लौटते समय सिब्रोई (शिबि) जनजाति द्वारा उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न किया गया था । एरियन के अनुसार शिबिजन के निवासी वीर और साहसी थे । उनके पास 40 हजार पदाति तथा 3000 घुडसवार सैनिक थे । वे जंगली जानवरों की खाल पहनते थे और उनकी युद्ध पद्धति बिचित्र थी । युद्ध में वे गदा और लाठियों का प्रयोग करते थे । क्लासिकल लेखकों के विवरण से तो ऐसा लगता है कि शिबि जाति के लोग असभ्य तथा बर्बर थे । सम्भवत: यह विवरण उनके पंजाब निवास का है जबकि राजस्थान के शिबि सुसंस्कृत और संस्कार सम्पन्न थे ।

शिबि जाति का उल्लेख ऋग्वेद में अलिनों, पक्यों, भलानसो, और विषणियो के साथ आया है जिन्हें सुदास ने पराजित किया था । ऐतरेय ब्राह्मण में शिबि राजा अमित्रतनय का उल्लेख आया है । महात्मा बुद्ध (महाजन पदयुग) के समय के सोलह महाजन पदों की सूची जो अंगुत्तरनिकाय में मिलती है उसमें शिबि जनपद का उल्लेख नहीं है परन्तु महावस्तु में बुद्ध ज्ञान को जिन देशों और जनपदों में वितरित किये जाने की बात कही गई है उनमें शिवि देश सम्मिलित है । महावस्तु की सूची में गन्धार और कम्बोज जनपदों का नाम न देकर उसकी जगह शिबि और दर्शाण का नाम मिलता है । बिनयपिटक के अनुसार शिबि देश बहुमूल्य और सुन्दरदशालों के लिये प्रसिद्ध था । अवन्ती नरेश चण्ड प्रद्योत ने शिबि देश का एक दशाले का जोडा बैद्य जीवक को भेंट किया था और उसने उसे भगवान् बुद्ध को अर्पित कर दिया । उम्मदन्ती जातक से ज्ञात होता है कि शिबियों के राज्य में शिबि धर्म नामक नैतिक विधान प्रचलित था जिसका पालन करना राज्य के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तथ था । शिबि जातक, उम्मदन्ती जातक और वेस्सन्तर जातक में शिबिदेश तथा उसके राजाओं का वर्णन मिलता है ।

पाणिनि ने उशीनर का बाहीक जनपद नाम से उल्लेख किया है । उसनो शिबि का कहीं उल्लेख नहीं किया है । सम्भवत: बाद में उशीनर शिबि कहे जाने लगे महाभारत के वन पर्व में शिबि राष्ट्र और उसके राजा उशीनर का उल्लेख मिलता है । नन्दलाल दे ने महाभारत के इस शिबि राज्य को स्वात घाटी में स्थित बतलाया है । महाभारत में शिबि औशीनर के बाज हेतु बलिदान की कथा बडी लोकप्रिय है । फाहियान के अनुसार यह घटना उद्यान के दक्षिण या आधुनिक स्वात घाटी में घटी थी । महाभारत बाली शिबि राजा की कथा शिबि जातक में मिलती है । इस प्रकार पालि साहित्य के शिबि देश की राजधानी स्वात घाटी मानकर उसे वर्तमान सीवी(विलोचिस्तान) के आसपास माना जा सकता है या पश्चिमी पंजाब के शोरकोट के आसपास का प्रदेश और उसकी राजधानी अरिथपुर को शिदापुर से मिला सकते हैं । लेकिन वेस्सन्तर जातक में जेतुतर को शिबि राज्य की राजधानी बतलाया गया है । यह बुद्धकालीन 20 बडे नगरों में एक नगर था । बेस्सन्तर जातक में जेत्तुर को चेतरट्ठ के मातुल नगर से 30 योजन की दूरी पर बताया गया है । नन्दोलाल दे ने जेतुतर को आधुनिक चित्तौड़ से 11 मील उत्तर में स्थित नगरी नामक स्थान से अभिन्न माना है । अलबरूनी ने जिस जत्तररूर या जत्तरौर का उल्लेख किया है बह कुछ विद्वानो के अनुसार जेत्ततुर ही है । यह सम्भावना है कि बुद्धकालीन जेत्रातर से बिगडकर वर्तमान चित्तौड़ बना हो । नगरी में बहुत सी ताम्र मुद्राएँ मिली हैं जिन पर मज्जिमिका य सिवि जनपदस लिखा हुआ है । इससे स्पष्ट है कि चित्तौड के समीप मध्यमिका में भी शिबि लोगों का जनपद था । अत: जिस शिबि राज्य की राजधानी वेस्सन्तर जातक में जेतुतर नामक नगरी बतलाई गई है उसे भरतसिंह उपाध्याय (बुद्धकालीन भारतीय भूगोल) ने चित्तौड़ (राजस्थान) के आसपास का क्षेत्र माना है । इस प्रकार पालि साहित्य के आधार पर हमें शिबि लोगों के दो निवास स्थान मानने पडेंगे एक

स्वात घाटी में और दूसरा चित्तौड के आसपास । दशकुमारचरित से ज्ञात होता है शिबि जाति का एक जनपद दक्षिण में कावेरी नदी के तट पर भी स्थित था ।

महाभारत में शिबियों के पंजाब से राजस्थान स्थानान्तरित होने का प्रमाण उपलब्ध है । सभापर्व में शिबि, मालव और त्रिगर्त का एक स्थान पर मरु (राजस्थान) क्षेत्र में उल्लेख आया है । ऐसा प्रतीत होता है कि शिबि गण मध्यमिका में महात्मा बुद्ध के समय विद्यमान था । 200 ई.पू. से 200 ई. के मध्य वहाँ लोग पंजाब से आये होंगे । शिबि जाति का राजस्थान में पदार्पण सिकन्दर के आक्रमण के बाद न होकर इण्डो-यूनानी आक्रमण के पश्चात् होना अधिक तर्कपूर्ण है । पुष्यमित्र शुंग द्वारा इण्डो-यूनानी आक्रमण के बाद शिवि जाति लगभग 187 ई.पू. मध्यमिका में आकर पूर्णतया बस गई होगी । इसकी पुष्टि उनकी मुद्राओं से होती है । प्रसिद्ध विद्वान एच.डी. सांकलिया ने नगरी से शिबिगण के 16 सिक्के एकत्रित किये थे जिससे संकेतित है कि यह क्षेत्र शिबिगण के अन्तर्गत था । शिबियों की मुद्राओं का श्रीमती शोभना गोखले तथा एस.जे. मंगलम् ने अध्ययन किया था ।

शिबि-मुद्राओं पर सामान्य रूप से स्वस्तिक का वृषभ के साथ संयुक्त रूप से अंकन उसके चारों कोनों पर हुआ है । इन मुद्राओं पर वृक्ष का अंकन भी मिलता है । वृक्ष पूर्ण चक्र में उत्पन्न होता हुआ प्रदर्शित किया गया है । सिक्के के अग्रभाग पर अर्ध वर्तुलाकार उपाख्यान उत्कीर्ण है और छः मेहराब युक्त पहाड के चिहन का भी अंकन है । कुछ सिक्कों पर पहाडी संरचना के ऊपर अलंकरण युक्त नन्दीपद है तथा पहाडी के नीचे नदी का अंकन सिक्कों के पृष्ठ भाग पर किया गया है । वृक्ष अंकन की परम्परा शिबिगण के सिक्कों में अन्य गणों के सिक्कों से भिन्न है । अन्य गणों के सिक्कों में 'ट्री इन रेलिंग ' के विपरीत शिबि गण के सिक्के में वृक्ष वृत्ताकार या चक्राकार रचना के ऊपर अथवा उसमें से उत्पन्न होते हुए दिखलाया गया है ।

सांकलिया को प्राप्त सिक्कों में से एक सिक्के पर वृक्ष का चित्र नहीं है तथा उसके पृष्ठ भाग पर कोई अंकन नहीं है । इस पर केवल उपाख्यान ही अंकित किया गया है । इसी प्रकार यहाँ से प्राप्त एक अन्य सिक्के के अग्रभाग पर सामान्य रूप से अंकित आठ या दस शाखाओं के वृक्ष और वृषभ युक्त स्वस्तिक के स्थान पर केवल वृक्ष की छोटी सी शाखा ही उत्कीर्ण है । इसमें कोई वर्तुलाकार संरचना भी नहीं है । वैसे वृषभ युक्त स्वस्तिक या वृषभयुक्त क्रास की संख्या शिबिगण की मुद्राओं की विशेषता थी । कनिंघम छः मेहराबयुक्त पहाड को जो एक विस्तृत नन्दीपद से ढका हुआ है उसे धर्मचक्र मानते हैं । रोशनलाल सागर को प्राप्त शिबिगण के सिक्के पर नन्दीपद के आधार पर विद्वान शिबियों को शैव धर्मावलम्बी मानते हैं ।

पश्चिमी क्षत्रपों के सिक्कों को देखने से ऐसा लगता है कि मेहराब, पहाड, नदी का अंकन मानो उन्होंने शिबियों की नकल करके किया था ।

शिबियो की मुद्राओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि-

(1) सभी मुद्राएँ 1.5 सेमी. से 200 से.मी. व्यास की हैं ।

(2) इनकी मोटाई 0.1 सेमी. से 0.3 से.मी. के मध्य की है ।

(3) इनका भार 1.865 ग्राम से 6.442 ग्राम के मध्य है ।

(4) इनके अग्रभाग पर (10 सिक्कों पर) स्वस्तिक चिहन, 15 पर वृषभ अंकन, 16 पर वृक्ष का अंकन है । इन सिक्कों पर उपाख्यान शिबि, शिबिजनपदस्य, झामिकया, शिबिजा मझमिकय

शिबिज उत्कीर्ण किया गया है । 13 सिक्कों पर मेहराब, पहाडी, नदी का अंकन है । एक सिक्के के पृष्ठ भाग पर रूभयुक्त स्वस्तिक चिहन है । पीच सिक्के दूषित या बिगड़े हुए हैं ।

शिबियों के सिक्कों के भार में अन्तर बतलाता है कि मुद्रा निर्माण पर कोई केन्द्रीय नियन्त्रण नहीं था । कुछ सिक्के घिस गये तो भी चलन में थे जो मुद्रास्फीति फैलने का प्रमाण है ।

नगरी (चित्तौड) से एक अभिलेख मिला था जिसे 200 ई.पू. से 150 ई.पू. का माना जाता है । इस अभिलेख के अनुसार एक पाराशर गौत्रीय महिला के पुत्र गज ने पूजा शिला-प्राकार का नारायण वाटिका में संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये निर्माण करवाया था । नगरी के ही हाथी बाडा के ब्राहमी अभिलेख से ज्ञात होता है कि प्रस्तर के चारों ओर दीवार का निर्माण नारायण वाटिका में संकर्षण और वासुदेव की पूजा के लिये सर्वतात जो गाजायन पाराशर गौत्रीय महिला का पुत्र था ने बनवाया तथा उसने अवश्मेघ यज्ञ भी किया । डी.आर. भण्डारकर के अनुसार उपर्युक्त अभिलेख से सिद्ध होता है कि दक्षिणी राजस्थान में उन दिनों भागवत धर्म प्रचलित था ।

वासुदेव कृष्ण का अब नारायण से तादात्मय स्थापित हो चुका था । इस प्रकार लगभग 200 ई.पू. से 100 ई.पू. के मध्य मध्यमिका क्षेत्र जो शिबिगण के अधीन था वहाँ संकर्षण-वासुदेव की पूजा प्रचलित थी । इसके पश्चात् शिबियों का विवरण बृहद्संहिता तथा दशकुमारचरित तथा दक्षिण भारत के अभिलेखों में मिलता है । इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि 200 ई.पू. शिबियो का नगरी पर अधिकार था । बाद में वहाँ पश्चिमी क्षत्रपों के उत्थान के बाद बे लगभग 200 ई. के आसपास नगरी से भी पलायन करके दक्षिणी भारत में चले गये होंगे ।

4.9.8 उदिहिक जनपद

यह जनपद राजन्य जनपद से अधिक दूर नहीं था । वराहमिहिर ने उन्हें मध्यदेश निशसी माना है । अलबरूनी ने उन्हें भरतपुर के निकट बजाना का मूल निवासी कह कर पुकारा है । कुछ मुद्राएँ जिन पर उदिहिक तथा सूर्यमित्रस नाम उत्कीर्ण है, प्राप्त हुई है । सम्भवत: उदिहिक जनपद की मुद्राएँ प्रथम शती ई.पू. के मध्य में कभी जारी की गई थी । अत: स्पष्ट है कि उदिहिक जनपद शुंगकाल में अवतीर्ण हुआ था ।

4.9.9 शाल्व जनपद

राजस्थान में प्राचीन शाल जाति का भी विभिन्न स्थानों पर शासन था । महाभारत में शाल्वपुत्र की चर्चा मिलती है । आधुनिक अलवर उसी का बिगड़ा हुआ स्वरूप है । शाल्व जाति मत्स्य के उत्तर में ही बीकानेर में निवास करती थी । इसी प्रकार उत्तमभद्र जिन्होंने शक सेनापति उषवदात्त से संघर्ष किया था इसी परिवार का अंग था जिनका निवास स्थल बीकानेर राज्य के पूर्वी भाग में स्थित भाद्रा को माना जाता है । इनके पश्चिम में सार्वसेनी या शाल्वसेनी रहते थे । काशिका में उन्हें शुष्क क्षेत्र का निवासी कहा गया है । डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार अरावली के उत्तर पश्चिम में भूलिंग जाति के लोग रहते थे वे भी सम्भवत: शालों की ही शाखा थे । शालों का अपने समय में राजस्थान के बडे भू-भाग पर प्रभाव था ।

4.10 सारांश

छठी शताब्दी ई.पू. में महाजनपद राज्यों का उत्थान हुआ । जिनमें से कोसल, वत्स, अवन्ति और मगध प्रमुख महाजनपद थे लेकिन धीरे- धीरे मगध ने अन्य सभी महाजनपदो को आत्मसात कर लिया । मगध में बिम्बिसार, अजातशत्रु उदायी अनिरूद्ध, मुण्ड,नागदासक ने शासन किया जो हर्यक वंश के थे । उनके बाद शिशुनाग ने शासन किया । उसके पश्चात कालाशोक, नन्दिवर्धन ने मगध साम्राज्य पर शासन किया । मगध में शिशुनाग वंश का अन्त करके महापद्मनन्द ने अपनी सत्त स्थापित की थी । उसका साम्राज्य अत्यन्त विशाल था । नन्दवंश के पश्चात मगध पर मौर्यो, शुंगों तथा कण्वों ने शासन किया । मौर्यकाल में राजस्थान उनके साम्राज्य का अंग बना रहा । पुष्यमित्र शुंग के राज्यकाल में भारत पर इण्डोयूनानी शासक डिमिट्रियस ने आक्रमण किया । इस आक्रमण से चितौड क्षेत्र प्रभावित हुआ । इण्डोयूनानी शासक डिमिट्रियस के आक्रमण का राजस्थान पर यह प्रभाव पड़ा कि पंजाब में निवास करने वाली गणजातियाँ जिनमें मालव, यौधेयों, आर्जुनायन शिबि, राजन्य और आभीर आदि मुख्य थी, उन्होंने राजस्थान को अपना निवास स्थल बनाया । इस प्रकार राजस्थान शुंग सम्राटों के शासनकाल में गणजातियों की शरणस्थली बन गया ।

4.11 बोध प्रश्न

1. जनपद युग में राजस्थान की राजनीतिक स्थिति का बर्णन कीजिए ।
2. मौर्य सम्राटों द्वारा राजस्थान पर आधिपत्य विषय पर प्रकाश डालिए ।
3. शुंगकालीन यवन आक्रमण का विवरण दीजिए ।
4. बुद्धकालीन जनपदों के नाम लिखिए ।
5. बुद्ध के समय की गणजातियो का विवरण दीजिए ।
6. जनपद युग की विशेषताएँ बतलाइए ।
7. यौधेयों गण का विवरण दीजिए ।
8. आभीर गण क्यों प्रसिद्ध है?
9. शिबियों का इतिहास लिखिए ।

4.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, सं. 2018 -उपाध्याय, भरतसिंह
2. राजपूताने का इतिहास, जिल्द प्रथम, वि.स. 1883, अजमेर -ओझा, गौरीशंकर हीराचन्द
3. ट्राइब्स इन एन्शयेण्ट इण्डिया -चौधरी, ममता
4. हिन्दू पोलिटी बैंगलोर, 1955 -जायसवाल, काशीप्रसाद
5. भारत का इतिहास, (1000 ई.पू. से 1526 ई.) दिल्ली 1975 -थापर, रोमिला
6. द एज ऑव इम्पीरियल यूनिटी,; बम्बई 1951-60 -मजूमदार एवं पुसाल्कार
7. दि रिपब्लिकन ट्रेण्ड्स इन एचयेण्ट इण्डिया दिल्ली 1969 -मुखर्जी, शोभा
8. जनपद स्टेट इन एययेण्ट इण्डिया, बाराणसी, 1973 -मिश्र, सुदामा
9. एन्शयेण्ट इण्डियन ट्राइब्स, लन्दन 1949 -लाहा, बी.सी

10. पोलिटिकल हिस्ट्री ऑव एन्शयेण्ट इण्डिया, कलकत्ता 1988 -रायचौधरी, हेमचन्द्र
11. राजस्थान थ्रू द एजिज, खण्ड प्रथम बीकानेर 1968 -शर्मा, दशरथ
12. मत्स्य संघ का पुरातात्त्विक एवं सांस्कृतिक इतिहास, जयपुर 1993 -शर्मा, सी. एल.
13. अर्ली हिस्ट्री ऑव राजस्थान, दिल्ली 1978 -शुक्ल, डी.सी.

इकाई - 5

राजपूतों की उत्पत्ति

(Origin of the Rajputs)

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 राजपूतों की उत्पत्ति के विभिन्न मत

5.3 अग्निवंशीय उत्पत्ति

5.4 सूर्य और चन्द्रवशीय उत्पत्ति

5.5 विदेशी वंश से उत्पत्ति

5.6 ब्राह्मण उत्पत्ति का सिद्धान्त

5.7 वैदिक आर्यन उत्पत्ति

5.8 सारांश

5.9 सदंर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे -

- राजपूतों का महत्व
- राजपूतों की उत्पत्ति से सम्बन्धित विभिन्न मत और उनकी समीक्षा

5.1 प्रस्तावना

पूर्व मध्यकालीन भारत में राजपूत शक्ति का एक ऐतिहासिक शक्ति के रूप में भारतीय इतिहास क्षितिज पर उदय हुआ। विन्सेण्ट स्मिथ ने राजपूतों के महत्व पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है "हर्ष की मृत्यु के पश्चात उत्तर भारत पर मुस्लिम आक्रमणों अर्थात सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक राजपूतों का महत्व इतना बढ़ गया था कि इस काल को राजपूत काल के नाम से अभिहित किया जाना चाहिये । " यद्यपि इस काल में राजपूत वंशो का प्रभुत्व उत्तरी और पश्चिमी भारत तक ही सीमित रहा ।

इस युग में भारत के विभिन्न भागों में अनेक राजपूत ईशों ने राज्य किया । विभिन्न साहित्यिक तथा अभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह जाति अत्यन्त शूरवीर तथा युद्ध प्रिय जाति थी । इन राजपूत वंशो ने बहुत समय तक अरब और तुर्क आक्रमणकारियों के आक्रमणों का सामना कर भारत की पश्चिमी सीमा पर रोके रखा लेकिन इन राजपूत राज्यों में आपस में बहुत ईर्ष्या द्वेष था जिसके कारण हे कभी भी एक होकर भारत पर बाहर से होने वाले मुस्लिम आक्रमणकारियों का सामना नहीं कर सके । परिणाम स्वाभाविक था । 1200 ई. के आस-पास इन राजपूत राज्यों का अन्त हो गया और भारत पर एक बाहरी शक्ति ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया । यद्यपि यह जाति तुर्क

आक्रमणकारियों के आक्रमण का मुकाबला करने में विफल रही लेकिन अपनी वीरता, बहादुरी, बलिदान और कतिपय सिद्धान्तों के कारण भारतीय इतिहास में राजपूतों का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है ।

5.2 राजपूतों की उत्पत्ति के विभिन्न मत

राजपूतों की उत्पत्ति का प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है । राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किये हैं । कुछ विद्वान इनकी विदेशी उत्पत्ति बताते हैं तो कुछ देशी और कुछ उन्हें देशी-विदेशी मिश्रित उत्पत्ति से सम्बन्धित बताते हैं । राजपूत शब्द राजपुत्र शब्द का अपभ्रंश है । ऋग्वेद में राजपुत्र और राजन्य शब्दों का बहुधा उल्लेख हुआ है और वहाँ दोनों शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं । बाद में महाभारत में भी ये शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त किये गये हैं लेकिन ऐसा लगता है कि बाद में राजन्य राजा या शासक के रूप में और राजपुत्र राजा के पुत्र या उसके सम्बन्धियों के पुत्रों के रूप में प्रयुक्त किया जाने लगा । प्राचीन भारत में क्षत्रिय शासकों के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मणों, कुछ विदेशियों, शक, हूण, कुषाण और यवनों ने भी भारत के विभिन्न भागों में राज्य किया था । धीरे-धीरे इन शासक वंशों के मध्य परस्पर वैवाहिक सम्बन्धों के फलस्वरूप भी विलयन की प्रक्रिया हुई । शासकों तथा सामन्तों के वंशज राजपुत्र थे । जिनको राजपूतों के नाम से जाना जाने लगा । इनमें से कई जातियों ने भारतीय धर्म स्वीकार कर लिया था । हरिभद्र सूरी ने कई विदेशियों को भीनमाल में जैन समाज में मिलाया था । आबू के यज्ञ की कहानी भी इसी ओर इंगित करती है । जहाँ-जहाँ ये जातियाँ बसी वहाँ स्थानीय जातियों के साथ आचार-विचार में और जीविका में साचता आती गई । यह समन्वय सामाजिक स्तर तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि जिन-जिन समूहों ने मैत्री एवं एक-दूसरे के प्रभाव को स्वीकार कर लिया उन्होंने परस्पर सहयोग से आस-पास के क्षेत्रों में अपना राजनीतिक प्रभाव भी स्थापित कर लिया । नये राजा और उनके पुत्र एवं सामन्त इस वर्ग में सम्मिलित हो गये और क्षत्रिय कर्म को छोड़कर अन्य कर्म अपनाने वाले इस वर्ग से पृथक हो गये । श्री. जे.एन. आसोपा ने इस सिद्धान्त को चयन और अपचयन (Theory of selection and Rejection) कहकर अभिहित किया है । प्रो. जी.एन शर्मा ने लिखा है कि इस प्रकार समन्वय से नये बने कुलों ने छठी शताब्दी से अपनी सत्ता संस्थापन का प्रयास आरम्भ कर दिया । उनका विचार है कि ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं कि गुजरात, पंजाब तथा गंगा, यमुना के मैदानी भागों से ऐसे कई राजपूतों के समुदाय राजस्थान में आये और यहीं के स्थानीय निवसियो के सहयोग से उन्होंने सफलता प्राप्त की इस तरह राजपूतों के पृथक-पृथक सत्ता क्षेत्रों में राजस्थान बँट गया । यह अधिवासन एक लम्बे युग की कहानी है जिसमें सैकडों वर्ष लगे । ये प्रारम्भिक आक्रमणकारी भारतीय समाज में विलीन हो गये । लेकिन मुस्लिम आक्रमणकारी धार्मिक कट्टरता के विश्वास के कारण उदारवादी भारतीय समन्वीकरण का हिस्सा नहीं बन सके । इन आक्रमणकारियों से पराभूत होकर राजपुत्र कहलाने वाले वर्ग के हाथ से धीरे-धीरे राजनीतिक सत्ता जाती रही लेकिन उन्होंने अपनी गौरवपूर्ण राजपुत्र उपाधि बनाये रखी । इन तुर्क आक्रमणकारियों ने भी इनको राजपूत कहना प्रारम्भ कर दिया । इन प्रारम्भिक राजपुत्र कुलों ने राजस्थान में अपने राज्य, मारवाड में प्रतिहार और राठौड, मेवाड में गुहिल, सांभर में चौहान, आमेर में कच्छवाहा, जैसलमैर में भाटियों ने स्थापित कर लिये । श्री बी.एन.रेऊ ने प्रो. आसोपा के सिद्धान्त को काल्पनिक कहकर ठुकरा दिया ।

5.3 अग्निवंशीय उत्पत्ति

प्राचीन काल से विश्व के विभिन्न देशों में राजवंशो द्वारा देवी उत्पत्ति से अपने वंश की श्रेष्ठता सिद्ध करने की परम्परा रही है । कुषाण शासक अपने आपको 'देवपुत्र' उपाधि से विभूषित करते थे । राजपूतों को विशुद्ध जाति का सिद्ध करने के लिये इनकी उत्पत्ति अग्नि से बताई गई है । सर्वप्रथम बारहबीं शताब्दी ई0 के अन्त में रचित चन्दबरदाई के ग्रंथ 'पृथ्वीराजरासो' में राजपूतों के चार वंश प्रतिहार, परमार, चालुक्य और चौहानों की उत्पत्ति महर्षि वशिष्ठ के यज्ञ के अग्नि कुण्ड से बताई गई है । कहानी के अनुसार राक्षस ऋषियों के यज्ञ को हाड़, मांस, विष्ठा से अपवित्र करते थे । अत: ऋषि वशिष्ठ ने इनके संहार के लिये आबू पर्वत पर सम्पादित यज्ञ के अग्निकुण्ड से इन वंशो को उत्पन्न किया । इस कहानी में अलग-अलग अर्थ लगाये हैं । डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार परमार, ब्राह्मण थे जो धर्म की रक्षार्थ क्षत्रिय बने । आसोपा भी यहीं मानते है । चालुक्यों और चाहमानों के लेखों में उनके पूर्वज को ब्राह्मण बताया गया है । मण्डोर के प्रतिहारों को ब्राह्मण राजा हरिश्चन्द्र का वंशज कहा गया है । इन्हें अग्निवंशीय करने का तात्पर्य संभवत: यह हो सकता है कि अग्नीकरण से इनकी शुद्धि की गई । ये ब्राह्मण अपनी प्राचीन आग्नेय उत्पत्ति को बनाये रखने के लिये अग्निवंशीय कहलाये । अबुल फजल ने बौद्धों के षड्यन्त्रों से अग्नि पूजा को बचाने के लिये अग्निवेदी से परमारों की उत्पत्ति बताई गई हैं लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि पृथ्वीराज रासो में अनेक ऐसी कपोल कल्पित घटनाऐं भरी पड़ी है, जिनका कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है । पुन: बीकानेर फोर्ट लाइब्रेरी में सुरक्षित मूल पृथ्वीराज रासों में इस प्रकार की कोई बात नहीं लिखी हुई हैं यह संभ्वत बाद में जोडा गया अंश है । अगर चन्द्र बरदाई इन वंशों को अग्निवशीय मानता होता तो वह अपने ग्रंथ में राजपूतों की 36 शाखाओं को सूर्य, चन्द्र और यादव वंशी नहीं लिखता ।

डॉ. जी.एन.शर्मा ने अग्निकुल सिद्धान्त को कवियों की कल्पना मात्र माना है । नैणसी और सूर्यमल्ल ने इस मत का काफी प्रचार किया किन्तु 16 वीं शताब्दी ई. के अभिलेखों और साहित्यिक ग्रंथों में प्रतीहार, चौहान व परमारों को सूर्यवंशी और चालुक्य को चन्द्रवंशी कहा गया है । डॉ. गोरीशंकर हीरानन्द ओझा ने इसे विद्वानों की हठधर्मिता कहा है तो दशरथ शर्मा ने इस विचार को भाटों की कल्पना मात्र बताया है । डॉ. ईश्वरी प्रसाद भी इसे तथ्यरहित बताते हुए कहते हैं कि यह ब्राह्मणों की एक प्रतिष्ठित जाति की उत्पत्ति की महत्ता निर्धारित करने का प्रयास मात्र है ।

5.4 सूर्य और चन्द्रवंशीय उत्पत्ति

डॉ. गौरीशंकर हीरानन्द ओझा राजपूतों की सूर्य और चन्द्रवंशी उत्पत्ति में विश्वास रखते हैं । अनेक शिलालेखों 1028 वि.स. का नाथ अभिलेख वि.स. 1034 का आटपुर लेख, वि.स. 1342 का आबू और वि.स. 1485 के शृंगी ऋषि के लेख में गुहिलवशीय राजपूतों को रघुकुल (सूर्यवंशी) से उत्पन्न बताया है । इसी प्रकार पृथ्वीराज विजय, हमीर महाकाये के अनुसार चौहानों को क्षत्रिय कहा है । श्री जे.एन.आसोपा के अनुसार सूर्य और चन्द्रवंशी मूलत: आर्यो के दो दल थे जो भारत आये । पार्जिटर ने सूर्यवंशियों को क्षत्रिय द्रविड कहा है और चन्द्रवंशियों को प्रयाग के क्षत्रिय शासक बताया है । सी वी वैद्य का भी विचार है कि सुदूर उत्तरी देशों से आयों के आने वाले दल ही महाभारत काल से सूर्य एवं चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहलाने लगे । डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार सभी राजपूतों को सूर्य एवं चन्द्रवंशी

कहना गलत होगा । अनेक भाटों ने राजपूतों का सम्बन्ध इन्द्र, पद्मनाम और विष्णु से बताते हुए काल्पनिक वंश क्रम बना दिया है । इन मतों के समर्थक भी राजपूतों की उत्पत्ति के विषय में किसी निकर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं ।

5.5 विदेशी वंश से उत्पत्ति

राजपूतों की उत्पत्ति का सम्बन्ध अनेक विद्वान विदेशी जाती से बताते है । इन विद्वानो मे कर्नल टोड, विलियम क्रुक, विन्सेंट सिम्थ और डॉ. डी आर। भंडारकर मुख्य है । विन्सेंट स्मिथ ने विदेशी आक्रमणकारियो के कलांतरण में भारतीयकरण के फलस्वरूप हुई। कालान्तर में इन सभी भारतीयकृत विदेशी जातियों ने प्रतिष्ठ प्राप्ति के लिए अपने आपको सूर्य और चन्द्रवंशी कहना प्रारम्भ कर दिया । वे पृथ्वीराज रासो में उल्लिखित यज्ञ कुण्ड से उत्पन्न चार राजवंशो, प्रतिहार, चालुक्य, परमार और चौहनों की उत्पत्ति का सम्बन्ध भी विदेशी उत्पत्ति से जोड़ते है । उनका कथन है की गूजरों की उत्पत्ति हूणो से हुई । उनका यह भी मानना है की राजपूत जतियों की उत्पत्ति शक, हूण, कुषाण, पल्लव जतियों के आक्रमण के समय से होती है । इन विदेशी जातियों ने कालान्तर मे भारतीय धर्म सभ्यता एवं संस्कृति को स्वीकार कर लिया। अत: उन्हे महाभारत एवं रामायणकाल के क्षत्रियों से संबन्धित कर दिया गया और उन्हे सूर्य एवं चन्द्रवंशी कहा जाने लगा । कर्नल टोड ने राजपूतो को शक और सीथियन बताया है । अपने मत की पुष्टि के लिए राजपूतो में प्रचलित अनेक रीति-रिवाजों, परम्पराओ का इन्होने सहारा लिया है । जो शकों से समयता रखते है । सूर्य पुजा, सती प्रथा, अश्वमेघ यज्ञ,मघपान शस्त्र पूजन, घोडो का पूजन तथा तातारी और शकों की कथाओं की पुराणों की कथाओं से सभ्यता ऐसे तथ्य हैं जो राजपूतों को विदेशी सिद्ध करते हैं ।

डॉ. डी.आर.भण्डारकर ने राजपूतों को विदेशी गुर्जरों की सन्तान माना है । उनका कथन है कि गुर्जर खिजर जाति की सन्तान थे जो कि हूणों के साथ भारत में आये थे । परन्तु डॉ. भण्डारकर के पास इसका कोई प्रमाण नहीं है कि गुर्जर खिजर थे और ये बाहर से आये थे । भण्डारकर ने प्रतिहारों, चालुक्यों, परमारों और चाहमानों को भी पृथक-पृथक रूप से गुर्जर सिद्ध कर इन राजपूत वंशो की विदेशी उत्पत्ति सिद्ध करने की चेष्टा की है । राजोर अभिलेख में प्रतिहारों को गुर्जर कहा गया है । अरबों और राष्ट्रकूटों ने भी कन्नौज के प्रतिहारों को गुर्जर कहा है ।

लेकिन डॉ. भण्डारकर के इन तर्को को स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि राजपुताना का जो भाग गुर्जरत्रा कहलाता था वही रहने वाले प्रतिहार प्रादेशिक विभिन्नता दिखाने के लिये अपने आप को गुर्जर प्रतिहार कहने लगे थे । अरब लोग भी गुर्जरत्रा के प्रतिहारों को गुर्जर प्रतिहार के नाम से जानते थे और इसी आधार पर कन्नौज के प्रतीहारों को भी उन्होंने इसी नाम से पुकारा ।

डॉ. भण्डारकर ने चालुक्य, परमार और चाहमानों को भी गुर्जर सिद्ध करने की चेष्टा की है और इसी आधार पर इनको भी विदेशी उत्पत्ति से जोडने का प्रयास किया हैं । परन्तु सी.वी.वैद्य भण्डारकर के विचार से सहमत नहीं है । इनका विचार है कि प्रतिहारों को जो गुर्जर कहा गया है वह स्थान विशेष गुजरात से उनके समथ के कारण है । डॉ. विमल चन्द्र पाण्डेय का विचार है कि उपर्युक्त चार राजवंशो में से कोई भी गुर्जर सिद्ध नहीं होता और यदि यह मान भी लिया जाये कि वे गुर्जर थे तो भी उन्हें विदेशी नहीं कहा जा सकता क्योंकि गुर्जरों को विदेशी सिद्ध करने के लिये कोई अकाट्य प्रमाण नहीं है । डॉ. सत्यप्रकाश राजपूतों की उत्पत्ति विदेशी जाति गुर्जरों से नहीं मानते हैं । वे गुर्जरों

को विदेशी नहीं मानते । हेनसांग गुर्जरों को क्षत्रिय बताता है और हूणों का कोई उल्लेख नहीं करता । गुर्जर का समीकरण खिजर से केवल अन्तिम जर शब्द के आधार पर करना भी तर्क संगत नहीं है । डी. बी.एन.पुरी का भी यही निष्कर्ष है कि यह कबीला राजस्थान में कहीं रहता था जिसने कालान्तर में अपनी शक्ति के बल पर गुर्जर साम्राज्य की स्थापना की । भोज के ग्वालियर लेख में प्रतिहारों को लक्षण का वंशज कहा गया है । राजशेखर भी गुर्जर प्रतिहार राजा महेन्द्रपाल को 'रघुकुल तिलक' कहता है । अत: गुर्जर पूर्ण रूप से भारतीय क्षत्रियों से सम्बन्धित थे ।

राजपूतों को विदेशी सिद्ध करने के लिये विदेशी उत्पत्ति समर्थक विद्वानों ने कुछ अन्य तर्क भी दिये जिनका आसानी से खण्डन किया जा सकता है ।

1. राजपूत शब्द का प्रयोग नबी शताब्दी ई. से पहले नहीं दिखाई देता । अत: इन्हें प्राचीन आयी की सन्तान नहीं माना जा सकता वास्तव में राजपूत शब्द प्राचीन संस्कृत 'राजपुत्र' का अपभ्रंश है । बौद्ध धर्म के प्रचार के फलस्वरूप अनेक क्षत्रिय वंशो ने अपना धर्मकर्म छोड दिया था । अत: राजपूताना में रहने वाले क्षत्रियों ने अपनी शुद्धता और विभिन्नता को बनाये रखने के लिये ऐसे क्षत्रियों से सामाजिक सम्बन्ध तोड़ लिये और राजपूताना के क्षत्रियों में ही विवाह सम्बन्ध कर अपने आप को एक हक इकाई में सीमित कर लिया । राजपुत्र होने के कारण ये अपने आप को राजपूत कहने लगे ।

2. कुछ पुराणों में कहा गया है कि कलियुग में केवल दो ही वर्ण रहेंगे- ब्राह्मण और शूद्र । अत: राजपूत क्षत्रिय नहीं हो सकते । लेकिन पुराणों का यह कथन ऐतिहासिक साक्ष्यों से सही नहीं प्रतीत होता । चीनी यात्री हेनसांग क्षत्रिय राजवंशों का उल्लेख करता है ।

3. पाराशर स्मृति में राजपूत को वैश्य पुरूष और अम्बष्ठ कन्या की सन्तान कहा गया है । लेकिन पाराशर स्मृति का यह अंश बाद में जोडा गया प्रतीत होता है ।

5.6 ब्राह्मण उत्पत्ति का सिद्धान्त

भण्डारकर महोदय जहाँ कुछ राजपूत वंशों की उत्पत्ति विदेशी गुर्जरों से मानते हैं वहाँ वे यह भी स्वीकार करते थे कि कुछ राजपूत वंश धार्मिक वर्ग से भी सम्बन्धित थे । इस मत की पुष्टि के लिये दे विजोलिया शिलालेख का सहारा लेते हैं जिसमें वासुदेव चहमान के उत्तराधिकारी सामन्त को वत्स गोत्रीय ब्राह्मण कहा गया है । राजशेखर ब्राह्मण का विवाह चौहान राजकुमारी अवन्तिसुन्दरी से होना भी चौहानों का ब्राह्मणों से सम्बन्ध स्थापित करता है । कायमखाँ रासो में भी चौहानों की उत्पत्ति वत्स से बताई गई है, जो जमदग्नि गोत्र से था । सुण्डा और आबू अभिलेखों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है इसी तरह डॉ. भण्डारकर गुहिल राजपूतों की उत्पत्ति नागर ब्राह्मण से बताते हैं । डॉ. जी.एन.शर्मा यद्यपि ब्राह्मण वंशीय उत्पत्ति को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते लेकिन दे भी भण्डारकर के तर्क में कुछ बल अवश्य देखते हैं । कुम्भलगढ प्रशस्ति के आधार पर वे गुहिल बापा रावल को आनन्दपुर के ब्राह्मण वंश से सम्बन्धित करते हैं जिन्होंने मेवाड के नागदा नामक स्थान पर आकर हारीत ऋषि की कृपा से शासक पद प्राप्त किया । लेखों में विप्र शब्द का प्रयोग कुछ राजपूत वंशों का ब्राह्मण होना सिद्ध करता है । भारतीय इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जहाँ कण्व और शुंग जैसे ब्राह्मण राजवंशों ने क्षत्रिय पद को प्राप्त किया ।

डॉ. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा और सी.वी.वैद्य इस ब्राह्मणवंशी मत को नहीं मानते हैं । उनका कथन है कि जो भ्रांति डॉ. भण्डारकर को राजपूतों की ब्राह्मणों से उत्पत्ति के सम्बन्ध में हुई वह द्विज, ब्रह्मक्षत्री विप्र आदि शब्दों से हुई है जिनका प्रयोग राजपूतों के लेखों में हुआ है । ओझा और वैद्य

का विचार है कि इनका प्रयोग क्षत्रिय जाति की अभिव्यक्ति के लिये हुआ है न कि ब्राह्मण जाति के लिये ।

राजपूतों की अग्निकुण्ड से उत्पत्ति के सम्बन्ध में आसोपा जी की मान्यता है कि अग्निकुण्ड से उत्पन्न ये चारों वंश ब्राह्मण थे जो क्षत्रिय बन गये । परमार आबू क्षेत्र के अग्नि पूजक वशिष्ठ ब्राह्मण थे जिन्होंने क्षात्र धर्म ग्रहण किया । इसी प्रकार चालुक्य भी आग्नेय ब्राह्मण थे । चाहमान मूलत: शाकम्भरी क्षेत्र में रहने वाले लोगों का भौगोलिक नाम है । इस क्षेत्र के शासक भी ब्राह्मण थे जिन्होंने स्वेच्छों से देश रक्षा के लिये क्षत्रिय धर्म ग्रहण किया । प्रतिहारों को भी लक्षण के वंशज होने के मत को अस्वीकार करते हुए आसोपा ने इनको प्रतिहारी ब्राह्मण कहा है जिनका तैत्तिरीय ब्राह्मण में उल्लेख है । इस प्रकार हम श्री आसोपा के मत को माने तो हमें यह मानने को विवश होना पडेगा कि क्षत्रिय अपने क्षात्र धर्म को भूलते जा रहे थे जिसकी जिम्मेदारी शास्त्रों ने उन्हें सौंपी थी । इसीलिये ब्राह्मणों को शस्त्र उठाने को बाध्य होना पड़ा लेकिन हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह पता चलता हो कि तुर्को के भारत आक्रमण तक क्षत्रियों का इतना पतन हो गया हो । अत: विद्वानों का एक वर्ग आसोपा के इन सिद्धान्तों को स्वीकार करने को तैयार नहीं है ।

5.7 वैदिक आर्यन उत्पत्ति

राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जे.एन.आसोपा ने अपने ग्रंथ Origin of the Rajputs में राजपूतों को वैदिक आर्यो की दो शाखाओं की सन्तान बताकर समस्या को सुलझाने का प्रयास किया हैं । इनके अनुसार आर्यो की दो शाखायें मध्य एशिया से भारतवर्ष में आई । मध्य एशिया में इनका निवास स्थल दो नदियों जैक्सर्टीज (इक्षुवाक) तथा इली के तट पर स्थित थे । इक्षुवाक से आने वाले आर्य भारत में सूर्यवंशी क्षत्रिय और इली से आने वाले चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहलाये । इस प्रकार उनके अनुसार सूर्य और चन्द्रवंशी ये दो युद्ध प्रिय समूह थे जो मध्य एशिया से भारत में आये थे । श्री आसोपा के अनुसार वैदिककालीन राजपुत्र शब्द का अपभ्रंश रूप ही राजपूत शब्द हैं । धीरे-धीरे इन राजपुत्रो का जिसमें सामन्त और राजदरबारी शामिल थे, एक विशिष्ट वर्ग बनता जा रहा था और ब्राह्मण ग्रंथों के समय में राजपुत्र, राजन्य और क्षत्रियों में अन्तर किया जाने लगा था । बारहवीं सदी के अन्त और तेरहवीं शताब्दी ई. के आरम्भ तक राजपूत एक जाति वर्ग बन गया था, जो स्वयं अनेक उपजातियों और वंशों में विभक्त हो चुकी थी । इस प्रकार पश्चिमोत्तर प्रदेशों से आने वाले आर्य तथा विदेशी जातियों ने भारत में राज्य स्थापित कर राजपूत जाति के रूप में संगठित होकर वैदिक आर्यो से अपना सम्बन्ध सूर्य या चन्द्रवंशी बनकर स्थापित कर लिया । लेकिन थी आसोपा द्वारा साहित्य और अभिलेखों में उपलब्ध शब्दों की व्याख्या संदेह उत्पन्न करती है और अनेक विद्वान उनके इस मत से सहमति प्रकट नहीं करते ।

सी.वी.वैद्य और गौरी शंकर हीरानन्द ओझा ने राजपूतों को भारतीय आर्यों की सन्तान माना है । उनका कथन है कि समस्त राजपूत परम्पराओं में राजपूतों को क्षत्रिय ही माना गया है । प्रतिहार अपने आप को सूर्यवंशी क्षत्रिय मानते हैं । ग्वालियर अभिलेख में भी उन्हें लक्षण की सन्तान कहा गया है । हेनसांग भी चालुक्य नरेश पुलकेशी द्वितीय को क्षत्रिय बताता है । हम्मीर महाकाव्य में चाहमानों को सूर्य पुत्र कहा गया है । पृथ्वीराज रासो में भी 36 राजपूत कुलों को सूर्यवंशी, चन्द्रवंशी और यदुवंशी कहा गया हैं । अत्यन्त प्राचीनकाल से राजपुत्र शब्द का प्रयोग क्षत्रिय के लिये ही हुआ है । महाभारत में द्रौपदी को राजपुत्री कहा है । शरीर रचना की दृष्टि से भी राजपूत आर्य प्रतीत होते हैं । राजपूतों

में व्यापत प्रथायें यज्ञ, मदिरापान, अश्व पूजा, शस्त्र पूजा, स्त्रियों का सम्मान, युद्ध प्रेम भारतीय क्षत्रियों में वैदिक काल से ही पाई जाती है । इन प्रथाओं को विदेशी बताना असंगत है ।

5.8 सारांश

राजपूतों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उपयुक्ति सर्वक्षण और विभिन्न विद्वानों द्वारा व्यक्त किये गये विचारों से हम किसी अंतिम निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाते ।डॉ. गोपीनाथ शर्मा ने Rajasthan Studie में प्रकाशित एक शोध लेख Origin of Rajputs तथा अपने ग्रंथ राजस्थान का इतिहास में इस सब चर्चा का सारांश बताते हुए कहा है

"सारांश यह है कि जिस तरह शंक, पल्हव, हूण आदि विदेशी यहाँ आये और जिस तरह उनका विलीनीकरण भारतीय समाज में हुआ इसका साक्षी इतिहास है । ये लोग लाखों की संख्या में थे । पराजित होने पर इनका यहाँ बस जाना प्रामाणिक है । ऐसी अवस्था में उनका किसी न किसी जाति से मिलना स्वभाविक था । उस समय की युद्धोपजीवी जाति ही ऐसी थी जिसने इन्हें दबाया और उन्हें समानशील होने से अपने में मिलाया । इसी तरह छठी व सातवीं शताब्दी में क्षत्रियों और राजपूतों का समानार्थ में प्रयुक्त होना भी यह संकेत करता है कि इन विदेशियों के रक्त में मिश्रित जाति ही राजपूत जाति थी जो यकायक क्षात्र धर्म से सुसज्जित होकर प्रकाश में आई और शकादिकों का अस्तित्व समाज हो गया । यह स्थिति सामाजिक उथलपुथल की पोषक है ।" ब्राह्मण लोग भी सत्तासीन होने के कारण क्षत्रिय की संज्ञा देकर इनको सीकार करने लगे और इन्हें राजपुत्र की प्रतिष्ठा देकर सम्मानित किया और लौकिक भाषा में राजपूत कहने लगे । लेकिन फिर भी डी. शर्मा यह मानते है कि सम्भवत: सभी क्षत्रियों का विदेशियों से सम्पर्क न हुआ हो और कुछ वंशो ने अपना स्वतन्त्र अस्तित्व बनाये रखा हो जिनका इस विदेशी उत्पत्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

5.9 संदर्भ ग्रंथ

1. प्राचीन भारत का इतिहास -विमलचन्द्र पाण्डेय
2. Early Chauhan Dynasties - Dasharatha Sharma
3. Lectures on Rajput History and Culture - Dasharatha Sharma
4. Aspects of Rajput State and Society - Anil Chandra Banerjee
5. Social Life in Medieval Rajasthan - G.N Sharma
6. राजस्थान का इतिहास -G.N Sharma
7. उदयपुर राज्य का इतिहास -गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
8. हिस्ट्री ऑफ मेडीवल हिन्दू इण्डिया -सी.वी.वैद्य

इकाई - 6

पृथ्वीराज चौहान तृतीय एवं उसका युग
(Prithvi Raj Chauhan III and his times)

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 चौहानों की पृष्ठी भूमि

6.3 पृथ्वीराज की प्रारंभिक उपलब्धियाँ

6.4 पृथ्वीराज की दिग्विजय नीति व उसके परिणाम

6.5 तत्कालीन राजस्थान व उत्तर भारत की स्थिति

6.6 तुर्क शक्ति का परिचय व भारत मुहम्मद गोरी के संदर्भ में

6.7 मुहम्मद गोरी व पृथ्वीराज में संघर्ष के कारण

6.8 पृथ्वीराज व गोरी का संघर्ष

6.9 संघर्ष के परिणाम

6.10 सारांश

6.11 बोध प्रश्न

6.12 संदर्भ ग्रन्थ

6.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात आपको होगा

- राजस्थान में चौहान शक्ति के उदय का बोध ।
- पृथ्वीराज की वीरता व उपलब्धियों का बोध ।
- पृथ्वीराज द्वारा तुर्को को रोकने के प्रयास व तत्कालीन भारत में स्वतंत्रता की रक्षा में चौहानों के योगदान का बोध।
- तुर्क विजय के राजस्थान व उत्तर भारत पर परिणामों का बोध ।

6.1 प्रस्तावना

राजस्थान ही नहीं उत्तर भारत के इतिहास में चौहान शक्ति के उदय और चौहानों की उपलब्धियाँ, अत्यन्त महत्वपूर्ण घटनाएं थीं हिन्दू धर्म, संस्कृति, गऊ व ब्राह्मणो व भारत की स्वतंत्रता की रक्षा के प्रयासों में उनके योगदान का मूल्यांकन व बोध शिक्षार्थियों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है । चौहानों ने क्रमागत रूप से अच्छित्रपुर (नागौर), सांभर व अंत में राजसनि के 'जिब्राल्अर' व 'हृदयं'अजयमेरु नगर को अपनी राजधानी बनाया । उन्होंने सम्पूर्ण राजसनि, हरियाणा, दिल्ली व पूर्वी पंजाब पर अपनी सत्ता कापरचम फहराया । दक्षिण में गुजरात के चालुक्यों, मालवे के परमारों व पूर्व में कन्नौज के गहड़वालों तथा बुन्देलखंड के चंदेलों को भी उनको लोहा मानना पड़ा । दिल्ली चौहानों

व कन्नौज के गहड़वालों के मध्य शत्रुता का कारण रही दूसरा ओर लाहोर के गजनथी शासकों व मुलान के करामाती मुसलमानों से वे लगातार संघर्षरत रहे ।

प्रतिहार शक्ति के पतन से ही चौहान शक्ति के उदय का मार्ग प्रशस्त हुआ । प्रारंभ में चौहान प्रतिहारों के सामन्त रहे । जाँगल क्षेत्र में अपनी सत्ता दृढ़कर चौहानों ने सम्पूर्ण जाँगल क्षेत्र (उत्तरी राजस्थान, वर्तमान ढंढाड, जयपुर क्षेत्र) मेशत (अलवर क्षेत्र) हाड़ोती (बूंदी, कोटा, झालावाड), मरूधर देश (वर्तमान जोधपुरं, पाली, बाडमेर क्षेत्र) दिल्ली भांडानक क्षेत्र (हरयाणा) तक अपना ध्वज फहराकर वे सपादलक्ष के स्वामी बने दक्षिण में मांडल तक उनकी सीमा थी, मेवाड के गृहिलों से उनके मैत्री सम्बन्ध थे । अजयराज, अर्णोराज, विग्रहराज चतुर्थ व पृथ्वीराज तृतीय चौहान वंश के वीर शिरोमणि थे, जिन्होंने चौहान शक्ति को पराकाष्ठा तक पहुँचा। विग्रहराज चतुर्थ में जहाँ लेखनी, तलवार व सपितय की त्रिवेणी का संगम था, तो पृथ्वीराज युग का सर्वश्रेष्ठ सेनापति धर्नुधारी व विद्ययाओं का ज्ञाता, धर्म, संस्कृति स्वतंत्रता का प्रतिहारी बन कर उभरा पृथ्वीराज अन्तिम हिन्दू सम्राट, यौवन का प्रतीकराम का अवतार उद्भट योद्धा व लोकनायक कहलाया आज भी उसका स्मरण मात्र युवापीढ़ी को उत्साह व उमंग से भर देता है । उसकी पराजय के साथ ही भारत तुर्क दासता की जंजीरों में बंध गया ।

6.2 चौहनों की पृष्ठभूमि

छठी सदी के मध्य में हूणों की शक्ति के पतन का लाभ उठाते हुएइस वंश के संस्थापक चाहुमान ने अपने भाई धनअजय की सहायता से जांगल क्षेत्र में अपनी सत्ता स्थापित की इसके उत्तराधिकारी वासुदेव ने अहिछत्रपुरा को राजधानी बनाया इसे एक विद्याधर ने एक नमक की झील प्रदान की जो शाकंभरी देवी के नाम पर सांभर क्षेत्र कहलाया । वासुदेव के पश्चात सामान्तराज (684-709 ई.) नरदेव (709-21ई.) अजयराज प्रथम (721-34 ई.) मान्यता है कि इसी अजयपाल चक्री ने अजमेर बसाया । विग्रहराज प्रथम (734-59 ई.) चंद्रराज (759-71 ई.) गोपेन्द्र राज (771-84 ई.) ऐनामक शासक हुए । उस समय प्रतिहारों की शक्ति का उदय हुआ, चौहान उनके सामन्त बन गए । इन सामन्त बने चौहानों में दुर्लभराज प्रथम (784-809 ई.) गूवक प्रथम (809-36 ई.) चन्दराज द्वितीय (836-63 ई.) गूवक द्वितीय (863-90ई.) चन्दनराज (890-917 ई.), वाक्पतिराज प्रथम (917-44 ई.) प्रमुख थे ।

सिंहराज (944-71 ई.) चौहानों का प्रथम स्वतंत्र राजा बना, जिसने प्रतिहार सत्ता की अधीनता का त्याग कर दिया । इसके उत्तराधिकारी विग्रहराज द्वितीय (971-98ई.)ने चौहान सत्ता का विस्तार किया । उसके उत्तराधिकारी दुर्लभराज द्वितीय ने महमूद गजनवी को चुनौती दी । तत्पश्चात गोविन्द राज द्वितीय ने सोमनाथ अभियान पर जाते हुए महमूदगजनवी का न केवल सामना किया वरन उससे अपने राज्य को सुरक्षित रखा । इसके पश्चात बाक्पीतराज द्वितीय (1026-40ई.) वीर्यराम (1040 ई.),चामुन्डराज (1040-65ई.),दुर्लभराज़ (1065-70ई.),(1065-70ई.) विग्रहराज तृतीय (1070-90ई.) व पृथ्वीराज प्रथम (1090-1110 ई.) चौहान शासक बने । इसी पृथ्वीराज प्रथम के परामर्श को स्वीकार करते हुए उसके पुत्र अजयराज (1110-35ई.) ने पृथ्वीराज विजय महाकाव्य के अनुसार अजयमेक नगरी व दुर्ग की स्थापना कर 1113 ई. में इसे अपनी राजधानी बनाया । इसी के सुपुत्र अर्णोराज(1135-50ई.) ने आनासागर झील के रणक्षेत्र में तुर्क आक्रमणकारियों को निर्णायक पराजय देकर आनासागर झील का निर्माण कराया । अर्णोराज की हत्या उसके सत्ता पिपासु पुत्र जगदे0 (जग्गा हत्यारे) ने कर दी व

स्वयं राजा बन गया पर उसके लघुभ्राता विग्रहराज चतुर्थ ने उसे मार भगाया व स्वयं चौहान सम्राट बना ।

विग्रहराज चतुर्थ (1150-64ई.)

विग्रहराज चतुर्थ या बीसलदेव अर्णोराज चौहान की मारोठ की यौधेय महारानी सुधावा का पुत्र था इसने सर्वप्रथम पिता के हत्यारे अपने भाई जगदेव को सिंहासन से हटाकर पिता की हत्या का बदला लेकर अपने पिता के उन शत्रुओं के विरूद्ध अभियान छेड़ा जिन्होंने उसके पिता को कष्ट दिए थे । सर्वप्रथम उसने गुजरात के कुमारपाल चालुक्य के चितौड़ स्थित राज्यपाल सज्जन या सजन को उसकी गजसेना सहित नष्ट कर दिया कुमारपाल ने उससे नागोर छीनने का अतुल प्रयास किया ।

चालुक्यों व चौहानों ने नाडोल जालोर व पाली के प्रश्न पर परम्परागत शत्रुता थी । अत: कुमार पाल समर्थक इन शासकों पर आक्रमण कर चौहान प्रशस्ति के अनुसार विग्रहराज ने जालोर को जला दिया नाडोल को उजाड दिया व पाली को बर्बाद कर दिया । मांडलगढ़, जहाजपुर व बिजोलिया पर चौहानों की सत्ता स्थापित की । इसके पश्चात बिजोलिया अभिलेख व राजशेखर की काय मीमांसा के अनुसार विग्रहराज ने उत्तरी शेखावटी अलवर, भिवानी व हिसार की अहीरावाटी के भांडानको को परास्त कर इन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया तत्पश्चात् डॉ. दशरथ शर्मा व पालन बाबडी अभिलेखानुसार तोमरों को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया । मदनपाल तोमर उसका सामन्त बना गया । मार्ग में हाँसी भी चौहान राज्य का अंग बन गई ।

अब उत्तर भारत की अजेय चौहान शक्ति के इस कर्ण धारने ने आर्यावर्त की मुक्ति व सुरक्षा, हिन्दू धर्म संस्कृति, गऊ, ब्राह्मण तथा पवित्र धरती की गरिमा की रक्षा हेतु कटिबद्ध हो तुर्क आक्रमणकारियों को चुनौती दे दी ।

एक तुर्क सेना लाहौर के खुसरों मलिक या उसके सेनापति अमीर या हमीर के अधीन खेतडी से तीन कोस दूर बेवरा तक आ गई, अपने सामन्तों के विरोध के बाबजूद विग्रहराज ने आगे बढ़कर शत्रु सेना को अपने मामा सिंहनाद जोहिए की सहायता से परास्त कर नष्ट कर दिया । 1220 वि. (1162 ई) के शिवालिक स्तम्भ लेख के अनुसार उसने गजनवी तुर्को से अर्यावर्त की धरती को मुज करा लिया । रवि प्रभा सूरी के स्तंभ लेख के अनुसार उसने गजनवी तुर्को से आर्यावर्त की धरती को मुक्त करा लिया रवि प्रभा सूरी के अनुसार अजमेर स्थित जैन राज विहार के धवाजारोहण समारोह में मालवा व मेवाड के शासक उपस्थित हुए ।

शस्त्रों के साथ ही शास्त्रों के ज्ञाता विग्रहराज चतुर्थ ने विद्वानों को संरक्षण दिया उसके दरबारी कवि सोमदेव ने ललित विग्रहराज नाटक की रचना की तथा स्वयं विग्रहराज ने हरकेलि नामक की रचना की । चौहान प्रशस्ति की रचना भी इसी के काल में हुई ।

महान् निर्माता विग्रहराज चतुर्थ ने भोज के सरस्वती कण्ठागार का अनुसरण करते हुए, अजमेर में भी सरस्वती कठागार या सरस्वती मंदिर या संस्तुत महाविद्यालय का सुन्दर भवन निर्मित कराया जिसे 1198 ई. में गौरी व ऐबक ने मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया । अजमेर नगर में बीसलपुर झील व शिवालय का निर्माण कराया । बीसलपुर नगर में वही का गोकर्णेश्वर मन्दिर भी उसी की देन हे ।

शैव धर्मानुयायी विग्रहराज चतुर्थ ने वैष्णव व जैन धर्मो को पूर्ण समान दिया । अजमेर में कई जैन विहार व उपासरे बने ।

यही विग्रहराज चतुर्थ पृथ्वीराज तृतीय की प्रेरणा का मुख्य स्रोत रहा । वास्तव में इह पृथ्वीराज तृतीय का अग्रगामी था । उसका युग डॉ. शर्मा के अनुसार सपादलदक्ष के चौहानों का स्वर्णयुग रहा उसके काल में चौहानों की शस्त्र शक्ति, शास्त्र शक्ति व स्थापत्य चरमोत्कर्ष की स्थिति में आ गए । पृथ्वीराज तृतीय की पृष्ठभूमि

1164 ई. के लगभग विग्रहराज चतुर्थ के निधन के पश्चात उसका पुत्र अपरगामेय गद्दी पर बैठा, जो पितृहंता जगदेव के पुत्र पृथ्वी भट्ट या पृथ्वीराज द्वितीय के हाथों मारा गया । 1167 ई. में पृथ्वीराज द्वितीय निःसन्तान स्वर्गवासी हो गया । अत: अर्णोराज की चालुक्य रानी कांचन देवी जो कुमारपाल चालुक्य की बहन थी, के पुत्र सोमेश्वर को अन्हिलवाडा से बुलाकर अजमेर के सिंहासन पर बैठाया गया ।

सोमेश्वर अपने तीन वर्षीय पुत्र पृथ्वीराज, दो वर्षीय पुत्र हरिराजमहारानी कर्पूरी देवी, साले भूवनकमल्ल व सहयोगी स्कन्द नागर के साथ अजमेर आकर गद्दी पर बैठा । उसने चौहान साम्राज्य को यथावत रखा तथा अजमेर के समीप वैद्यनाथधाम नामक शिवालय का निर्माण कराया । सोमेश्वर का 1176 ई. में निधन हो गया ।

6.3 पृथ्वीराज तृतीय प्रारम्भिक जीवन

पृथ्वीराज विजय महाकाव्य के रचयिता जयनक के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म ज्येष्ठ की द्वादशी 1223 वि. तदनुसार 1166 ई. को गुजरात में हुआ उसकी माता चूड़ाकरण संस्कार के तुरन्त पश्चात् पुन: गर्भवती हो गई और उसी वर्ष माघ शुक्ला तृतीया को उसके लघुभ्राता हरिराज का जन्म हुआ । बुरे प्रभावों से सुरक्षित रखने हेतु उसके गले में बाघनखा व दशावतारो के चित्रों से युक्त कांठला पहनाया । पृथ्वीराज विजयानुसार उसे छ: भाषाओं का ज्ञान कराया गया, जो शिक्षा संस्कृति के तत्कालीन प्रसिद्ध केन्द्र अजमेर में संभव हुआ । ये भाषाएंसंस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश,पैशाची,मागधी व शोर सेनी होगी । उसे मीमांसा, धर्मशास्त्रगणित इतिहास, सैनय विज्ञान चिकित्सा शास्त्र, चित्रकला, संगीत आदि का एक क्षत्रिय राजकुमार के लिए अपेक्षित ज्ञान प्रदान किया गया । साथ ही शस्त्र विद्या व धर्नुविद्या का प्रशिक्षण दिया गया । वह अपने युग का सर्वश्रेष्ठ धनुर्धारी था । पृथ्वीराज रासो में उसकी प्रारम्भिक उपलब्धियों का विषत वर्णन हे जो तथ्यात्मक आधार पर सत्य से दूर प्रतीत होता है । यद्यपि हम्मीर महाकाव्य के अनुसार पृथ्वीराज जब शस्त्रों व शास्त्रों में पारंगत हो गया तो सोमेश्वर ने स्वयं उसे सिंहासन आसीन कर दिया व स्वयं एकान्तवास में चला गया, अत: अवयस्क पृथ्वीराज को सिंहासन पर बैठा गया । उसका प्रथम शिलालेख चैत्र शुक्ल चतुर्थी 1234 वि. का है । उसकी अवस्था कम होने के कारण माता कर्पूरी देवी की अध्यक्षता में प्रशासन चलाने हेतु एक संरक्षण परिषद बनी, जिसमें प्रधानमन्त्री कैमारस (कदम्भास), नागर ब्राहमण,स्कन्ध, वामन सोध भुवनकमल्ल व मल्लिकार्जुन आदि गुजरात से सोमेश्वर के साथ आए थे । कैमास सर्वाधिक शक्तिशाली था जो पृथ्वीराज की अनुपस्थिति में परिषद की अध्यक्षता भी करता था ।

6.4 पृथ्वीराज कि प्रारंभिक उपलब्धियां

1. नागार्जुन का विद्रोह

नागार्जुन विग्रहराज चतुर्थ का पुत्र था जो सोमेश्वर के सिंहासन रोहण के समय नाबालिग था । सोमेश्वर की मृत्यु होने पर पृथ्वीराज को अयस्क देखकर नागार्जुन ने विद्रोह कर दिया । उसने गुडालपुरा को केन्द्र बनाकर कुछ सफलता भी प्राप्त कीं पृथ्वीराज धुडसवारों, ऊँटसवारों,गजसेना व पैदलों की विशाल सेना सहित उसके विरुद्ध बढ़ा, तथा उसे दुर्ग में घेर लिया किन्तु नागार्जुन निकल भागा, उसके सेनापति देव भट्ट व दुर्ग रक्षकों का मनोबल टूट गया । पृथ्वीराज ने दुर्ग पर अधिकार कर नागार्जुन की माता व पत्नी सहित परिजनों व समर्थकों को पकड लिया । कैदियों को अजमेर लाकर मरवा दिया विद्रोही मृतकों के मुंड अजयमेरू दुर्ग के विजयद्वार के बुर्ज पर लटका दिए ताकि आतंकित होकर लोग भविष्य में ऐसा दुःसाहस न करें । यह घटना 1178 ई. के आरम्भ में घटी ।

2. मुहम्मद गौरी का गुजरात अभियान

1178 ई. में पश्चिमी राजस्थान व गुजरात को मुहम्मद गोरी के आक्रमण के प्रहार को झेलना पडा, जिसने 1175 ई. ने मुल्तान व इच्छ पर अधिकार कर भारत पर आक्रमण हेतु आधार स्थल पहले ही बना लिया था । 1172 ई. में कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात गुजरात की गद्दी पर कमजोर अजयपाल बैठा उसके बाद अवयस्क मूलराज द्वितीय गद्दी पर बैठा जिसकी संरक्षिका नावकी देवी थी । गोरी ने जब अपना अभियान आरंभ किया, समय उसके अनुकूल था, अजमेर व गुजरात के राजा अवयस्क थे।

मुहम्मद गोरी मुल्तान से बढ़कर भाटियों की प्राचीन राजधानी लोद्रवा पर टूट पड़ा व उसे नष्ट कर दिया । अब्दुल रज्जाक के अनुसार वह मुल्तान से बीकामपु होकर आगे बढ़ा, फलौदी तहसील के खिचुंड गाँव के मार्ग से नाडोल व जालोर होते हुए आबू की ओर बढ़ा । लोद्रश से आबू तक के मार्ग में किराडू ओसियाँ साँडेराव नाडोल व कसिन्द्रा के मन्दिरों को नष्ट करता गया । इस अभियान के दौरान गौरी ने पृथ्वीराज के दरबार में संदेश वाहक भेजकर वार्षिक कर देने व अधीनता स्वीकार करने की मांग की, जिसे चौहान नरेश ने ठुकरा दिया । पृथ्वीराज विजय के अनुसार गौरी द्वारा नाडोल के घेरे का समाचार सुनते ही पृथ्वीराज ने सैनिक सहायता भेजने का विचार किया, किन्तु कैमास ने तटस्थ रहने का निश्चय किया । गौरी की सेनाएं आबू के पास खसीन्द्रा नामक स्थान पर पहुँच गई जहाँ गुजरात,मारवाड व आबू की संयुक्त सेनाओं ने रानी नावकी देवी के नेतृत्व में गोरी को निर्णायक पराजय दी गोरी की इस पराजय से अजमेर व गुजरात की स्वतंत्रता अगले बारह वर्षो के लिए सुरक्षित हो गई ज्यों ही गोरी की सेनाएं लौटी चौहान शासक ने अपनी पश्चिमी सीमाओं की सुरक्षा अवस्था को सक्रिय किया व शत्रु द्वारा तोड़े गए लगभग सभी मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया, साथ ही फलौदी पर अधिकार कर लिया ।

भांडानकों के विरूद्ध अभियान

भांडानक चौहानों के उत्तर पूर्व में निकटस्थ पडौसी थे । यद्यपि उनके वास्तविक क्षेत्र का विवरण तो नहीं मिलता किन्तु वे वर्तमान अलवर क्षेत्र (मेवात) व हरियाणा के सटे हुए भू भागों के निवासी थे । पासन्द चारलू ग्रंथानुसार उनका क्षेत्र हरियाणा था । काव्य मीमांसानुसार उनकी बोली अपभ्रंश थी । सकल तीर्थ स्त्रोतानुसार ये कन्नौज व सपालदक्ष (चौहान राज्य) के मध्य थे । विग्रहराज चतुर्थ के काल से ही दिल्ली चौहानों के अधीन थी । किन्तु भांडानक शायद दिल्ली व सपालदक्ष के मध्य बाधा थे, साथ ही शायद उन्होंने विद्रोहीं नागार्जुन को समर्थन भी दिया था । पृथ्वीराज के अवयस्क होने का लाभ उठाते हुए उन्होंने सिर उठाया । किन्तु पृथ्वीराज ने सेना लेकर इन पर प्रहार कर उन्हें कुचल दिया । यह अभियान 1239 वि. अर्थात् 1182 ई. के लगभग किया गया इसके साथ ही इनकी

शक्ति पूर्णतया समाप्त हो गई इनके पश्चात इनका विवरण नहीं मिलता । इस विजय का उल्लेख जिनपति सूरी व पद्यप्रमु के अजमेर में हुए शास्त्रार्थ के समय मिलता है ।

6.5 पृथ्वीराज की दिग्विजय

दिग्विजय का अर्थ है एक विस्तारवादी व योद्धा राजा द्वारा अपने राज्य के चारों ओर अर्थात सभी दिशाओं में स्थित राजायों के नरेशों को परास्त कर अपनी शक्ति का लोहा मनवाना । चौहान सम्राटों की इस चली आ रही परम्परा का विग्रहराज चतुर्थ के पश्चात पृथ्वीराज ने भी अनुसरण किया-

1. बुन्देलखण्ड पर आक्रमण

भांडानकों की शक्ति को समाप्त कर पृथ्वीराज ने अपनी दिगविजय नीति का अनुसरण करते हुए सर्वप्रथम बुन्देल खण्ड के परमार दी चंदेल पर आक्रमण किया । डॉ. दशरथ शमी के अनुसार चौहान सम्राट सेना सहित अजमेर से रवाना होकर अपनी सेना के केन्द्र नरैना पहुँचा वहाँ से इस अभियान पर अग्रसर हुआ । डॉ. आर.बी सिंह के अनुसार पृथ्वीराज रासो के महोबाखण्ड तथा जयनक के आल्हा खंड में इसका कल्पना प्रधान काव्यात्मक विस्तृत वर्णन है, इनके अनुसार पृथ्वीराज जब सामेता से दिल्ली लौट रहा था तो उसके कुछ घायल सैनिक बुंदेल खण्ड की सीमा में चले गए थे उन्हें चंदेल राव ने गरबा दिया इससे पृथ्वीराज क्रोधित हो गया । वास्तव में पृथ्वीराज की दिग्विजय नीति ही मुख्य कारण थी । पृथ्वीराज की विशाल सेना बुंदेल खण्ड में प्रश्ष्ठि हो गई । परमारदी देश का वीर सेनापति मलखान मारा गया तो उसने कन्नौज से अपने नाराज बनफरा वीर आलहा व ऊदल को बुलाया कन्नौज नरेश ने भी चौहान शक्ति को तोड़ने हेतु इनके साथ सैनिक सहायता भेजी । चौहान सेना ने अपने प्रहारो से चंदेल शक्ति को नष्ट करते हुए महोबा व कालिंजर आदि पर अपना अधिकार कर लिया आल्हा व ऊदल भी मारे गए । आखिर शारंगधर पद्धति व प्रबन्ध कोष के अनुसार परमारदी देव ने दाँतों के मध्य तिनका दबाकर पृथ्वीराज से शान्ति की याचना की । चौहान सेना चंदेलों के. भू भाग को उजाड़कर तथा लूटपाट कर वापस अपनी राजधानी लौट आई । 1201 ई. के मदनपुर अभिलेख ले अनुसार उसने हुए अपने भू भागों पर पुन अधिकार कर लिया ।

2. पृथ्वीराज व गुजरात

भले ही सोमेश्वर सिद्धराज जयसिंह का दोहित्र व कुमारपाल चालुक्य का भान्जा था, किन्तु गुजरात के चालुक्य व सपालदक्ष के चौहान परमपरागत शत्रु थे । रासो के अनूसार पृथ्वीराज के आबू के परमार राजा की पुत्री इच्छन कुमारी के विवाह से, जिससे गुजरात का भीमदेव करना चाहता था, शत्रुता फूट पड़ी । दूसरे रासो के अनुसार पृथ्वीराज के चाचा कन्ह चौहान ने भीमदेव के चाचा सारंदेव के सातपुत्रों की हत्या कर दी थी । इन कारणों से भीमदेव ने कुपित होकर चौहान राज्य पर आक्रमण कर पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर को मार डाला व नागोर पर अधिकार कर लिया । क्रोधित पृथ्वीराज ने भीमदेव को युद्ध में हराकर मार डाला किन्तु तथ्यात्मक दृष्टि से उपर्युक्त विवरण मिथ्या है । सोमेश्वर स्वाभाविक मौत से मरा व भीमदेव 1241 ई. से 1243 ई. के मध्य में स्वर्गवासी हुआ । अभिलेखों के अनुसार दोनों पक्षों में युद्ध अवश्य हुआ । प्रहलाद देह रचित पार्थ पराक्रम व्यायोग के अनुसार आबू के धारा वर्ष परमार ने जो चालुक्य सामन्त था, ने चौहान आक्रमण को विफल कर दिया था । जिनपति सूरी की खरतर गच्छ पट्टावली के अनुसार यह युद्ध 1187 ई. से पूर्व समाप्त हो गया था । इस ग्रंथ के अनुसार चालुक्य प्रधानमंत्री जगदेव प्रतिहार जिसे चौहान सम्राट के हाथों पर्याप्त हानि उठानी पडी थी, पुन: उसे (पृथ्वीराज) को नाराज नहीं करना चाहता था । जगदेव, पृथ्वीराज की कमल समान रानियों

के लिए चन्द्रमा था अर्थात उनके सुख का शत्रु था । (वीरावल अभिलेख) बीकानेर क्षेत्र से प्राप्त चार्लू अभिलेखानुसार आहड व अम्बारख नामक गोहिल चौहान 1241 वि. (1184 ई) में नागोर के युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए थे । इससे स्पष्ट है कि नागौर में चालुक्यों व चौहानों का संघर्ष अवश्य हुआ जिसमें पृथ्वीराज ने निर्णायक विजय प्राप्त की तथा चालुक्य आक्रमणकारियों को चौहान क्षेत्र में प्रविष्ठ होने का कुपरिणाम भुगतना पड़ा ।

पृथ्वीराज व कन्नौज के गहड़वाल

पृथ्वीराज अपने सभी पड़ोसियों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात कन्नौज नरेश जयचंद गहडवाल पर भी अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने को आतुर था । जयचन्द गहडवाल भी पृथ्वीराज की भांति उत्तर भारत में स्वयं को सर्वशक्तिशाली सिद्ध करना चाहता था । रंभा मंजरी व प्रबध चिन्तामणि के अनुसार वह विशाल सेना का अधिपति होने के कारण "दल पुगव" कहलाता था । दोनों ही पक्षों में दिल्ली संघर्ष का कारण थी । अजमेर के चौहानों की नवोदित शक्ति विग्रहराज चतुर्थ के समय से ही गहडबालो के लिए चुनौती बन गई थी जब शायद विग्रहराज चतुर्थ ने विजय चंद गहडूवाल को परास्त कर दिल्ली पर अधिकार किया था । जयचंद अपने पिता के इस अपमान को धोने के लिए आतुर था । ताजुल मासिर के अनुसार पृथ्वीराज व जयचंद दोनों ही विश्व विजय के सपने ले रहे थे । दोनों की शत्रुता का बोध पुरातन प्रबन्ध ग्रंथ से भी होता है जिसमें कहा गया है कि गोरी के हाथों पृथ्वीराज की पराजय व अंत होने पर गहड़वाल राजा ने आनन्दोत्सव मनाया ।

दोनों के मध्य शत्रुता का तत्कालीन कारण यदि पृथ्वीराज रासो के विवरण को मानें तो पृथ्वीराज द्वारा जययंन्द्र की पुत्री संयोगिता का अपहरण कर उससे विवाह करना था । रासो में इससे संबंधित विवरण जो बढ़ा चढ़ा कर किया गया है, ऐतिहासिक कसौटी पर खरा नहीं उतरता, किन्तु इसे पूर्णतया ठुकराने का साहस भी इतिहासकार नहीं कर सकते है । जयचन्द ने अपने दिग्विजय अभियान को आरम्भ करने हेतु राजसूय यज्ञ व संयोगिता के स्वयंवर का आयोजन किया । किन्तु पृथ्वीराज ने यज्ञ विध्वंस करते हुए संयोगिता का अपहरण कर जयचन्द को अपमानित कर दिया । संयोगिता की कहानी केवल पृथ्वीराज रातों में ही है । सोलहवी सदी में चारणों व भाटों ने इस कहानी को लोकप्रिय बना दिया व अबुल फजल ने भी इसे विवेचित कर दिया । किन्तु रंभा मंजरी में इस घटना का उल्लेख नहीं हे ।

ऐसा लगता है यह घटना शायद तराइन के दोनों के मध्य घटी । रासो के अनुसार इस आयोजन में जयचन्द ने पृथ्वीराज को आमंत्रित न कर अपमानित करने हेतु उसकी स्वयंवर मंडप के द्वार पर प्रतिमा लगदा दी । संयोगिता वरमाला लेकर आई व सभी उपस्थित राजाओं को उपेक्षित करते हुए वरमाला पृथ्वीराज की मूर्ति के गले में डाल दी, पृथ्वीराज उसे उठाकर ले भागा । उसके सामन्तों ने कन्नौज से सपालदक्ष तक मोर्चे बांधकर गहडवाल सेनाओं को रोका । अनेक चौहान वीर योद्धा व सैनिक इस संघर्ष में मारे गए । संयोगिता से विवाह कर पृथ्वीराज विलासी बन गया व उत्तर पश्चिमी सीमा की सुरक्षा व्यवस्था के प्रति जागरूक नहीं रह सका ।

पृथ्वीराज की दिग्विजय नीति के परिणाम

1. दिग्विजय नीति का अनुसरण करते हुए पृथ्वीराज तृतीय ने सभी पडौसियों को परास्त कर चौहान की सत्ता का वर्चस्व स्थापित करने में सफलता प्राप्त की ।
2. एक सेनापति व योद्धा के रूप में पृथ्वीराज ने उत्तर भारत में अपनी धाक जमा दी ।

3. पृथ्वीराज की सीमाएं अब सीधे तुर्का से टकराव की स्थिति में आ गई जो शहाबुद्दीन मोहम्मद गौरी के नेतृत्व में मुल्तान, उच्छ व पंजाब के अधिपति बन चुके थे व उत्तर भारत विजय हेतु प्रयत्नशील थे ।
4. इन युद्धों में जो पृथ्वीराज तृतीय की दिग्विजय नीति के परिणामस्वरूप हुए चौहानों को भी पर्याप्त जनधन की हानि उठानी पड़ी ।
5. 5. अब उत्तर भारत में सभी पृथ्वीराज के शत्रु थे, उनका मित्र कोई भी नहीं रहा । अतः पृथ्वीराज को अकेले ही तुर्को से लड़ना पड़ा ।
6. उस समय सभी उत्तर भारतीय नरेश देश भक्ति व राष्ट्रवाद की भावना से अनभिज्ञ रहे, दे बाह्य शत्रु के विरूद्ध भी एक होने की आवश्यकता महसूस नहीं कर सके ।

6.6 तत्कालीन राजस्थान व उत्तर भारत की स्थिति

तत्कालीन राजस्थान में उस समय जैसलमेर के भाटी चौहानों के सहयोगी नहीं रहे । मेवाड के गुहिलोत चौहानों के सहयोगी रहे । आमेर के कछवाहे पृथ्वीराज के झंडे के नीचे लड़े, जालोर, नाडोल व पाली के शासक गुजरात कें राजा के सहयोगी होने के कारण चौहान विरोधी ही रहे ।

उत्तर भारत में दिल्ली के शासक पृथ्वीराज के सामन्त थे । कन्नौज का जयचंद गहड़वाल, बुंदेलखंढ का चंदेल परमादीदेव,गुजरात के चालुक्य पृथ्वीराज के विरोधी थे । जम्मु का हिन्दू राजा चन्द्रदेव व विजयदेव गोरी के सहयोगी रहे । बंगाल के सेन राजा लक्षण सेन को उत्तर पश्चिमी सीमा पर आने वाले शत्रु से कोई लेना देना नहीं था । ऐसी स्थिति में चौहानों को ही तुर्क आक्रमणकारी का सामना करना पड़ा, जो दे ग्यारहवी सदी से ही करते रहे थे ।

6.7 तुर्क शक्ति का परिचय मुहम्मद गोरी के सन्दर्भ में

मुहम्मद गोरी के पूर्वज गजनवी वंश के शासकों के अधीन रहे थे । गोरी का वंश शंसवनी वंश कहलाता है मुहम्मद गोरी के बड़े भाई गया सुद्दीन गोरी ने 1163 ई. में गोरी पर अधिकार किया व अपने छोटे भाई शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी को उसने गजनी भेजा, जिस पर उसने गिज तुर्को को परास्त कर अधिकार कर लिया ।गयासुद्दीन ने 1173 ई. में गजनी का शासन मुहम्मद गोरी को सौंप दिया किन्तु वह अपने भाई को ही अपना संप्रभु मानता रहा, भले ही वह अपने मामलों में पूर्णतया स्वतंत्र था । मुहम्मद गोरी के भारत अभियानों के कारण

1. **साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा:-** स्वयं को श्रेष्ठ, शक्ति सम्पन्न व प्रसिद्ध बनाने हेतु मोहम्मद गोरी जो प्रारम्भ से ही महत्वाकांक्षी था, भारत में इस्लामी साम्राज्य स्थापित करने में जुट गया ।
2. **गजनवी दंश व गोरी दंश में शत्रुता:-** उस समय पंजाब में गजनही वंश का खुसरो मलिक का शासन था, वंशानुगत शत्रुता जो परम्परा से चली आ रही थी, के कारण मोहम्मद गोरी, खुसरो मालिक गजनवी से पंजाब छीनना चाहता था।
3. **अफगानिस्तान में विस्तार पर विरोध:-** गजनी शासन रहते हुए मुहम्मद गोरी पश्चिमी अफगानिस्तान में ख्वारिज़्म के शक्ति सम्पन्न शासकों के कारण अपना विस्तार करने की स्थिति में नहीं था । पश्चिमी अफगानिस्तान में विस्तार का भार गयासुद्दीन पर था । अतः मुहम्मद गोरी का विस्तार दक्षिणी पूर्व में ही सम्भव था ।

4. **धन प्राप्ति व इस्लाम का प्रसार:-** मुहम्मद गोरी को ज्ञात था कि उसके पूर्व महमूद गजनवी भारत से अपार धन संपदा लूट कर लाया था, अत: वह भी भारत की धन संपदा को लालच भरी निगाह से देख रहा था, साथ ही स्वयं को कट्टर मुसलमान सिद्ध करने हेतु व भारत में इस्लाम के प्रचार प्रसार हेतु अपनी सत्ता स्थापित करना चाहता था ।

मुहम्मद गोरी व भारत पर उसके आक्रमण

भारत पर इस्लाम की वास्तविक सत्ता स्थापित करने का प्रयास मोहम्मद गोरी ने ही आरम्भ किया । मिन्हाज-उस-सिराज के अनुसार 1173 ई. गजनी पर अधिकार करने के बाद उसने हिन्द व सिन्ध के विभिन्न भागों पर अधिकार करने हेतु प्रतिवर्ष अभियान चलाने का निश्चय किया ।

1. मुल्तान व उच्छ पर अधिकार

गोमल दर्रे से भारत में सेना सहित प्रविष्ठा हो कर मुहम्मद गोरी ने सर्वप्रथम मुल्तान के करमाथी मुस्लिम शासक पर आक्रमण कर 1175 ई. में मुल्तान पर अधिकार कर लिया, ततश्चात वह उच्छ की ओर बढ़ा जहाँ डॉ. आर.बी.सिंह डॉ. दशरथ शर्मा व डॉ. श्रीवास्तव के अनुसार भट्टी शासक व उसकी रानी के परस्पर विरोध का लाभ उठाते हुए रानी को वचन दिया कि यदि वह अपने पति को सौप देगी तो वह उससे विवाह कर लेगा । रानी ने कहलाया कि यदि वह धन संपदा उसी को दे दे तो, अपनी पुत्री का विवाह उससे कर देगी । गोरी ने स्वीकृति दे दी, कुछ दिनों बाद रानी ने राजा का वध करा दिया व उच्छ गोरी को सौप दिया । प्रो. हबीबुल्ला उच्छ में भट्टी सत्ता को स्वीकार नहीं करते, उसके अनुसार यहां भी करमाथी शासक ही थे ।

2. गोरी की भारत में प्रथम पराजय

अब गोरी ने महमूद गजनवी का अनुसरण करते हुए भारत के पश्चिमी भाग में दूरी पर स्थित गुजरात पर आक्रमण करने का निश्चय किया ताकि इस समृद्ध प्रदेश से प्राप्त धन से वह उत्तर भारत पर विजय के अपने स्वपन को साकार कर सके । अफगानिस्तान से विशाल सेनाओं के साथ वह मुल्तान आया, जहाँ पूरी तैयारी कर वह राजस्थान की पश्चिमी सीमाओं में होते हुए रेगिस्तान के मार्ग से नेहखाला (गुजरात) की ओर किराडू के मार्ग से आगे बढ़ा जहाँ तुर्को ने कार्तिक 1235 वि. (1178 ई) सोमेश्वर की मूर्ति को खण्डित किया । इसके बाद नाडोल में उसका सामान्य व असफल मुकाबला हुआ । इस सफलता से उत्साहित हो वह गुजरात की ओर बढ़ा ।

गुजरात के अवयस्क शासक मूलराज द्वितीय की संरक्षिका नावकी देवी ने चौहानों से मदद मांगी किन्तु डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार अवयस्क पृथ्वीराज ब उसकी संरक्षिक कर्पूरी देवी जो प्रधानमंत्री कैमास पर आश्रित थी चाहकर भी सहायता नहीं दे सकी । डॉ. गागुली के अनुसार नाडोल के चौहानों की पराजय का समाचार सुनकर पृथ्वीराज सेना भेजना चाहता था पर वह कैमास के कारण ऐसा नहीं कर सका ।

गोरी ने इसी अभियान के दौरान पृथ्वीराज के दरबार में अपना दूत भेजकर पृथ्वीराज से अधीनता स्वीकार करने की मांग की जिसे उसने ठुकरा दिया ।

तुर्क सेनाएं माउन्ट आबू के समीप गादरघाट तक पहुँच गईचालुक्या सेनाएं अपने सभी साधनों व सामन्तों के साथ राजमाता नावकी देवी जिसने मूलराज द्वितीय को पीठ पर बांध रखा था,के नेतृत्व में भूखे शेरों की भांति तुर्को पर टूट पडी व तुर्को को भागने के लिए मजबूर कर दिया । मुस्लिम लेखक

मूलराज के स्थान पर भीमदेव द्वितीय के नाम का उल्लेख करते हैं । डॉ.ए.के. मजूमदार के अनुसार मुइजुद्दीन मोहम्मद गोरी पर चालुक्यों की विजय इस युग का एक चमत्कार है ।

मुहम्मद गोरी की पंजाब व सिंध विजय

चालुक्यों के हाथों भीषण पराजय में भले ही कुछ समय के लिए गोरी को निराशा से भर दिया किन्तु अब उसने अपनी भारत विजय योजना में परिवर्तन करते हुए पहले पंजाब जीतने का निश्चय किया । भारत विजय हेतु वह पंजाब के गजनवी शासक खुसरो मलिक ताजुद्दौली को समाप्त करने हेतु गजनी से रवाना होकर उसने पेशावर पर 1179 ई. में वीजय प्राप्त की ।

1181 ई. में गोरी लाहोर की ओर बढ़ा । कहा जाता है कि जग के शासक चन्द्रदेव ने गोरी को पूर्ण सहायता का वचन दिया, क्योंकि खोखरों के प्रश्न पर खुसरो मलिक व जम्बू के चक्रदेव में शत्रुता थी । गोरी लाहोर जीतने में असफल रहा, अत: उसने खुसरो मलिक से सजि कर ली व खुसरो ने चार वर्षीय पुत्र व एक हाथी जमानत के रूप में गोरी को सौंप दिया ।

1182 ई. में गोरी ने सिन्ध पर देवल तक धावा मारा व लूटपाट कर वापस लौट गया ।

1184 ई. में गोरी ने पुन: लाहौर लेने का असफल प्रयास किया । आखिर 1186 ई. में लाहोर पर अधिकार कर लिया । खुसरो मलिक को सपरिवार कैद कर अपने भाई गयासुद्दीन गोरी के पास बलार-वन के दुर्ग में भेज दिया, जहाँ उनकी हत्या कर दी गई इसी के साथ पंजाब से यामिनी या गजनवी वंश समाप्त हो गया ।

6.8 पृथ्वी व गोरी में संघर्ष के कारण

1. पृथ्वीराज व गोरी की महत्वकांक्षा

पृथ्वीराज अपने ताऊ वीग्रहराज चतुर्थ की भाति भारत को तुर्का के आतंक से मुक्त कर हिन्दू धर्म संस्कृति गऊ व ब्राह्मणों की रक्षा करने हेतु कटिबद्ध था तो गोरी भी इस्लाम धर्म की भारत में स्थापना करने व मुस्लिम साम्राज्य की स्थापना करने के निश्चय पर दृढ़ था ।

2. पृथ्वीराज व गोरी का सीमाओं पर टकराव

1188 ई. में गोरी द्वारा पंजाब पर अधिकार करने के साथ ही चौहानों व तुर्को के मध्य सीमाओं पर टकराव आरम्भ हो गया ।

3. उत्तर भारत के राज्यों में फूट

गोरी ने अपने गुप्तचरों से उत्तर भारत की स्थिति का पर्याप्त अध्ययन कर लिया था । गुजरात अभियान के समय चौहानों की चालुक्यों के प्रति उदासीनता तथा जम्मू के चंद्रदेव द्वारा पहले खुसरो मलिक व बाद में पृथ्वीराज के विरूद्ध गोरी की सहायता से गोरी का मनोबल बढ़ गया । अजमेर के चौहानों की कन्नौज के गहडवालों व बुन्देल खंड के चंदेलों तथा गुजरात के चालुक्यों से शत्रुता ने गोरी को उत्साहित किया ।

राजपूतों व तुर्को में परम्परागत शत्रुता

तुर्क आक्रमणकारियों व राजपूतों में प्रारम्भ से ही शत्रुता रही, क्योकि धर्म व संस्मृति की रक्षा के लिए प्रतिबद्ध राजपूत तुर्क आक्रमणकारियों कों इस्लाम के नाम पर भारत पर अधिकार करने रोकने के लिए प्रतिबद्ध थे । चौहान प्रारम्भ से ही अफगानिस्तान, मुल्तान व लाहौर से होने वाले तुर्क आक्रमणों

को रोकते रहे थे । पृथ्वीराज प्रथम अजयराज,अर्णाराज व विग्रहराज चतुर्थ इस अभियान में सफल भी रहे । पृथ्वीराज तृतीय के काल में यह परम्परागत शत्रुता चरम सीमा पर पहुँच गई ।

6.9 पृथ्वीराज व मुहम्मद गोरी का संघर्ष

जब 1187 ई. में चौहानों व गोरी की सीमाएं टकराने लगी तो परस्पर सैनिक संघर्ष भी आरम्भ हो गए । बार-बार मुस्लिम आक्रमणकारी आते थे व चौहान वीर उन्हें भारी नुकसान पहुँचाते थे व भागने को बाध्य कर देते थे । भारतीय लेखक इन सीमा संघर्षो को बढ़ा चढ़ा कर विवेचित करते थे, तो पराजित तुर्क इन पराजयों की पूर्ण उपेक्षा करते थे । इस समय पृथ्वीराज की शक्ति भी विभाजित थी । चालुक्यों चंदेलों व गहड़वालों से शत्रुता के रहते वह अपने पूर्ण सैन्य बाल का तुर्को के विरूद्ध प्रयोग करने की स्थिति में नहीं था । साहित्यिक रचनाओं में पृथ्वीराज व गोरी के युद्धों की संख्या बढ़ा चढ़ा कर दी गई है । रासो के अनुसार दोनों में इक्कीस बार युद्ध हुए । हम्मीर महाकाव्य के अनुसार पृथ्वीराज ने गोरी को सात बार परास्त किया तथा सुर्जन चरित के अनुसार चौहानों ने गोरी को इक्कीस बार परास्त किया । डॉ जी.एन.शर्मा के अनुसार पंजाब,सिन्ध व राजस्थान की सीमाओं पर दोनों पक्षों में टकराव चलता ही रहा, इन्हें सीमान्त संघर्षो की संज्ञा दी जा सकती है । दोनों ओर के इतिहासकारों ने तराइन के प्रथम (1191 ई) व तराइन के द्वितीय युद्ध (1192 ई) का विस्तृत विवरण दिया है जो निर्णायक सिद्ध हुए ।

तराइन का प्रथम युद्ध

इस युद्ध का विवरण पृथ्वीराज रासो,पृथ्वीराज़ प्रबन्ध व प्रबन्ध चिन्तामणि जैसे भारतीय ग्रन्थो में मिलता है, तो दूसरी ओर हसन निजामी रचित ताजुलमासि, मिनहास-उस सिराज रचित तबकात-ए-नासिकी, फरिश्ता रचित तारीखे फरिश्ता व मुहम्मद ऊफी के ग्रन्थ जीमउल हिकायत नामक तुर्क ग्रन्थों में मिलता है । मिन्हास के अनुसार अनिर्णायक संघर्षा को देखते हुए गजनी के सुल्तान ने पूर्ण सैनिक तैयारी के साथ अजमेर के चौहानों के विरूद्ध प्रयाण किया । वह गजनी से लाहौर आया व पूर्णतया तैयारी कर वह आगे बढ़ा व उसने तबरहिन्द के दुर्ग पर अधिकार कर लिया । इस दुर्ग को बाद के इतिहासकारों ने सरहिन्द लिखा है । फरिश्ता इसे याटिन्हा लिखता है । यहाँ उसने काजी जियाउद्दीन तुलक को 1200 तलुक घुड़सवारों के साथ इस आदेश के साथ नियुक्त किया कि वे अगले आठ महिनों तक दुर्ग की हर की मत पर रक्षा करे जब तक वह पुन: वापस न आ जाएं इसके पश्चात गोरी वापस लौटने लगा तो उसे समाचार मिला कि राय कोला पिथोरा (पृथ्वीराज तृतीय) विशाल सेना लेकर बढ़ा चला आ रहा था । गोरी भी आगे बढ़ा । हरयाणा के कर्नाल जिले में स्थित तराइन के मैदान में दोनों पक्षों का आमना सामना हो गया । 1191 ई. की सर्दियों के आरम्भ में हुए इस युद्ध में पहल चौहान ने की । चौहानों के तीब्र प्रहार से तुर्को के दाएं,बाएं व हरावल पक्षों में भगदड मच गई । केन्द्र में स्थित गोरी के खिलजी रक्षक भी भाग निकले । गोरी उन्हे रोकने का प्रयास करने लगा व स्वयं डटा रहा तभी दिल्ली के सामन्त गोविन्द राज पर भाला फेंका जिससे गोविन्द राज के सामने के दांत टूट गए । इससे मची रेल पेल में गोरी लगभग रण क्षेत्र में गिर ही गया था किन्तु एक युवा खिलजी सैनिक उसे अपने घोडे पर डालकर युद्ध क्षेत्र से निकाल कर भागने में सफल हो गया । युद्ध क्षेत्र से परास्त होकर भागे तुर्क सुलान को ने पाकर चिन्तित थे, उसी समय टूटे शस्त्रों के साथ आहत सुलान पालकी में पहुँचा । सुलान की सेना एकत्र होकर सुलतान सहित गजनी चली गई । पुरातन आदर्शो के

पालनार्थ पृथीराज ने भागते शत्रु का पीछा नहीं किया, जो भंयकर मूल सिद्ध हुई । डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार यह भारतीय स्वतंत्रता के कफन में कील सिद्ध हुई । पृथ्वीराज की यह अन्तिम सफलता थी ।

तराइन के दूसरे युद्ध से पूर्व की स्थिति

तुर्को पर हुई इस विजय से पृथ्वीराज स्वयं को अजेय समझ बैठा । यदि रासो पर विश्वास करें तो वह जयचन्द की पुत्री संयोगिता का अपहरण कर लाया कन्नौज व अजमेर के मध्य गहडवाल सेना को रोकने में उसकी सैन्य शक्ति कमजोर हो गई । उधर शत्रु दरवाजे पर था 'पृथ्वीराज को गोरी ताक रहा था, बह (पृथ्वीराज) गोरी सुख में रत था ।' चौहान वर्ष मार में काजी जियाउद्दीन से बडी कठिनाई से तबर हिन्द खाली करा सके व जियाउद्दीन को ससम्मान मुक्त कर दिया गया ।

उधर मुहम्मद गोरी अपनी पराजय से स्वयं को लज्जित महसूस करते हुए सेना सहित गजनी लौटा । उसने अपने सैनिकों व अधिकारियों को रण क्षेत्र छोड़कर भागने के लिए धिक्कारा । सुलतान कुछ समय के लिए अपने भाई गयासुद्दीन के पास गोर (फिरोज कोह) चला गया व आत्म बल व मन मंथन कर पुन: गजनी लौटा ब तैयारियों में जुट गया । बदले की आग में जलते हुए गोरी ने120000 चुने हुए तुर्क, ताजिक व अफगान सैनिक तैयार किए जो शिरस्त्राणों व बख्तरों सयुक्त थे । वह गजनी से भारत की ओर बढ़ा । पेशावर पहुँचने पर एक वृद्ध फकीर ने उसके इरादे के बारे में पूछा तो उसने कहा हिन्दुस्तान में अपनी पराजय के बाद मैं चैन से सोया न जागा, दुखी ही रहा,अत':मैं मूर्ति पूजकों को परास्त किए बिना चैन नहीं लूंगा । उसने काह "मैने जैसा कि फरिश्ता ने लिखा है अपने वस्त्र तक नहीं बदले है, मैं दुख व क्रोध में जल रहा हूँ अपनी पत्नियों से भी अलग रहा हूँ '। पेशावर से वह लाहोर आया जहाँ जम्बू काराजा विजय राज सेना सहित उससे आ मिला । अपनी स्थिति दृढ़ कर गोरी ने अपने दूत किवा-उल-मुल्क-रूकनुद्दीन हमजा को लाहौर से पृथ्वीराज के दरबार में एक पत्र सहित भेजा, जिसमें पृथ्वीराज से अधीनता स्वीकार करने व इस्लाम कबूल करने की मांग की । पृध्वीराज ने उत्तर दिया इसी में भलाई है कि वह वापस गजनी लौट जाए अन्यथा उसे नष्ट कर दिया जाएगा ।

पृथ्वीराज ने अपने सामन्तों व मित्रों से तुरन्त सेना सहित एकत्र होने का आहवान किया । फरिश्ता के अनुसार शीघ्र ही 30,000 अश्वारोही, 3,000 हाथी व पर्याप्त पैदल सेना लेकर पृथ्वीराज के झंडे के नीचे 150 राजपूत राजा व उनकी सेनाएं थी । सबने गंगाजल हाथों में लेकर अन्तिम समय तक लडने व तुर्क आक्रमणकारी के संकट को सदा के लिए समाप्त करने की सौगन्ध खाई । पुन: सुल्तान को लौट जाने की चेतावनी दी । चौहानों की तलवारों की धरा का स्वाद ले चुके सुल्तान ने अब कपट मार्ग अपनाया । उसने उत्तर दिया यह भारत पर आक्रमण करने हेतु अपने बडे भाई के आदेश से आया है, उसके आदेश का पालन करने हेतु वह वचनबद्ध है । उसके आदेश बिना वह लौट नहीं सकता । क्यों न हम उसका उत्तर आने तक युद्ध विराम बनाएं रखें । 'षडयन्त्रकारी गोरी की चाल में राजपूत फंस गए वे उसकी बात पर विश्वास करते हुए बेपरवाह हो भोजन आदि ते व्यस्त हो कर आनन्द के साथ रात्रि व्यतीत करने लगे । यही रात्रि चौहानों व भारत की स्वतंत्रता की काल रात्रिसिद्ध हुई प्रात: पौ फटते ही उन्हें मौत को गले लगाने के लिए बाध्य होना पडा । मोहम्मद कफी के अनुसार संदेह न होने देने के लिए गोरी ने अपने डेरे पर मशालें जलाए रखी व स्वयं सेना सहित दूर जाकर चौहानों को घेरने में सफल हो गया । अपनी मुख्य सेना व सामग्री आदि दूर सुरक्षित स्थान पर छोड दी । दस-दस हजार के घुडसवारों के चार दस्ते पौ फटते ही चौहानों पर चारों ओर से टूट पडे व झपट्टे मारने लगे । पृथ्वीराज

गहरी नींद में सो रहा था । चौहान प्रात: कालीन नित्य कार्यो में व्यस्त थे । इस अचानक प्रहार से वे भौंचक्के रह गए । फिर सम्भल कर लड़ने लगे । चौहान सेना का अनुशासन, उसकी व्यूहरचना व व्यवस्था बिखर गई । ऐसे में गोरी ने मुख्य सेना लेकर प्रहारकिया । गोरी के हाथों गोविन्दराज मारा गया । उसके टूटे दाँतों से उसके शव की पहचान हुई । युद्ध के उत्तरार्ध का नेतृत्व पृथ्वीराज ने किया । पराजय सिर पर देखकर वह युद्ध क्षेत्र से भागा, किन्तु सरस्वती के समीप पकड़ा गया । उसे अजमेर लाया गया । जहाँ उसने परिस्थितिवश गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली । अत:अल्कापुरी के समान सुन्दर अजमेर नगरी को तुर्को ने लूट कर बर्बाद कर दिया । मन्दिर तोडे गए । हजारों ऊँटों पर लाद कर अजमेर की सम्पदा गोर भेज दी गई । शीघ्र ही हाँसी, सरस्वती कोहराम व समाना आदि पर भी तुर्को का अधिकार हो गया । पृथ्वीराज द्वारा गोरी की अधीनता की पुष्टि थॉमस को मिले उसके सिक्के से होती है, जिस पर मुहम्मद-बिन-साम व नीचे राय पिथोरा लिखा है ।

पृथ्वीराज का अंत

तराइन के क्तीय युद्ध ने भारत को अगले सात सौ वर्षा तक तुर्क दासता की जंजीरें पहना दी । ऊफी व निजामी के अनुसार पृथ्वीराज को कैद कर लिया गया । निजामी लिखता है पृथ्वीराज ने कुछ समय के लिए अपनी मौत को टाल दिया किन्तु मुसलमानों के प्रति उसकी घृणा प्रबल थी, अत: उसने एक षड्यन्त्र किया । इस षड़यन्त्र की जानकारी लेखक नहीं देता किन्तु इसके खुल जाने से गोरी ने उसका सिर कलम करवां दियां मिन्हाज के अनुसार "युद्ध से भागते हुए पृथ्वीराज को पकडकर उसकी हत्या कर दी गई" ऐसा ही फरिश्ता का भी विचार है । रासो का विवरण जिसमें गोरी पृथ्वीराज को गजनी ले गया अविश्वसनीय है । प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार गोरी पृथ्वीराज को कैद कर अजमेर लाया उसे द्वारा स्वीकार करा कर अजमेर का राज्य उसी को दे देने का इच्छुक था किन्तु पृथ्वीराज की चित्रशाला में गऊ भक्षण करने वाले मलेच्छों को सूअरों द्वारा मारते हुए दिखाया गया था । यह देख गोरी ने उसकी हत्या करा दी जो भी हो पृथ्वीराज की हत्या अजमेर में ही की गई ।

पृथ्वीराज की पराजय के कारण

1. विरूद्ध विधिविध्वंस पृथ्वीराज प्रबन्ध व चिन्तामणि ग्रन्थों के अनुसार पृथ्वीराज विलासिता में डूब गया कर्तक पालन से विमुख हो गया अत: पराजय स्वाभाविक थी ।

2. डॉ. दशरथ शर्मा के अनुसार "वह युद्ध काल में गोरी की तुलना में कुछ न्यून था । गोरी की सेना चौहानों की तुलना में उन्नत शास्त्रों, प्रशिक्षण, वेशभूषा से सज्जित व मध्य एशियायी युद्ध कला में दक्ष थी । राजपूत केवल अप्रशिक्षित योद्धा थे, जो मारना जानते थे, लडना नहीं ।"

3. मुहम्मद गोरी ने विजय प्राप्ति हेतु साम, दाम, दण्ड भेद की सभी नीतियों को अपनाया । कूटनीति व षड्यन्त्र में वह दक्ष था । भोले भाले राजपूत उसकी शान्ति याचना के जाल मे फंस कर अपना नाश कर बैठे ।

4. पृथ्वीराज की दिग्विजय नीति ने सभी पडोसियों को उसका शत्रु बना दिया । आपत्ति के समय कोई भी सहायता हेतु नहीं आया । हिन्दू एकता व राष्ट्रवाद का अभाव था । जम्मू का विजयराज गोरी से मिल गया व कन्नौज के गहडवालों ने पृथ्वीराज की पराजय का समाचार सुन दीपावली मनाई ।

पृथ्वीराज का मूल्यांकन

चौहान सम्राटों की परम्परा में सोमेश्वर के वीर पुत्र पृथ्वीराज ने चौहान शक्ति व विस्तार को चरम सीमा पहुँचाते हुए एक पराक्रमी सैनिककुशल सेनानायक,योग्य प्रशासक व श्रृंगारप्रिय, रसिक,

विद्धानों के संरक्षक, कलाकारों के आश्रयदाता के रूप में तत्कालीन भारतीय रंग मंच पर अपनी भूमिका का निर्वाह किया । उसके दरबार में जयनक काश्मीरी, विद्यापति गौड बागीश्वर, जनार्दन, विश्वरूप, पृथ्वी भट्ट व चन्द वरदाई साहित्य व काव्य के रत्नों विद्वानों व पंडितों के धार्मिक व दार्शनिक शास्त्रार्थो का आयोजन पद्मनाभ नामक मंत्री करता था । इसलिए डॉ. दशरथ शर्मा ने उसे प्रीतभावना व वीर तथा अपने समय का श्रेष्ठतम तीरंदाज माना है ।

उसने दिग्विजय नीति अपनाकर विजय प्राप्ति व विस्तार के आयाम मले ही स्थापित कर लिए किन्तु अपने चारों ओर शत्रुओं का जाल स्थापित कर लिया, यह उसकी अदूरदर्शिता व अपरिपक्वता का परिचायक है । यदि वह सभी पडोसी राजाओ के साथ मैत्री व सद्भाव अपनाता तो अवश्य ही तुर्क शक्ति को परास्त करने हेतु सबका सहयोग प्राप्त कर भारत को तुर्क दासता से बचाने में सफल हो जाता । 1178 ई. में यदि वह गुजरात के चालुक्यों की सहायता करता तो तुर्क शक्ति को पूर्णतया नष्ट कर देता । इसके लिए उसकी अवयस्कता व तत्कालीन सामन्तवादी परिस्थितियां अधिक उत्तरदायी थी । किन्तु यह मूल डॉ. दशरथ शर्मा के शब्दों में भारतीय स्वतंत्रता के कफन में पहली कील सिद्ध हुई । 1191 ई. में तराइन के प्रथम युद्ध में शत्रु को परास्त कर उसका पीछा कर उसे नष्ट न करना उसकी दूसरी मूल सिद्ध हुई । 1192 ई. में वह अपनी भूलों के कारण शत्रु से लडने की पूरी तैयारी ही नहीं कर पाया, फिर गोरी की बातों का विश्वास करने की भूल कर उसने अपने पूर्ण नाश का ताना बाना स्वयं ही बुन लिया । वीर भोग्या वसुन्दरा की बात तो सही है किन्तु उसके साथ जिस चतुराई व दक्षता की आवश्यकता होती है, उसका उसमें अभाव था । ये तीन भूले उसके लिए घातक सिद्ध हुई तराइन के द्वितीय युद्ध से पूर्व उसकी परम्परागत युद्ध प्रणाली व गुप्तचर व्यवस्था की कमजोरी को क्षमा नहीं किया जा सकता । फिर भी उसकी वीरता रोमान्स व सुन्दर व्यक्तित्व ने उसे एक लोकनायक बना दिया है जिससे आज भी उसे एक लोकप्रिय योद्धा व नायक के रूप में रंगमंचों पर प्रस्तुत किया जाता है । जब तक वह जीवित रहा तुर्को के लिए भारत अजेय रहा उसके अंत के अगले पन्द्रह वर्षो में ही सारा उत्तर भारत तुर्को की दासता स्वीकार करने हेतु बाध्य हो गया ।

6.11 सारांश

1. राजस्थान ही नहीं उत्तर भारत में चौहानों की शक्ति का उदय व पृथ्वीराज तृतीय के साथ उसके उत का अपना महल है । पाँच सौ वर्षो तक चौहानों ने तुर्को से भारत को बचाए रखा उनके पतन के साथ ही उत्तर भारत तुर्क दासता में बंध गया । अहिछत्रयपुर (नागौर), शाकंभरी (सांभर) व अंत में अजमेर उनकी राजधानियाँ रही । दक्षिणी पूर्वी पंजाब, हरयाणा, दिल्ली व सम्पुर्ण राजस्थान दक्षिण में मांडल तक उनके नियंत्रण में रहा । चालुक्य, गहडवाल व चंदेल उनका लोहा मानते थे । मुल्तान व लाहैर की मुस्लिम शक्तियों से उनका अविरल संघर्ष चलता रहा । पृथ्वीराज प्रथम, अजयराज, अर्णोराज, विग्रहराज चतुर्थ व सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज ने अपनी वीरता व गुणों से इतिहास में अपना स्थान बनाया ।

2. छठी सदी में हूणों से संघर्ष करते हुए जांगल विजय कर चौहानों में चाहुमान ने अपना राज्य स्थापित किया। वासुदेव ने अहिछत्रपुर को राजधानी बनाया । चाहुमान से वाथ्यपीत प्रथम तक चौहान प्रतिहारों के झंडे नीचे रहे । 944 ई. में सिंहराज ने स्वतंत्र चौहान सत्ता स्थापित की । दुर्लभराज द्वितीय व गोविन्द राज द्वितीय ने महमूद गजनवी को सफल चुनौती दी व अपने राज्य को सुरक्षित रखा ।

पृथ्वीराज प्रथम के परामर्श से उसके पुत्र अजयराज ने अजयमेरू को अपनी राजधानी बनाया । अजयराज व अर्णराज ने तुर्क आक्रमणकारियों को परास्त किया । विग्रहराज चतुर्थ ने समग्र आर्यावर्त को तुर्को से मुक्त करा दिल्ली पर अपना झंडा फहराया । शस्त्रों व शास्त्रों में पारंगत विग्रहराज का काल अजमेर के चौहानों का स्वर्ण काल रहा । उसका सरस्वती कठागार (अढ़ाई दिन का झोंपडा व बीसलसर झील) उसकी चिरस्मृति है ।

3. सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज तृतीय ने जो 1223 वि. की ज्येष्ठ की द्वादशी को कर्पूर देवी के गर्भ से गुजरात में जन्मा व सोमेश्वर के साथ ही अजमेर आया । विभिन्न भाषाओं व विद्याओं में पारंगत हो उसने धनुष विद्या में भी सर्वश्रेष्ठता प्राप्त की । 1176 ई. में सोमेश्वर के निधन के साथ ही ग्यारह वर्ष की आयु में गद्दी पर बैठा।

4. उसे नागार्जुन ने चुनौती दी जिसे उसने पूर्णतया कुचल दिया। ततश्चात् मांडानकों की शक्ति को सदा के लिए समाप्त कर उसने दिग्विजय नीति का श्री गणेश किया ।

5. सर्वप्रथम उसने बुन्देलखण्ड के परमार देव चन्देल को परास्त कर उसके सेनापतियों आल्हा व ऊ दल को समाज कर उसे समर्पण के लिए बाध्य किया । ततश्चात गुजरात के चालुक्यों को नागौर के समीप परास्त कर सन्धि करने के लिए बाध्य किया । कन्नौज के जयचंद गहडबाल की शक्ति को नियंत्रित राज किया ।

6. पृथ्वीराज का वास्तविक मुकाबला गोर के शंसवनी वंश के गयासुद्दीन गोरी के छोटे भाई गजनी के शासक शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी या मुइज्जुद्दीन मोहम्मद गोरी से हुआ जिसने गजनी पर सत्ता स्थापित करते ही इस्लाम के नाम पर प्रतिवर्ष मूर्ति पूजकों के देश के विरूद्ध अभियान करने का निश्चय किया। तदनुसार 1175-76 ई में गोमल दर्रे से भारत में प्रश्स्ति हो मुल्तान व उच्छ पर अधिकार किया । तथा भारत विजय हेतु धन के लालच में 1178 ई. में गुजरात पर आक्रमण किया किन्तु आबू के समीप बुरी तरह परास्त होकर उसे भागना पड़ा । 1185 ई. में उसने लाहोर के खुसरो मलिक गजनवी को उखाड कर अधिकार कर लाहौर को अपने भारत अभियान का केन्द्र बनाया ।

7. अगले छः बर्षा तक सामान्य टकराव की स्थिति को समाप्त करने हेतु उसने 1191 ई. में पहले तबर हिन्द (सरहिन्द) पर अधिकार किया, किन्तु पृथ्वीराज की चुनौती को देख तराइन के मैदान में उससे युद्ध किया, किन्तु परास्त हो भागना पड़ा ।

8. 1192 ई. में गोरी पुनः तैयारी कर तराइन के मैदान में आ डटा। इस बार उसने पृथ्वीराज को परास्त कर पकड लिया वअधीनता स्वीकार करने को बाध्य किया तत्पश्चात एक षड्यन्त्र का भेद खुल जाने पर उसकी अजमेर में हत्या कर दी ।

9. लोकनायक पृथ्वीराज विद्वानो व साहित्यकारों का संरक्षक व रसिक प्रकृति का युवा शासक था। किन्तु उसकी भूलें ही उसके पतन का कारण बनी साथ ही भारत को तुर्क दासता के बन्धन में बंधना पडा।

6.12 बोध प्रश्न

1. पृथ्वीराज के प्रारम्भिक जीपवन पर प्रकाश डालिए ।
2. पृथ्वीराज के तुर्को से संघर्ष पर एक लेख लिखिए ।
3. तुर्को के हाथों चौहानों की पराजय के कारण लिखिए ।

4. पृथ्वीराज की दिग्विजय नीति के परिणामों पर एक टिपणी लिखि ।

6.13 संदर्भ ग्रन्थ

1. अली चौहान डाइनास्टीज -डॉ.दशरथ शर्मा ।
2. पृथ्वीराज और उसका युग -डॉ.दशरथ शर्मा ।
3. राजस्थान एंड हिजटाइम्स -डॉ.दशरथ शर्मा ।
4. पृथ्वीराज एंड हिजटाइम्स -डॉ.आर.वी.सोमानी ।
5. हिस्ट्री ऑफ चौहान्स -डॉ.आर.बी.सिंह ।
6. कुतुबुद्दीन ऐबक एंड हिजटाइम्स -डॉ.ए.के.श्रीवास्तव ।
7. राजस्थान का इतिहास -डॉ.जी.एन.शर्मा ।
8. राजस्थान का इतिहास -डॉ.कालूराम शर्मा ।
9. राजस्थान का इतिहास -प्रो.ओ.पी.शर्मा व डॉ.एन.के.उपध्याय ।

इकाई - 7

महाराणा कुंभा, राणा सांगा एवं महाराणा प्रताप के अधीन मेवाड़ (Mewar under Maharana kumbha. Rana Sanga and Maharana Pratap)

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 महारणा कुंभा

7.3 राजनीतिक उपलब्धियाँ

7.4 कुंभा की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

7.5 कुंभा का देहान्त

7.6 महाराणा सांगा

7.7 मालव संघर्ष के कारण एवं युद्ध

7.8 गुजरात संघर्ष कारण एवं युद्ध

7.9 सांगा व इब्राहीम लोदी

7.10 बाबर-सांगा संघर्ष

7.11 खानवा का युद्ध

7.12 सांगा की मृत्यु

7.13 सांगा के पश्चात मेवाड

7.14 महाराणा प्रताप

7.15 मेवाड की दशा

7.16 हल्दीघाटी युद्ध की तैयारियां

7.17 हल्दीघाटी का युद्ध

7.18 अकबर के पुन: प्रयास

7.19 क्या प्रताप ने अकबर से संधि न कर भूल की ?

7.20 सारांश

7.21 संदर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य

प्रस्तुत यूनिट में महाराणा कुंभा, सांगा एवं प्रताप के अधीन मेवाड के विकास एवं संघर्ष का अध्ययन किया गया है । इस यूनिट का अध्ययन करने के उपरान्त आप समझेंगे कि -

- राजस्थान में मुस्लिम अधिकार को हटाने के प्रयत्न का नेतृत्व मेवाड ने आरम्भ किया । गुहिल वंश के हम्मीर सीसोदिया ने चित्तौड पर अधिकार कर लिया ।
- महाराणा द्या के काल में मेवाड राज्य एक शक्तिशाली राज्य के रूप में पुन: प्रतिष्ठित झा । महाराणा ने मालवा एवं गुजरात के सुजानों से कई युद्ध किये । दोनों राज्य मिल कर भी मेवाड को क्षति नहीं पहुँचा सके ।
- कुंभा का समय स्थापत्य, साहित्य, संगीत आदि कलाओं में महत्वपूर्ण उपलब्धियों का युग था ।
- महाराणा सांगा ने तत्कालीन दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी को खातोली के युद्ध में हराया परन्तु मुगल शासक बाबर से खानवा के युद्ध में परास्त हुआ ।
- महाराणा सांगा की पराजय का मुख्य कारण बाबर की सेना के पास तोपखाना होना था ।
- सांगा के बाद उदयसिंह तक का काल मेवाड के लिए संकट व चुनौती भरा था ।
- महाराणा प्रताप स्वतन्त्रता का पुजारी स्वाभिमानी था । अकबर की साम्राज्यवादी नीति के विरूद्ध उसने संघर्ष का मार्ग अपनाया ।
- प्रताप ने अकबर द्वारा भेजे गये चार शिष्ट मंडलों के साथ बार्ता में अपनी नीतिज्ञता का परिचय दिया ।
- महाराणा प्रताप ने दिवेर-विजय के बाद मेवाड में अपनी शासन व्यवस्था स्थापित की तथा लगभग समस्त मेवाड को पुन: अपने अधीन कर लिया ।
- कुंभा के काल में प्रारम्भ हुआ मेवाड उत्कर्ष काल सांगा एवं प्रताप के काल में मुगल प्रसार के विरूद्ध राजपूत प्रतिक्रिया एवं प्रशासनिक संगठन का रह गया था ।

7.1 प्रस्तावना

रावल रतन सिंह की चित्तौड युद्ध में मृत्यूपरान्त चित्तौड पर 1314 ई. तक सुलान अलाउद्दीन के शासन में उसका पुत्र खिज्र खां प्रान्तपति रहा था । किन्तु मेवाड के सामन्तों की विद्रोहालक कार्यवाहियो के कारण जालोर के सोनगरा मालदेव को खिज्र खां के स्थान पर मेवाड का प्रान्तपति बनाया गया । उसने 1322 ई. तक उसके पुत्र जयसिंह ने 1325 ई. तक तथा उसकी मृत्यूपरान्त मालदेव का तीसरा पुत्र रणवीर प्रान्तपति रहा था । इसने 1336 ई. तक शासन किया । किन्तु इसी वर्ष मेवाड के गुहिल वंश की एक शाखा सीसोदा के हमीर ने चित्तौड पर पुन: अधिकार कर मेवाडू पर सल्तनत के शासन को मिटा दिया । सीसोदा गाँव (जिला राजसमन्द) के सामन्त राणा कहलाते थे । अत: अब से रावल की जगह मेवाड़ के शासकों का नाम महाराणा हो गया । महाराणा हमीर ने सिंहासन पर बैठने के बाद मेवाड का क्षेत्र विस्तार करना आरम्भ किया । उसने परमारों, राठौडों को परास्त किया तथा वनवासी जाति के लोगों के साथ मित्रवत् नीति का प्रचलन करते हुए राज्य को स्थायित्व भी प्रदान किया ।1364 ई. में हणीर का पुत्र क्षेत्रसिंह गद्दी पर बैठा । जिसने हाडौती, गुजरात, ईडर, मालवा तथा उत्तरी मेवाड़ की उवद्रवी मेर जाति पर विजय प्राप्त की । 1405 ई. में उसका पुत्र लक्ष सिंह (लाखा) गद्दी पर बैठा । उसने भी अपने पिता की नीति का पालन करते हुए मेवाड को शक्तिशाली बनाया । इसके समय में ही मेवाड में जावर की चांदी की खान निकली थी । महाराणा लाखा का उत्तराधिकारी अल्पवयस्क महाराणा मोकल 1415 ई. के लगभग गद्दी पर बैठा । उसके काल में मण्डोर के राठौडों का प्रभाव मेवाड

में बढ़ने, उसके बड़े भाई चुणडा का मालवा चले जाने, मालवा, नागौर व गुजरात के शासकों के आक्रमण आदि की विषम परिस्थिति में मेवाड निर्बल हुआ । ऐसे में ही मोकल की हत्या ने मेवाड के प्रभुत्व एवं प्रभाव पर गहरा आघात किया । परन्तु उसके पुत्र राणा कुम्भा ने परिस्थितियों को सम्भाल लिया । तब मेवाड का वैभव उत्कर्ष की सीमा पर पहुँच गया । महाराणा सागा ने भी इस संदर्भ में प्रयास अवश्य किया और मेवाड की सीमाएँ काफी विस्तृत हो गई थी परंतु सांगा के समय प्रारंभ हुआ मुगल प्रतिरोध प्रताप के समय तक काफी बढ़ गया था । प्रताप अपनी स्वतन्त्रता के लिए आजीवन संघर्षरत अवश्य रहा किन्तु मेवाड गरिमा में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं आने दी ।

7.2 महाराणा कुम्भा

कुंभा का जन्म 1403 ई. में हुआ था । उसकी माता परमारवंशीय राजकुमारी सौभाग्य देवी थी । अपने पिता मोकल की हत्या के बाद कुंभा 1433 ई. में मेवाड के राजसिंहासन पर बैठा । तब मेवाड में प्रतिकूल परिस्थितियाँ थीं, जिनका प्रभाव कुंभा की विदेश नीति पर पडना स्वाभाविक था । ऐसे समय में युद्ध की प्रतिधीन गूँजती दिखाई दे रही थी । उसके पिता के हत्यारे चाचा मेरा (महाराणा खेता की उप-पत्नी के पुत्र) व उनका समर्थक महपा पंवार स्वतंत्र थे और विद्रोह का झंडा खड़ा कर चुनौती दे रहे थे । मेवाड दरबार भी सिसोदिया व राठौड़ दो गुटों में बंटा हुआ था । कुंभा के छोटे भाई खेमा की महत्वाकांक्षा मेवाड राज्य प्राप्त करने की थी और इसकी पूर्ति के लिये वह मांडू पहुँच कर वहाँ के सुल्तान की सहायता प्राप्त करने के प्रयास में लगा हुआ था । उधर फिरोज तुगलक के बाद दिल्ली सल्तनत कमजोर हो गई और 1398 ई. में तैमूरी आक्रमण से केन्द्रीय शक्ति पूर्ण रूप से छिन्न-भिन्न हो गई थी । दिल्ली के तख्त पर कमजोर सैययद आसीन थे जिससे विरोधी तल सक्रिय हो गए थे । फलत: दूरवर्ती प्रदेश जिनमें जौनपुर, मालवा, गुजरात, ग्वालियर व नागौर आदि स्वतंत्र होकर, शक्ति एवं साम्राज्य प्रसार में जुट गये थे ।

उपर्युक्त वातावरण को अनुकूल बनाने के लिए कुंभा ने अपना ध्यान सर्वप्रथम आंतरिक समस्याओं के समाधान की ओर केन्द्रित किया । अपने पिता के हत्यारों को सजी देनी चाही जिसमें उसे मारवाड के रणमल राठौड की तरफ से पूर्ण सहयोग मिला । परिणामस्वरूप चाचा व मेरा की मृत्यु हो गई । चाचा के लड़के एक्का तथा महपा पँवार को मेवाड छोड़कर मालवा के सुल्तान के यहीं शरण लेनी पडी । यों कुंभा ने अपने प्रतिद्वंदियों से मुक्त होकर सीमांत-सुरक्षा की ओर ध्यान आकर्षित किया । वह मेवाड से अलग हुए क्षेत्रों को पुन: अपने अधीन करना चाहता था । अत: उसने विजय-अभियान शुरू किया ।

7.3 राजनीतिक उपलब्धियाँ

बूँदी-विजय - बूँदी के हाड़ा शासकों का मेवाड से तनावपूर्ण संबंध हो गया था । उस समय राव बैरीसाल वहाँ का शासक था । उसने माँडलगढ दुर्ग सहित ऊपरमाल के क्षेत्र पर अधिकार कर लिया था । अत: कुंभा ने 1436 ई. में बूँदी के विरूद्ध सैनिक अभियान प्रारंभ किया । जहाजपुर के पास दोनों ही सेनाओं में गंभीर युद्ध हुआ जिसमें बूँदी की हार हुई । बूँदी ने मेवाड की अधीनता स्वीकार कर ली । माँडलगढ बिजौलिया, जहाजपुर व पूर्वी-पठारी क्षेत्र भी मेवाड-राज्य में मिला लिये गये ।

गागरोन-विजय :- इसी समय कुंभा ने मेवाड के दक्षिण पूर्वी भाग में स्थित गागरोन-दुर्ग पर आक्रमण कर उसे अपने अधिकार में कर लिया ।

सिरोही-विजय - सिरोही के शासक शेषमल ने मेवाड राज्य की सीमा के अनेक गाँवों पर अधिकार कर लिया था । अत: कुंभा ने डोडिया नरसिंह के नेतृत्व में वहाँ सेना भेजी । नरसिंह ने अचानक आक्रमण कर (1437 ई.) आबू तथा सिरोही राज्य के कई हिस्सों को जीत लिया । शेषमल ने आबू को पुन: जीतने के प्रयास में गुजरात के सुल्तान से भी सहायता ली परन्तु असफलता ही हाथ लगी । कुंभा की आबू-विजय का बड़ा महल है ।

मारवाड से सम्बन्ध

मारवाड के रणमल का मेवाड में प्रभाव बढ़ता जा रहा था । कुंभा ने इसे संतुलित करने के लिए मेवाड से गये हुए सामन्तों को पुन: मेवाड में आश्रय देना शुरू किया । महपा पंवार और चाचा के पुत्र एक्का के अपराधों को भी क्षमा कर अपने यहाँ शरण दे दी । राघवदेव का बडा भाई चुणडा जो मालवा में था, वह भी मेवाड लौट आया । कुंभा ने धीरे-धीरे रणमल के विरूद्ध ऐसा व्यूह तैयार किया कि उसकी हत्या तक कर दी । रणमल की हत्या के समाचार फैलते ही उसका पुत्र जोधा अन्य राठौड़ों के साथ मारवाड की तरफ भागा । तब चुणडा ने भागते हुए राठौड़ों पर आक्रमण किया । मारवाड की ख्यात के अनुसार जोधा के साथ 700 सवार थे और मारवाड पहुँचने तक केवल सात ही शेष रहे । मेवाड की सेना ने आगे बढ़कर मंडोर पर अधिकार कर लिया; किन्तु महाराणा की दादी हंसाबाई के बीच-बचाव करने के कारण जोधा इसको पुन: लेने में सफल हुआ ।

वागड-विजय

कुंभा ने डूंगरपुर पर भी आक्रमण किया और बिना कठिनाई के सफलता मिली । इसी भाँति वागड-प्रदेश की विजय से जावर मेवाड़ राज्य में मिला लिया गया ।

मेरों का दमन

मेरों के विद्रोह को दबाने में भी वह सफल रहा । बदनोर के आस-पास ही मेरो की बडी बस्ती थी । ये लोग सदैव विद्रोह करते रहते थे । कुंभा ने इनके विद्रोह का दमन कर विद्रोही नेताओं को कडा दंड दिया ।

पूर्वी राजस्थान का संघर्ष:

यह भाग मुसलमानों की शक्ति का केन्द्र बनता जा रहा था । बयाना व मेवात में इनका राज्य बहुत पहले से ही हो चुका था । रणथंभौर की पराजय के बाद चौहानों के हाथ से भी यह क्षेत्र जाता रहा । इस क्षेत्र को प्राप्त करने के लिए कछावा और मुस्लिम शासकों के अतिरिक्त मेवाड और मालवा के शासक भी प्रयत्नशील थे । फरिश्ता के अनुसार कुंभा ने इस क्षेत्र पर आक्रमण करके रणथंभौर पर अधिकार कर लिया था । साथ ही चाटसू वगैरह के भाग के भी उसने जीत लिया था ।

अन्य विजयें

कुंभलगढ़-प्रशस्ति के अनुसार कुंभा ने कुछ नगरों को जीता था । जिनकी भौगौलिक स्थिति और नाम ज्ञात नहीं हो सके हैं । इसका कारण स्थानीय नामों को संस्कृत में रूपान्तरित करके इस प्रशस्ति में अंकित किया है, जैसे - नारदीय नगर, वायसपुर आदि । इस भांति कुंभा ने अपनी विजयों से मेवाड के लिए एक वैद्यानिक सीमा निर्धारित की जो मेवाड़ के प्रभुत्व को बढ़ाने में सहायक रही।

मालवा-गुजरात से समन्य

कुंभा की प्रसारवादी नीति के कारण मालदा-गुजरात से संघर्ष अवश्यभावी थे । मालवा के लिए एक शक्तिशाली मेवाड सबसे बडा खतरा था । मेवाड-मालवा संघर्ष का मूल कारण दिल्ली सलनत की कमजोरी थी फलत प्रांतीय शक्तियों को अपनी-अपनी स्वतंत्र सत्ता का विकास करने की चिन्ता थी

। दूसरा कारण मालवा के उत्तराधिकारी संघर्ष में कुंभा का सक्रिय भाग लेना था । तीसरा कारण मेवाड के विद्रोही सामन्तों को मालवा में शरण देना था । कुंभा द्वारा इन्हें लौटाने की माँग को सुल्तान ने अस्वीकार कर दिया था । इसलिए दोनों राज्यों के बीच सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गये । दोनों राज्यों के बीच संघर्ष का मुख्य कारण दोनों ही राज्यों की विस्तारवादी नीति थी ।

मेवाड-मालवा संघर्ष

सारंगपुर का युद्ध (1437 ई.)

विद्रोही महपा जिसको मालवा के सुल्तान ने शरण दे रखी थी, कुंभा ने उसे लौटाने की माँग की; किन्तु सुल्तान ने मना कर दिया । तब 1437 ई. में कुंभा ने एक विशाल सेना के साथ मालवा पर आक्रमण कर दिया । वह मंदसौर, जावरा आदि स्थानों को जीतता हुआ सारंगपुर पहुँचा, जहाँ युद्ध में सुल्तान महमूद खलजी की हार हुई । कुंभा ने महमूद खलजी को बंदी बनाया और उदारता का परिचय देते हुए उसे मुक्त भी कर दिया । निःसन्देह महाराणा की यह नीति उदारता, स्वाभिमान व दूरदर्शिता की परिचायक है ।

महाराणा कुंभा सारंगपुर से गागरौन मंदसौर आदि स्थानों पर अधिकार करता हुआ मेवाड़ लौट आया । इस युद्ध से मेवाड की गिनती एक शक्तिशाली राज्य के रूप में की जाने लगी परंतु महमूद खलजी उसका स्थायी रूप से शत्रु हो गया और दोनों राज्यों के बीच में एक संघर्ष की परम्परा चली । हरबिलास शारदा का तो यह मानना है कि सारंगपुर में हुए अपमान का बदला लेने के लिए उसने मेवाड पर पाँच बार आक्रमण किये । कुंभलगढ़ एवं चित्तौड़ पर आक्रमण

महमूद का इस शृंखला में प्रथम आक्रमण 1442-43 ई. में हुआ है । वास्तव में सुल्तान ने यह समय काफी उपयुक्त चुना क्योंकि इस समय महाराणा बून्दी की ओर व्यस्त था । कुंभा का विद्रोही भाई खेमकरण मालवा के सुल्तान की शरण में पहले ही जा चुका था, जिससे सुल्तान को पर्याप्त सहायता मिली । तभी गुजरात के शासक अहमदशाह की मृत्यु भी हो गई थी । उसका उत्तराधिकारी महमूदशाह काफी निर्बल था । अतएव गुजरात की ओर से मालवा को आक्रमण का डर नही रहा । महमूद खलजी ने सारंगपुर की हार का बदला लेने के लिए सबसे पहले 1442 ई. में कुंभलगढ़ पर आक्रमण किया । मेवाड के सेनापति दीपसिंह को मार कर वाणमाता के मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट किया । इतने पर भी जब यह दुर्ग जीता नहीं जा सका तो शत्रु-सेना ने चित्तौड को जीतना चाहा । परंतु चित्तौड-विजय की उसकी यह योजना सफल नहीं हो सकी और महाराणा ने उसे पराजित कर मांडू भगा दिया ।

गागरौन-विजय (1443-44 ई.)

मालवा के सुजान ने कुंभा की शक्ति को तोडना कठिन समझ कर मेवाड पर आक्रमण करने के बजाय सीमावर्ती दुर्गा पर अधिकार करने की चेष्टा की । अत: उसने नवम्बर 1443 ई. में गागरौन पर आक्रमण किया । गागरौन खींची चौहानों के अधिकार में था । मालवा और हाडौती के बीच होने से मेवाड और मालवा के लिये इस दुर्ग का बडा महल था । अतएव खलजी ने आगे बढ़ते हुए 1444 ई. में इस दुर्ग को येर लिया और सात दिन के संघर्ष के बाद सेनापति दाहिर की मृत्यु हो जाने से राजपूतों का मनोबल गिर गया और गागरौन पर खलजी का अधिकार हो गया । डॉ यू.एन.डे का मानना है कि इसका मालवा के हाथ में चला जाना मेवाड की सुरक्षा को खतरा था ।

मांडलगढ़ पर आक्रमण:

1444 ई. में महमूद खलजी ने गागरौन पर अधिकार कर लिया । गागरौन की सफलता ने उसको माँडलगढ पर आक्रमण करने के लिये प्रोत्साहित किया । कुंभा ने इसकी रक्षा का पूर्ण प्रबंध कर रखा था और तीन दिन के कडे संघर्ष के बाद खलजी को करारी हार का सामना करना पडा ।

माँडलगढ़ का दूसरा घेरा

11 अक्टूबर 1446 ई. को महमूद खलजी माँडलगढ़ अभियान के लिये रवाना हुआ। किन्तु इस बार भी उसे कोई सफलता नहीं मिली और अगले 7-6 वर्षा तक वह मेवाड पर आक्रमण करने का साहस नहीं कर सका ।

अजमेर-माँडलगढ अभियान

पहले की हार का बदला लेने के लिये अगले ही वर्ष 1455 ई. में सुल्तान ने कुंभा के विरूद्ध अभियान प्रारम्भ किया 1 मंदसौर पहुँच ने पर उसने अपने पुत्र गयासुद्दीन को रणथंभौर की ओर भेजा और स्वयं सुल्तान ने जाइन का दुर्ग जीत लिया । इस विजय के बाद सुलान अजमेर की ओर रवाना हुआ । अजमेर तब कुंभा के पास में था और उसके प्रतिनिधि के रूप में राजा गजधरसिंह वहाँ की प्रशासनिक व्यवस्था को देख रहा था । सुल्तान को इस बार भी पराजित होकर मांडू लौटना पडा था । 1457 ई. में वह माँडलगढ लेने के लिये फिर इधर आया । अक्टूबर 1457 ई. में उसका माँडलगढ़ पर अधिकार हो गया । कारण कि तब कुंभा गुजरात से युद्ध करने में व्यस्त था किन्तु शीघ्र ही उसने माँडलगढ को पुन: हस्तगत कर लिया ।

कुंभलगढ़ आक्रमण (1459 ई)

मालवा के सुल्तान ने 1459 ई. में कुंभलगढ़ पर फिर आक्रमण किया । इस युद्ध में महमूद को गुजरात के सुल्तान ने भी सहायता दी थी; किन्तु सफलता नहीं मिली ।

जावर आक्रमण

1467 ई. में एक बार और सुल्तान (मालवा) जावर तक पहुँचा परन्तु इस बार भी कुंभा ने उसको यहाँ से जाने के लिए बाध्य कर दिया । वास्तव में 1459 ई. के पश्चात् ही सुल्तान का मेवाड में दबाव कम हो गया था इसलिए 1467 ई. में वह जावर तक पहुँचा तब उसको आसानी से खदेड दिया गया ।

मेवाड-गुजरात समन्य - (1455 ई. से 1460 ई)

कुंभा का गुजरात से भी संघर्ष होता है और नागौर प्रश्न ने दोनों को आमने-सामने ला खडा कर दिया । नागौर के तत्कालीन शासक फिरोज खां की मृत्यु होने पर और उसके छोटे पुत्र मुजाहिद खां द्वारा नागौर पर अधिकार करने हेतु बडे लड़के शम्सखां ने नागौर प्राप्त करने में कुंभा की सहायता माँगी । कुंभा को इससे अच्छा अवसर क्या मिलता । वह एक बडी सेना लेकर नागौर पहुँचा । मुजाहिद को वहाँ से हटा कर महाराणा ने शम्सखां को गद्दी पर बिठाया परंतु गद्दी पर बैठते ही शम्सखां अपने सारे वायदे मूल गया और उसने संधि की शर्तो का उल्लंघन करना शुरू कर दिया । स्थिति की गम्भीरता को समझ कर कुंभा ने शम्सखां को नागौर से निकाल कर उसे अपने अधिकार में कर लिया । शम्सखां भाग कर गुजरात पहुँचा और अपनी लडकी की शादी सुल्तान से कर, गुजरात से सैनिक सहायता प्राप्त कर महाराणा की सेना के साथ युद्ध करने को बढ़ा परंतु विजय का सेहरा मेवाड के सिर बंधा । मेवाड-गुजरात संघर्ष का यह तात्कालिक कारण था । 1455 से 1460 ई. के बीच मेवाड-गुजरात संघर्षो के दौरान निम्नांकित युद्ध हुए -

1. नागौर युद्ध (1456 ई)

नागौर के पहले युद्ध में शम्सखां की सहायता के लिए भेजे गये गुजरात के सेनापति रायरामचंद्र व मलिक गिदई महाराणा कुंभा से हार गये थे । अतएव इस हार का बदला लेने तथा शम्सखां को नागौर की गद्दी पर बिताने के लिए 1456 ई. में गुजरात का सुलान कुतुबुद्दीन ससैन्य मेवाड पर बढ़ आया । तब सिरोही को जीतकर कुंभलगढ़ का घेरा डाल दिया किन्तु इसमें उसे असफल होकर लौटना पड़ा । यों प्रथम युद्ध में नागौर पर राणा की जीत हुई और उसने नागौर के क्ले को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया।

2. सुलान कुतुबुद्दीन का आक्रमण

सिरोही के देवडा राजा ने सुल्तान कुतुबुद्दीन से प्रार्थना की कि वह आबू जीतकर सिरोही उसे दे दे । सुल्तान ने इसे स्वीकार कर लिया । आबू को कुंभा ने देवडा से जीता था । सुल्तान ने अपने सेनापति इमादुलमुल्क को आबू पर आक्रमण करने भेजा किन्तु उसकी पराजय हुई । इसके बाद सुजान ने कुंभलगढ़ पर चढ़ाई कर तीन दिन तक युद्ध किया । बेले ने इस युद्ध में कुम्भा की पराजय बताई है किन्तु गौ. ही. ओझा, हरबिलास शारदा ने इस कथन को असत्य बताते हुए कुंभा की जीत ही मानी है । उनका मानना है कि यदि सुल्तान जीत कर लौटता तो पुन: मालवा के साथ मिलकर मेवाड पर आक्रमण नहीं करता । सुल्तान का दूसरा प्रयास भी असफल रहा ।

3. मालवा-गुजरात ला संयुक्त अभियान (1457)

गुजरात एवं मालवा के सुल्तानों ने चांपानेर स्थान पर समझौता किया । इतिहास में यह चम्पानेर की संधि के नाम से जाना जाता है इसके अनुसार दोनों की सम्मिलित सेनाएँ मेवाड़ पर आक्रमण करेंगी तथा विजय के बाद मेवाड़ का दक्षिण भाग गुजरात में तथा शेष भाग मालवा में मिला लिया जाएगा । कुतुबुद्दीन आबू को विजय करता हुआ आगे बढ़ा और मालवा का सुल्तान दूसरी ओर से बढ़ा । कुंभा ने दोनों की संयुक्त सेना का साहस के साथ सामना किया और कीर्ति स्तम्भ-प्रशस्ति व 'रसिक प्रिया' के अनुसार कुंभा विजयी रहा ।

4. नागौर-विजय (1458)

कुंभा ने 1458 ई. में नागौर पर आक्रमण किया जिसका कारण श्यामलदास के अनुसार 1. नागौर का हाकिम शम्सखां और मुसलमानों द्वारा गो-वध बहुत होने लगा था । 2. मालवा के सुल्तान के मेवाड़ आक्रमण के समय शम्सखां ने उसकी महाराणा के विरूद्ध सहायता की थी । 3. शम्सखां ने किले की मरम्मत शुरू कर दी थी । अत: महाराणा ने नागौर पर आक्रमण कर उसे जीत लिया ।

5. कुंभलगढ़-अभियान (1458 ई)

कुतुबुद्दीन का 1458 ई में कुंभलगढ़ पर अंतिम आक्रमण हुआ जिसमें उसे कुंभा से पराजित होकर लौटना पड़ा । तभी 25 मई व 458 ई. को उसका देहान्त हो गया ।

6. महमूद बेगड़ा का आक्रमण (1459 ई)

कुतुबुद्दीन के बाद महमूद बेगड़ा गुजरात का सुल्तान बना । उसने 1459 ई. में जूनागढ़ पर आक्रमण किया । वहाँ का शासक कुंभा का दामाद था । अत: महाराणा उसकी सहायतार्थ जूनागढ़ गया और सुल्तान को पराजित कर भगा दिया ।

इस प्रकार से कुंभा ने अपनी सैनिक शक्ति द्वारा सम्पूर्ण राजपूताने पर अपना अधिकार ही स्थापित नहीं किया बल्कि मेवाड की राज्य सीमा का विस्तार कर अपनी कीर्ति में चार चाँद लगाये जिसका प्रमाण चित्तौड की धरती पर खडा कीर्ति स्तम्भ है । कुंभा ने अपने रणचातुर्य एवं कूटनीति

से मेवाड में आंतरिक शांति व समृद्धि की स्थापना ही नहीं की अपितु मेवाड की बाह्य शत्रुओं से रक्षा भी की ।

7.4 कुंभा की सांस्कृतिक उपलब्धियाँ

महाराणा कुंभा के व्यक्तित्व में कटार, कलम और कला की त्रिवेणी का अदभुत समन्वय था । सांस्कृतिक दृष्टि से यह काल मेवाड के इतिहास का स्वर्णयुग था । निःसन्देह कुंभा का इतिहास में विजेता के रूप में जो स्थान सुरक्षित है उससे भी महत्वपूर्ण स्थान उसका स्थापत्य और विद्या-उन्नति के सम्बन्ध में हैं । सांस्कृतिक क्षेत्र में भी वास्तु-कला का महत्व सर्वाधिक है ।

वास्तुकला

कुंभा वास्तु या स्थापत्य कला का मर्मज्ञ था । उसकी स्थापत्य कला को निम्नांकित भागों में बांट सकते हैं - मंदिर, दुर्ग, एवं भवन ।

मेवाड़ में मंदिर निर्माण की परम्परा बहुत प्राचीन व गौखपूर्ण रही है जिसको महाराणा कुंभा ने एक नई दिशा दी । उसके निर्माण कार्य के तीन प्रमुख केन्द्र थे - कुंभलगढ़, चित्तौड़गढ़ और अचलगढ़ । कुंभाकालीन मंदिरों का निर्माण नागर शैली के शिखरों से अलंकृत तथा ऊँची प्रसाद पीठ पर अवस्थित है । इसमें प्राय: भूरे रंग का बलुहा पत्थर का प्रयोग हुआ है । उनमें सारे गर्भ-गृह, अर्द्ध-मण्डप, सभा-मण्डप, प्रदक्षिणा-पथ एवं आमलक युक्त शिखर पाये जाते हैं । चित्तौड दुर्ग स्थितकुंभ स्वामी का मंदिर इनमें सबसे पुराना (1445-46 ई. के लगभग) एवं मध्यकालीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण हैं । कुंभा ने अचलगढ के समते कुंभा स्वामी का मंदिर भी बनवाया जिसमें विष्णु के 24 अवतारों की प्रतिमायें लगी हैं । आबू में भी कई मंदिर कुमायुगीन हैं । उदयपुर के निकट एकीलंगजी के मंदिर में कुंभ मंडप का निर्माण करवाया । यह मंदिर भी तत्कालीन स्थापत्य व मूर्तिकला का अदभुत नमूना है ।

कुंभा बहुत ही सहिष्णु था, अतएव विभिन्न धर्मावलंबियों ने अनेक मंदिरों का निर्माण करवाया जिसमें रणकपुर का जैन मंदिर सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । इसका निर्माता धरणाशाह पोरवाल था । उत्तरी भारत मे ऐसे स्तम्भों वाला विशाल मंदिर अन्यत्र कहीं नहीं हैं । रणकपुर-मंदिर की कला वास्तव में कुंभा के समय के स्थापत्य की महानता को प्रदर्शित करती हैं । इस काल के बने जैन मंदिरों में अजारी पिंडबाडा, नागदा आदि के मंदिर सुप्रसिद्ध है । नये मंदिरों के निर्माण के साथ-साथ पुराने मंदिरों का जीणोद्धार भी किया गया था ।

दुर्ग: मेवाड के 84 दुर्गा में से 32 दुर्ग अकेले कुंभा ने बनवाये थे । इस निर्माण में सामरिक महत्व का सर्वाधिक ध्यान रखा गया था । अपने राज्य की पश्चिमी सीमा और सिरोही के बीच तंग रास्तों को सुरक्षित रखने के लिए नाकाबंदी की और सिरोही के निकट बसन्ती का दुर्ग बनवाया । मेरो के प्रभाव को रोकने के लिए मचान के दुर्ग का निर्माण कराया तो भीलों की शक्ति पर नियन्त्रण हेतु भोमट का दुर्ग बनवाया । आबू में अचलगढ़ का दुर्ग और अरावली के पश्चिमी शाखा के एक घेरे में सादड़ी, मेवाड और मारवाड की सीमा पर कुंभलगढ़ नामक दुर्ग बनवाया ।

महाराणा ने चित्तौडगढ दुर्ग को भी पुनर्निर्मित कराया । इस दुर्ग को सात द्वारों से सुरक्षित कर, कई बुर्जा का निर्माण करकया । उसने वहीं सुप्रसिद्ध कीर्ति स्तम्भ भी बनवाया । इसका वर्ण इकाई 13 में किया गया है । आश्चर्य है कि भवन निर्माण कराने वाले कुंभा के स्वयं के निवास स्थान साधारण

व सात्विक थे । कुंभा द्वारा अन्य निर्माणों में तालाब, जलाशय भी थे । उसने बसन्तपुर को पुन: बसाया और बही सात सुन्दर जलाशय बनवाये ।

मूर्तिकला:

कुंभा के समय मूर्तिकला उन्नत अवस्था में थी । चित्तौड़गढ़-दुर्ग स्थित कीर्ति स्तंभ तो भारतीय मूर्तिकला का शब्द कोष ही है । इसे हिन्दू देवी-देवताओ का अजायबघर भी कहते हैं । कला की दृष्टि से कर्नल टॉड ने इसे कुतुबमीनार से भी श्रेष्ठ माना हैं । फग्र्युसन ने भी कीर्ति स्तंभ को रोम के टार्जन के समान स्वीकार किया हँ । किन्तु वह इसकी कला को टार्जन से भी अधिक उन्नत बताता है । कुंभ स्वामी के मंदिर की मूर्तियों का तक्षण भी उच्च कोटि का है । एकलिंगजी के मंदिर में निर्मित कुम्भ-मण्डप की बाह्य भित्ति की तीन रथिकाओं में नृसिंह, वराह, विष्णु भाव की प्रतीक तीन मूर्तियाँ हैं । उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित बीस हाथों वाली प्रतिमा भी कुंभा काल की ही ज्ञात होती है ।

साहित्यानुरागी

कुंभा स्वयं विद्वान था और कई विद्वानों एवं साहित्यकारों का आश्रयदाता था । वेद, स्मृति, मीमांसा का उसे अच्छा ज्ञान था । उसने कई ग्रन्थो की रचना की जिसमें 'संगीतराज, 'संगीत मीमांसा, 'सुद्ध प्रबंध प्रमुख हैं । कुंभा ने जयदेव कृत गीत गोविन्द की 'रसिकप्रिया टीका और संगीत रत्नाकार की टीका लिखी तथा चंडीशतक की व्याख्या की । वह चार नाटकों का रचयिता भी था जिसमें उसने मेवाडी, कर्नाटकी और मराठी भाषाओं का प्रयोग किया । उसे वाद्य यन्त्रों की भी अच्छी जानकारी थी । कुंभा वेद, शास्त्र, उपनिषद, मीमांसा, स्मृति, राजनीति, गणित, न्यायकरण व तर्कशास्त्र का अच्छा ज्ञाता व विद्वान था ।

कुंभा के दरबार के विद्वानो में सबसे प्रमुख अत्रि था । वह एक विद्वान् परिवार से आया हुआ था । कीर्ति स्तंभ प्रशस्ति लेखन इसी के पुत्र महेश ने पूरा किया । सूत्रधार मण्डन, कवि कान्ह कास, सकलकीर्ति आदि विद्वान साहित्यकार थे । जैन-साहित्य के विद्वानों में सोमसुन्दर, मुनिसुन्दर, जयचन्दसूरि, सुन्दर सूरि, सोमदेव आदि के नाम गिनाये जा सकते है । जैन श्रेष्ठियों ने विद्वानों को पर्याप्त आर्थिक सहायता दी । श्रेष्ठियों ने अपने पुस्तक भंडार भी बनवाये । इन गतिविधियों से स्थानीय भाषा का पर्याप्त विकास हुआ । वास्तव में कुंभा विद्वान प्रतिभासंपन्न साहित्यकार तथा कलाकारों व विद्वानों का आश्रयदाता था ।

संगीत एवं चित्राकला

कुंभा स्वयं एक महान संगीतज्ञ था । उसने संगीत पर तीन ग्रन्थ भी लिखे । संगीतज्ञों को प्रश्रय मिला हुआ था । सोम्सौभाग्यकाव्य से ज्ञात होता है कि संगीत का प्रचलन जनमानस में भी था । रणकपुर की मूर्तियों के अंकन से संगीत मंडलियों की जानकारी मिलती है । चित्तौड, देलकडा, एकलिंगजी आदि स्थानों पर अंकित प्रतिमाओं से वादक मंडलियों एवं विविध वाद्य यंत्रों का बोध होता है । रणकपुर, चित्तौड के मंदिरों एवं कीर्ति स्तंभ की नृत्य मुद्राओं की मूर्तियों से स्पष्ट है कि तब समाज में नृत्यकला का प्रचलन भी था ।

चित्रकला की दृष्टि से भी यह महत्वपूर्ण युग था 'सुपासनाहचीरत्रम' चित्रित ग्रन्थ महाराणा कुंभा के काल की देन है इसमें स्वर्ण स्याही का खूब प्रयोग किया गया है । श्रेष्ठियों के रहने के घर भित्ति-चित्रों से अलंकृत थे । कुंभा के राजप्रासादों में भी झाणीं रेखायें देखने को मिलती हैं । नाट्यशालाओं

को भित्ति-चित्रों से अलंकृत किया जाता था सांस्कृतिक क्षेत्र में मेवाड को कुंभा की अद्‌वितीय देन है । निःसन्देह कुंभा के शासन काल में मेवाड ने चहुँमुखी प्रगति की ।

7.5 कुंभा का देहान्त

ऐसे वीर, प्रतापी, विद्‌वान महाराणा का अंत बहुत दुःखद हुआ । उसके पुत्र ऊदा या उदयसिंह ने उसकी हत्या 1468 ई. में कर दी और स्वयं गद्दी पर बैठ गया कुंभा की मृत्यु के साथ ही सम्पूर्ण कला, साहित्य, शौर्य आदि की परम्परा की गति में अवरोध आ गया । फिर भी उसने अपनी युद्ध-नीति, कूटनीति एवं दूरदर्शिता से मेवाड को महाराज्य बना दिया था । कुंभा के थक्तित्व की सबसे बडी बात विजय नीति तथा कूटनीति है । धार्मिक क्षेत्र में भी वह समय से आगे था।

इधर अपने पिता के हत्यारे ऊदा को शासक रूप में स्वीकार करने को कोई तैयार नहीं था । मेवाड में ऊदा एवं उसके भाईयों के बीच रक्तपूर्ण उत्तराधिकार संघर्ष प्रारम्भ हुआ, जिसमें अंततः उसका भाई रायमल गद्दी प्राप्त करने में सफल हुआ । उसने मेवाड की स्थिति को दृढ़ करना प्रारम्भ किया किन्तु इस बीच उसके पुत्रों में संघर्ष हो जाने और दो पुत्रों की मृत्यु तथा सांगा के मेवाड छोड चले जाने से उसका जीवन दुःखमय हो गया; परंतु उसकी मृत्यु के पूर्व सांगा मेवाड में आ गया था । अतः रायमल ने उसको अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जो उसकी (रायमल की) मृत्यु के बाद मेवाड की गद्दी पर बैठा ।

7.6 महाराणा सांगा

महाराणा संग्रामसिंह, जो इतिहास में सांगा के नाम से प्रसिद्ध है, का जन्म मार्च 24,1481 ई. को हुआ था । रायमल के 13 पुत्र थे जिनमें पृथ्वीराज, जयमल, संग्रामसिंह विशेष उल्लेखनीय हैं । सांगा के उत्तराधिकारी होने के बारे में एक ज्योतिषी की भविष्यवाणी के कारण सांगा और पृथ्वीराज में ऐसी गंभीर लड़ाई हुई कि दोनों लहूलुहान हो गये और सांगाकी एक आँख भी जाती रही । तब सांगा भाग कर अजमेर के पास श्रीनगर में करमचंद पंवार के यहाँ रहा । उसने अपनी पुत्री का विवाह सांगा के साथ कर दिया । इधर मेवाड़ में जयमल और पृथ्वीराज की मृत्यु हो गई थी । अतः सांगा को बुलाकर रायमल ने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया जो उसकी मृत्यु के बाद 1509 ई. में मेवाड की गद्दी पर बैठा ।

प्रारंभिक कठिनाइयाँ

सांगा गद्दी पर बैठा तब मेवाड़ आतरिक कलह और बाह्य आक्रमणों का शिकार बना हुआ था । अनेक सामन्त और शासक मेवाड के प्रभाव से मुक्त होने से ही संतुष्ट नहीं थे अपितु मेवाड का अस्तित्व मिटाने का उत्सुक थे । राजपूत शासक ही नहीं; बल्कि पडौसी मुस्लिम सुलानों ने भी मेवाड को अपना आखेट-स्थल बना रखा था । मालवा व गुजरात के सुल्तान मेवाड के घोर शत्रु थे । दिल्ली के सुल्तान इब्राहीम लोदी की निगाहें भी इसी ओर लगी हुई थी । सांगा ने इन सारी परिस्थितियों का अदम्य साहस से सामना किया । उसने करमचंद पंवार का अजमेर, परबतसर, माँडल, फूलिया बनेडा के परगने जागीर में दिये और अपनी उत्तरी-पूर्वी सीमा को उसके माध्यम से सुदृढ़ किया । दक्षिण और पश्चिमी मेवाड की सुरक्षा हेतु उसने सिरोही तथा बागड़ के शासकों को अपना मित्र बनाया तथा ईडर के राजसिंहासन पर अपने गुट के रायमल को बिठा कर राणा ने राजपूतों के मैत्री संघ को शक्तिशाली

बना लिया । सांगा के नेतृत्व में मेवाड की बढ़ती हुई शक्ति ने पडोसी मुस्लिम राज्यों से संघर्ष आवश्यक कर दिया ।

7.7 मालवा संघर्ष के कारण एवं युद्ध

1. मालवा और मेवाड की परम्परागत शत्रुता चली आ रही थी । 1401 ई. से 1530 ई. में अपनी स्वतन्त्रता के अन्त तक मालवा, मेवाड का शत्रु बना रहा ।

2. दोनों प्रदेशों के शासक प्रसारवादी नीति में विश्वास रखते थे अत: वे एक दूसरे की निर्बलता का लाभ उठाना चाहते थे ।

3. मालवा मुस्लिम व मेवाड़ हिन्दू धर्म के पोषक व रक्षक थे । मालवा के सुल्तान जब तब भी अवसर मिलता तो वे अपने राज्य के हिन्दुओं के साथ-साथ पड़ौसी सीमावर्ती हिन्दू राज्यों के हिन्दुओं पर शत्याचार करते, मंदिर-मूर्तियां तोड़ने से नहीं चूकते थे । इधर महाराणा सांगा अपने को हिन्दू धर्म तथा संस्कृति का पोषक व रक्षक मानता था । अत: यह उसका नैतिक कर्त्तव था कि वह विरोधियों से लडकर धर्म व संस्कृति की रक्षा करें ।

4. तात्कालिक काराण मालवा का उत्तराधिकारी संघर्ष था । इसमें सांगा ने मालवा के प्रधान मंत्री एवं विरोधी मेदिनीराय को सहायता देने तथा गागरौन, चंदेरी आदि प्रदेशों कों जागीर उसे देने से मालवा का सुल्तान महमूद खलजी द्वितीय महाराणा से प्रतिशोध लेना चाहता था ।

मालवा युद्ध (1519 ई)

1519 ई. में महमूद ने पूर्ण शक्ति एवं साहस के साथ गागरौन पर आक्रमण कर दिया, जिसमें मुसलमानों की करारी हार हुई तथा काफी जन-धन की हानि हुई । स्वयं सुल्तान बंदी बना कर चित्तौड लाया गया जहाँ उसका इलाज कराने के बाद काफी धन देकर सम्मान मांडू भेज दिया । सुल्तान ने भी महाराणा को अधीनतास्वरूप रत्नजडित मुकुट तथा सोने की कमर पेटी भेंट की । राणा के इस व्यवहार की निजामुद्दीन अहमद ने बडी प्रशंसा की है । श्यामलदास एवं हरबिलास शारदा के अनुसार "सांगा ने सुल्तान को छोड दिया किन्तु उसके एक पुत्र को 'ओल' (जामिन) के तौर पर चित्तौड में रख लिया ।" निःसन्देह यह सांगा की दूरदर्शिता का परिचायक था । मालवा विजय से मेवाड़ को काफी उपजाऊ प्रदेश प्राप्त हुए तथा यहाँ की आर्थिक स्थिति में निश्चित लाभ हुआ ।

7.8 गुजरात संघर्ष के कारण

1. नागौर के मुस्लिम राज्य को कुंभा ने जीत लिया था । अत: गुजरात का सुल्तान मुजफ्फर नागौर को पूर्णत: स्वतंत्र कराना चाहता था ।

2. गुजरात के सुल्तान ने महमूद की सहायता कर मेदिनीराय को मालवा से बाहर निकाला था । अत: मेवाड के लिए यह आवश्यक था कि वह अपने शत्रु के मित्र को भी यथोचित दण्ड दे ।

3. गुजरात व मेवाड़ अपनी विस्तारवादी नीति के कारण परस्पर परम्परागत शत्रु थे ।

4. ईडर का मामला इनके बीच संघर्ष का तात्कालिक कारण बन गया था । दोनों राज्यों की सीमा के मध्य होने से ईडर का सामरिक महत्व बढ़- गया था । ईडर के राह भाण के दो पुत्र थे - सूर्यमल व भीम । भाण की मृत्यु के बाद सूर्यमल गद्दी पर बैठा और 18 महीने बाद उसकी भी मृत्यु हो गई । तब उसका पुत्र रायमल गद्दी पर बैठा किन्तु उझके काका भीम ने उसे गद्दी से हटा दिया और स्वम

राब बन गया । रायमल सांगा की शरण में गया । उधर भीम की मृत्यु के बाद उसका पुत्र गद्दी पर बैठ गया । तब सांगा ने रायमल को पुन: ईडर का राव बना दिया । भारमल ने गुजरात की सहायता से पुन: ईडर का राज प्राप्त कर लिया । रायमल ने गुजराती सेनापति जहीरूलमुत्क को पराजित कर मार डाला । तब गुजरात के सुलान ने सय ईडर पर आक्रमण कर ईडर को लूटा ।

युद्ध

उपर्युक्त कारणों एवं विशेषतया गुजरात के सुलान की कार्यवाहियों को देखकर सांगा ने 1519 ई. में चित्तौड से प्रयाण कर एक ही दिन में ईडर को विजय कर लिया । गुजराती सेना अहमद नगर की ओर भागी । सांगा ने उसका पीछा करते हुए अहमदनगरदुर्ग को घेर लिया और दुर्ग के किंवाड तोड कर राजपूत दुर्ग में पुस गये और खूब लूटा । सांगा बड्नगर, बीसलनगर तथा गुजरात के अन्य इलाकों को लूटता द्वा चित्तौड आ गया ।

इस पराजय का बदला लेने के लिए सुल्तान ने मलिक अयाज को दिसम्बर 1520 ई. में मेवाड पर आक्रमण करने भेजा । साथ ही किवामुत्मुल्क के नेतृत्व में 20 हजार सवार तथा 20 हाथियों की दूसरी सेना भी मलिक अवाज की सहायता के लिए भेजी । ये सेनायें मोडासा होते हुए झँारपुर को जलाकर बांसवाडा पहुँची । इसके बाद गुजराती सेना ने मंदसौर को घेर लिया । महाराणा सांगा भी ससैन्य मंदसौर से कोई 25 कि.मी. दूर नांदसा गाँव में आ गया । मालदा का सुल्तान भी मलिक अयाज की सहायता के लिए आ गया । तब मंदसौर में भीषण युद्ध होने को था, इस बीच सुल्तान के सेनापति मलिक अयाज़ और उसके अधिकारियों में कटुता उत्पन्न हो जाने से अयाज को संधि करनी पड़ी और वह गुजरात चला गया ।

सांगा ने गुजरात को लूटा, ईडर पर पुन: अपना प्रभुत्व स्थापित किया तथा गुजरात के उत्तराधिकारी को चित्तौड में शरण देकर अपना प्रभाव जमा लिया ।

7.9 सांगा व इब्राहिम लोदी

सांगा और इब्राहीम लोदी विस्तारवादी नीति में विश्वास करते थे । अत: दोनों ही शासकों की महत्वाकांक्षा ने उन्हें संघर्ष हेतु आमने-सामने ला दिया । राणा ने अपना राज्य विस्तार बयाना तक फैला दिया था जो दिल्ली और आगरा के सुल्तान के लिए एक चुनौती था । डॉ. अवध बिहारी पाण्डे के मतानुसार "मालवा का राष्य राणा सांगा और इब्राहीम लोदी के बीच कबाब में हड्डी की तरह था ।" सांगा ने गद्दी पर बैठते ही अजमेर पर अधिकार कर, करमचंद पवार के नाम अजमेर का पट्टा लिख दिया । अजमेर दिल्ली सल्तनत के अधीन था । अत: इब्राहीम लोदी चुप न रह सका और ससैन्य मेवाड की ओर प्रस्थान किया ।

युद्ध (1517 ई.)

दोनों ही तरफ की सेनाओं में हाड़ौती सीमा पर 1517 ई. में खातोली गाँव के पास युद्ध हुआ । एक पहर तक युद्ध होने के बाद इब्राहीम लोदी सेना सहित भाग गया । युद्ध में महाराणा के घुटने पर तीर लगने से वह लंगडा हो गया तथा उसका बाँया हाथ भी तलवार से कट गया था ।

इब्राहीम लोदी ने इस हार का बदला लेने के लिए 1518 ई. में मियां मक्खन के नेतृत्व में एक सेना भेजी, किन्तु इस बार भी उसे पराजित होना पड़ा ।

7.10 सांगा व बाबर संघर्ष

जब मध्य एशिया में बाबर अपना राज्य स्थापित करने में असफल रहा तो लोदी सरदारों के आमन्त्रण पर तह भारत आया और यहाँ उसने अपना साम्राज्य स्थापित करना चाहा । इस क्रम में उसने दिल्ली को जीत लिया । बाबर के लिए दिल्ली पर अधिकार करना सरल था; किन्तु अपनी शक्ति को दृढ़ बनाये रखना कठिन था । उत्तर-पश्चिम भारत की विजय और पानीपत में इब्राहीम लोदी की हार ने बाबर को केन्द्रीय हिन्दुस्तान का स्वामी बना दिया था । लेकिन अब भी उसके समक्ष दो प्रीतद्वंदी थे- राजपूत और अफगान । युद्ध परिषद ने अफगान शक्ति का सामना करने को सुझाया फिर भी इस बीच के घटनाक्रमों ने बाबर का ध्यान सांगा की ओर केन्द्रित कर दिया । सांगा व मुगल सम्बन्धों में युद्ध के निम्नांकित कारण थे -

युद्ध के कारण

1. समझौते का उल्लंघन

बाबर ने अपनी आत्मकथा 'बाबरनामा' में लिखा है कि राणा सांगा का दूत काबुल में उसके पास एक संधि प्रस्थताव लेकर उपस्थित हुआ और यह निश्चित हुआ कि'बाबर पंजाब की ओर से इब्राहीम पर आक्रमण करेगा और राणा सांगा आगरा की ओर से । आधुनिक शोध से यह स्पष्ट हो गया हैं कि इस प्रकार का समझौता अवश्य हुआ था किन्तु डॉ. गोपीनाथ शर्मा के अनुसार 'पहल राणा की ओर से न की जाकर बाबर की ओर से की गई । तथा उल्लंघन सांगा द्वारा ही किया गया था । अत: बाबर सांगा से युद्ध करना चाहता था ।

2. धार्मिक कारण

पानीपत युद्ध के परिणाम ज्ञात होते ही राणा ने अपना साम्राज्य विस्तार प्रारम्भ कर दिया । रणथंभौर के पास खंडार दुर्ग सहित करीब 200 स्थानों पर उसने अधिकार कर लिया जो इससे पूर्व सल्तनत के अधीन थे । अत: बाबर का चिंतित होना स्वाभाविक ही था । राणा स्वयं को हिन्दू धर्म का रक्षक मानता था । उधर बाबर चाहता था कि उस इस्लामी शासन को बनाये रखा जाय जो दिगत कुछ शताब्दियों से भारत पर चला आ रहा था ।

3. राजपूत-अफगान गठबंधन

राणा ने महमूद लोदी तथा हसनखां मेवाती को अपने पक्ष में मिला लिया । यह अफगान-राजपूत मैत्री बाबर के लिए अत्यधिक खतरनाक सिद्ध हो सकती थी । अनेक अफगान राणा के पास ससैन्य पहुँचने लगे । इस मैत्री से बाबर चिन्तित हुआ तथा संघर्षअनिवार्य हो गया ।

4. दोनों की महत्वाकांक्षा

बाबर एवं सांगा दोनों ही महत्वाकांक्षी थे । अत: युद्ध अवश्यंभावी हो गया था । दोनों ओर युद्ध की तैयारियाँ होने लगी ।

7.11 खानवा का युद्ध (16,1527 ई.)

बाबर की गतिविधियों का अवलोकन कर राणा सांगा ससैन्य जनवरी 1527ई. के अंत में चित्तौड़ से रवाना हुआ । रणथंभौर होता हुआ दह बयाना पहुँचा और16 फरवरी को महँदीख्वाजा से बयाना दुर्ग छीन लिया । इसके बाद राजपूत सेना ने भुसावर में पडाव डालकर बाबर को काबुल एवं दिल्ली से मिलने वाली सहायता को रोक दिया । मार्च 1,1527 ई. को राणा सांगा फतहपुर सीकरी

से 16 कि.मी. उत्तर-पश्चिम में स्थित खानवा के मैदान में आ गया । बाबर आगरा से 16 फरवरी को रवाना हुआ । उसकी सेना की दशा बडी दयनीय थी । बयाना-युद्ध से भागे हुए सैनिकों ने राजपूत शक्ति का बढ़ा चढ़ा कर वर्णन किया तथा मुगल सेना को हतोत्साहित कर दिया । सभी कायरता की बातें करने लगे । ईरान के ज्योतिषी मुहमद शरीफ की भविष्यवाणी 'विजय में संदेह' ने स्थिति को और अधिक जटिल बना दिया था । बाबर चिंतित तो था किन्तु विचलित नहीं हुआ । उसने अपने शराब पीने के सभी पात्र तुडवा दिये तथा भविष्य में कभी भी शराब न पीने की कसम खाई । साथ ही सेना के समक्ष उसने एक कूटनीतिक ओजस्वी भाषण भी दिया जिससे सेना में नवीन उत्साह का संचार हुआ और सैनिक युद्ध करने को तैयार हो गये ।

सांगा व बाबर के नेतृत्व में दोनों सेनायें आमने-सामने डटी रही और शनिवार मार्च 16,1527 ई. को प्रातः 930 बजे भीषण युद्ध प्रारम्भ हुआ । बाबर ने पानीपत के आधार पर ही सेना की गूह रचना की । मुगल तोपखाने द्वारा भयंकर आग बरसाने पर भी वीर राजपूतों ने अपने निरंतर आक्रमणों से बाबर के होश गुम कर दिये थे । इस बीच राणा सांगा के तीर लग जाने से बेहोशी की हालत में उसे मैदान से हटा लिया गया । राणा के बाद सलूम्बर के रावत रतनसिंह और झाला अज्जा ने युद्ध जारी रखा; किन्तु राजपूतों की हार हुई ।

राणा की हार के कारण

सैनिक संख्या की अधिकता एवं सांगा जैसे योग्य नेतृत्व के उपरान्त भी राजपूत पराजित हुए. इस पराजय के निम्नांकित कारण हैं:-

1. **विश्वासघात:-** कर्नल टॉड, श्यामलदास ने राणा की हार का प्रमुख कारण सिलहदी तंवर का विश्वासघात माना है । जब युद्ध चल रहा था तब तंवर बाबर से मिल गया तथा सांगा की सैनिक कमजोरियों का ज्ञान कराया जिसका लाभ बाबर ने उठाया ।

2. **दैविक प्रभाव:-** हरविलास शारदा का मानना है कि युद्ध के समय सांगा की आँख में तीर लग जाने से वह सैन्य संचालन नहीं कर पाया । युद्ध-क्षेत्र से उसके हटने के समाचार मिलते ही सेना में भगदड मच गई और यह हार का कारण बना ।

3. **सांगा की सेना में एकता का अभाव:-** राणा की सेना में विविध वंशीय सैनिक थे जो अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार युद्ध में सम्मिलित हुए थे और उनका सम्बन्ध जितना राणा से नहीं था उतना अपने वंशीय नेता से था । संपूर्ण सेना पर राणा का प्रभाव इन वंशीय नेताओं के माध्यम से था । इस प्रकार की सेना में एकसूत्र अनुशासन का रहना संभव नहीं था ।

4. **अपवित्र गठबंधन:-** रशब्रुक विलियम ने अफगान-राजपूत गठबंधन को अपवित्र माना है । दोनों में जो उत्साह होना चाहिए था, वह नहीं था । दोनों के उद्देश्य व आदर्श भिन्न थे । दोनों वर्ग एक-दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते थे । युद्ध के समय इस प्रकार का आपसी संदेह हार में बदल सकता था ।

5. **राणा की निष्क्रियता:-** एलीफन्स्ट्न के अनुसार यदि राणा सांगा मुगलों की प्रथम घबराहट पर ही आगे बढ़ जाता तो उसकी विजय निश्चित थी । डॉ. ओझा के अनुसार राणा को बयाना-विजय के बाद खानवा पहुँच जाना चाहिए था । यों उसने पहली विजय के बाद एकदम युद्ध न करके बाबर को तैयारी करने का सुअवसर प्रदान कर दिया था ।

6. **पैदल सेना की अधिकता:-** राजपूतों में पैदल सैनिक अधिक थे, जबकि मुगलों की सेना अधिकांश में घुडसवारों की थी । दुतगति व पैंतरेबाजी की चाल में पैदल और घुडसवारों का कोई मुकाबला नहीं था ।

7. **बाबर का तोपखाना:-** राजस्थानी योद्धाओं को पहली बार तोप का सामना करना पडा था । बारूद के प्रयोग, तोपों और बंदूकों की तुलना में तीर-कमान भाले तलवारें बर्छियाँ आदि निम्न कोटि के थे । 'तीर गोलियों का प्रत्युत्तर नहीं दे सके।

8. **उन्नत मुगल सैनिक पद्धति:-** मुगल रिजर्व तथा घुमाव पद्धति को प्रधानता देते थे और बारी-बारी से इनका प्रयोग करते थे । साथ ही इनमें तोपों और घुडसवारों की आक्रमण विधि में एक सन्तुलन था । मुगल नेता व सेनापति सुरक्षित रहते हुए युद्ध का संचालन करते थे वहाँ राजपूत एक धक्के की विधि से शत्रु दल में भगदड मचा कर, राजपूत नेता सजधज के साथ हाथी पर बैठकर स्वयं अपना शौर्य प्रदर्शित करता था जिससे वह शीघ्र ही सभी बातें का शिकार बन जाता था । राजपूत सैनिक परम्परागत युद्ध की गतिविधि से परिचित थे और उसी में विश्वास रखते थे । मुगल-व्यवस्था एक परिष्कृत सैनिक अवस्था थी जिसमें अफगान, उजबेग, तुर्क, मंगोल, फारसी, भारतीय आदि युद्ध प्रणालियों को समाविष्ट किया गया था । अत: पुरातन और नवीन पद्धति की कोई तुलना न थी । इन कारणों से सांगा व राजपूती सेना खानवा के मैदान में बाबर से लडती हुई पराजित हुई।

युद्ध के परिणाम:- खानवा का युद्ध जो कोई 10 घंटे चला अविस्मरणीय युद्धों में से एक था । युद्ध का निर्णय अंत समय तक तुला में लटका रहा । पानीपत के युद्ध का कार्य खानवा के युद्ध ने पूरा किया । इसने राजपूतों के भारतीय राज्य के स्वप्न को भंग कर दिया । इसके परिणाम निम्नांकित रहे -

1. **बाबर की कठिनाइयों का अंत:-** खानवा का युद्ध एक निर्णायक युद्ध था । इस युद्ध ने बाबर की कठिनाइयों का अंत कर दिया । उसे अपने जीवन की रक्षार्थ जगह-जगह घूमना पड़ा था । काबुल से भारत आने पर भी उसे शांति नहीं मिली थी । राणा सांगा पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त बाबर तथा उसके सैनिकों को किसी प्रकार की चिन्ता न रही और उनके लिए भारत में आगे विजय करना सरल हो गया ।

2. **राजपूत-शक्ति खंडित:-** रशब्रुक विलियम्स ने बताया कि इस युद्ध से भारतवर्ष की सर्वभौमिकता राजपूतों के हाथ से निकल कर मुगलों के हाथ में चली गई थी । लेनपूल ने इस विजय को अंतिम और पूर्ण माना है । उसका तो मानना है कि यदि बाबर राजपूतों का पीछा करता तो एक भी राजपूत जीवित नहीं रह सकता था । निःसंदेह यह कथन अतिशयोक्ति पूर्ण है । राजपूतों की सैनिक शक्ति खंडित हो गई थी किन्तु पूर्णत: नष्ट नहीं हुई । सय बाबर ने भी यह माना है कि राजपूत हारे है परन्तु उनकी शक्ति नष्ट नहीं हुई । अत उसने खानवा-युद्ध के बाद राजस्थान पर आक्रमण करने की नही सोची ।

3. **राणा का स्वप्न भंग:-** मेवाड के लिए तो इस युद्ध के घातक प्रभाव ही हुए । सांगा का यह सम था कि वह बाबर को परास्त कर दिल्ली पर हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करेगा परंतु उसका स्वप्न साकार न हो सका और सांगा की पराजय उसकी मृत्यु का कारण बनी ।

4. **मुगल साम्राज्य की स्थापना:-** इस युद्ध के परिणाम स्वरूप भारतवर्ष में मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई जो आगामी 200 वर्षो तक बना रहा । तब कोई ऐसा नरेश नहीं था जो कि मुगलों का

सामना कर पाता । वास्तव में इस युद्ध ने पानीप्रत के कार्य को पूरा कर दिया । इसके बाद राजपूत कभी भी संगठित नहीं हो सके ।

5. **बाबर के स्थाई राज्य की स्थापना:-** इस युद्ध के राजनीतिक परिणाम भी महत्वपूर्ण रहे थे । जैसा कि बताया गया बाबर का घुमक्कडू जीवन समाप्त हो गया । अब तक वह काबुल के गीत गाया करता था । उसे यह देश अच्छा नहीं लगता था किन्तु इस विजय ने उसे काबुल को भुला दिया और शेष जीवन उसने भारत में ही बिताया ।

6. **बाबर की राजल भावना में परिवर्तन-** अब बाबर की राजत्व भावना में भी बडा परिबर्तन आया । उसने बादशाह की उपाधि धारण की । वह शासक के दैवी सिद्धांतों में विश्वास करता हुआ अपने आपको ईश्वर की प्रतिछाया मानता था जिसे धीरे-धीरे लोगों के हृदय में भी स्थान कर लिया ।

7. **अफगानों के विध्वंस में सरलता:-** खानवा के युद्ध में राजपूतों की शक्ति का विनाश हो जाने से बाबर को अफगानों की बची हुई शक्ति का विध्वंस करने में तथा विद्रोह का दबाने में बडी सहायता मिली ।

8. **युद्ध प्रणाली में परिवर्तन:-** खानवा युद्ध के बाद युद्ध के तरीकों में भी भारी परिवर्तन हो गया था । राजपूत भी गोला-बारूद के प्रयोग से परिचित हुए तथा हाथियों का महत्व घटने लगा । नई रणनीति तुलुगमा पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ हुआ ।

7.12 सांगा की मृत्यु

राणा सांगा को खानवा के युद्ध से घायल अवस्था मे बसवा ले जाया गया । पुन: होश आने पर उसने बाबर से युद्ध कर बदला लेने की इच्छा बक्त की । उसने चित्तौड लौटने के बजाय ससैन्य चंदेरी पहुँच कर युद्ध करना चाहा किन्तु उसके सरदारों ने, जो युद्ध के पक्ष में बिल्कुल ही नहीं थे, राणा को विष दे दिया । जिससे जनवरी 30,1528 ई. को उसका देहांत हो गया । उसका पार्थिव शरीर कालपी से माँडलगढ लाया गया और वही उसकी दाह-क्रिया की गई, जहाँ आज भी उसका स्मारक छत्री के रूप में अवस्थित हैं ।

राणा सांगा मझोले कद का हृष्ट-पुष्ट योद्धा था । बदन गठा हुआ, चेहरा भरा हुआ, लम्बे हाथ, बडी-बडी आँखें और रंग गेहुँआ था । मृत्यु के समय उसके एक आँख, एक हाथ और एक टाँग ही थी और उसके शरीर पर 80 घावों के निशान भी मौजूद थे फिर भी उसका यश, प्रभुत्व और जोश कम नहीं हुआ था । वास्त्व में मेवाड़ के महाराणाओं में सांगा ऐसा प्रतापी शासक था जिसने अपने पुरूषार्थ से मेवाड को उन्नति के शिखर पर पहुँचा दिया । बाबर ने भी स्वीकार किया कि, 'राणा सांगा अपनी बहादुरी और तलवार के बल पर बहुत बड़ा हो गया था । माल्वा, दिल्ली और गुजरात का कोई अकेला सुल्तान उसे हरा नहीं सकता था ।

7.13 सांगा के बाद मेवाड़

खानवा के निर्णायक युद्ध के पश्चात भी बाबर हो राजस्थान की ओर बढ़ने का साहस नहीं हुआ परंतु मेवाड की आन्तरिक घटनाओं ने उसको अधिक निर्बल बनाने में सहयोग दिया । सांगा ने अपने जीवन काल में ही राज्य का विभाजन कर दिया था । रणथंभौर का क्षेत्र उसने अपने छोटे पुत्र विक्रमादित्य व उदयसिंह को दे दिया था और रानी कर्मवती को जो इन राजकुमारों की माँ थी, संरक्षक नियुक्त कर

दिया । सांगा के बाद उसका बड़ा लड़का रतनसिंह चित्तौड़ की गद्दी पर बैठा । उसने यह विभाजन कभी मन से स्वीकार नहीं किया था । अत: गद्दी पर बैठने के पश्चात रणथंभौर को लेने का पुन: प्रयास किया परंतु कर्मवती और उसके भाई सूरजमल हाडा (बून्दी) ने दुर्ग देने में आना-कानी ही नहीं की अपितु सम्पूर्ण मेवाड़ का विक्रमादित्य को शासक बनाने का प्रयास किया । कर्मवती ने तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बाबर तक का सहयोग मांगा । मेवाड के सौभाग्य से बाबर अन्य क्षेत्रों में व्यस्त होने अथवा कर्मवती के प्रस्ताव को गम्भीरता से न लेने से उसकी स्वतंत्रता को आँच नहीं आई । परंतु आपसी मनोमालिन्य का प्रभाव यह पड़ा कि रतनसिंह एवं सूरजमल ने एक दूसरे को मारने के प्रयास में अपनी जीवन लीला समाप्त कर ली । रतन सिंह के कोई सन्तान न होने से विक्रमादित्य 1531 ई. में मेवाड का महाराणा बना ।

इस प्रकार गृह कलह का तो अन्त हो गया परंतु मेवाड की दुर्दशा का अन्त नहीं हुआ । विक्रमादित्य के कार्य कलापों से सामन्तों के विद्रोह होने लगे, प्रशासनिक अवस्था छिन्न-भिन्न हो गई तथा आर्थिक दशा पर विपरीत प्रभाव पड रहा था । ऐसे समय में गुजरात के बहादुरशाह के दो आक्रमणों का सामना मेवाड को करना पडा । परिणामस्वरूप बडी संख्या में सैनिक मारे गये और बहादुरशाह का अधिकार हो गया । कर्मवती ने हजारों स्त्रियों के साथ जौहर किया ।कुछ समय बाद राजपूतों ने चित्तौड को पुन: अधिकार में कर लिया । राणा विक्रमादित्य, जिसे युद्ध के समय बून्दी भेज दिया गया था, पुन: चित्तौड की गद्दी पर बैठा । परंतु विक्रमादित्य ने इतना सब होते हुए भी अपनी कार्य प्रणाली में कुछ भी परिवर्तन नहीं किया । बाध्य होकर सामन्तों ने सागा के बड़े भाई पृथवीराज के ओरस पुत्र बनबीर के नेतृत्व में संगठित होकर विक्रमादित्य की हत्या कर डाली मेवाड का राज्य निष्कंटक बनबीर को मिल जाए इसलिए उसने विक्रमादित्य के अनुज उदयसिंह को भी मारने का प्रयास किया परंतु पन्नाधाय के अनुपम त्याग से उदयसिंह को सुरक्षित कुम्भलगढ पहुँचा दिया गया । बनबीर का व्यवहार भी सामन्तों के प्रति ठीक नहीं था । अत: कुछ सामन्तों ने अब उदयसिंह का नेतृत्व स्वीकार कर लिया और बडे प्रयासों के बाद बनबीर पर हमला कर 1540 ई. में उदयसिंह को चित्तौड का महाराणा बना दिया ।

उदयसिंह को गद्दी पर बैठते ही दिल्ली के सुल्तान शेरशाह की समस्या का सामना करना पड़ा । इन समस्याओं से निपटने के बाद उदयसिंह का ध्यान मेवाड में प्रशासनिक अवस्था स्थापित करने, विद्रोहियों का दमन करने, सामरिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने की ओर गया ही था कि तब तक मेवाड को अकबर के आक्रमण का सामना करना पड़ा । अकबर ने राजस्थान में अपने साम्राज्य-विस्तार कार्यक्रम में मुख्य बाधा मेवाड को मान चित्तौड पर आक्रमण किया । अक्टूबर 1567ई. में उसने चित्तौड़ को जा घेरा । इसके पूर्व ही मेवाड की युद्ध परिषद के निर्णय के अनुसार चित्तौड को जयमल व पत्ता के नेतृत्व में रख उदयसिंह राज्य की दक्षिणी पहाडियों में चला गया । अकबर ने चार मास के कडे संघर्ष के पश्चात चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया । इस युद्ध में मेवाड के आठ हजार योद्धा काम आये तथा करीब तीस हजार निरीह जनता का अकबर की आज्ञा से मुगल सैनिकों ने वध किया । इस युद्ध के कुछ वर्षो बाद फरवरी 28,1572 ई. को उदयसिंह का गोगुन्दा में देहान्त हो गया । उदयसिंह की इच्छानुसार उसके छोटे लडके जगमाल का राजतिलक हुआ । परंतु उसके बडे पुत्र प्रताप के साथ हुए अन्याय को सामन्तों ने बर्दाश्त नहीं किया और जगमाल को हटा प्रताप का राजतिलक किया । इन विषम परिस्थितियों में प्रताप मेवाड का महाराणा बना ।

7.14 महाराणा प्रताप

प्रताप का जन्म मई 9,1540 ई. को हुआ था । उसकी माता जयवंता बाई पाली के अखैराज सोनगरा चौहान की पुत्री थी । फरवरी 1572 ई. में प्रताप के पिता महाराणा उदयसिंह की गोगुन्दा में मृत्यु हो गई । उसने प्रताप के अधिकारों की अवहेलना कर अपने दूसरे पुत्र जगमाल को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था, क्योंकि जगमाल की माता भटियाणी पर उसकी विशेष कृपा थी । अत: उदयसिंह की मृत्यु के बाद जगमाल को राजगद्दी पर भी बैठा दिया था, किन्तु यह स्थिति अधिक देर तक न रही । जालोर के अखैराज सोनगरा व ग्वालियर के रामशाह तंवर ने इसका विरोध किया । तब रावत कृष्णदास व रावत सांगा ने अन्य प्रमुख सामन्त-सरदारों की सहमति से प्रताप को गद्दी पर बिठाने का निर्णय कर, उदयसिंह की दाह क्रिया से लौटते ही फरवरी 26,1572 ई. को प्रताप को गोगुन्दा मे मेवाड की राजगद्दी पर बिठाया । इससे क्रुद्ध हो जगमाल मेवाड छोड्कर चला गया । अजमेर के सूबेदार के प्रयत्नों से उसे अकबर ने पहले जहाजपुर का परगना और फिर सिरोही का आधा राज्य प्रदान किया । परंतु दुर्भाग्य ने जगमाल का वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ा और अक्टूबर 17,1583 ई. को हुए दताणी युद्ध में वह काम आया ।

7.15 मेवाड़ की दशा

जब प्रताप गद्दी पर बैठा उस समय मेवाड में कुछ भी नहीं बचा था । आर्थिक एवं सामाजिक जीवन नष्ट हो गया था, व्यापार एवं उद्योग-धन्धे समाप्त से हो गये थे । प्रशासनिक व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त थी । मेवाड का उपजाऊ प्रदेश मुगलों के पास था । चित्तौड़ पतन के बाद उदयसिंह आर्थिक स्थिति में अधिक सुधार भी नहीं कर पाया था । सभी महत्वपूर्ण व्यापारिक मार्ग अवरूद्ध थे । ऐसी कठिन परिस्थितियों में प्रताप मेवाड का महाराणा बना । उस समय उसकी आयु 31 वर्ष के लगभग थी । मेवाड में इस समय ग्वालियर और सिरोही के शासक आश्रय पा रहे थे तथा मेवाड को छोड, शेष राजस्थान के शासकों ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर ली और कई एक ने तो मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित कर लिए थे । इन परिस्थितियों में मुगलों से युद्ध अवश्यभावी था । अबकर एक महत्वकांक्षी शासक था । उत्तरी भारतवर्ष में मेवाड को, जिसका क्षेत्रफल भले ही कम हो किन्तु एक स्वतंत्र राज्य के रूप में उसका महत्व था, अकबर मेवाड को अपने अधीन करना चाहता था किन्तु वह यह भी जानता था कि मेवाड़ पर एकाएक विजय प्राप्त करना भी आसान नहीं हैं । यों देखा जाय तो अकबर की साम्राज्यवादी लिप्सा में मेवाड के स्वतंत्र अस्तित्व का कोई स्थान नहीं था । तत्कालीन सर्व शक्तिमान शासक के लिए तो मेवाड की स्वतंत्रता वस्तुत: एक बहुत बड़ी चुनौती थी । ऐसे समय में महाराणा प्रताप के सामने दो ही मार्ग थे- 1. या तो वह अन्य राज्यों के अनुरूप अकबर की अधीनता स्वीकार कर अकबरी साम्राज्य में उच्च ओहदा (स्थान, पद) प्राप्त करे अथवा 2. संघर्ष के लिए तैयार रहे । दूसरा मार्ग कंटकमय था । परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल थीं । परंतु इन सब विपरीत परिस्थितियों के उपरान्त महाराणा के सामने स्पष्ट आदर्श था । प्रताप को स्वतंत्रता प्रिय थी । इसकी रक्षा के लिए वह सब कुछ बलिदान करने को तत्पर था । इस उच्च आदर्श से प्रेरित होकर प्रताप ने दूसरा ही विकल्प ग्रहण किया ।

7.16 संघर्ष की प्रारम्भिक तैयारियां

यों अकबर और प्रताप का संघर्षसाम्राज्य-विस्तार और स्वातंन्य-प्रियता के बीच का संघर्ष था । प्रताप ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से मेवाड में एकता स्थापित करने का प्रयास किया । उसने राज्य के दो प्रमुख आधार स्तम्भों-सामन्तों और भीलों को एक सूत्र में संगठित किया । डॉ.गोपीनाथ शर्मा के मतानुसार "प्रताप प्रथम शासक था जिसने भीलों के महत्व को समझा तथा भील-राजपूत शासन व्यवस्था की नीव डाली । प्रताप ने संघर्ष की तैयारी हेतु गोगुन्दा के बजाय कुम्भलगढ को अपनी राजधानी बनाया । यही पर प्रताप ने जब अपने सिंहासनारूढ़ होने का उत्सव मनाया तब मारवाड का सब चन्द्रसेन भी उस समय कुम्भलगढ में उपस्थित था । इस घटना से यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भ से ही प्रताप ने अपने सीमित साधनों का अधिक से अधिक लाभ उठाने की दृष्टि से राजस्थान की अन्य शक्तियों से संगठन वार्ता शुरू कर दी । तब राजस्थान में राव चन्द्रसेन मुगल-विरोध का प्रतीक था और कुम्भलगढ में उसकी उपस्थिति, राठौड़-सिसोदिया गतवचन का एक कारण बन सकती थी तथा दोनों ही जातियों का संगठन मुगलों के लिये काफी कठिनाई उत्पन्न कर सकता था । दोनों के बीच वार्ता हुई और दोनों ने मुगलों का विरोध करने का निश्चय किया तथा एक-दूसरे को सहायता देने का आशवासन भी दिया।

संधि वार्ता

उधर अकबर की भी मान्यता थी कि मेवाड की अस्त-व्यस्त स्थिति के उपरान्त भी प्रताप से युद्ध करना आसान नहीं, अत: अकबर ने वार्तालाप द्वारा प्रताप को अधीनता स्वीकार कराने का प्रयास किया । 1572 ई. से 1576 ई. के बीच एक के बाद एक करके चार शिष्ट मण्डल प्रताप के पास इसी उद्देश्य से भेजे । महाराणा जानता था कि वार्तालाप से कोई हल नहीं निकलने वाला है, परंतु भावी संघर्षकी तैयारी के लिये आवश्यक समय प्राप्त किया जा सकता हैं । अत: बातचीत के द्वार अपनी ओर से बन्द नहीं किये । वास्तव में अपने व्यवहार से महान कूटनीतिज्ञ होने का उसने परिचय दिया । अकबर ने प्रताप से संधि कर अधीनता स्वीकार कर लेने हेतु निम्न प्रकार से शिष्ट मण्डल भेजे ।

शिष्ट मण्डल के प्रयास

अगस्त 1572 ई. में अकबर ने जलालखाँ कोरजी को वार्ता के लिए मेवाड भेजा । जलालखाँ बुद्धिमान व वाक्पट्टु दरबारी था । प्रताप ने भी उसका स्वागत किया परंतु उसे असफल ही लौटना पडा । यों अपने प्रथम प्रयास के अनुकूल परिणाम न देख अकबर ने इस कार्य के लिये राजस्थानी सामन्तों में से किसी को भेजने की सोची । इस नीति के पीछे अकबर का दोहरा उद्देश्य हो सकता था । उसका मानना था कि सजातीय होने से उनमें घनिष्ठता की भावना हो सकती है और बातचीत संभव हो सकती है । वार्ता असफल हो जाने पर प्रताप विरोधी भावना राजपूत शासकों में प्रज्जवलित हो जावेगी जिसकी अकबर को आवश्यकता थी । इसलिये गुजरात-विजय के पश्चात् मानसिंह को मेवाड में भेजा । किन्तु उसके असफल लौट आने पर अकबर 1573 ई. में राजा भगवंतदास को भेजा परन्तु वह भी असफल ही आया ।

इसके कुछ समय पश्चात् अकबर ने एक और प्रयास किया और राजा टोडरमल को भेजा किन्तु उसे भी अपने उद्देश्य में सफलता नहीं मिली । यों वार्तालाप से अधीनता स्वीकार कराने मे जब अकबर सफल नहीं हुआ तो उसने अब शक्तिप्रदर्शन के माध्यम का आश्रय लिया ।

मानसिंह की नियुक्ति

काबुल एवं अन्य स्थानों से छुटकारा पाकर अकबर 1576 ई के प्रारम्भिक महीनों में मेवाड-अभियान प्रारम्भ करने के उद्देश्य से अजमेर पहुँचा । यहाँ रहकर वह युद्ध क्षेत्र की नवीनतम गतिविधियों से सम्पर्क रख सकता था । यहीं उसने अप्रेल 3,1576 ई को मानसिंह के नेतृत्व में मुगल अभियान प्रारम्भ करने की घोषणा की । जे.एम. शैलेट के मतानुसार मानसिंह को नेतृत्व देना अपने आप में एक महत्वपूर्ण घटना है । हेमू को छोड़कर यह पहला अबसर था जब मुस्लिम सेना का नेतृत्व किसी हिन्दू को दिया गया हो । मुस्लिम सामन्तों में इसका विरोध था । स्वयं अकबर भी विरोध से परिचित था इसलिये मानसिंह की नियुक्ति की घोषणा आगरा से न कर अजमेर से की । बदायूँनी का कहना है कि नकीब खाँ इस युद्ध में सम्मिलित होना चाहता था परन्तु हिन्दू के हाथ में नेतृत्व होने के कारण उसने इसमें सम्मिलित होना उचित नहीं समझा । मुगल मनसबदारों के अतिरिक्त मानसिंह की नियुक्ति के पीछे अकबर के कुछ निश्चित उद्देश्य होने चाहिए । ऐसा प्रतीत होता है कि उसका मुख्य उद्देश्य राजपूतों में प्रताप के विरूद्ध लड़ने की अनिच्छा को समाप्त करना था ।

अकबर का मानना था कि मानसिंह के नेतृत्व में मुगल सेनायें होने के कारण प्रताप पहाडों की सहायता न लेकर खुले मैदान में लडेगा क्योंकि आमेर के शासक कुछ समय पूर्ब तक मेवाड की अधीनता में थे । ऐसे वंश के व्यक्ति के नेतृत्व में मेवाड के विरूद्ध आने वाली सेना का मुकाबला करने के लिये प्रताप पहाड़ी की बजाय खुले मैदान में लडना चाहेगा । क्योंकि अकबर यह जानता था कि यदि प्रताप खुले मैदान में लडेगा तो मुगलों को सफलता प्राप्त हो सकेगी ।

प्रताप को मानसिंह के नेतृत्व में आने शली मुगल सेना के बारे में समाचार मिला तो उसने माँडलगढ तक पहुँचकर सामना करने का निश्च्य किया परंतु अपने सामंतों के विरोध के कारण उसे अपना यह विचार छोडना पड़ा उधर मानसिंह अजमेर से रवाना हो माँडलगढ पहुँचा जहाँ वह दो माह तक ठहरा रहा । इतने लम्बे समय तक ठहरे रहने के पीछे उसके दो उद्देश्य थे - 1 अपने रसद माल को सुरक्षित रखना तथा 2. प्रताप के धैर्य को समाप्त करना ।

माँडलगढ से रवाना हो बनास नदी के किनारे मोलेला नामक स्थान पर मुगल सेना ने पडाव डाला । प्रताप को जब शाही सेना के माँडलगढ से प्रयाण के समाचार मिले तो वह भी ससैन्य गोगुन्दा से लोसिंग पहुँचा । सामरिक दृष्टि से प्रताप के लिये यह बडा ही उपयुक्त स्थान था । प्रताप के लिए सबसे अच्छी रणनीति यह होती कि मानसिंह को वही आने को बाध्य करता और संकरे मार्ग में घेर कर उसकी सेना को नष्ट कर देता । किन्तु एक तो राजपूतों ने तब तक छापामार युद्ध की कला को पूरी तरह समझा न था, दूसरे प्रताप के बीर सरदार शत्रु पर टूट पडने को आतुर थे । इसलिये प्रताप इस दुर्गम मार्ग से होकर आगे बढ़ा ।

सेना का जमाव

प्रताप ने अपनी सेना का विभाजन करते हुए हरावल का नेतृत्व पठान हकीमखां सूर को दिया तथा मुख्य सेना के दाहिने पार्श्व में भामाशाह तथा उसका भाई ताराचन्द और ग्वालियर को भूतपूर्व राजा रामशाह को अपने पुत्रों सहित तैनात किया । बायें पार्श्व में मानसिंह, अखैराजोत सोनगरा मानसिंह झाला, बीदा झाला आदि के साथ नियुक्त था । पृष्ठ भाग में मील धनुर्धारी और केन्द्र में प्रताप था । चन्दावल में अपने साथियों सहित पानरवा का राणा-पूँजा था ।

मुगल सेना का जमाव

उधर मानसिंह ने शाही सेना को जमाते हुए हरावल में जगन्नाथ कछवाहा और आसफखां को रखा तथा सैयद हाशिम बारहा की देखरेख में कोई 80 योद्धाओं को रखा गया था जिन्हें चूजे इरावल

कहा जाता है । मुख्य सेना के बायें भाग का नेतृत्व गाजीखां बदख्शी कर रहा था । दाहिने भाग का नेतृत्व सैयद अहमद खां बारहा कर रहा था और पृष्ठ भाग में चन्दावल का नेतृत्व महतर खां के अधीन था । मानसिंह केन्द्र में था ।

ख्यातों में आये वर्णन के अनुसार मानसिंह के अधीन मुगल सेना में अस्सी हजार और राणा की सेना में 20 हजार घुडसवार थे । नैणसी, मानसिंह की सेना की संख्या चालीस हजार और राणा की 9-10 हजार बताता है लेकिन टॉड का मत है कि बाईस हजार वीर राजपूत युद्ध क्षेत्र में उतारे उनमें से 14 हजार युद्ध-क्षेत्र में मारे गये । बदायूनी मानसिंह की सैनिक संख्या पाँच हजार तथा राणा की तीन हजार बताता है । इस प्रकार दोनों सेनाओं की संख्या को लेकर विद्वान एकमत नहीं हैं ।

7.17 हल्दीघाटी का युद्ध

दोनों सेनायें कुछ दिनों तक प्रतीक्षा करती रही परंतु अन्त में व 8 जून 1576 ई. को प्रताप की सेना के अग्रभाग ने, जिसका नेतृत्व हकीम खां कर रहा था, पहाडों से निकल कर मुगल सेना पर आक्रमण किया । इस आक्रमण से मुगल सेना का हरावल छिन्न-भिन्न हो गया । यहाँ तक कि वाम पार्श्व में नियुक्त मुगल सैनिक भी भेडों के झुण्ड की तरह भाग निकले । इसी प्रकार मेवाड की सेना का दूसरा भाग जो प्रताप के नेतृत्व में था उसने भी आक्रमण कर मुगल सेना में खलबली मचा दी । अच्छे-अच्छे मुगल योद्धा युद्ध भूमि से 15-20 किमी से भी अधिक दूर भाग कर जीवन सुरक्षित रख सके । राणा और मानसिंह का भी आमना-सामना हो गया । मानसिंह सौभाग्य से ही बच सका । राणा ने अद्भुत वीरता का प्रदर्शन किया । हाथियों का युद्ध भी रोमांचक था जैसे ही प्रथम आक्रमण के बाद मुगल पुन: व्यवस्थित हुये तो प्रताप ने युद्ध को खुले मैदान से हटाकर पहाडी क्षेत्र में मोड़ना चाहा । इसी उद्देश्य से अपनी सेना के दोनों भागों को एकत्रित कर पहाड की ओर रवाना हुआ । परंतु मुगल सेना में प्रताप का पीछा करने का साहस व शक्ति नहीं थी । मुगलों को भय था कि प्रताप की सेना पहाड़ों में घात लगाकर न बैठी हो । वास्तव में अगर प्रताप का पीछा करती हुई मुगल सेना पहाडी क्षेत्र के आन्तरिक भाग में पहुँच जाती तो थकी हुई मुगल सेना परकहर गिर पड़ता । अत: वे अपने पडाव में लौट गये । युद्ध का प्रारंभ घाटी के मुहाने से हुआ था और यहाँ मिट्टी का रंग हल्दी जैसा होने से इसे हल्दीघाटी का युद्ध कहते हैं । प्रमुख युद्ध रक्ततात-क्षेत्र में हुआ । यह क्षेत्र खमनोर गाँव के पास स्थित होने से इसे खमनोर का युद्ध भी कहते हैं । अबुल फजल ने इसे गोगुन्दा का युद्ध लिखा है । युद्ध किसके पक्ष में

इस युद्ध के दौरान सब बातों की पहल प्रताप ने अपने पास रखी । उसने मुगलों को अपने ही चुने हुए स्थान समय व तरीके से लडने को बाध्य किया । आक्रमण का प्रारम्भ भी उसने ही किया । हाथियों को भी उसने ही अपने चुने हुए स्थान पर लड़ाया तथा मैदान से पहाड़ों की ओर युद्ध को स्थानान्तरित करने का प्रयास भी उसी ने किया । प्रताप, हकीमखां सूर, ग्वालियर के रामशाह के नेतृत्व में हुये मेवाडी आक्रमण की भयंकरता को स्वयं बदायूँनी स्वीकार करता है । उसका मानना है कि इन आक्रमणों ने मुगलों की रक्षा पंक्ति छिन्न-भिन्न कर दी । अच्छे-अच्छे मुगल योद्धा युद्ध भूमि से 15-20 किमी. से भी अधिक दूर भाग कर जीवन सुरक्षित रख सके । मानसिंह भी सौभाग्य से ही बच पाया । मुगलों की सैनिक संख्या प्रताप से करीब तीन गुना थी । अत: जैसे ही प्रथम आक्रमण के बाद मुगल सैनिक पुन: व्यवस्थित हुये तो प्रताप ने युद्ध को खुले मैदान से हटा पहाड़ी क्षेत्र की ओर मोडना चाहा । इस उद्देश्य की पूर्ति के सन्दर्भ में बदायूँनी लिखता है कि मैदान से हटने के पहले प्रताप की सेना

के दोनों भाग मिले और पहाडों की ओर लौट गये, ऐसी स्थिति में इस भय से कि प्रताप सेना सहित पहाड़ों में छिपा हुआ है मुगल सेना का उधर जाने का साहस नहीं हुआ । मानसिंह स्थिति को जानता था । प्रताप के पहाडी में नये चुने हुये स्थान पर लड़ने का अर्थ सम्पूर्ण मुगल सेना की जान खतरे में डाल देना होता । अगर मानसिंह चतुराई न करता और प्रताप के जाल में आ जाता तो उसे करारी हार का सामना करना पडता । प्रताप का पलड़ा भारी

परिस्थितियों को देखें तो स्पष्ट है कि प्रताप हारा नहीं । अगर ऐसा होता तो मुगल संघर्षमें प्रताप के अनुयायी ही उसका नेतृत्व सीकार नहीं करते । 50 वर्ष पूर्व खानवा युद्ध की हार के पश्चात् सांगा बाबर से लड़ने के लिये चंदेरी की ओर रवाना हुआ परन्तु उसके सामन्तों ने उसके नेतृत्व में लडने के बजाय सांगा को विष देकर उसका जीवन समाप्त कर दिया । हल्दीघाटी के युद्ध के चालीस वर्ष बाद प्रताप के उत्तराधिकारी अमरसिंह ने लम्बे संघर्ष के बाद 1615 ई. में मुगलों से संधि कर ली । यह संधि मेवाड के लिये पूर्ण सम्मानजनक थी फिर भी समझौता कर लेने से अमरसिंह को इतनी आत्मग्लानि हुई कि अपने शेष जीवन काल में महलों से बाहर नहीं आया । उसने राज्य कार्य अपने पुत्र के हाथों में सौप दिया । प्रताप का शासक बनने के बाद यह पहला ही युद्ध था इसमें हार जाने पर किसी भी स्थिति में उसका नेतृत्व स्वीकार नहीं होता ।

बदायूँनी भी जीकार करता है जब युद्ध के समाचार लेकर वह अकबर के पास जा रहा था तब मार्ग में मुगल-विजय के बारे में बताता तो कोई भी उस पर विश्वास नहीं करता । यहाँ तक कि अकबर ने भी मानसिंह द्वारा भेजे गये संदेश पर विश्वास नहीं किया । अत: महमूद खां को वास्तविक स्थिति का पता लगाने मेवाड़ भेजा ।

परिणाम

इस युद्ध का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि गत अर्द्ध शताब्दी से चले आ रहे राजस्थान मुगल संघर्षमें पहली बार मुगल मेवाड़ को हरा न सके । मुगलों की निरन्तर विजयों से उनके अजेय होने का जो भ्रम भारतीय राजनीतिक क्षितिज में व्याप्त था उसे इस युद्ध ने ध्वस्त कर दिया । कतिपय इतिहासकारों ने इस युद्ध में प्रताप की हार बताई तथा युद्ध क्षेत्र से भाग जाने की बात कही । लेकिन पर्शियन इतिहासकार बदायूँनी जो सय युद्ध क्षेत्र में मुगलों की ओर से लडने के लिए उपस्थित था उसकी पुस्तक के आलोचनात्मक अध्ययन से उपर्युक्त कथन निर्मूल सिद्ध होता है । 'राजप्रशसित' 'राजप्रकाश' सूरखण्ड शिलालेख व 'जगदीश मंदिर प्रशस्ति' ने स्पष्ट रूप से प्रताप को विजयी माना हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस प्रकार के साधनों में अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन की सम्भावना रहती है परंतु हार को विजय में परिणत कर दे इतनी नहीं । किसी भी राजस्थानी स्त्रोतों में पूर्ण पराजय को विजय में बदलने का उदाहरण नहीं मिलता हैं । खानवा की हार को किसी ने न तो जीत कहा न ही अनिर्णायक युद्ध माना, न ही 1568 ई. में अकबर के चित्तौड अधिकार को नकारा है । अत: यह दोष उपर्युक्त प्रशस्तियों के निर्माता अथवा उत्कीर्णकर्ताओं पर भी नहीं लगाया जा सकता ।

अगर मुगल विजयी होते तो मानसिंह व आसफखां को पारितोषिक मिलता । इसके विपरीत मुगल दरबार में उनकी उपस्थिति पर भी पाबन्दी लगा दी । यद्यपि यह आज्ञा कुछ समय पश्चात् वापिस ले ली गई परंतु इससे इतना तो निश्चित है कि युद्ध का संचालन एवं परिणाम आशा के अनुकूल नहीं रहा । कई इतिहासकार इसे अनिर्णायक युद्ध भी मानते हैं ।

प्रताप के नेतृत्व में विश्वास की वृद्धि

इस युद्ध का अन्य परिणाम यह रहा कि इससे एक ओर प्रताप का स्वयं में आत्मविश्वास बढ़ा तो दूसरी ओर उसके नेतृत्व की जन-मानस में प्रगाढ़ आस्था । खानवा-युद्ध के पश्चात् ही भारत विदेशी आक्रमणकारियों का सामना करने के लिये नेतृत्व विहीन हो गया था । अब इस रिक्तता की पूर्ति प्रताप के रूप में हुई । इसीलिये राजस्थान में छोटे-छोटे राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा की आकांक्षा में प्रताप के नेतृत्व को स्वीकार किया । बांसवाडा, डूँगरपुर, ईडर, सिरोही, जालोर, बून्दी आदि सभी ने प्रताप से संधि सम्बन्ध स्थापित किये । अकबर प्रताप के एक संगठन को तोड़ता तो प्रताप दूसरा संगठन खडा कर देता । वह इस युद्ध के बाद शेष संघर्षमें कभी अकेला नहीं रहा । अगर मुगल ईडर के नारायणदास को प्रताप से अलग करता तो प्रताप जालोर के ताजखां व जोधपुर के चन्द्रसेन से सैनिक गठबंधन कर लेता । मुगल सेनायें इनके विरूद्ध पहुँचती तो सिरोही प्रताप के साथ मुगलविरोधी अभियान के लिए तैयार मिलता । इसी प्रकार डूँगरपुर, बांसवाडा बराबर प्रताप से सैनिक सन्धि में बंधे रहे ।

नीति में परिवर्तन

हल्दीघाटी युद्ध का राजनीतिक ही नहीं अपितु प्रताप की युद्ध नीति पर भी महत्वपूर्ण प्रभाव रहा । इस युद्ध के अनुभव से प्रताप ने मुगल आक्रमणों का सामना करने के लिये त्रि-सूत्री युद्ध नीति अपनाई-

1. जनमानस का विशाल पैमाने पर सहयोग
2. मित्र राज्यों की सेनाओं से अपने-अपने स्थानों पर मुगल-विरोधी अभियान कराना और
3. केवल मात्र छापामार युद्ध प्रणाली को अपनाना ।

प्रताप ने स्वतन्त्रता की रक्षा का उत्तरदायित्व स्वयं अथवा राज्य के सैनिकों तक ही सीमित नहीं रखा । समस्त जनमानस को भी इस उच्च आदर्श के लिए प्रेरित किया । उसकी प्रेरणा से ही राज्य का प्रत्येक नागरिक स्वतन्त्रता का सैनिक बन गया । यह बहुत ही आश्चर्यजनक है कि मुगलों के सब प्रकार के प्रलोभनों के बाद भी अकबर प्रताप संघर्षमें एक भी व्यक्ति ने प्रताप का साथ नहीं छोड़ा । छापामार प्रणाली को इतना प्रभावशाली ढंग से अपनाया कि प्रताप हल्दीघाटी का युद्ध भी नहीं हारा और मुगल-मेवाड संघर्षमें वह अन्त में विजयी रहा ।

गोगुन्दा में मुगल सेना की दुर्दशा

युद्ध स्थल से चलकर मुगल सेना ने गोगुन्दा मे अपना पडाव डाला परन्तु प्रताप ने सुरक्षा एवं रसद सामग्री की ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि मुगल सेना बन्दियों की तरह पड़ी रही । प्रताप ने पहाड़ी प्रदेश में पूरी नाकेबन्दी कर मुगलों का रसद मार्ग अवरूद्ध कर दिया । सैनिक खाद्य पदार्थ के अभाव में भूख से व्याकुल हो गये । मुगल पड़ाव की भयावह स्थिति का वर्णन बदायूनी के विवरण से भी स्पष्ट होता है । उसने लिखा है कि महाराणा के आकस्मिक आक्रमण से भयभीत होकर अमीरों ने गोगुन्दा की गलियों में अवधान खडे कर दिये और नगर के चारों और खाई खुदवा दी और इतनी ऊँची दीवार बनवादी कि कोई भी प्रताप की सेना का सवार उसको लांघ न सके । बदायूंनी के अनुसार खाद्य सामग्री के अभाव ने सैनिकों के लिए और विकट समस्या पैदा कर दी । मेवाडी सेना के आक्रमण के भय से खाद्य-सामग्री एकत्रित करने के लिए मुगल गोगुन्दा से बाहर आने का साहस नहीं कर सकते थे । उनको अपने ही जानवरों के मांस तथा आम जो उस क्षेत्र में विशेष होते थे उनको खा कर ही सन्तोष करना पड़ा । परंतु इसका साख्य की दृष्टि से मुगल सैनिकों पर विपरीत प्रभाव पडने लगा और अनेक बीमार हो गये । अत: करीब तीन माह बाद ही सैनिकों को गोगुन्दा छोडना पड़ा ।

7.18 अकबर के पुन: प्रयास

मुगल सेना के गोगुन्दा से लौटते ही अकबर 1576 ई. के अन्तिम महीनों में मेवाड में आया परंतु उसको भी खाली हाथ लौटना पड़ा । उसके जाते ही प्रताप ने मेवाड़ के सममतल प्रदेशों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया । अत: अकबर ने शाहबाज खां को अक्टूबर 1577 ई. में ससैन्य भेजा । यद्यपि वह कुम्भलगढ़ को लेने में सफल हुआ परंतु प्रताप को पकड़ न सका । शाहबाज खां दुबारा दिसम्बर 1578 ई. में तथा नवम्बर 1579 ई. में तीसरी बार मेवाड़ में आया परंतु प्रताप की छापामार युद्ध नीति ने इस सेना को इतना परेशान कर दिया कि सेना को असफल होकर लौटना पडा । 1580 ई. में अब्दुर्रहीम खानखाना के नेतृत्व में मुगल सेना आई परन्तु प्रताप के पुत्र अमरसिंह ने अचानक आक्रमण किया और खानखाना के हरम को भी अपने अधिकार में ले लिया परंतु प्रताप के आदेश से मुगल स्त्रियों को सम्मान खानखाना के पास भेज दिया । इस विजय ने प्रताप की कीर्ति को चारों ओर प्रकाशित किया तथा प्रताप को आक्रमक रूख अपनाने की प्रेरणा भी मिली ।

दिवेर युद्ध:- इस बीच कुम्भलगढ़ छोडने के बाद प्रताप ने अपनी सैनिक तैयारियों में कोई कमी नहीं आने दी । उसने अपना केन्द्र गोगुन्दा से उत्तर-पश्चिम में 16 कि.मी. दूर स्थित ढोलाण (ढोल) गाँव में स्थापित किया ।

अकबर को अन्य क्षेत्र में व्यस्त पाकर प्रताप ने अपना सैनिक अभियान पश्चिमी मेवाड के पहाडी क्षेत्रों में स्थित मुगल थानों और चौकियों पर आक्रमण कर उन्हें अपने अधिकार में लेना शुरू कर किया । उसने अपना सर्वप्रथम सम दिवेर पर अधिकार करने का रखा । दिवेर कुम्भलगढ से 40 कि.मी. दूर स्थित है । यह स्थान भौगोलिक एवं सामरिक महत्व का था । सन् 1582 ई. में विजयादशमी के आसपास प्रताप ने दिवेर पर जबरदस्त आक्रमण किया । युद्ध में कुंवर अमरसिंह ने भी अद्‌वितीय शौर्य का प्रदर्शन किया । 'अमर काव्य' के अनुसार उसने दिवेर थाने के मुखिया अकबर के काका सेरिमा सुल्तान खां पर भाले का ऐसा बार किया कि एक ही बार में सुल्तान खां एवं उसका घोड़ा मारा गया तथा उसके टोप व बख्तर के भी टुकडे-टुकडे हो गये । इस अप्रत्याशित आक्रमण तथा युद्ध में मेवाड की शानदार सफलता के कारण शेष मुगल सेनायें भाग खडी हुई । प्रताप ने उनका आमेर तक पीछा किया । दिवेर-विजय की ख्याति चारों ओर फैल गई ओर मुगल सैनिक अपने शेष थाने स्वयं खाली करके भागने लग गये । वास्तव में प्रताप के भावी जीवन के बहुत बडे विजय अभियान का यह शुभारम्भ सिद्ध हुआ ।

परिणाम:- दिवेर है युद्ध में प्रताप को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई जिससे एक ओर मेवाड के सैनिकों तथा जनसाधारण में नये उत्साह का संचार हुआ तथा दूसरी ओर मेवाड में स्थित मुगल थानों में नियुक्त सैनिकों का मनोबल उसी अनुपात से गिरने लगा । इस युद्ध ने प्रताप की रणनीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किया । अब तक अपनाई गयी सुरक्षात्मक नीति का स्थान आक्रामक नीति ने ले लिया । इसके बाद प्रताप को मुडकर नहीं देखना पडा । अब मेवाड के मुगल अधीन क्षेत्रों को मुक्त कराने में निरन्तर सफलता प्राप्त होती रही । कर्नल टॉड ने इस युद्ध को प्रताप के गौरव का प्रतीक माना तथा दिवेर को 'मेराथन' की संज्ञा दी है ।

मुक्ति अभियान:- दिवेर विजय के पश्चात प्रताप कुम्भलगढ पहुँचा । बही पर सरलता से प्रताप का अधिकार हो गया । अब वह जावर की ओर बढ़ा तथा इसको अधिकार में करने के पश्चात् चावण्ड पहुँचा

। डूँगरपुर, बांसवाडा को भी अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य किया । इधर अकबर का ध्यान पुन: मेवाड की ओर गया । उसने 1584 ई. में जगन्नाथ कछवाहा को मेवाड में भेजा परंतु उसे निकल लौटना पड़ा । इसके बाद प्रताप को अपने शेष जीवन के 12 वर्ष तक मुगल आक्रमणों का सामना नहीं करना पडा । इस अवधि में एक-एक करके माण्डलगढ एवं चित्तौड दुर्ग को छोड समस्त मेवाड पर प्रताप ने अधिकार कर लिया । चावण्ड में नयी राजधानी का निर्माण किया व राज्य की प्रशासनिक व आर्थिक व्यवस्था को सुचारू बनाया । साहित्य व कला के क्षेत्र में भी राज्य की आशातीत प्रगति हुई । चावण्ड में ही प्रताप का 19 जनवरी 1597 ई. के दिन स्वर्गवास हुआ ।

इस प्रकार लगभग पच्चीस वर्ष तक भारतीय राजनीतिक मंच पर महत्वपूर्ण भाग लेकर प्रताप एक ऐसी वीरगाथा का निर्माण कर गया जो देश व काल के स्वतन्त्रता प्रेमियों को प्रेरणा देती रहेगी । यों प्रताप को एक राष्ट्र नायक कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा । वह भारतीय संस्कृति की परम्परा का अक्षुण्ण प्रतीक माना गया है । उसका बलिदान, सीहणुता और आदर्शो के लिये त्याग, बलिदान, शासक एवं शासित के बीच सौहार्द्र एवं घनिष्ठता पूर्ण सम्बन्ध, नेतृत्व के गुण, नैतिकता, नीतिज्ञता एवं संयम से ओत-प्रोत, राष्ट्रीयता का उन्नायक, अवस्था,विकास एवं संगठन का आलोक स्तंभ प्रताप निश्चित ही वर्तमान में भी अनुकरणीय है ।

7.19 क्या प्रताप ने अकबर से संधि न कर भूल की ?

आधुनिक काल में कुछ इतिहासकारों ने प्रताप द्वारा अकबर की अधीनता स्वीकार न करने को एक भारी मूल बताया है । गोपीनाथ शर्मा का कहना है कि इस लम्बे संघर्षमें मेवाड की आर्थिक स्थिति खराब हो गई । इससे मेवाड को कोई राजनीतिक लाभ नहीं मिला क्योंकि जर्जरित आर्थिक दशा ने प्रताप के उत्तराधिकारी अमरसिंह को बीस वर्ष बाद ही मुगल सम्राट जहाँगीर से संधि करने को बाध्य कर दिया । आर.पी. त्रिपाठी के अनुसार संधि की शर्त भी लगभग वही थी जो अकबर ने विभिन्न शिष्टमण्डलों द्वारा प्रताप के सामने रखी थी । यदि प्रताप संधि की शर्ता को स्वीकार कर लेता तो प्रताप और अमरसिंह काल में जो पचास वर्षीय संघर्षचला और मेवाड सदैव के लिए पिछड़ गया, वह स्थिति नहीं आती । भारतीय एकता के रूप में भी त्रिपाठी ने प्रताप को बाधक माना है । उसका कहना है कि अकबर एक राष्ट्रीय शासक था जो समस्त भारतवर्ष को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था । प्रताप के नकारात्मक विरोध के कारण उसे सफलता नहीं मिली । इतना ही नहीं त्रिपाठी ने तो अकबर के आदर्शो को बहुत उच्च मानते हुए प्रताप के संघर्षको ठीक नहींमाना है । उसने मुगलों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की नीति को भी उचित ठहराया है क्योंकि तत्कालीन समाज में इसका विरोध नहीं हुआ और इसीलिये मेवाड इस संघर्षमें बिल्कुल अकेला रहा । अकेला रहने का त्रिपाठी ने एक कारण यह भी माना है कि मेवाड जब-जब भी शक्तिशाली हुआ तो पडोसी राज्यों की स्वतन्त्रता का हनन हुआ और इसीलिये राजपूत राज्यों ने प्रताप का साथ देना ठीक नहीं समझा । यह अनावश्यक दीर्घ संघर्षत्रिपाठी के अनुसार विघटनकारी, व्यक्तिगत अहंभाव एवं तुच्छ स्वार्थो के लिये था । अकबर के महानतम आदर्शो के प्रति विरोध विरोध प्रताप की एक भयंकर भूल थी । परंतु आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ने त्रिपाठी के इस मत का खंडन करते हुए कहा कि अकबर से संधि न करने का दोष प्रताप का न होकर अकबर की हठधर्मी का था । प्रताप ने सम्मानित आधार पर हमेशा समझौता करना चाहा परंतु अपमानजनक शर्तो के कारण यह समय नहीं हुआ । यदि अबुलफजल पर विश्वास करें तो यह स्पष्ट है कि प्रताप ने व्यक्तिगत दरबार में उपस्थित होने की बात छोड, समझौता करने में उत्साह

दिखाया । अकबर द्वारा, भेजे गये शिष्ट मण्डल के प्रति उसने सम्मान की भावना बताई । मानसिंह के स्वागत के समय अबुलफजल ने स्पष्ट लिखा है कि अकबर ने खिल्लत धारणकी । भगवानदास के साथ प्रताप अपने लडके को भी मुगल दरबार में भेजने को तैयार था और स्वयं ने कुछ समय पश्चात् दरबार में उपस्थित होने का आश्वासन दिया । इतना होते हुए भी अकबर ने संधि की शर्तो को स्वीकार नहीं किया, अत: श्रीवास्तव के अनुसार दोष प्रताप का न होकर अकबर का है । इतना लम्बा संघर्षमेवाड न करता तो कभी भी इतनी उदार शर्त उसे नहीं मिल सकती थीं ।

वास्तव में अकबर की वास्तविक नीति का ज्ञान इसी से प्रकट होता है कि शांतिकाल में प्रताप पर चारों ओर से सैनिक दबाव डाले जा रहे थे, मेवाड के पूर्वी हिस्सों को अकबर ने मुस्लिम पदाधिकारियों को दे दिया या मेवाड से रूष्ट होकर आने वाले व्यक्तियों को सौंप दिया । यों उसने मेवाड को मित्रविहीन करने का पूर्ण प्रयास भी किया था । उसने ईडर, डूँगरपुर, बांसवाडा व बून्दी पर सैनिक दबाव डालकर मेवाड राज्य से अलग करने का प्रयास किया । इसलिये श्रीवास्तव के मतानुसार त्रिपाठी का यह कथन कि, '"यदि प्रताप दो ही शर्ते अकबर के सामने रखता जिन शर्तो पर जहाँगीर से अमरसिंह से समझौता हुआ तो अकबर अवश्य स्वीकार कर लेता ।" निराधार है क्योंकि अकबर हमेशा प्रताप की व्यक्तिगत उपस्थिति पर जोर देता रहा ।

त्रिपाठी की यह मान्यता कि वैवाहिक सम्बन्धो को तत्कालीन राजपूत समाज में बुरा नहीं माना गया, श्रीवास्तव को यह बात ठीक नहीं लगी है । उसका कहना है कि आधुनिक काल में भी जहाँ अन्तर्जातीय विवाह होते है, सामाजिक दृष्टि से अच्छे नहीं माने जाते है तो 16 वीं शताब्दी में जबकि सामाजिक बंधन कग्रेर थे इनको उपयुक्त मानना ठीक मही । वैवाहिक समज स्थापित करने चले राजपूत राज्यों ने भी यह बात प्रचारित की कि उन्होंने अपनी राजकुमारियों की शादी मुगल परिवारों से न कर उनके स्थान पर अन्य से कराई है । यों श्रीवास्तव के अनुसार आज भी यदि ऐसे विवाह ठीक नहीं माने जाते हैं तो उस समय उनको ठीक मानना उचित प्रतीत नहीं होता है ।

त्रिपाठी का यह मत है कि "सिसोदियों के इस युद्ध में अन्य राजपूतों राज्यों की कोई दिलचस्पी नहीं थी, उन्होने या तो विरोधी रूप अपनाया या तटस्थ बने रहे ।" परंतु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है । इस पूरे संघर्षकाल में कोई भी क्षण ऐसा नहीं था जब प्रताप ने अकेले ही युद्ध लडा हो । मुगल सेना का सामना करने के लिए उसने हर बार संयुक्त मोर्चे स्थापित किये । श्रीराम शर्मा का कथन है कि अकबर एक संगठन को तोडने का प्रयास करता तो प्रताप दूसरा संगठन खड़ा कर देता । इन छोटे-छोटे राज्यों को मुगल सेनाओं ने अनेक यार पदाक्रांत किया, किन्तु प्रताप से प्रेरणा प्राप्त कर अवसर आते ही अपने आपको स्वतन्त्र कर लेते । यदि मेवाड के उत्थान के कारण अपने अस्तित्व को खतरा था तो इन पडौस के छोटे-छोटे राज्यों को ही सबसे अधिक था । प्रताप का विरोध सर्वाधिक इन्हीं राज्यों में होना चाहिए था किन्तु प्रताप के सम्पूर्ण शासन काल में उसे हर सम्भव सहयोग इन राज्यों से ही मिलता रहा । इसी कारण मेवाड मुगलों का बारबार सामना कर सका । इनसब घटनाओं को ध्यान में रखते हुए श्रीवास्तव ने अकबर से समझौता न होने का उत्तरदायित्व प्रताप को न देकर अकबर पर डाला है । अकबर के प्रारम्भिक काल को देखा जाये तो उसकी विजयों के पीछे केवल साम्राज्यवादी लिप्सा थी । भारतीय एकता तथा राष्ट्रीयता के लिए उस समय कोई स्थान नहीं था ।

श्रीवास्तव का मत है कि यदि इस देश में सबको समान समझने और सभी जातियों को समान अवसर प्रदान करने की अकबर की धर्म-निरपेक्षता की नीति पूरे मुगल काल में अपनाई गई होती तो

निश्चय ही आने वाली पीढ़ियाँ महाराणा प्रताप को भारतीय एकता में बाधक मीकार कर लेती, परंतु ऐसा नहीं हुआ । श्रीवास्तव तो गोपीनाथ शर्मा के इस कथन से भी सहमत नहीं हैं कि आखिरकार राणा प्रताप के पुत्र अमरसिंह के समय में मेवाड को अपनी स्वतन्त्रता खोनी पड़ी और अगर राणा ने इसे 1572 ई. में स्वीकार कर लिया होता तो बहुत से बलिदान बच गये होते । यह तर्क युक्ति संगत नहीं हैं । अमरसिंह ने 1615 ई. में जहाँगीर से जो सम्मानपूर्ण शर्त प्राप्त की थीं दे राणा प्रताप के दीर्घ व दृढ़ संघर्षतथा सय अमरसिंह के 18 वर्षा के संघर्षके कारण ही प्राप्त हो सकी थीं । इन बलिदानों के बिना मेवाड मुगलों से एक विशेष व्यवहार की आशा नहीं कर सकता था । प्रताप का अगर कोई दोष था तो यही था कि वह अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड रहा था । यदि यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया जाय कि एक शक्तिहीन राज्य को शक्तिशाली राज्य की अधीनता स्वीकार कर लेनी चाहिए तो आज भी एक ही शक्तिशाली देश ही स्वतंत्र रह सकता है । अत: प्रताप के त्याग एवं बलिदान को कम आँकना ठीक नहीं हैं । जहाँ तक इस वीर के त्याग और बलिदान का प्रश्न है सभी इतिहासकार एकमत हैं कि प्रताप एक वीरगाथा का निर्माण कर गये जो देश व काल के स्वतन्त्रता प्रेमियों को प्रेरणा देती रहेगी ।

आर.पी. त्रिपाठी ने प्रताप की नीति से असहमति बताते हुए भी स्वीकार किया है कि " प्रताप ने लगभग पच्चीस वर्ष तक भारतीय राजनीतिक मंच पर एक महत्वपूर्ण भाग लिया और अपनी अधिकांश प्रजा के मत का नेतृत्व किया । उसने अपने शौर्य, उदारता और अच्छे गुणों से जन-समुदाय का सौहार्द्र और श्रद्धा अर्जित कर ली थी । उसने अपनी कर्त्तवपरायणता से तथा सफलता से अपने सैनिकों को कर्तव्यारूढ, प्रजा को आशावादी और शत्रु को भयातुर बनाया । एक सेनाध्यक्ष और जन नेता के रूप में बह अपने जमाने के लिए उपयुक्त था । उसकी मृत्यु ने हर प्रकार से एक युग की समाप्ति कर दी थी । प्रताप का नाम हमारे देश में स्वाभिमान और देश-गौरव के रक्षक के रूप में अमर है । "

डॉ. रघुबीरसिंह के मतानुसार " प्रताप ने अंत तक अपना प्रण निभाया । उसकी दृढ़ता, धीरज, अडिग आत्मविश्वास तथा अनवरत प्रयत्न संसार के इतिहास में अनोखे और अनुकरणीय हैं ।" प्रताप की वीरगाथा ने भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम को जो प्रेरणा दी उससे प्रताप की गिनती भारतीय राष्ट्र के पूजनीय स्वातन्नय वीरों में की जाने लगी और भारत की स्वाधीनता के बाद भी प्रताप का प्रभाव और महत्व किसी प्रकार कम नहीं हुआ, क्योंकि प्रताप एक ऐसी अनुपम वीरगाथा का निर्माण कर गया, जो आगे भी सभी देशकाल के स्वातच्य साधकों को निरन्तर प्रेरणा देती रहेगी ।"

गौ.ही. ओझा ने लिखा है कि “प्रात: स्मरणीय हिन्दूपति वीर शिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सबसे अधिक महत्वपूर्ण और गौरवास्पद है । राजपूताने के इतिहास को इतना उज्जल और गौरवमय बनाने का श्रेय उसी को है । वह स्वदेशामिमानी, स्वतन्त्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थ त्यागी, नीतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था । उसका आदर्श था, कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकायेगा । स्वदेश प्रेम, स्वतन्त्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल मंत्र थे । उसको अपने वीर पूर्वजों के गौरव का गर्व था । वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा जब कि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्राय: सारी समान भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था । मेवाड के बडे-बडे सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे । ऐसी स्थिति में उसके विरूद्ध बादशाह अकबर ने उसके विध्वंस करने के लिये अपने सम्पूर्ण साम्राज्य का बुद्धिबल, बाहुबल और धनबल लगा दिया था । बहुत से राजपूत राजा भी अकबर के ही सहायक बने हुये थे । यदि महाराणा

चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परंतु वह स्वतन्त्रता का पुजारी केवल थोड़े-से स्वदेशभक्त और कर्त्तवपरायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो गया । उसकी वीरता, रणकुशलता कष्टसहिणुता और नीतिमत्ता अत्यन्त प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी ।"यों प्रताप को एक राष्ट्रनायक कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा । वह भारतीय संस्कृति की परम्परा का प्रतीक माना गया है । उसका बलिदान, सीहणुता और सिद्धान्तों के लिये त्याग आज भी अनुकरणीय है ।

7.20 सारांश

इस प्रकार से महाराणा कुंभा के काल में मेवाड की बहुँमुखी प्रगति हुई फलत मेवाड के उत्कर्ष काल से यदि इसे जाना जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । कुंभा के पश्चात पुन: महाराणा सांगा जैसा योग्य नेतृत्व मेवाड को प्राप्त हुआ किन्तु यह एक योगायोग ही था कि उसे अधिकांश समय युद्धों में ही व्यस्त रहना पड़ा । फलत: निरंतर युद्धों से त्रस्त सामंतों ने उसकी इहलीला समाप्त कर दी । सांगा के पश्चात मेवाड में पुन: अराजकता वाली स्थिति का युग आता है किन्तु उदयसिंह के नेतृत्व ने स्थिति को संभाल लिया और एक नूतन युद्ध प्रणाली-छापामार युद्ध पद्धति का प्रारम्भ किया जो उसके पुत्र महाराणा प्रताप ने अपना कर मेवाड राज्य ही स्वतन्त्रता एवं अक्षुण्णता को बनाये रखने में सफल हुआ । निःसंदेह कुंभा, सांगा एवं प्रताप के अधीन मेवाड ने प्रगति, विकास, सीमा वृद्धि, शूरवीरता की छाप अर्थात मेवाड की गरिमा आदि को बढ़ाया ।

7.21 संदर्भ ग्रन्थ

1. मेवाड एण्ड दी मुगल एम्परर्स - डी. जी.एन. शर्मा
2. मेवाड अंडर महाराणा कुंभा - डी. यू.एन.डे.
3. मिडायवल मालवा - डी. यू.एन.डे.
4. महाराणा कुंभा - रामवल्लभ सोमानी
5. उदयुपर राज्य का इतिहास, जि.1 - डॉ. गौ. ही. ओझा
6. हिस्ट्री ऑफ गुजरात - बेले
7. एनाल्स एण्ड एन्टीक्वटीज ऑफ राजस्थान, जि. 1 - कर्नल जेम्स टॉड
8. राजस्थान बल राजनीतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास - डॉ.के.एस. गुप्ता व डॉ.जे.के.ओझा
9. राजस्थान; इतिहास एवं सर्वेक्षण - डॉ. के.एस. गुप्ता व डी. जे. के.ओझा
10. महाराणा प्रताप जीवनी, महत्व व देन - डॉ. रघुबीरसिंह
11. महाराणा प्रताप महान् - डॉ. देवीलाल पालीवाल

इकाई - 8

आमेर के मानसिंह, बीकानेर के रायसिंह, मारवाड़ के जसवंत सिंह , एवं जयपुर के सवाई जयसिंह के विशेष संदर्भ में राजपूत - मुगल संबंध

(Rajput- Mughal rulations-with special reference to Man singh of Amber, Rai singh of Bikaner Jasvant Singh of Marwar and Savai Jai Singh of Jaipur)

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 मुगल सम्राट अकबर एवं राजपूत

8.3 राजा मानसिंह एवं मुगल

8.4 राजा राय सिंह एवं मुगल

8.5 राजा जसवंत सिंह एवं मुगल

8.6 सवाई राजा जयसिंह एवं मुगल

8.7 सारांश

8.8 संदर्भ ग्रन्थ

8.0 उद्देश्य

प्रस्तुत उपाध्याय मध्यकालीन भारतीय इतिहास का एक महत्वपूर्ण अध्याय है । यदि मध्यकालीन एवं खास तौर पर मुगल काल में से रापूतो का संदर्भ हटा दिया जाये जो शत् प्रतिशत मुगल राज्य का इतिहास अधूरा रहेगा ।

इस अध्याय के पठन के बाद आप जान सकेगे कि-

- भारत में मुगल सत्ता स्थापना से ही राजपूतों का भारतीय इतिहास में महत्तपूर्ण स्थान रहा है।
- मुगल साम्राज्य की जड़े जमाने एवं सम्पूर्ण भारत पर मुगलों का आधिपत्य करवाने में राजपूतो का अहय सहयोग
- सभी मुगल सम्राटों की राजस्थान के राजपूतों के प्रति दृष्टीकोण से ज्ञात होना
- मैत्री भाव से ही नहीं बल्कि युद्ध एवं कूटनीति के द्वारा राजपूतो कों अपना आधिपता मनवाना एवं
- राजपूतों के पैतृक राज्यो में सुरक्षा प्रदान करना एवं मुगल सत्ता स्थायी बनाने में राजपूतों का योगदान इत्यादि बातो जानकारी के अवगत कराना हो इस इकाई का उद्देश्य है ।

8.1 प्रस्तावना

मुगल शासक जहीरूद्दीन मुहम्मद बाबर (1526-30) द्वारा उत्तर भारत विजय के साथ ही मुगाल- राजपूत सम्बन्धो का आधार और स्वरूप निश्चित हो गया था । बाबर को खनवा के युद्ध (1527) के समय ही पता चल गया था कि राजपूतों को भारत की राजनीतिक और बाबर ने सैन्य जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था अपनी आत्म-कथा बाबर नामा में राजपूतों को उत्तर भारत के एक मुख्य शासक वर्ग के रूप में स्वीकार करता है । बाबर के अनुसार, चित्तौड़ का शासक राणा सग्राम सिंह अपते वीरता और तलवार (Valour and sword) से एक बड़े राज्य का शासक बन चुका था । चूंकि बाबर ने भारत में ज्यादातर समय युद्धो में व्यतीत किया, इसलिए वह राजपूतो के प्रति कोई निश्चित नीति नहीं बना सका । लेकिन नसीरूद्दीन मुहम्मद हुमायु (1530-40 एवं 1555-56) ने राजपूतो के साथ अपने सम्बन्धो को राजनीतिक शक्ति की हिस्सेदारी (Sharing of Political poer) सिद्धांत पर आधारित किया था । उदाहरण के तौर पर जब कालिंजर के चंदेल शासक ने हुमायू के सामने आत्म समर्पण कर दिया (1531) तो हुमायूं ने उसका राज्य वापस कर दिया इसी तरह हुमायूँ ने गुजरात के शासक बहादुर शाह के खिलाफ चितोड के राणा की मदद करने की नीति अपनाई । प्रो. सतीश चन्द्र के मुताबिक, सत्तरहवी शताब्दी ई. के राजस्थानी ग्रन्थ चितोड की रानी कर्णावती द्वारा हुमायूँ को राखी भेजे जाने का जिक्र करते है जिसे हुमायूँ ने स्वीकार कर लिया था । इससे भी अहम बात यह है कि जब शेरशाह ने हुमायूँ को दिल्ली आगरा से निक्काल दिया उस वक्त अमर कोट के राजपूत राजा बिरसाल ने हुमायूँ को अपने राज्य में पनाह दी ।

8.2 मुगल सम्राट अकबर एवं राजपूत

हालां कि हुमायूँने राजपूतों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखे लेकिन मुगल बादशाह जलालुद्दीन मुहम्मद अकबर (1558- 1605) ने मुगल राजपूत सम्बन्धो को एक नया रूप दिया । अकबर ने राजपूतों को विभिन्न तरीको से, मुगल साम्राज्य का अहम हिस्सा बनाया । जिस वक्त अकबर बादशाह बना, उसको सबसे बड़ा खतरा अफगानो से लगा । हालां कि पानीपत के दूसरे युद्ध (1556) में अकबर की फौज ने अफगान फौज, जिसका नेतृत्व हेमू के हाथ में था, को बुरी तरह से हराया, फिर भी अकबर ने अपने साम्राज्य को अफगानो से सुरक्षित नही समझा और ना ही अफगानो से किसी बड़े सहयोग की उम्मीद रखी । चूँकि राजपूत, भारतीय सामाजिक संरचना (Indian Social Formation) के अनुसार, एक योद्धा (warsior) और शासक वर्ग से ताल्लुक रखते थे, और ये भली भांति अकबर को भी मालूम था कि राजपूतों को भारतीय समाज के विभिन्न जातियों, धर्मो और वर्गो के लागो का सामाजिक समर्थन प्राप्त था । इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण बात है कि अकबर का जन्म उस वक्त हुआ था जब उसके पिता ने अमर कोट के राजपूत राज्य में पनाह ली थी । चूंकि अकबर एक वृहद साम्राज्य स्थापित करना चाहता था, इसलिए उसने भारत के विभिन्न शासक परिवारों खास कर राजपूतों, को अपने साम्राज्य में भागीदार बनाने की योजना बनाई ।

अकबर की साम्राज्य निर्माण की नाति का अध्ययन करने से पता चलता है कि अकबर ने अपने साम्राज्य पर पूरी तरह (Exclusively) मुगलो का एकाधिकार स्थापित करने की कोई योजना नहीं बनाई थी, और ना ही मुगलो साम्राज्य को एक धर्म विशेष से जोड़ा, बल्कि वो मुगल साम्राज्य

को एक सर्व- स्वीकृत राज्य बनाया । और इस सर्व-स्वीकृत राज्य को सम्मलित संस्कृति (Composite cultur) पर आधारित किया । राजनीतिक रूप से अकबर ने मुगल-राजपूत संघ (Mughal-Rajput Coalition) को स्थापना की । अकबर ने मुगल-राजपूत संघ के ;जीरये एक मजबूत केन्द्रीय कृत राज्य की स्थापना कीं यह बात सही है कि अकबर से पहले भी सलनत काल (1206- 1526) में भी कुछ सुल्तानों ने राजपूत शासको के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये और उनका अपनी सत्ता मे भागीदार बनाया था, लेकिन जो विश्वास अकबर ने राजपूतो में जताया, उसकी मिसाल बहुत कम भारतीय इतिहास में मिलती है । यह एक स्थापित ऐतिहासिक तथ्य (Historical faet) है कि अकबर ने मेवाड जैसे राजपूत राज्य पर हमला किया क्योकि इसके शासक राणा प्रताप सिंह ने अकबर की प्रभुसता को मानने से इंकार कर दिया था । इस तरह कुछ राजपूत शासकों को शक्ति द्वारा एवं कुछ को भैजी एवं वैवाहिक सम्बधों द्वारा अपने सहयोगी एवं अधीन शासक बनाया । अकबर ने अगनी सूझ-बूझ का परिचय देते हुए राजपूतो को एक शासक वर्ग का ही हिस्सा माना और मुगल साम्राज्य का सबसे बड़ा हितैशी राजपूतो को ही माना । अकबर की राजपूत नीति का आरम्भ उसकी आमेर के राजा भारमल के साथ पहली मुलाकात से शुरू होती है । अकबर जब अपने राज्यारोहण के पश्चात आगरा पहुबा तो आमेर का राजा भारमल उससे मुलाकात करने के लिए आगरा आया । 1562 ई. में जब अकबर खाजा मुइन-उद्दीन चिश्ती की दरग्ण; की जियारत करने अजमेर जा रहा था तो कछवाहा राजा भारमल अकबर से मिला और उससे गुजारिश की यह मेवात के गवर्नर मुहम्मद शरफुद्दीन को आमेर के खिलाफ निति को रोके । अकबर ने राजा भारमल को हर संभव सहायता का भरोसा दिलाया । इस मुलाकात से ही अकबर और भारमल के बीच एक मैतृक राजनीतिक सम्बन्ध की स्थापना होती है । अकबर की आमेर कछवाहा खानदान से मित्रता होने पर मुगल सम्राट को सिर्फ राजा भारमल का ही सहायोग नही मिला, बल्कि पूरे राजपूताना में मुगल-राजपूत सम्बन्धो का एक नया अध्याय शूरू हुआ । अकबर ने आमेर के बाद दूसरे राजपूताना के राज्यो से सम्बन्ध स्थापित करना शूरू किया । हालाकि राजपूताना के सबसे ताकतवर राज्य मेवाड ने अकबर के मुगल- राजपूत संघ में शामिल होने से मना कर दिया, मारवाड बीकानेर और जैसलमेर जैसे राज्यो ने अकबर की प्रभुसत्ता को स्वीकार किया, जिसकी वजह से अकबर को ना सिर्फ मेवाड के खिलाफ एक वृहत युद्ध योजना लागू करने की प्रेरणा मिली, बल्कि राजपूतो के सहयोग के जरिये पूरे भारतवर्ष में एक विशाल मुगल साम्राज्य बनाने का मौका भी मिला । अकबर ने जिस मुगल- राजपूत संघ की स्थापना की, वह उसके उत्तराधिकारियों द्वारा जारी रखा गया ।

मुगल- राजपूत संघ का जारी रखने में सिर्फ मुगलो द्वारा ही नही कोशिश की गयी, बल्कि राजपूतो ने भी मुगल नीति का बहुत बडे पैमाने पर समर्थन किया । अगर अकबर और उसके उत्तराधिकारियो ने राजपूतो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और उनको बड़े- बड़े मन सब (पद) दिये, तो राजपूतो ने भी युगलो को पूरे साम्राज्य ये कानून- व्यवस्था को लाग करने में मदद दी । राजामान सिंह (आमेर) राजा राय सिंह (बीकानेर) राजा जसवंत सिंह (मारवाड़) और सवाई जयसिंह (जयपुर) मुगल साम्राजय के ऐसे सेनानयक थे, जिनके प्रयासो से मुगल साम्राज्य की सीमा में असाधारण विस्तार हुआ । उल्लेखनीय बात यह है कि इन राजपूतो ने कभी में मुगल शासको के विश्वास को ठेस नही पहुचाई ।

8.3 राजा मानसिंह एवं मुगल

मुगल सम्राट अकबर और आमेर के कछवाहा खनादान की मित्रता तीन पहुलुओ पर आधारित थीं पहला मुगल राजपूत वैवाहिक सम्बन्ध, दूसरा, राजपूतो को मुगल प्रशासनिक सेवाओ में शामिल किया जाना और तीसरा राजपूतो द्वारा नियमित रूप से मुगलो को सैनिक सेवा प्रदान करना और अपने राज्य की आय का एक भाग (Tribnte) के रूप में मुगल शासको को देना इन सिद्धान्तो के आधार पर अकबर ने राजपूतों द्वारा सिर्फ मुगल साम्राज्य के हितो की रक्षा करने की नीति अपनाई, बल्कि राजपूत राज्यो को भी एक मजबूत राजनीतिक स्थिरता (Politrcal stati) प्रदान करने की नीति अपनाई प्रोफेसर नूरूल हसन के अनुसार जिन राजपूत राज्यो ने मुगलो की प्रभुसता को स्वीकार किया, उन्हे खुदमुखार राज्य (Autonomous state) और उनके शासको को खुद मुख्तार शासक (Autonomous Chiefs) का दर्जा मिला ।

जहाँ तक अकबर और आमेर राजा भारमल के बीच वैवाहिक सम्बन्ध की बात है, तो यह सही है की भारमल ने अपनी बेटी हरका बाई का विवाह अकबर के साथ किया था । लेकिन वैवाहिक सम्बन्ध (दो शासको के बीच) कोई नई बात नही थी । प्रोफेसर सतीश चन्द्र के अनुसार, दो शासक धरानो में वैवाहिक सम्बन्ध बहुत पहले से ही एक शासक की प्रभुसत्ता स्वीकार करने (A Bond and a mark of Submission) का तरीका बन चुका था । इलाहाबाद स्तम्भ के समुद्र गुपा के यिरलरलेचर (Inscription) से पता चलता है कि सभी अधीनस्थ शासको के लिए यह आवश्यक था कि वो शाही खनदान (Royal Family) मे अपनी एक पुत्री का विवाह करे । इसी तरह से अलाउद्दीन खिल जी (1296-1316) ने देवगिरी के राजा राम देव की पुत्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया और 1485 मे गुजरात के शासक मुहम्मद-शाह ने ईडर के शासक राजा मान की पुत्री के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया । सतीश चन्द्र ने ऐसे बहुत सारे उदाहरण दिये है, जो अकबर से पहले भी दो शासक वर्ग के खानदानो में वैवाहिक सम्बन्धो को दर्शाते है । जैसा भी हो, मुगलो और राजपूत के बीच वैवाहिक सम्बंध ने एक दूसरे की प्रभुसत्ता और राजनीतिक शक्ति को मजबूत बनाने में अहम भूमिका अदा की ।

अकबर कछवाहा खानदान के राजपूतो को अपने साम्राज्य में सेना-नायक पदो पर नियुक्त किया । राजा भगवान दास को साम्राज्य विस्तार के लिए एक अहम सेनानायक के रूप में विभिन्न जिम्मेदारियाँ सीपी इसी तरह से राजा भारमल को भी साम्राज्य की महत्वपूर्ण जिम्मेदारियो के का बिल समझा गया राजा भगवानदास उन बेकों के विद्रोह में अकबर के साथ रहे और कश्मीर को मुगल साम्राज्य (1588) में शामिल करने में एक अहम भूमिका निभाई । अकबर ने दोनो राजा भारमल और राजा भगवान दास को 5000 का मनसब (Punj Hazari) प्रदान किया । यह बात उल्लेखनीय है कि अकबर के जमाने में 5000 का मनसब बहुत ही महत्वपूर्ण प्रशासनिक अधिकारियो को दिया जात था ।

मानसिंह, जो कि राजा भगवान दास के पुत्र थे, अकबर के सबसे विश्वसनीय और का बिल सेनानायको और प्रशासनिक अधिकारियों में एक थे । 1572 ई. से आगे जितने भी साम्राज्य विस्तार के लिये अकबर ने युद्ध किये ज्यादातर में राजा मानसिह सेनानायक रहे और अकबर की सफलता में मुख्य भूमिका निभाई । मानसिंह ने मुगल साम्राज्य की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर मुगलो के आधिपत्य को कायम रखने में बड़ी ही निष्ठापूर्णक काम किया । इसी तरह से मेवाड के शासक राणा प्रताप को

मुगलो के अधिपत्य को स्वीकार करने को राजी करने के लिए अकबर ने राजा मानसिंह को अपने राजदूत के रूप में भेजा । और जब महाराणा प्रताप ने मुगलो की प्रभु सत्ता स्वीकार करने से इंकार कर दिया तो 1576 में हल्दी घाटी की लडाई में राजा मानसिंह को ही भेजा । ये अकबर का अटूट विश्वास था कि उसने महाराणा प्रताप के खिलाफ राजा मान सिह को अपना सेनानायक नियुक्त किया । राजा मानसिंह को महाराणा प्रताप के खिलाफ सेनानायक नियुक्त करके अकबर ने दर्शाया कि राजपूत एक बहादुर, वफादार और निष्ठावान सामाजिक वर्ग था जो कि हमेशा अपने शासक की बेहतरी के लिए वचनबध थे । मानसिंह ने भी हल्दी घाटी के लड़ाई में ये साबित कर दिया कि राजपूत जाति पक्षपात और धर्मान्धता में यकीन नही करते थे एक तरफ अगर अकबर को मानसिंह की वफादारी पर पूर्ण विश्वास था, तो दूसरी तरफ मानीसंह ने भी अपने कर्त्तव के सामने कभी भी अपने क्षेत्रीय और धार्मिक पृष्ठभूमि (Background) को आडे नहीं आने दिया । हल्दी घाटी की लड़ाई में मानसिंह ने यह साबित किया कि उनके शासक अकबर का आदेश सर्वोपरि है ।

अकबर के जमाने में राजा मानसिंह ने सबसे बडे मनसबदार अथवा ओहदेदार के रूप में पद हासिल किया था । अकबर ने मानसिंह को 7000 के मनसव प्रदान किये जो मुगल साम्राज्य में एक असाधारण पद था । उल्लेखनीय बाते यह कि मानसिंह के अलावा सिर्फ एक प्रशासनिक अधिकारी अजीज कोका को 7000 का मनसब दिया गया था । मानसिंह को 7000 मनसब मिलना सिर्फ उनकी सामाजिक और राजनीतिक प्रतीष्ठा का ही प्रतीक नही था, बल्कि उससे भी महत्वपूर्ण बात ये है कि ये उनकी सफल सेवाओ के लिए मुगल बादशाह का उनके लिए एक प्रमाण पत्र था । यह एक स्थापित ऐतिहासिक तथ्य है कि मुगलो के जमाने ये सिर्फ उन्ही अधिकारियो को बडे मनवब दिये जाते थे जिन्होने ज्यादातर प्रशासनिक जिम्मेदारियो को सफलता पूर्वक निभाया हो यहां यह भी उल्लेखनीय हैकि 7000 या उससे अधिक का मनसब सिर्फ शाही घराने के वियक्तियों या राजकुमारों को ही प्रदान किया जाता था ।

सबसे बड़े मनसब के अलावा, अकबर ने मानसिंह कोका बुल बिहार और बंगाल का गवर्नर भी नियुक्त किया था ध्यान देने वाली बात ये है कि ये तीनो प्राप्त सैनिक (Stratigic) और आर्थिक रूप से बहुत ही महत्वपूर्ण थे । यह राजा मानसिंह का अकबर के प्रति सेवाभाव और मुगल साम्राज्य के लिए हमेशा अपने आप को तैयार रखने का परिणाम था कि अकबर ने राजा मानसिंह को इन प्रान्तो के प्रशासन का मार सौपा । राजा मानसिंह ने भी यहाँ की कानून- व्यवस्था को कायम रखने में पूरी निष्ठा पूर्वक काम किया । हांलाकि अबुल फजल ने अपनी आइन-ए- अकबरी में 27 राजपूत अमीरो के नाम दिये है जिन्हे अकबर ने नियुक्त किया था, मानसिंह का रूतबा इन सभी अमीरो से ज्यादा दिखाया गया है । अकबर बादशाह ने मानसिंह को पूरी तरह से मुगल साम्राज्य में सास्कृतिक कामों को आगे बढ़ाने की भी आजादी दे रखी थी । मानसिंह ने दो मन्दिरो का निर्माण करबाया था एक वृदावन में और दूसरी बनारस में । वृदावन में मंदिर बनाने में 5 लाख रूपया लगा था ।

राजा मान सिंह अकरर के नवरत्नो मे से एक थे । मानसिंह ने हमेशा अपने सांस्कृतिक विचारो को बादशाह के सामने रखा । जब अकबर ने तौहीद-ए-इलाही (या दीन-ए-इलाही) नाम के सामाजिक व राजनीतिक (Socio Pocitical) संस्था को कायम किया तो बहुत सारे मुगल अमीरो ने इस संस्था की सदस्यता को हासिल किया । लेकिन राजा मानसिंह ने इसकी सदस्यता से इन कार कर दिया, क्योकि वो समझते थे कि उन्होने अपना पूरा जीवन अकबर को समर्पित कर दिया था इसलिए उन्हे तौहीद-ए-इलाही की सदस्यता के जरिये अपनी रफादारी का सबूत देने की जरूरत पद थी । महत्वपूर्ण

बात में है कि जब मानसिंह ने तौहीद-ए-इलाही की सदस्यता लेने से इनकार कर दिया तो अकबर ने उन पर किसी तरह का दबाव नहीं डाला और ना ही उनके राजनीतिक रूतबे में किसी तरह की कमी की ।

अकबर की मृत्यु (1605) के पश्चात भी मुगल-राजपूत संघ कायम रहा और राजा मानसिंह मुगल बादशाह नूर-उद-दीन मुहम्मद जाँहगीर (1605-27) के जमाने में भी अपनी राजनीतिक प्रतीष्ठा को बनाए रखा । यह सही बात है कि जब राजकुमार खुसरो ने जहाँगीर के खिलाफ विद्रोह किया तो राजामानसिंह और जहागीर के संबधो में कुछ कडुवाहट आयी लेकिन अभी भी राजा मानसिंह एक सबसे बडे मुगल मनसवदारो में गिने जाते थे ।

अकबर के पूरा शासन काल का इतिहास यह दर्शाता है कि उसकी राजपूत नीति को सफल बनाने में सबसे ज्यादा कछवाहा राजपूतो का योगदान था । इस बात को अकबर भी स्वीकार करता था । इसलिए उसने कछवाहा खानदान के राजा भारमल, मगशन दास और राजा मानसिंह को सबसे बड़ी अपना विश्वास पात्र बना रखा था । अकबर और कछवाहा राजहा संबंध दोनो मुगलो और राजपूतो के लिए फायदेमन्द साबित हुए । एक तरफ मानसिंह जैसे सेना नायक ने अकबर की पूरे भारत वर्ष में मुगल साम्राज्य स्थापित करने में मदद की, और दूसरी तरफ अकबर ने कछवाहा राजपूतो को मान-सम्मान से नवाजा और उनके राज्य की खुद मुख्तारी बनाये रखने में पूरी मदद की । आइन-ए-अकबरी के अनुसार, अकबर के 27 महत्वपूर्ण मनसबदार राजपूत थे, उनमें से 13 सिर्फ कछवाहा खानदान से थे । कछवाहा खानदान की प्रतीष्ठा मुगल बादशाह शाहजहाँ (1628-58) और औरंगजेब (1658-1707) के जमाने भी बनी रही । राजा जयसिंह इन बादशाहों के सरसे बडे विश्वास पात्र थे ।

8.4 राजा राय सिंह एवं मुगल

मुगलो ने बीकानेर राज्य के साथ भी मित्रता पूर्वक संबंध बनाये रखे । 1570 से मुगलो औरे बीकानेर के राजपूत शासकों के बीच राजनीतिक समचो का दौर शुरू होता है । जब अकबर नागौर मे था तर बीकानेर के राजा राय कल्याण मल अपने बेटे राजा राय सिंह के साथ मुगल सम्राट से मिला । अकबर ने कल्याणमल के भाई को बेटी से विवाह किया । दोनो कल्याणमल और राजा राय सिंह को अकबर ने मुगल प्रशासनिक सेवा में शामिल किया । अकबर ने राय सिंह को जोधपुर और सिरोही का भी कार्य भार सौपा । राजा राम सिंह ने मुगलो की सेवा में कोई कमी नही रखी । इब्राहीम मिर्जा जो कि अकबर का विरोधी था, ने जब गुजरात से भाग कर नागौर पर अधिकार कर लिया, उस वक्त राय सिंह ने जोधपुर के राजा राम सिंह के साथ मिलकर मिर्जा इब्राहीम पर आक्रमण कर दिया और मिर्जा को नागौर से खदेड दिया ।

अकबर और बीकानेर के बीच मित्रता पूर्ण सम्बन्ध मुगलों और बीकानेर के शाही खानदान की प्रतीष्ठा को बढ़ाने में बहुत कारगर साबित हुआ । अकबर ने बीकानेर खानदान के कई सदस्यो को साम्राज्य की विभिन्न जिम्मेदारियाँ सौपी 1590-91 में अकबर ने राजा राय सिंह को लाहौर का गवर्नर बनाया और उसके बेटे सूरज सिंह को गुजरात का गवर्नर बनाया । महत्वपूर्ण बात ये है कि लाहौर और गुजरात दोनो आर्थिक और सामरिक दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण प्राप्त थे । अकबर ने दोनो प्रान्तो की प्रशासनिक जिम्मेदारी बीकानेर खानदान को सौप कर यहीं के राजपूतों की योग्यता को स्वीकार किया और उन्हे अपना विश्वासपात्र बनाया ।

राजा राय सिंह और उसके खानदान के कई सदस्यो ने मुगलो से मनसब हासिल किये । अकबर ने राजाराय सिंह को 4000 (चहार हजारी) मनसब कल्याणमल को 2000 (दो हजारी) और राजा राय सिंह के बेटे दलपत को 500 (पंज सदी) मनसव प्रदान किये । इन तीनो राजपूतो के मनसब की संख्या से पता चलता है कि राजा राय सिंह का परिवार मुगल साम्राज्य की सत्ता में एक अहम भागीदार था, राजा राय सिंह, उसके पिता कल्याणमल और बेटा दलपत को अमीर तरके का मनसब दिया गया था । जहाँ तक राजा राय सिंह के मनसा की अहमियत का सयाल है, तो ये बात उल्लेखनीय है कि 4000 का मनसर कुछ गिने चुने से नानायके को दिया जाता था । श्री राम शर्मा के अनुसार अकबर के जमाने के सिर्फ तीन मनसबदार जो कि हिन्दू समाज से थे, 4000 का मनसब धारण करते थे, राजा राय सिंह उनमें से एक थे ।

जहाँगीर के जमाने में भी राजा राय सिंह एक अहम मुगल मनसबदार के रूप में रहे और बीकानेर राज्य की खुदमुख्तारी (Autonomous Status) बरकरार रही । हालाँकि राजा राय सिंह ने कुछ समय के लिए जहागीर के खिलाफ विद्रोह क्सी था, फिर भी उनका मनसब और राजनीतिक कतरा ग्रकरार रहा ।

जहाँगीर ने मेवाड में भी मुगल प्रभुसत्ता स्थापित करने में सफलता हासिल की । यह पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि अकबर के जमाने में मेवाड के सिसोदिया राजपूतो ने मुगलों की प्रभुसत्ता मानने से इनकार कर दिया था । इसलिए अकबर ने इसके शासको, राणा उदय सिंह और राणा प्रताप के खिलाफ युद्ध किया था, लेकिन मेवाड में मुगल प्रभुसत्ता की नीव नही रखी जा सकी । इसलिए जहाँगीर ने मेवाड पर तीन बार आक्रमण किया । पहले दो आक्रमण जिसके सेनानायक शाहजादा परवेज (1606) और महाबत खान थे, असफल रहें लेकिन तीसरा आक्रमण जो कि शाहजादा खुरम के नेतृत्व में हुआ, सफल रहा । 1615 में मेवाड के शासक राणा अमर सिंह ने मुगलो की प्रभुसत्ता को स्वीकार की । जहाँगीर ने अमर सिंह और उसके बेटे कर्ण सिंह को बडे-बड़े इनाम इनायात से नवाजा । कर्ण सिंह को 5000 जात और सवार का मनसब प्रदान किया गया । दोनो राजपूत सरदारों अमर सिंह और कर्ण सिंह को आगरा में स्वागत किया गया । जब कर्ण सिंह आगरा से वापस जाने लगा तो उसे एक घोड़ा एक विशेष हाथी, एक शाही लिवास, एक मोतियो का हार जिसकी कीमत 50000 रूपये थी और एक हीरे-मोती से जड़ी तलवार जिसकी कीमत 2000 रूपये थी इनाम के तौर पर दिये गये ।

8.5 राजा जसवंत सिंह एवं मुगल

मारवाड ने मुगल सम्राट अकबर को प्रभुसता को स्वीकार किया था । मारवाड के राजा चन्द्रसेन ने अकबर की अधीनता स्वीकार कर लिया था कुछ समय बाद जब चन्द्रसेन ने विद्रोह कर दिया, तो अमर ने उसके छोटे भाई मोटा राजा उदय सिंह को उसके विरोध में ला खडा कर दिया । चन्द्रसेन को राज गरी से हटाकर मोटा राजा उदय सिंह को राजा बना दिया । मोटा राजा ने मुगलो के साथ वैवाहिक सबन्ध स्थापित किया और अपने बेटी जगत गोसाई का विवाह शाहजादा सलीम से कर दिया । अकबर के बाद जहाँगीर, शाहजहाँ और 1678 तक औरगजेब के साथ मारवाड के सम्बन्ध मित्रता पूर्वक रहे । मुगल सम्राट शाहजहाँ (1628-58) ने मारवाड को मुगल साम्राज्य का एक बहुत ही महत्वपूर्ण मित्र राज्य के रूप में समझा ।

मारवाड राजा जसवंत सिंह शाहजहाँ के सबसे महत्वपूर्ण मनसबदारो मे से एक थे । शाहजहाँ ने उन्हे 5000 जात और सवार का मनसब दिया था । राजा जसवंत सिंह के चचेरे भाई राजा राय सिंह को 1000 का मनसब मिला था । 1645 ई. में राजा जसवंत सिंह को अजमेर का कार्यकारी गवर्नर नियुक्त किया गया । 1675 में जब मुगल शाहजादो,मुराद शुजा और औरगजेब ने शाहजहाँ और दारा के खिलाफ विद्रोह किया तो राजा जसवंत सिंह को औरंगजेब और मुराद के विद्रोहो को कुचलने के लिए भेजा गया । राजा जसवंत सिंह ने पहले दोनो शाहजादो को विद्रोह छोड कर शाहजहाँ और दारा की प्रभुसत्ता स्वीकार करने की सलाह दी, लेकिन जब मामला शान्तिपूर्ण रूप से नही सुलझा, तो राजा जसवंत सिंह और औरगजेब और मुराद के संयुक्त फौज के बीच धरमत का युद्ध हुआ । हाँलाकि इस युद्ध में राजा जसवंत सिंह की हार हुई, लेकिन जसवंत सिंह ने पूरी निष्ठा के साथ मुगल सम्राट के आदेश को निभाया ।

हाँलाकि उत्तराधिकार की लड़ाई (1658) में राजा जसवंत सिंह शाहजहाँ और दारा के साथ थे, जब औरंगजेब (1658-1707) सम्राट बना तो राजा जसवंत सिंह को मुगल प्रशासन में शामिल किया गया । राजा जसवंत सिंह को 7000 जात और सवार का मनसब दिया गया । इस 7000 मनसब में 5000 दो अस्पा और सिह अस्या मनसब से राजा जसवंत सिंह को नवाजा गया था । यहां हय उल्लेखनीय है कि जिस प्रात: को ओरंगजेब शुजा के विरूद युद्ध करने बाला था उस रात को जसदंत सिंह ने औरंगजेब का साथ छोड्कर शुजा से जा मिलने का विश्वासघात का कृत्य भी उससे सिद्ध हो चुका था । इसके अतिरिक्त शिबाजौ के साथ भी उसकी सहानुभूति रहती थी इन सबके बावजूद भी उसे अनेक महत्वपूर्ण जिम्मेदारियां एबं 7000 का मनसब प्रदान कियां जाना जसवंत की योग्यता एवं विश्वनीयता का घोतक है । यह सही है कि औरगजेब ने जयपुर के बार राजाओं जयसिंह प्रथम राम सिंह बिशन सिंह और जयसिंह द्वितीय मेवाड के तीन राजाओं राय सिंह जयसिंह और अमरसिंह, बीकानेर के राव कर्ण, राजा अनूप सिंह सरूप सिंह अनरूध सिंह और बुद्ध सिंह, कोटा के जगत सिंह, किशन सिंह और राम सिंह इत्यादि को मुगल साम्राज्य मे प्रशासन प्रतिनिधि रच प्रदान किया था, लेकिन राजा जसबंत सिंह के बराबर सिर्फ एक ही राजपूत राजा जायसिह का मनसब मिला था । इस तरह से राजा जसवंत सिंह औरगजेब के सबसे गिबास और समर्थको की सूची में शामिल थे ।

राजा जसवंत सिंह ने बाखूबी औरंगजेब द्वारा दी गयी जिम्मेदारियो को निभाया । जब औरंगजेब ने राजा जसवंत सिंह को गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया तो राजा जसवंत सिंह ने वही का प्रशासन को कुशलतापूर्वक चलाया और 1671 ई. में जब औरंगजेब ने उन्हे गुजरात से वापस बुलाया और उत्तर पश्चिम सीमा के जमरूद इलाको का थानादार नियुक्त किया तो राजा जसवंत सिंह ने इस जिम्मेदारी को भी सहर्ष रूप से स्वीकार कर लिया । उल्लेखनीय बात या है कि औरंगजेब के जमाने में मुगल साम्राज्य की उत्तर पश्चिम सीमा में विद्रोह जोरो पर था और यह इलाका खतरनाक समझा जाता था फिर भी औरंगजेब के आदेश का पालन करते हुए राजा जस्वंत सिंह जमरूद गये और करीब आठ वर्षो तक वहाँ तक वही की कानून-व्यवस्था की देख भाल की वही पर 28 नवंबर, 1676 ई. में उनकी मृत्यु हो गई यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ओरंगजेब ने हमेशा महाराजा जसवंत सिंह को सममान दिया । उसे जब 1667 ई. में दूदाकौली दे उपद्रवी जमीदारों ने सिर उठाया तो दूदाकौली की जमीदारी में 78 लाख दाय तथा 24 लाख दाय परगना सांचौर में इनाम के तौर पर स्वीकृत किया । इसके अतिरिक्त उसे चार परगने तानापुर के निकट भी दिये । इसके अतिरिक्त 1887 ई. में महाराजा की तनखाह जागीर

के रूप में परगना रोहतक व रेवाडी भी रहे थे । जब जसवंत सिंह को मुअज्जम के साथ सहानुभूतिपूर्वक विचार करे और उस पर कृपा दृष्टी बनाई रखें तथा अनावश्यक कार्य उससे न करवाया जाये । बादशाह ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा था- महाराजा बहुत काम का और बुद्धिमान व्यक्ति है । इस अभियान पर प्रस्थान के समय बादशाह की ओर से उसे हिशेष खिलअत, हाथी, घोडे जडाऊ तलवार व जमधर दिये गये थे । इसके साथ ही उसे लाहौर में हवेली बनवाने के लिए पाँच बीघा भूमि भी प्रदान की गई थी जब महाराजा के पुत्र की चेचक से मृत्यु हूई तब बादशाह ने शाहजादो को मातमपुरसी के लिए जो निर्देश दिये थे दे बहुत ही आर्थिक एवं अपनत्व को दर्शानें वाले थे ।

चूंकि 1678 में राजा जसवंत सिंह की मृत्यु के वक्त उनका कोई पुत्र नही था, मारवाड़ राज्य को इसलिए ओरंगजेब ने खालिसा इलाका घोषित कर दिया । उल्लेखनीय बात यह है की खालिसा इलाका की सारी लगान मुगल बादशाह के पास जाती थी, इस तरह से अप्रत्यक्ष रूप में मारवाड़ पर न मुगलो का कब्जा हो गया, लेकिन राजा जसवंत सिंह की मृत्यु के पश्चात उनकी दो, रानियों ने दो पुत्रों को जन्म दिया । जिन्हे बादशाह द्वारा शाही निगरानी में ले लिया गया था । रानी हाडी, राजा जसवंत सिंह की पत्नी ने सबसे पहले जोधपुर खाली करने से इनकार कर दिया और बाद में मारवाड राज्य को राजा जसवंत के दोनो पुत्रो को सौपने की माँग की । इस मांग को कई राजपूत राजाओ ने समर्थन दिया । औरगंजेब के मीर बक्शी खान जहाँ ने भी रानी की माँग को स्वीकार करने की सलाह औरगजेब को दी थी ।

हालाँकि औरगजेब राजा जसवंत सिह के पुत्र अजीत सिंह को मनसब देने को तैयार हो गया, लेकिन उसने अजीत सिंह को जसवंत सिंह का उत्तराधिकारी मानने से इनकार कर दिया । जिसकी वजह से 1679 से मुगल-राजपूत सम्बन्ध खराब हुए और यह मुगलराजपूत दोनो के हितो के खिलाफ सिद्ध हुआ ।

8.6 सवाई राजा जयसिंह एवं मुगल

मुगल मुगल सम्राट अकबर के जमाने से ही कछवाहा राजपूतो का मुगल साम्राज्य की प्रशासनिक व्यवस्था में एक अहम भूमिका थी । राजा भारमल, भगवानदास और राजा मानसिंह ने अकबर के अन्तर्गत विभिन्न पदो पर आसीन हुए थे और अकरर के साम्राज्य विस्तार में देश के अनेको हिस्सो में सेनानायक के रूप में कार्य किया था, काबुल से लेकर बंगाल तक आमेर के राजपूतो ने मुगल साम्राज्य को मजबूत बनाया था और अपनी उपस्थिति को दर्शाया था । परिणाम स्वरूप मुगल बादशाओ ने अपने साम्राज्य की बेहतरी के लिए कछवाहा राजपूतो को अपने साम्राज्य में सबसे महत्वपूर्ण समर्थक (Most fovoured Ally) का दर्जा दिया था और मुगल साम्राज्य के सबसे बडे मनसबों से इनकी गणना की जाती थी । शाहजहाँ और औरंगजेब के समय में मिर्जा राजा जयसिंह प्रथम मुगल साम्राज्य के सबसे बडे मनसबदारो में से एक थे । शाहजहाँ ने इन्हे 5000 जात और सबार का मनसब प्रदान किया था । जब 1657-58 शाहजहाँ के पुत्रो ने मुगल सम्राट और दारा के खिलाफ विद्रोह किया तो जयसिंह ने शुजा के खिलाफ युद्ध किया और इसे परास्त किया ।

औरगंजेब ने राजा जय सिंह को अपने साम्राज्य का सबसे बड़ा शुभ चिन्तक माना और जयसिंह ने भी अपनी मृत्यु के समय तक मुगल साम्राज्य के विस्तार और विकास के लिए काम किया । तत्कालीन इतिहास कार ईश्वरदास नागर (फूतूहात-ए-आलमगीरी) के मुताबिक, जयसिंह औरंगजेब के दिमाग की

बारी (Key to the brain of Aurangzeb) के रूप में काम करते थे । आधुनिक इतिहासकार सतीश चन्द्र के मुतारिक जयसीह राजपूतो के मामलो के औरगजेब के मुख्य सलाहकार थे ।

जयसिंह की योग्यता और मुगल साम्राज्य के प्रति निष्ठा को औरगजेब ने पूरी तरह से स्वीकार किया और उन्हे मुगल सम्राज्य की नीतियों में भागीदार वनाया । औरगजेब के समय में राजा जयसिंह मुगल साम्राज्य का सबसे महत्वपूर्ण मनसबदार और उन्हे 7000 जात और उदार का मनसब प्रदान किया । औरगंजेब ने उन्हे गुजरात ओर बाद में दक्षिण का गवर्नर नियुक्त किया । मराठा सरदार शिवाजी के क्षेत्रीय विस्तार को रोकने के लिए औरंगजेब ने जयसिंह को मुख्य सेनानायक और नीतिकार (Policy Morker) के रूप में नियुक्त किया । यह जयसिंह के अथक प्रयास का नतीजा था कि 1665 में शिवाजी की मुगलो के खिलाफ पराजय हुई और उन्हे पुरन्दर की सन्धि करने के लिए बाध्य होना पड़ा । यहां हय उल्लेखनीय हैं कि औरंगजेब ने दक्षिण के समस्त अमीरों एवं मनसबदारों को राजा जयसिंह के अधीन रहकर कार्य करने का आदेश दिया । मिर्जा राजा जयसिंह दक्षिण से जिस मनसबदार की सिफारिश भेजता था, बादशाह उसे स्वीकार कर लेता था । जब दक्षिण से 1666 ई. में सूचना पहुंची कि शिवाजी आक्रमण की तैयारी कर रहे है, बादशाह ने उत्तर दिया कि मिर्जा राजा को हस्बुल हुक्म लिख दिया जाये कि वहां के समस्त अधिकार तुम्हे सौपें हुऐ है अत हर गतिविधि तथा व्यवस्था से अवगत रहे मिर्जा राजा रहा बुद्धिमान एवं वीर था । मुगलों की तरफ से उन्होने कई बडी-बडी लड़ाईयाँ लड़ी और विजयी हुआ । जिसके पुरस्कार में राजा को बादशाह ने मिर्जा राजा का खिताब दिया व चारसू आदि के परगने जागीर में दिये । औरंगजेब के दरबार में शिवाजी को भेजने शला भी यही राजा था । बुरहानपुर से रवाना होकर मिर्जा राजा ओरंगजेर के पास आट हाथा कि रास्ते में ही उनकी मृत्यु 1669 ई. हो गई । ओरंगजेब अपने अमीरों को राजा रायसिंह जो राजा जयसिंह का बेटा था, वे डेरे पर जाकर मातमपुर्सी के आदेश दिये ।

1667 में मिर्जा राजा जयसिंह की मृत्यु के पश्चात भी कछवाहा राजपूतो और मुगलो के बीच भिन्नता पूर्वक समथ रहे । राजा रामसिंह को औरंगजेब ने 5000 जात और 5000 सवार का मनसब प्रदान किया । यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रायसिंह से बादशाह काफी नाराज था क्योकि उसने शिवाजी को शाही दरबार से भागने में मदद दी थी । फिर राजा जयसिंह की मृत्यु पर उस पर विशेष अनुकम्पा की गई और चार हजार के मनसब से सम्मानित किया था और राजा जयसिंह के बराबर कतरा पाने का भरोसा दिलवाया था । आसाम अभिमान उसके मनसब में एक हजार थी ओर वृछि कर दी गई थी और उसकी वतन जागीर की आय बढावा दो करोड दाम कर दी । शाह आलम ने राजा रामसिंह की वीरता तथा दक्षता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुऐ उसे चकलक (अफगानिस्तान) की थानेदारी सौपी थी । 1688 में जब राजा रामसिंह की मृत्य हुई तो उनके उत्तराधिकारी राजा विशन सिंह को 3000 का मनसब मिला और मुगल सम्राट ने उन्हे मथुरा का फौजदार नियुक्त किया । 1698 ई. में विशन सिंह के उत्तराधिकारी राजा जयसिंह द्वितीय को 2000 जात ओर सवार का मनसब मिला जिसमें 1000 दो अस्पा और सिंह अस्पा था । और 1698 में हो राजा जयसिंह द्वितीय को दक्षिण के नियुक्त किया गया ।

मुगल-राजपूत संघ राजा जयसिंह प्रथम (1667) की मृत्यु के पश्चात कमजोर होने लगा था और राजा जसवंत की मृत्यु (1678) के पश्चात यह संघ करीब-2 बिखर गया । औरगजेब की मृत्यु के पश्चात जब बहादुर शाह प्रथम (1707-12) मुगल सम्राट बना तो शुरूआती दौर में राजपूतो के प्रति

औरंगजेब की नीति को जारी रखा । राजा जयसिंह द्वितीय जो कि 1700 में मालवा के सूबेदार नियुक्त हुए थे, के साथ बहादूर शाह के अच्छे समय रहे और बहादुरशाह ने उन्हे 7000 जात और सवार का मनसब प्रदान किया । लेकिन कुछ समय के लिए बहादुरशाह और जयसिंह के सम्बन्धो में कटुता आई । जब राजा जयसिंह द्वितीय और उसके भाई विजय सिंह के बीच उत्तराधिकार के मामले में मत भेद शुरू हुआ तो बहादुरशाह ने विजय सिंह का साथ दिया और आमेर को खालसा इलाका घोषित किया । राजा जयसिंह की सम्पत्ति को जल कर लिया गया । आमेर राज्य विजय सिंह की सौप दिया गया । लेकिन मुगल अमीर जुलफेकार ने बहादुरशाह और जयसिंह के सम्बन्धो को सुधारने की कोशिश की । परिणामस्वरूप 1701 ई. में सवाई जयसिंह द्वितीय को आमेर वापस दे दिया गया । जयसिंह ने 1711 ई. के बाद मुगल साम्राज्य का कठिन परिस्थतियों में साथ दिया । जयसिंह को बन्दा बहादुर (सिख सरदार) के खिलाफ सदौरा की सुरक्षा के लिए नियुक्त किया गया और बाद में चित्रकूट का फौजदार नियुक्त किया गया ।

जहाँनदार शाह (1712-13) फरूखशियर (1713- 19) और मुगल सम्राट मुहम्मदशाह के साथ ज्यादातर राज जयसिंह के सम्बन्ध अच्छे रहे । जब मुहम्मद शाह (1719-48) के समय में दुबारा जजिया कर को लागू करने के योजना बनाई गयी तो जयसिंह ने इसका बिरोध किया और जजिया को लागू नहीं किया गया । बाद में राजा जयसिंह ने मुगल-मराठा संघर्ष में भी भूमिका अदा की ।

8.7 सारांश

मुगल-राजपूत संघ का निर्माण मुगल सम्राट अकबर ने किया जो कि दोनो मुगलो और राजपूतो के हितो का रक्षक बना । राजपूत राजाओ, जैसे मानसिंह, जयसिंह प्रथम, जसवंत सिंह और जयसिंह द्वितीय ने मुगल साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तो में मुगल कानून-व्यवस्था को मजबूत वनाने में भी अहम भूमिका अदा की थी । दूसरी तरफ इन राजपूत राजाओ को उनके पैतृक राज्यों की सुरक्षा के लिए मुगलो ने भरपूर सहायता की । राजपूतो के पैतृक राज्य को वतन जागीर घोषित कर दिया गया और उन्हे मुगल साम्राज्य के अन्य भागो में अतिरिक्त जागीरे तनखाह जागीर के नाम से दी गयी । इस तरह से राजपूतो का प्रभाव राजपूताना के बाहर भी दिखाई देने लगा । जब तक मुगल और राजपूत संघ मजबूत रहा दोनो के राज्य सुरक्षित रहे । लेकिन जब सत्तरहवी शताब्दी के आखोर और अठारहवी शताब्दी में ये संघ कमजोर पड़ा तो दोनो मुगल और राजपूत राज्यो की नींव डगमगाने लगी जिसका फायदा मराठों और विदेशी आक्रमणकारियों को हुआ ।

8.8 संदर्भ ग्रंथ

1. मुगल साम्राज्य का उत्थान एवं पतन - आर. पी. त्रिपाठी
2. मध्य कालीन भारत - सतीश चन्द्र
3. औरंगजेब आलमगीर की कठिनाईयाँ एवं नीतियाँ - शुजाउद्दीन नक्शबन्दी
4. उत्तर मध्य कालीन भारत - ए.बी. पाण्डेय
5. औरंगजेब के काल में मुगल अमीर वर्ग - एम.अथर.अली
6. जहांगीर कालीन इतिहास - बेनी प्रसाद
7. दिल्ली के शाहजहाँ का इतिहास - बी.पीसक्सेना
8. अकबर महान - ए.एल.श्रीवास्तव

इकाई 9

मध्यकालीन राजस्थान में कला, स्थापत्य एवं चित्रकला

(Art, Architecture and Painting in Medieval Rajasthan)

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 मध्यकालीन राजस्थान

9.3 स्थापत्य - धार्मिक

9.4 रिहायशी महल एवं हवेलियाँ

9.5 सुरक्षात्मक दुर्ग

9.6 जल स्थापत्य

9.7 चित्रकला

9.8 मूर्तिकला एवं अन्य

9.9 सारांश

9.10 बोध प्रश्न

9.11 संदर्भ ग्रन्थ

9.0 उद्देश्य

- कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में नई तकनीकों का विकास व विदेशी संस्कृतियों से सम्पर्क
- नए-नए कला रूपों का निर्माण
- कागज के आगमन से लेखन एवं चित्रकला के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति

9.1 प्रस्तावना

मध्यकालीन राजस्थान, अर्थात् 1303 से 1761 ई. तक की अवधि, में देखंगे कि कुछ प्रमुख राजपूत राजवशों का वर्चस्व बढ़ा जिनमें गुहिल-सीसोदिया, कछवाहे, राठौड एवं चौहान प्रमुख थे । दिल्ली में इस बीच सुलतानों और 16वीं शती से मुगलों का प्रभुत्व रहा । सुलतानों से तो राजपूतों की लड़ाई ही होती रही किन्तु मुगलों ने उन्हें मित्र बनाकर साथ ले लिया और मेवाड़ को छोड सभी राजपूत राजाओं ने कंधे से कंधा मिलाकर मुगल साम्राज्य के निर्माण में सहयोग दिया ।

मेवाड में राणा कुम्भा ने अपने राज्य की सीमा बढ़ाई उसके बाद राणा सांगा ने यद्यपि सब को साथ मिलाकर खानवा के मैदान में बाबर से सामना किया किन्तु वहाँ की हार से सबके हौसले पस्त हो गए । कुछ दिनों के लिए सूरवंश का शासन अवश्य रहा पर पानीपत की लड़ाई के बाद तय हो गया कि भारत पर मुगल ही राज्य करेंगे । अगले तीन सौ वर्षो में मुगल-राजपूत सहयोग से देश का अधिकांश भाग एक सूत्र में बंध गया, पश्चिम में काबुल से लेकर पूर्व में आसाम तक और उत्तर में काश्मीर से लेकर दक्षिण में नर्मदा तक मुगलों का आधिपत्य रहा, जहाँ सीमाओं के रक्षक आबेर के कछवाहे, बूंदी

के चौहान, जोधपुर एबं बीकानेर के राठौड़ शासक थे । राजपूत राजे मुगल शासकों के लिए तो लड़े पर राजपूताने में अपेक्षाकृत शांति रही जिससे देश में समृद्धि आई । परिणामस्वरूप नए नगरों की स्थापना हुई, उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़ नगर इसी काल में बसे, राजमहलों का निर्माण हुआ जिनमें सुख-सुविधा के लिए शीशमहल, फूलमहल, मोतीमहल, हवामहल, बादलमहल आदि भवनों का निर्माण हुआ । इन भवनों से जुडे तथा स्वतंत्र रूप से भी बाग-बगीचे लगवाए गए । उदयपुर महाराणा ने सर्वऋतु विलास बनवाया तो आबेर में श्याम बाग, केसर क्यारी और दलाराम के बाग बने । जयपुर में नगर प्रसाद से जुड़ा जयीनवास उद्यान तथा जोधपुर के मण्डोर उद्यान भी बने जिनमें दुर्लभ प्रजातियों के फूल-फल लगाए गए ।

सुरक्षा के लिए दुर्ग संरचना में भी कुछ परिवर्तन हुए । खान्वा को लड़ाई में बारुद ने राजपूतशासकों की आखें खोल दी थी कि उनकी पराजय का प्रमुख कारण उनकी पुरानी युद्ध पद्धति थी । अत: राजपूताने के सभी शासकों ने अपने-अपने किले मजबूत किए और उनमें नए साधनों को भी इकट्ठा किया । चित्रकला के क्षेत्र में कई नए प्रयोग हुए, पहले भित्तिचित्र ही बनते थे, समुचित माध्यम के अभाव में देवी-देवताओं के चित्र यदा कदा ताल पत्रों पर बना लिए जाते थे । किन्तु एक तो ताल पत्र इतना सुलभ नहीं था, दूसरे उसे तैयार करने की प्रक्रिया भी जटिल थी, और उससे भी बडी बात यह थी कि उसका आकार निश्चित था, उसी के अनुसार चित्र संयोजना करनी पडती थी, 13वीं शती में कागज के आगमन से ग्रन्थ चित्रण में वृद्धि हुई और गुणात्मक अन्तर आया । चित्रों का आकार रडा हुआ, धार्मिक, ऐतिहासिक, साहित्यिक और शृंगारिक ग्रन्थों पर आधारित चित्रावीलया बनी । व्यक्ति चित्रण की शुरुआत भी हुई । यों तो पहले मूर्तियां बनती थीं किन्तु अब तो कागज आ गया था जिस पर अंकन अपेक्षाकृत आसान था ।

संगीत नृत्य विषयक ग्रन्थो की रचना हुई, क्लिस्ष्ट शैलियों को सरल बनाने की भी चेष्टा की गई, इस प्रक्रिया में ध्रुपद जैसे शुद्ध शास्त्रीय शैली से हवेली संगीत का विकास हुआ जो वैष्णव मंदिरों में गाई जाने लगी और आज भी गाई जाती है, इसका प्रमुख केन्द्र नाथद्वारा है । अधिकांश ग्रन्थ संस्कृत में थे जिन्हें कुछ विद्वान ही पढ़ सकते थे । अतएव उनके अनुवाद कराए गए जिसमें राजस्थान के शासकों और विद्वानों का बहुत यागदान रहा, इस युग की 'हिंदवी' और 'भाषा' का जो रूप बना वही आगे चलकर आधुनिक हिन्दी हुई ।

9.2 मध्यकालीन राजस्थान

कला एवं स्थापत्य की स्थिति का देश की राजनीतिक स्थिति से घनिष्ठ संबध है, जब देश में शान्ति होगी तो समृद्धि आएगी और समृद्धि आएगी तभी कला की उन्नति होगी इसलिए यहां पर मध्यकाल (1300-1761) में राजस्थान की राजनीतिक स्थिति का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक हैं । इस समयावधि के पूर्वार्द्ध में मेवाड, मारवाड, आंबेर और सिरोही के राज्य प्रमुख थे, उत्तरार्द्ध में पहले वागड क्षेत्र के स्वतंत्र राज्य डूंगरपुर और बांसवाडा बने, बीकानेर में बीकाजी ने स्वतंत्र सत्ता स्थापित की, बाद में कोटा अलग हुआ और फिर किशनगढ़ ।

समकालीन स्रोतों के अनुसार आबू सिरोही, बूंदी, हाडआटी, चाटसू, रणथम्मौर, गागरोन, मण्डोर, सारंगपुर, नागौर व नरायणा सब मेवाड की सीमा में ही थे ।

मेवाड के जिन शासकों का कला-संस्कृति के क्षेत्र में विशेष योगदान रहा, उनमें महाराणा कुम्भकर्ण (कुंभा 1433-61) संग्रामसिंह (सांगा 1508-28) राजसिंह (1652-80) और जयसिंह (1680-98) के नाम प्रथमपक्ति में आते हैं । इन लोगों ने कलाकारों को प्रश्रय दिया, कुंभा स्वयं निर्माता व संगीत प्रेमी थे, उन्होंने कुम्भलगढ दुर्ग एवं कीर्त्ति स्तंभ बनवाया । मेवाड की लड़ाई मालवा-गुजरात के सुलतानों से होती रहती थी किन्तु सांगा ने दिल्ली की ओर दृष्टि की और 1528 में खनवा की लडाई में बाबर के विरूद्ध लड़ते हुए मारा गया । इसके बाद दिल्ली के मुगल बादशाहों से संघर्ष होता रहा और जहांगीर के समय से शान्ति स्थापित हुई, उदयपुर का जगनिवास बना, राजसिंह ने अकाल राहत कार्य में राजसमन्द बनवाया जिसके किनारे बना नौ चौकी घाट स्थापत्य का अनुपम उदाहरण है । जयसिंह के समय में बड़ी-बडी चित्रावलिया बनी ।

13 वी शती मारवाड में राठौड़ों के पूर्वज सीहाजी ने पाली में एक छोटा राज्य स्थापित किया था जिसे उसके वंशजों ने आगे बढ़ाया और राव जोधा (1438-89) ने 1459 में जोधपुर नगर की स्थापना की, उसने महाराणा कुम्भा से संधि कर राजपूताने में शांति भी स्थापित की, जिससे कला संस्कृति को बढ़ाता मिला । आगे चलकर जोधपुर ने भी मुगलों से मित्रता की, इस वंश के राजाओं में गजसिंह प्रथम (1619- 1638) जसवन्त सिंह (1638-1678) और अजीत सिंह (1707-1724) बहुत बड़े निर्माता और कला संस्कृति के उन्नायक व पोषक हुए ।

बीकानेर की स्थापना राव जोधा के पांचवें बेटे राव बीका (1465-1504) ने 1488 में की । यद्यपि इस राज्य का अधिकांश भाग रेगिस्तान है किन्तु भवन निर्माण, चित्रांकन व पुस्तक लेखन में यह प्रदेश अग्रणी रहा । यहां के राजाओं ने भी मुगलों से संधि कर ली थी और महत्वपूर्ण युद्धों में मुगलों की ओर से लडे । प्रमुख शासकों में राव लुणकर्ण (1505-26), रायसिंह (1574- 1612) जिन्होंने जूनागढ़ बनवाया, करणसिंह (6831 - 1669), और अनूपसिंह (1669-1698) हुए, जिन्होंने अनूप संस्कृत पुस्तकालय स्थापित किया । राजाओं में साहित्यिक अभिरुचि तो थी ही, परिवार के अन्य सदस्यों में भी कई लोग बड़े प्रतिभावान थे । रायसिंह के छोटे भाई पृथ्वीराज डिंगल के अच्छे कवि थे और उनकी पुस्तक 'कृष्ण रूक्मणि री बेलि' बडी उच्च कोटि की रचना है । महाराजा अनूपसिंह के पुस्तक प्रेम का प्रमाण अनूप संस्कृत पुस्तकालय है जिसमें दुर्लभ पाण्डुलिपियां सुरक्षित हैं । इनके समय में कई चित्रवालियाँ भी तैयार हुई ।

किशनगढ़ की स्थापना किशनसिंह ने की जो जोधपुर के महाराजा उदयसिंह के आठवे पुत्र थे, कला एवं साहित्य के क्षेत्र में किशनगढ़ अपनी चित्रशैली एवं महाराजा सावंतसिंह (1748-57) की रचनाओं के लिए प्रसिद्ध है । सावंतसिंह कृष्णभक्त कवि थे, 'नागरीदास' उनका उपनाम था, वह 1757 में राज्य त्याग कर वृन्दावन में रहने लगे थे ।

बूंदी-कोटा का इलाका चौहानों की हाडा शाखा के अधीन होने के कारण हाड़ौती कहलाता है, किन्तु बूंदी 16 वीं शती तक मेवाड का मित्र राज्य ही रहा, आंतरिक मामलों में स्वतंत्र होते हुए भी ये महाराणा के सहयोगी थे । 16 वीं शती में बूंदी के राव सुरजन (1554-85) ने मुगल बादशाह अकबर से संधि कर ली, और हाड़ा सरदारों ने भारत के विभिन्न भागों में मुगलों का साथ दिया । राव सुरजन को बनारस की जागीर मिली थी, जहां उसने महल, घाट वगैरह बनवाए, उनके इलाके हास बाग,

सूरजकुण्ड और राजमन्दिर में बूंदी का कटारशाही सिक्का भी बाद के दिनों में चलने लगा था । बूंदी का विभाजन 1631 में हुआ जब राव रतन के दूसरे पुत्र माधोसिंह को कोटा की जागीर मिली ।

राजस्थानी चित्र शैली में बूंदी-कोटा कलम का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है बूंदी अपने शृंगारिक और कोटा शिकार चित्रों के लिए विशिष्ट माना जाता है । स्थापत्य में भी हाडा शासकों का बड़ा योगदान रहा । बूंदी के राव छत्रशाल (1631 -58) ने बूंदी में छत्रमहल और पाटन में केशवराव का मन्दिर बनवाया।

राव माधोसिंह ने चम्बल नदी के तट पर कोटा नगर बसाया और उनके बेटे राव मुकुन्द सिंह (1649-57) के नाम पर ही कोटा के पास का दरा मुकुन्द दरा कहलाता है, इनके वंशजों ने कोटा चित्रशैली को समृद्ध बनाया ।

9.3 स्थापत्य

मध्यकालीन राजस्थान के स्थापत्य को, अध्ययन की सुविधा के लिए बार श्रेणियों में रखा जा सकता है - धार्मिक, रिहायशी, सुरक्षात्मक और जल स्थापत्य ।

धार्मिक स्थापत्य के अन्तर्गत हिन्दू एवं जैन मन्दिर तथा मस्जिद ही आएंगे क्योंकि 1200 ई. तक देश के इस भाग में बौद्ध धर्म लगभग समाप्त हो गया था और ईसाई एवं सिख धर्मा का आगमन ही नहीं हुआ था । हां, लोकधर्मो और सन्तों के स्थान अवश्य थे किन्तु इनके देवालयों के निर्माण इस काल में लगभग नहीं के बराबर हुए ।

1200 ई. तक मन्दिरों का भव्य रूप निश्चित हो चुका था, सामान्यत: मन्दिर के पांच भाग होते थे - गर्भगृह जहां मुख्य देवता की मूर्त्ति प्रतिष्टित होती थी, मण्डप जहां भक्तगण इकट्ठे होकर भजन 'कीर्त्तन करते थे, अर्द्ध मण्डप अथवा प्रवेश द्वार और परिक्रमा के लिए प्रदक्षिणा पथ, सबके ऊपर भव्य शिखर होता था । प्रदक्षिणा पथ कभी खुला होता था और कमी बंद । मंदिर के साथ कुण्ड अथक बाबड़ी और एक बगीची भी होती है, जिससे मन्दिर के लिए पानी एवं फूल आदि की व्यवस्था होती है । भक्तगण तथा आने वाले साधुसन्त इस जलाशय से पानी पीते हैं और पुष्प देवताओं के चढ़ाने के काम आते हैं । यह सामान्य व्यवस्था थी किन्तु निर्माण स्थल और निर्माता की आर्थिक स्थिति के अनुसार देवताओं की साज-सज्जा, रख-रखाब और उत्सवों में परिवर्त्तन होते रहते थे ।

मध्यकालीन बड़े मन्दिरों में महाराणा कुम्भा द्वारा बनवाया कुम्भ-श्याम मन्दिर प्रसिद्ध है । वस्तुत: यह मन्दिर आठवीं शती का है जिसका जीर्णोद्वार कुम्भा ने करवाया था उसके बाद इष्ट देव श्याम की मूर्ति प्रतिष्ठित की और उन्हीं के नाम से यह कुंभश्याम का मन्दिर कहलाया । पत्थर में खुदाई का काम और भव्यता के कारण मध्यकालीन मन्दिरों में इसका विशिष्ट स्थान है ।

कुम्भा के कोषाध्यक्ष भण्डारी बेलाक ने शांतिनाथ को समर्पित क्षार चौरी नामक जैन देवालय का निर्माण करवाया । इसी समय का एक प्रमुख निर्माण कीर्ति स्तंभ है । शास्त्रीय नियमों के आधार पर बनी मूर्तियों से सुसज्जित इस स्तम्भ को मूर्तियों का कोष कहा जा सकता है इसमें नौ मंजिलें और 127 सीढ़ियां हैं । प्रत्येक मंजिल पर रोशनी आने के लिए झरोखे मे हुए हैं । इसका शिलान्यास संवत 1495 वी. और प्रतिष्ठा 1517 वि. में हुई ।

कुम्भा के समय का ही बना एक अद्वितीय जैन मन्दिर रणकपुर (पाली) में हैं । मन्दिर समूह में पांच प्रसाद (मंदिर) हैं जिनमें से प्रमुख चार द्वार वाला चौमुखा मन्दिर है, इसे त्रैलोक्यदीपक कहते हैं । आदिनाथ को समर्पित यह मन्दिर वास्तुशास्त्र की दृष्टि से 'त्रैमौमिक' (तिमंजिला) 'चतुरस' (चौकोर)

प्रकार का हैं । इसके निर्माता शतामा के प्रीतीपात्र पोरवाल जैन धरणकशाह थे जिनके नाम पर यह धरणविहार भी कहलाता है । इसका शिलान्यास संवत 1495 वि. में हुआ था और प्रतिष्ठा 1516 वि. में हुई ।

17 वीं शती मेवाड के मन्दिरों में महाराणा जगतसिंह (1628- 1652) द्वारा बनवाया गया जगदीश मन्दिर उल्लेखनीय है जो उदयपुर में राजभवन के निकट ही जगदीश चौक में स्थित है । सडक से सीढ़ियां बढकर भव्य देवालय है जहां मुख्य द्वार पर बने दो विशाल हाथी स्वागत करते हैं । मन्दिर प्रांगण के बीचों बीच ऊंची जगती पर स्थित है चारों कोनों पर चार मन्दिर बने हैं जो इसे पंचायतन बनाते हैं । मन्दिर के मुख्य द्वार के सामने, सुन्दर छतरी में गरुड की धातु प्रतिमा है । मन्दिर अर्द्धमण्डप, समामण्डप अन्तराल और गर्भगह में विभक्त है, गर्भगह के उपर विशाल शिखर है । सभामण्डप की छत पिरामिड शैली की है, परिक्रमा के लिए प्रदक्षिणापथ बना हुआ है । मंदिर की साज-सज्जा पारम्परिक ढंग की है । अधिष्ठान शिला के उपर जाड्यकुम्भ कुर्णिका, ग्रास पट्टी और उसके ऊपर गजथर, अश्वथर और नरथर बने हैं । वेदी के ऊपर जंघा भाग है जो तीन भागों में विभक्त है - नागरी जंघा (सादा), लाटी जंघा (स्त्री-पुरूष युगल) और कपोतावली । इस स्तर पर मंदिर की प्रथम मंजिल पूरी होती है फिर दूसरी मंजिल और शिखर का हिस्सा हैं । इस पूर्वाभिमुख मंदिर के तीनों ओर गवाक्ष बने हैं और पुन: जंघा और कपोतावाली है और मूर्तियों की शृंखला हैं जिनमें विष्णु के दस अवतार, चौबीस स्वरूप, शृंगारिक आकृतियां, शार्दूल, गजसिंह, अश्वसिंह, सुर सुंदरियां एवं नृत्य- संगीतरत समूह हैं ।

इसके अतिरिक्त 17वीं शती में राजस्थान में कई नए मन्दिर बने, कई प्राचीन स्थलों पर ही नए निर्माण हुए । ऐसे मंदिरों में पाटन स्थित केशवराय का मन्दिर बड़ा भव है, मन्दिर के कारण ही यह कसा केशवराय पाटन कहलाता हैं । चम्बल नदी के तट पर स्थित एक प्राचीन मन्दिर था जिसका उल्लेख हम्मीर महाकाव्य में भी हुआ है, अवश्य ही वह भी विशाल देवालय रहा होगा किन्तु 17वीं शती में वह जीर्ण-शीर्ण हो गया था । इसका निर्माण राह शत्रुशाल ने पूर्णत: नए सिरे से करवाया ।

आंबेर के मन्दिरों में सूर्य मन्दिर, कल्याणराय जी का मन्दिर और अंबिकेश्वर शिवालय की विस्तृत चर्चा नही करेंगे क्योंकि वे इस पाठ्यक्रम की समय सीमा से बाहर हैं किन्तु लक्ष्मीनारायण एवं जगतशिरोमणि मन्दिर क्या जैन मन्दिरों में सांघी जी का मन्दिर उल्लेखनीय हैं ।

लक्ष्मीनारायण मंदिर जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है वैष्णव मन्दिर है, इसका निर्माण महाराजा पृथ्वीराज की पत्नी बालाबाई ने करवाया था जो बीकानेर के राव लूणकरण की बेटी थी और परम वैष्णव थी । इसी रानी के प्रभाव में आकर पृथ्वीराज ने वैष्णव मत अंगीकार किया था । शिखर युक्त यह मन्दिर मध्यकालीन मन्दिर स्थापत्य का सुन्दर उदाहरण है, सभामण्डप और प्रदेश द्वार भी है । दूसरा महत्वपूर्ण मन्दिर जगतशिरोमणि भी विष्णु को ही समर्पित है और राजा मानसिंह की रानी श्रृंगार देवी कनकावत जी का बनवाया हुआ है । उन्होने अपने पुत्र जगतसिंह की स्मृति में इस देवालय का निर्माण करवाया था । तोरणयुक्त इस दो मंजिले मन्दिर में बड़े सुन्दर चित्र बने हैं । मन्दिर के बाहर गरुड़ मण्डप है । बलुए पत्थर से निर्मित इस मन्दिर की बनावट शास्त्रानुसार है, जगती गजधर अश्वथर और नरथर में विभाजित है, गजधर में हाथियों की शृंखला होती थी और अश्वथर में घोडो की

नरथर में तत्कालीन जन जीवन का चित्रण होता था । मध्यभाग में मूर्तियां है और उसके ऊपर शिखर है ।

जैन मन्दिरों में तीन शिखरों बाला सांघीजी का मन्दिर उल्लेखनीय है, गांधी चौक के निकट ही बाई ओर जाने वाली सड़क के कोने पर स्थित इस मन्दिर का निर्माण मूलत: मोहनदास ने संवत 1714 वि. (1657 ई) में कराया था, किन्तु इसका जीर्णोद्वार सांघी झूंथाराम ने 19वीं शती में कराया जिसके कारण यह सांघी जी के मन्दिर के नाम से ही प्रसिद्ध है ।

मध्यकाल में मन्दिरों की एक नई शैली विकसित हुई जिसे हवेली शैली कहा जाता है, इसमें शिखर नहीं होता केवल चौक और चारों ओर बरामदा एवं कमरे होते हैं, उन्हीं बरामदों में से एक के अन्दर वाले कमरे में ठाकुर जी प्रतिष्ठित होते हैं और कभी कभी सुविधानुसार पृष्ठभाग को बढ़ाकर प्रदक्षिणापथ भी बना दिया जाता था । वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी कृष्ण के बालस्वरूप की पूजा करते थे और गौड़ीय सम्प्रदाय वाले राधा-कृष्ण के युगल छवि की, किन्तु दोनों ही मतों में यहां मन्दिर की कल्पना एक घर की थी जिसमें ठाकुर निवास करते थे । वल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिरों में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण नाथद्वारा (उदयपुर) और गौडीय सभदाय का गोविन्द देव जी (जयपुर) का है ।

नाथद्वारा 1669 ई. में मुगल सम्राट औरंगजेब की ब्रज में वैष्णव विरोधी नीतियों से भयभीत बहुत से धर्माचायों ने अपने इष्ट देवताओं के साथ ब्रज का त्याग किया, इन्हीं में दामोदरलाल जी और उनके कुछ शिष्य भी थे जो श्री नाथ जी की मूर्ति लेकर राजस्थान आ गए, यहां महाराणा राजसिंह ने उनका स्वागत किया और जब मूर्ति की गाड़ी सिहाड गाँव में रूक गई तो वही मन्दिर बनवाने का निश्चय कर श्रीनाथ जी के विग्रह की प्रतिष्ठा कर दी गई । यही स्थान नाथद्वारा अर्थात् श्री नाथ का दरवाजा कहलाया (1671 ई.) । यहां जो मन्दिर बना, वह शिखरबन्ध मन्दिर नहीं था वरन् ठाकुर जी का घर था और सामान्य व्यक्ति की उपयोगिता को ध्यान में रखकर बनाया गया था यद्यपि धीरे-धीरे इसका आकार बढ़ता गया और हवेली कहलाने लगा । इस भवन के मुख्य द्वार पर दो विशाल हाथी चित्रित हैं, नौबत खाना है जहां संगीतकार बैठकर गायन-वादन करते हैं । मोतीमहल का द्वार बडा भव्य है, अन्दर कई चौकों वाली हवेली है जिनमें कमल चौक, गोवर्धन पूजा चौक और कई भण्डार हैं, इन सबके बीच निज मन्दिर में श्रीनाथ जी विराजते हैं । अन्दर द्वारिकाधीश विट्ठलनाथ जी और मदनमोहन जी के भी मन्दिर हैं । यहां का स्थापत्य 17वीं शती राजस्थान की हवेलियों से मिलता हैं । हां, यह अवश्य है कि इसके भवनों के नामकरण मन्दिर के उपयोग के अनुसार हुआ है ।

श्री गोविन्द देव जी जयपुर स्थित श्री गोविन्द का विग्रह भी आक्रांताओं के भय से जब वृन्दावन से आंबेर के लिए रवाना हुआ तो कई स्थानों पर रूकते रूकते अंतत: आंबेर पुहुंचा यहां स. जयसिंह ने इनके लिए सागर तट पर कनक वृन्दावन बनवाया हरे भरे बाग बगीचों के बीच शिखर बन्द मन्दिर, किन्तु शीघ्र ही नई राजधानी बनी जहां श्री गोविन्द को महलों में ही प्रतिष्ठित किया गया । महाराजा के शयन कक्ष से ही जयपुर के स्वामी गोविंद का दर्शन हो सके, ऐसी व्यवस्था थी; यह मन्दिर भी हवेली शैली का ही है शिखर नहीं हैं । एक तिबारे में श्री राधा-गोविन्द और सखियों के विग्रह है, प्रदक्षिणा पथ है और सामने खुला प्रांगण था जिस पर अब छत पड गई है । सेवा-पूजा की आवश्यकतानुसार कमरे बने हुए हैं सामने बगीचा है जिससे पूजा के लिए तुलसी दल और पुष्प आ जाते हैं । इन मध्यकालीन वैष्णव मन्दिरों में स्थापत्य संबंधी विस्तृत विधान नहीं हैं । 18वीं शती जयपुर में महाराजा जयसिंह और उनके पुत्र माधोसिंह तथा समश्द्ध महाजनों के बनवाए बहुत से मन्दिर हैं जिनमें गोपीनाथ जी का

मन्दिर (पुरानी बस्ती), कल्कि जी का मन्दिर (सिरह ड्योढी बाजार), गिरधारी जी का मन्दिर (मोतीकटला बाजार) और लूणकरण नाटाणी का मन्दिर (छोटी चौपड) आदि अपने स्थापत्य के लिए प्रसिद्ध है । इनमें छोटी चौपड स्थित रामचन्द्र जी का मन्दिर उतुंग शिखर के कारण दूर से ही दिखाई देता हैं स्थापत्य की दृष्टि से पारम्भिक प्रकार का है, सडक से मन्दिर तक सीढ़िया जाती है । ऊपर गर्भगृह और मण्डप हैं जो स्तम्भों पर आधारित है ।

9.4 रिहायशी महल एवं हवेलियां

रिहायशी भवनों में महल एवं हवेलियां आती हैं - जो उनमें रहने वालों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति के अनुसार बनाई जाती थीं । सामाजिक स्तर ही परिवार और व्यक्ति की आवश्यकताएं भी निश्चित करती है, उदाहरण के लिए राजा को दरबार के लिए दीवान खाना अर्थात बडे बैठक की आवश्यकता होती थी जबकि उसके मंत्री एवं अधीनस्थ अधिकारी छोटी बैठक खाने से ही काम चला सकते थे । दूसरा महत्वपूर्ण उपादान था भवन निर्माण सामग्री का जिस क्षेत्र में जो सामग्री आसानी से उपलब्ध थी, लोग उसी का उपयोग करते थे उदाहरणार्थ पश्चिमो राजस्थान में भवन निर्माण के लिए पत्थर का उपयोग अधिक होता है जबकि पूर्वी राजस्थान में ईट व मिट्टी का, यहां तक कि भरतपुर के प्राचीन किले की दीवार ही मिट्टी की है ।

मध्यकालीन राजस्थान के महलों की योजना प्राचीन भारतीय पद्धति पर ही आधारित थी, पहले हर्षचरित में वर्णित महलों की योजना के बहुत निकट रही, बाद में वह भी विशेषकर मुगल सम्पर्क में आने पर कुछ परिवर्तन अवश्य आए - महलों के साथ उद्यान पहले भी होते थे, पर अब उसकी योजना 'चार बाग' प्रकार की हो गई । इसी प्रकार जालियों में ज्यामितिक अलंकरणों की भरमार हो गई और मेहराब भी कटावदार प्रकार का हो गया । शाहजहाँ काल में 16वी शती के भारी स्तम्भ और हाथियों तथा मयूरों वाले घुडियों के स्थान पर लम्बे खम्भे बनने लगे जिनपर लम्बी पत्तियों वाला अलंकरण होता था । शृंगारिक अभिप्रायों में फूल-पत्तियों वाले पौधों का संयोजन होने लगा । इसी पृष्ठभूमि के साथ कुछ प्रमुख उदाहरणों की जानकारी आगे के पृष्ठों में दी जाएगी ।

महलों में सात 'पोल' या दरवाजे बनाये जाते थे जो सुविधानुसार कम भी कर दिए जाते थे, यहीं हम आंबेर के महलों का उदाहरण देंगे, सूरजपोल से अन्दर जाते ही जलेब चौक है जहां जलेबदार रक्षकों का पहरा रहता था । सूरजपोल के ठीक सामने चन्द्रपोल है जिससे आंबेर नगर में जाने का रास्ता है । जलेब चौक की सीढ़ियों से चढ़ कर एक बडे चौक में पहुंचते ही सामने बाई ओर दीवानखाना है और उससे लगे कार्यालय, दाई ओर गणेशपोल है जो महलों का प्रदेश द्वार है, इस दरवाजे से अन्दर जाने पर सामने उद्यान है और दोनों ओर रिहायशी बडे कमरे जिन्हें सुख मन्दिर व जस मन्दिर कहते हैं, राजस्थानी शब्दाबली में 'दरीखाना' भी कहा जा सकता है । उसके बाद जनाना महल और चौक इत्यादि । बाहर की ओर गणेशपोल के दाई ओर भोजनशाला औंर बाई ओर हमाम है । राजमहलों से ही लगा हुआ अस्तबल और हस्तिशाला भी होती थी । इन राजभवनों में कुछ हिस्सों के नाम उनकी बनावट व उपयोगिता पर आधारित होते थे जैसे बादल महल, जहां बैठ कर वर्षा ऋतु का आनंद लिया जा सके, 'हवामहल' जहां खूब हवा आए अर्थात् हवादार स्थान ।

कुछ हिस्सों के नाम उनके निर्माताओं अथवा रहने बालों पर भी रखे जाते थे जैसे जयपुर नग प्रसाद का प्रताप मन्दिर, महाराजा प्रतापसिंह ने बनवाया था और उदयपुर में जगतसिंह की चित्रशाला,

महाराणा जगतसिंह ने बनवायी थी । विशिष्ट व्यक्तियों, पुरोहितों एवं प्रमुख उमरावों व सरदारों के निवास, राजमहलों के छोटे संस्करण ही थे, यहाँ भी जनाने एवं मरदाने हिस्से पृथक-पृथक होते थे, बड़ी-बड़ी बैठकें होती थी और सुन्दर भित्ति चित्रों से युक्त शयनकक्ष सहित घोडे, हाथियों और बहीलयों के रखने की जगह सहित ये हवेलियां कभी-कभी राजमहलों से भी मथ होती थी ।

जयपुर में छोटी चौपड स्थित नाटाणी की हवेली जिसमें आजकल बालिका विद्यालय है, इसी प्रकार की है । तीन चौकों वाली इस हवेली में घोड़ों, रथों व बहीलयों के खड़े करने के स्थान भी हैं । ब्रह्मपुरी स्थित सवाई जयसिंह के गुरु रत्नाकर पुण्डरीक की हवेली और गणगौरी बाजार में पुरोहित प्रतापनारायण जी की हवेली अपने भित्ति चित्रों के लिए प्रसिद्ध हैं । जैसलमेर एवं बीकानेर की हवेलियां पत्थर की खुदाई के लिए प्रसिद्ध हैं । यहां के घरों में पानी के टांके बनाने की भी प्रथा थी और हर घर में पालर (बरसाती) पानी के लिए टांके बने होते थे । जैसलमेर में सालिमीसंह व नथमल की हवेली, कोटा में बुधसिंह बाफना की हवेली मध्यकालीन हवेली स्थापत्य के अच्छे उदाहरण है ।

महलों एवं हवेलियों के दो भाग होते थे, जनाना एवं मरदाना, जो अपने आप में स्वतंत्र होते थे । महलों में प्रत्येक रानी, राजमाता वगैरह का अपना 'रावला' होता था जो आज के अपार्टमेंट की तरह ही था, अपने आप में पूरा निवास, एक चौक चारों और बरामदे और कमरे, साथ ही स्नानघर और रसोई भी होती थी । जनाना में4 जो जनानी ड्योढ़ी कहलाती थी, एक सरकारी चौक भी होता था, जब राजा अपने किसी निकट के रिश्तेदार की मेजबानी करता जिसमें महिलाओं के कार्यक्रम भी होते या महारानी या राजमाता किसी उत्सव का आयोजन करती तो वह कार्यक्रम यही होता था । इसके स्थापत्य में बड़ा चौक और उसमें बहुत बड़ी खुली बारहदरी होती, जयपुर जनानी ड्योढ़ी में संगमरमर का बहुत अच्छा काम हुआ है ।

9.5 सुरक्षात्मक दुर्ग

सुरक्षा संबंधी स्थापत्य में चौकियाँ और छोटे-छोटे दुर्ग (किले) आते है । चौकियों में कुछ सैनिक रहते थे जो जो बदलते रहते थे, इनका स्थापत्य सामान्य होता था किन्तु दुर्ग वस्तुत: साधन सम्पन्न स्थान थे जहां से शासक सैन्य संचालन करता था ।

शास्त्रों में किलों के प्रकार आदि की विस्तृत चर्चा हुई है और इनकी विशेषताएं भी बताई गई हैं, किन्तु दुर्गम होना सबसे मुख्य विशेषता थी ताकि शत्रु आसानी से नहीं पहुंच सके, और यदि आक्रमण हो जाए तो छिप कर लड़ा जा सके, गुप्त सुरंगों से सेनाएं, हथियार व खाद्य सामग्री मंगाई जा सके । पहाडों पर बने किलों में यही सुविधा थी, अन्दर बैठी सेना ऊपर से शत्रु को देख कर सकती थी किन्तु बाहर वाले नीचे से अधिक नुकसान नहीं पहुंचा सकते थे । वायु मार्ग से हमले उन दिनों होते नहीं थे, इसीलिए मनु ने भी सभी दुर्गो में गिरि दुर्गा को ही श्रेष्ठ माना है ।

स्थिति और बनाबट की दृष्टि से राजस्थान के गिरि दुर्गा में चित्तौड सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, कहावत प्रसिद्ध है - गढ़ तो चित्तौड़गढ़ और सब गढैया । चित्रांग मौर्य ने इसका निर्माण 7 वीं शती में कराया था, बाद में गुहिल बप्पा रावल ने मान मौर्य से इस किले को लेकर अपनी राजधानी बनाई । 7वीं शती से लेकर आज तक इस किले का महत्व उतना ही बना हुआ है, यहीं चौदह सौ वर्षा के इतिहास का अध्ययन किया जा सकता है राजनीतिक व सामाजिक उतार-चढाव को देखा जा सकता

है - किला धीरे-धीरे नगर बना, राजा, उसके परिवार और सैनिकों के साथ प्रजा भी सुरक्षा की दृष्टि से अन्दर ही रहती थी, वहाँ पानी का समुचित प्रबन्ध था, खेती होती थी, राजा-प्रजा सब सुरक्षित थे । सीधी चढ़ाई के बाद घुमाव दार सात दरवाजों को पार करने के बाद ही किले में पहुंचा जा सकता था । यह भी जानने योग्य है कि किस प्रकार तत्कालीन हथियारों से 1303 में अलाउद्दीन खिलजी, 1533 में गुजरात के बहादुरशाह और 1579 में मुगल सम्राट अकबर ने इस पर विजय प्राप्त कीया जिसमें तोपों को बैल गाडियों से बढ़ाया गया था । 'अकबरनामा के चित्र इसके साक्षी हैं ।

गिरि दुर्गा में ऐसा ही महत्वपूर्ण है, सवाई माधोपुर के निकट स्थित रणथम्मौर का किला जिसके निर्माता के विषय में निश्चित रूप से तो कुछ नहीं कहा जा सकता पर जन मानस में यह चौहानों का किला ही प्रसिद्ध है, अलाउद्दीन के बाद समय-समय पर यह दिल्ली सुलतानों के हाथ में ही रहा और अंततः मुगलों के पास आ गया जिसे बादशाह ने 1754 में जयपुर के महाराजा सवाई माधोसिंह प्रथम को उसकी सेवाओं के बदले में दे दिया ।

सामान्यतया दुर्ग पत्थरों को काट कर ही बनाए गए हैं, अन्दर के महलात चूना, सुर्खी एवं पत्थर आदि से ही बनते थे, ऊपर लोई का पलस्तर होता था । मोटे तौर पर किलों के निर्माण की तिथि 7वीं से 18वीं शती तक है और इनका उपयोग आज तक हो रहा हैं, स्वाभाविक है कि बदलती जीवन शैली का इन पर प्रभाव पड़े और आवश्यकतानुसार फेर बदल हो । उदाहरण के लिए जयगढ़ में पुराने और नए ढंग के शौचालय एक साथ देखे जा सकते हैं, इसी प्रकार घोड़ों के अस्तबल का उपयोग सिपाहियों की बैरक के रूप में होने लगा ।

किले सुरक्षा से जुडे हुए थे यही कारण था कि बदलती युद्ध शैली, हथियारों को बनाने की तकनीक एवं अस्त्र-शस्त्रों में होने वाले नए आविष्कारों के साथ उनके स्थापत्य में कुछ परिवर्तन आए । युद्ध की प्रणाली बदली तो सामग्री बदली और सामग्री बदली तो भण्डारण की व्यवस्था में परिवर्तन आया । पहले केवल तीर-धनुष एवं ढाल-तलवारों के रखने की व्यवस्था करनी होती थी, जब बारुद का आविष्कार हुआ तो तोपें बनी, बन्दूकें बनी इन्हें रखने के साथ बारुद के भण्डार बने, यही नहीं बारुद निर्माण में प्रयुक्त होने वाली सामग्री, शोरा आदि को भी किलों में रखा जाता था ताकि आवश्यकता पड़ने पर बही बारुद तैयार कर ली जाए ।

किलों के दरवाजे यों तो लकडी के होते थे किन्तु उन पर लोहे की मोटी चादरें बढ़ी होती थी और उनमें बाहर की ओर नुकीली कीलें लगी होती थी । युद्धकाल में जब ये दरवाजे बन्द होते थे तो हाथियों के धक्के से इन्हें खोलने की कोशिश की जाती थी, उस समय हाथियों को हटाने के लिए किले के अन्दर से गर्म तेल डाला जाता था । समृद्ध किलों में तेल के विशाल भण्डार होते थे, तेल 'सीधद्धों-चमडे के बने पात्रों में रखा जाता था ।

स्थापत्य की दृष्टि से देखें तो बाहरी तौर पर किलों की बनावट वही रही, पर्वतों की चोटियों पर, खाई से घिरे किले अथवा नदी पर स्थित दुर्ग । स्थापत्य की इकाईयों के नाम भी वही रहे, काम बदल गए, उदाहरण के लिए किले के प्राचीर में बने मोखों से बाण (तीर) छोडे जाते थे । योद्धा प्राचीर के पीछे होते थे, ऊपर बने मोखों से शत्रु को देखते ही निशाना साधते, 16वीं शती में जब बन्दूकें आई तो इन्हीं मोखों से बन्दूकों के वार होने लगे । जब इन मोखों से तीर चलते थे तो इन्हें तीरकश कहा

जाता था किन्तु जब यहां से बन्दूकें चलने लगी तब भी इनका नाम 'तीरकश ही रहा । ऐसे अनेक उदाहरण हैं ।

13वीं शती से लें तो पिछले 6-7 सौ वर्षा में राजस्थान में सैकडों की संख्या में किले बने । कई राजवंश आए, उनके शासकों ने अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सुदृढ़ दुर्गा का निर्माण करवाया, आगे आने वालों ने समय-समय पर उनमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन भी कराया किन्तु थानों की प्रासंगिकता बनी रही । जयगढ़ में खडे होकर जब हम राडार पर दृष्टि डालते हैं तो लगता है कि स्थान का चुनाव कितना उपयुक्त था, एक सहस्राब्दी के बाद भी वही रहा ।

प्रदेश के किलों को देखें तो इन्हें दो श्रेणियों में रखा जा सकता है - एक तो वह किलेबन्द नगर और दूसरे सामरिक दृष्टि से बनाए गए छोटे दुर्ग । किलेबन्द नगर, जहां राजा और उसकी प्रजा सुरक्षित रह सकती थी, इनके चारों ओर सुदृढ़ प्राचीर होता था, रात्रि को दरवाजे बन्द हो जाते थे । ऐसे किलों में अन्दर बसावट होती थी, पानी का प्रबन्ध होता, अन्दर खेती होती, जीवन चलता रहता, शत्रु बरसों घेरा डाले तो भी असर नहीं होता था, ये दुर्भेद्य किले होते थे जहाँ आपसी फूट के माध्यम से ही पहुंचा जा सकता था । चित्तौड और रणथम्मौर इसके सर्वात्तम उदाहरण है । रणथम्मौर पर बरसों अलाउद्दीन का घेरा पड़ा रहा, कोई प्रभाव नहीं पडा, बाहर खिलजीपुर जिसे अव खिलचीपुर कहते हैं, गांव भी बस गया किन्तु विजय नहीं मिली तब भेदिए के माध्यम से ही शत्रु अन्दर घुसे, हम्मीर विजय काथ में इस घटना का विस्तृत विवरण आता है । मुगलों के जमाने में राव सुरजन किले के अधिपति थे, स्वयं मुगल सम्राट अकबर ही भेदिया बनकर आंबेर के राजा मानसिंह के साथ किले में पहुंच गए तो रव सुरजन ने किले की चाभी उन्हें सौंप दी ।

दूसरे प्रकार के किले बडे राज्यों की सुरक्षा के लिए सामरिक दृष्टि से बनाए जाते थे, जैसे बूंदी की सुरक्षा के लिए बनाया गया तारागढ़ और आंबेर की सुरक्षा के लिग बनाया गया छोटा किला जयगढ़, जहाँ शस्त्र भण्डार, तोप बनाने का कारखाना और बारुद के गोदाम थे, इन सबके रख रखाव के लिए सेना की एक टुकडी भी रहती थी ।

ये किले सुरक्षा की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण थे ही, जन जीवन से भी जुडे राजस्थान के साहित्य में भी इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा । इतिहास प्रसिद्ध लड़ाइयां तो यहां लड़ी ही गई, इन पर गीत गजल भी लिखे गए । यहां बैठकर कवियों ने साहित्यिक रचनाएं भी की, उदाहरण के लिए महाराज पृथ्वीराज ने गागरौण के गढ़ में बैठकर ही डिंगल की अनुपम कृति 'कृष्ण रुक्मणी री वेलि' की रचना की । किलों के साथ उनके निवासियों और रक्षकों का बड़ा घनिष्ठ संबंध था, साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं से उन्हें और उनके किलेदारों को अमर कर दिया, वे मात्र पत्थर, सुर्खी / चूने से निर्मित सुरक्षा के लिए बनाए गए भवन ही नहीं थे, थे अपने रहवासियों से बात करते थे । उदाहरण के लिए जोधपुर क्षेत्र में परमार वीरनारायण द्वारा निर्मित सिवाणा का दुर्ग प्रसिद्ध है, कहा जाता है एक बार कल्ला राठौड ने वहाँ शरण ली, तो किला बडा प्रसन्न हुआ कि कल्ला राठौड़ जैसा वीर वहाँ आया, कवि कहता है ।

किलो अणखलो यूं कहे, आव कल्ला राठौड ।
मो सिर उतरे मेहणो, तो सिर बांधे मीड । ।

आओ कल्ला राठौड (स्वागत है) तुम्हारे आगमन से दो बातें बनेंगी, तुम्हें सिवाणा विजय का श्रेय मिल जाएगा और मुझे विजित करने वाला अर्थात् यह मेरे लिए भी गर्व की बात होगी कि कल्ला राठौड़ ने मुझे जीता ।

दूसरा उदाहरण चित्तौड के किलेदार जयमल का है जिसने प्राण तो दे दिए पर किला नहीं छोड़ा । जब अकबर का आक्रमण हुआ तो चित्तौड की रक्षा का भार जयमल पर था, किले की रक्षा करता हुआ जयमल मारा गया तो कवि ने कहा -

तूं जयमल दानी कृपण, तूं सारा सिरमौर
सिर दीधो पातसाह ने ना दीधी चित्तौर

जयमल की प्रशंसा करते हुए काई ने उसे दानी और कृपण दोनों ही बताया, जिसने अपना सिर तो उदारतापूर्वक दे दिया किन्तु चित्तौड का गढ़ नहीं दिया ।

इसी प्रकार बीकानेर कोट के किलेदार कुशलसिह का कहना था कि, 'मो हुंता नहीं जावसी, भले न उगे भाण । दोहा इस प्रकार है -

कुसलो पूछे कोट सूं बिलखत क्यूं बीकाण ।
मो हुंता नहीं जावसी, भले न उगे भाण । ।

अर्थात् तुम क्यों दुःखी हो मेरे प्रिय बीकानेर (कोट), जीवित रहते मैं तुम्हें दूसरे के हाथों में नहीं जाने दूंगा भले ही सूर्य न उगे (किन्तु तुम मेरे ही रहोगे) ।

19वीं शती तक आते-आते किलों का महत्व कम हो गया, एक तो लड़ाई के तौर तरीके बदले रहे थे दूसरे ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ हुई सन्धि के बाद राजस्थानी रियासतों में अपेक्षाकृत शांति ही बनी रही ।

9.6 जल स्थापत्य

अधिकांश भाग मरूस्थल होने के कारण राजस्थान में पानी को संजो कर रखने के लिए विभिन्न तरीके अपनाए जाते रहे हैं । वर्षा के पानी को इस तरह इकट्ठा करके रखा जाता है कि अगली वर्षा तक उससे आवश्यकताएं पूरी हो सकें - मनुष्यों एवं पशुओं के पीने, नहाने, धोने के लिए पानी मिले और खेतों में सिंचाई भी हो सके । प्रदेश में पानी का इतना महत्व था कि बहुत' से मध्यकालीन स्थानों के नाम ही कुंओं और तालाबों के नाम से जुडे हुए थे जैसे किरात कूप (किराडू-बाडमेर), पलास कूपिका (फलासिया - मेवाड), प्रहलाद कूप (पल्लू-बीकानेर), सरोवरों के नाम पर कोडमदेसर, राजलदेसर, तालाब के नाम पर नागदा (नाग-हद) आदि ।

पानी को संजोने, इकट्ठा करने के लिए निर्माण-स्थापत्य निर्माण की आवश्यकता हुई जिसके लिए यहाँ सुन्दर कुंए, कुंड, टांके और बावडिया बनीं ।

कुंए का निर्माण आसान था, ग्रामीण लोग स्वयं खोदते थे, जब पानी निकल आता तो किनारे पक्के कर दिये जाते थे, बडे कुओं से लाव-चडस से पानी निकाला जाता था । जल जीवन है इसलिए समाज के सम्पन्न लोग, और कई बार सामान्य लोग भी जन हितार्थ कुंए खुदवाते थे । ऐसे कुंए बहुत गहरे और बडे होते थे इनके चारों ओर ऊंचा चबूतरा होता था जिसके चारों कोनों पर खम्भे बने होते थे इन पर आराईश का सुन्दर काम होता था । यहाँ पशुओं के लिए पानी पीने की अलग व्यवस्था होती

थी । शेखावटी के रेतीले क्षेत्र में इन कुओं का विशेष महत्व था । यही कारण है कि इस क्षेत्र में बडे सुन्दर कुंए मिलते हैं ।

टांके पक्के होते थे इनमें भी बरसात का पानी ही इकट्ठा किया जाता था, कहीं ढलान पर एक पक्की हौज बना दी जाती थी जिसके आस-पास नालियां और बडा टांका हो तो नहरे बनी होती थी जिनसे होकर पानी हौज (टांका) मे इकट्ठा हो जाता था, इसे ढंक कर ही रखते थे ताकि किसी प्रकार की गन्दगी न जा पाए । इसका वास्तु सादा होता था । टांके निजी तथा सार्वजनिक दोनों प्रकार के होते थे । निजी टांके घर के एक हिस्से में जमीन के नीचे बनाए जाते थे ताकि उपर का स्थान काम में आए और पानी नीचे स्वच्छ एवं सुरक्षित रहे । टांकों का सर्वोत्तम उदाहरण जयगढ़ के टांके हैं ।

बाबडिया स्थापत्य की दृष्टि से बावडियां बहुत ही आकर्षक होती हैं, उपयोगिता तो अपने स्थान पर है ही किन्तु इनके निर्माण में हास्तु सौन्दर्य का विशेष ध्यान रखा जाता था । बावड़ी कई मंजिलों की होती थी, इसमें सीढ़ियां बनी होती थीं और आखिर में एक कुंआ भी होता था क्योंकि जब बावडी में पानी कम हो जाता तो लोग कुंए से पानी निकाल सकें । बीच के आयताकार भाग में पानी होता था, दोनों ओर बरामदे जिनमें देवी देवताओं की मूर्तियाँ होती थी । लोग स्नान करने के बाद पूजा-पाठ भी यही कर लेते ।

मध्यकालीन राजस्थान के जन-जीवन में बावड़ियों का बहुत महत्व था, प्यासे को पानी पिलाना पुण्यकर्म समझा जाता है, इस विचार से प्रेरित हो बहुत से साधन सम्पन्न व्यक्तियों ने बावडियां एवं कुंडों का निर्माण करवाया उनमें से कुछ प्रमुख का परिचय नीचे दिया जा रहा हैं ।

जोधपुर के राव गंगा की पत्नी रानी उत्तमदे ने पदम सागर बनवाया था इन्हीं की तीसरी रानी ने जो सिरोही के राव जगमाल की पुत्री थी ने इस तालाब के विस्तार में सहयोग दिया । इस पुण्य कार्य में केवल रानियां ही सहयोग नहीं करती थी वरन शासकों की उप-पत्नियाँ और अन्य समर्थ लोग भी कुएं, बावड़ियों का निर्माण करवाते थे । उदाहरण के लिए महाराजा गजसिंह प्रथम की मुस्लिम पासवान अनारा बेगम ने एक बावडी बनवाई थी जो आज भी विद्याशाला में विद्यमान है । इन्हीं महाराजा गजसिंह की दूसरी मुस्लिम परदायत सुगंधा ने भी एक बावडी बनवाई थी जो जोशियों की बगीची में थी अब इसे पाट दिया गया । उप-पत्नियों द्वारा बनाए गए जलाशयों में गुलाब सागर प्रमुख है । गुलाबराय, महाराजा विजयसिंह (1753-1793) की पासवान थी । स्वभाव से धार्मिक होने के कारण राज्य में इसका बडा दबदबा था । इसका निर्माण सवंत 1837(1780ई.) में शुरू हुआ और संवत 1844 (1787 ई) में पुरा हुआ । यह विशाल सागर शहर के बीच बना हुआ है और आज भी नगर के जनजीवन से जुडा हुआ है । देवझूलनी एकादशी, गणेश चतुर्थी आदि त्यौहारों पर यहाँ मेले लगते है । गुलाबराय ने अपने पुत्र तेजसिंह की मृत्यु के बाद इस बडे सरोवर से लगा एक छोटा सरोवर भी बनवाया जो 'गुलाब सागर का बच्चा' कहलाता है ।

महाराणा राजसिंह (1652-80) की रानी रामरसदे की बनवाई त्रिमुखी बावडी उल्लेखनीय है, इसमें तीन ओर से सीढ़ियां बनी हैं और प्रत्येक दिशा में ये सीढ़ियां तीन खण्डों में विभक्त हैं । प्रत्येक खण्ड में नौ सीढ़ियाँ है और नौ सीढ़ियों के समाप्त होने पर एक चबूतरा बना है, इस चबूतरे पर स्तम्भयुक्त मण्डप है । इस प्रकार तीनों सोपानों को मिलाकर कुल 81 सीढ़ियां और 9 स्तम्भ युक्त मण्डप हैं । इन मण्डपों के बीच आले में देव मूर्तियां भी थी जिनमें से बहुत सी अब गायब हो गई हैं

। महाराणा राजसिंह के समय की बनी इस बावड़ी की बनावट और इसके नौ सोपान, वास्तु की दृष्टि से राजसमन्द की नौचौकी के बहुत निकट हैं जो स्वाभाविक है क्योंकि एक तो समय वही था दूसरी बात यह भी हो सकती है कि महारानी ने उन्हीं कारीगरों की सेवाये ली हों । त्रिमुखी बावडी का लेख भी बडा महत्वपूर्ण है, इसमें बापा रावल से लेकर महाराणा राजसिंह तक की मेवाड की वंशावली महाराणा जगतसिंह के समय की प्रमुख घटनाएं, दान एवं निर्माण तथा महाराणा राजसिंह के समय की घटनाएं भी वर्णित हैं । लेख की भाषा यों तो संस्कृत है पर मेवाडी का पुट भी कहीं-कहीं मिलता है । मुख्य शिल्पी नाथू गौड़ था और प्रशस्ति का रचयिता रणछोड भट्ट जिसने नौ चौकी के शिलालेख की रचना की थी ।

डूंगरपुर से थोडी दूर लगभग दो किलोमीटर पर स्थित है नौलखा बावड़ी । इस बावडी का निर्माण महारावल आसकरण (1549-1580) की ज्येष्ठ महारानी और महारावल सहस्त्रमल (1580-1606) की माता चौहान प्रीमल देवी, जिनके पीहर का नाम तारबाई था, ने सवंत 1659(1602 ई.) में करवाया था । बावड़ी पर लगे परेवा-पत्थर पर उत्कीर्ण लेख में वंश परिचय के बाद तारबाई की तीर्थ यात्रा की चर्चा हुई हैं जिसमें कहा गया है कि वह आबू द्वारिका और एकलिंग जी के दर्शनों के लिए गई । बावडी के मुख्य शिल्पी (सिलावट) जयवंत के पुत्र लीलाधर को वस्त्र, वाहन और भूमि देने तथा वैरामीगर को भी भूमि देने का वर्णन किया गया है । प्रशस्ति में यह भी कहा गया है वैशाख शुक्ला 5,1638 वि. (1581 ई) को बावडी खोदने का मुहूर्त्त किया गया और कार्त्तिक कृष्ण 5,1643 वि. (1586 ई) को प्रतिष्ठा की गई और कार्त्तिक कृष्ण 5 को ही व्यास बैकुण्ठ ने यह प्रशस्ति लिखी ।

बूँदी स्थित रानी जी की बाव (बावडी) उपयोगिता के साथ ही कला की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है, इसमें बडे सुन्दर चित्र बने हैं तथा देवी-देवताओं की मूर्तियां हैं । बूंदी नगर के मध्य स्थित इस बावडी का निर्माण महाराव अनिरुद्ध सिंह की पत्नी नाथावत लाडकंवर ने 1757 वि. (1700 ई.) में करवाया था । इस बावडी के तोरण बडे आकर्षक हैं और बिन्दु के दशावतारों और भैरव की मूर्तिया भी । यहां का लेख महत्वपूर्ण है । पहली सीढ़ी के पास ही सफेद संगमरमर की पट्टिका पर खुदे 31 पंक्तियों के इस लेख की शुरुआत गणपति वंदना से होती है । पारम्परिक वंश परिचय के बाद यह कहा गया है कि लाडकंवर ने पुण्यार्थ यह बावड़ी कराई, पुरोहितों के नाम दिए हैं, बावडी के कामदार दारोगा पुहाल कान्ह जी मुशरफ रघुनाथ, उसतागार पटेल उदाराम एवं पटेल मीरू थे, जोशी श्रीपति ने इस लेख की संरचना की, और अंत में महारानी की दो सेविकाओं बडारणि लाछा और बडारणि सुखा के नाम भी दिए गए हैं ।

कुंए, बावड़ियों ओर अन्य प्रकार के जलाशयों के निर्माण में समृद्ध वर्ग और राज परिवार की महिलाओं का योगदान अधिक रहा किन्तु अन्य लोग भी जो निर्माण करशने में समर्थ थे, पीछे नहीं रहे । दौसा में 'सालू की बावड़ी' संभवत: नागर ब्राह्मण परिवार की महिला द्वारा बनवायी गयी थी, यह आज भी विद्यमान है, इसी प्रकार कूकस (आंबेर के पास) में प्रोहताणी की बावडी किसी पुरोहित परिवार की महिला द्वारा बनवायी गयी थी ।

बावडियों का ही एक प्रकार था कुंड - कुंड खुले होते थे, इनमें पक्की सीढ़ियां बनी होती थी किन्तु कहीं-कहीं बडे एवं गहरे कुंडों में पानी खींचने की व्यवस्था भी होती थी जैसे आबानेरी की चांद बावडी में । कुंडों का सर्वोत्तम उदाहरण है आवेर स्थित पन्ना मियां का कुंड । इसके कोनों पर छतरियां

बनी हुई हैं और पानी तक जाने के लिए सीढ़ियां, इसका निर्माण सवाई जयसिंह के विश्वस्त सेवक पन्ना मिया ने करवाया था ।

9.7 चित्रकला

भित्ति चित्रण की परम्परा तो राजस्थान में प्राचीनकाल से चली आ रही थी किन्तु मध्यकाल (13वीं शती) में कागज के आगमन से चित्रण कला में विशेष प्रगति हुई, नए-नए विषयों पर चित्र बने, ग्रन्थ चित्रित हुए । राजस्थानी शैली का रूप निश्चित हुआ और कई केन्द्रों में इसकी उपशैलियों में चित्रण हुआ ।

राजस्थानी चित्रों को प्रकाश में लाने का श्रेय कला इतिहासकार आनन्द कुमार स्वामी को हैं । सर्वप्रथम उन्होंने ही अपने लेखों व पुस्तकों-राजपूत पेंटिंग के माध्यम से इनका परिचय कला जगत को कराया उसके बाद रायकृष्ण दास, डॉ. मोतीचन्द्र डस्तु जी. आर्चर, कार्ल खण्डालवाला एवं एम.एस. रंधावा आदि ने इन्हें प्रकाशित कर विद्वत जगत को इनकी जानकारी दी ।

राजस्थानी शैली का उदभव एवं विकास मध्यकाल में ही हुआ, अत: आरम्भ में इसकी उत्पत्ति के विषय में बताते हुए आरम्भिक स्वरूप और उपशैलियों का परिचय यहाँ दिया जाएगा ।

ईसा की प्रथम सहस्राब्दी के अन्त तक चित्रकला की जो शैली निश्चित हो गई थी उसका पश्चिम भारतीय स्वरूप था - 'परली आँख' से युक्त चेहरे जिनके नाक-नक्श तीखे थे और वस्त्रों के अंकन में भी नुकीलापन था । आकृतियों की कद काठी छरहरी थी । शुरुआत होती है तालपत्रों व भुर्ज पत्रों पर चित्रण से, पहले कुछ आलंकारिक अभिप्राय फिर देवी-देवताओ के अंकन मूलत: विषय धार्मिक थे, जैन धार्मिक कथाएं । इसीलिए इसे जैन शैली की संज्ञा दी गई, बाद में वसन्त विलास जैसे शृंगारिक विषयों का अंकन भी इसी शैली में मिला तो इसे जैन के स्थान पर पश्चमी भारतीय शैली कहा जाने लगा । जब जौनपुर (पूर्वी उत्तरप्रदेश) में बनी कल्पसूत्र की एक प्रति मिली तो पश्चिमी भारतीय नाम भी उचित नहीं लगा, इस पर रायकृष्ण दास जी ने इसे अजन्ता का अपभ्रंश मानते हुए 'अपभ्रंश शैली' कहा जो आगे चलता रहा ।

पूर्वी भारत के कुछ भाग को छोड़कर लगभग समस्त उत्तर भारत व गुजरात तक परली आँख वाली शैली में ही चित्र बनते रहे, कागज आने के बाद मध्यम अवश्य बदला किन्तु पोथियों का आकार वही रहा - 3-4' चौडी और 10-12" लंबे पत्र जिसे दो भागों में बांट कर जमगज लिखा जाता था, बीच में ग्रन्थ बांधने के लिए एक छेद हेता था और बीच-बीच में मुख्य घटनाएं चित्रित कर दी जाती थी । रंग सीमित होते थे - - लाल, हरा, पीला आदि मुख्य रंग । यह क्रम 15वीं शती तक चला और धीरे-धीरे परती आँख गायब हो गई, चेहरे एक चश्मी हो गए, रेखाओं का नुकीलापन कम हो गया और रंगों में भी विविधता आई । 1516 आगरा के अरण्यपर्व, पालम में बने आदिनाथ और 1545 में गोपाचलदुर्ग (ग्वालियर) में बने ग्रन्थों में जो चित्र बने ये ही राजस्थानी शैली के पूर्व रूप हैं, जिनका पूर्ण विकास 17वीं शती मेवाड, बूंदी व बीकानेर के चित्रों में मिलता है ।

मेवाड: 1605 ई. चावण्ड मेवाड) में बनी रागमाला, राजस्थान की भौगोलिक सीमा बनी, अब तक प्राप्त प्राचीनतम तिथियुक्त चित्र है । इसमें चेहरे भारी है, आकृतियां छोटी हैं और इनका आकार भी पोथी चित्रों की तरह नहीं होकर चौकोर है । चित्रों का विषय और उनके संयोजन में भी परिवर्तन दिखाई देता हैं, चित्रकार निसारदीन है । यह चित्रावली लोकशैली के बहुत निकट है। किन्तु कुछ वर्षा

में ही मेवाडी शैली में उसका निजत्व दिखाई देने लगता है, रंग मीने जैसे चमकदार हो गए, चित्र संयोजनों में कलाकारों का सधा हुआ हाथ दिखने लगता हैं और रेखाएं स्पष्ट एवं सशक्त हो गई । मेवाड की शैली शृंगारिक ही रही हों, लता गुल्मों और पशु-पक्षियों के अंकन में थोड़ी वास्तविकता तो है परन्तु इतनी ही कि पहचान हो जाए । व्यक्ति चित्रण में यर्थाथता अवश्य दिखती है और लगता है कि मेवाडी चित्रकार यथार्थ चित्रण कर तो सकता था किन्तु वह अपनी शृंगारिकता वाली पहचान बनाए रखना चाहता था । 1627 में बनी साहबदीन की रागमाला इसका अच्छा उदाहरण है ।

मेवाड की अगली तिथियुक्त चित्रावली का विषय रामायण है जो 1648 में बनी । मनोहर नामक चित्रकार की बनाई इस चित्रावली को देखकर ऐसा लगता है मानों कथा देख रहे हों । 17वीं शती के अन्त में महाराणा राज जयसिंह के समय के बने चित्रों की संख्या देखकर कहना पड़ता है कि मेवाडी चित्रकारों ने संभवत: कोई क्षेत्र नहीं छोडा, सभी विषयों पर उनकी तूलिका चली, संस्कृत के ग्रन्थ स्कंदपुराण का काशी खण्ड, एकलिंग माहात्मय कादमरी पंचतंत्र, भगवद्गीता, भागवत, रसिक प्रिया, रागमाला, मालती माधव और मुल्ला दो प्याज़ा आदि पर हजारों की संख्या में चित्र बने ।

17वीं शती के अन्त तक आते मेवाडी चित्रों की विषय वस्तु में बदलाव आता हैं, चित्रकार व स्वयं महाराणा, राजदरबार में होने वाले त्योहारों, उत्सवों, शिकार यात्राओं में अधिक रूचि लेने लगे । अब रस चित्रों का स्थान राजसी वैभव के प्रदर्शन ने ले लिया । परिणामस्वरूप बड़े बड़े चित्र बने जिनमें महाराणा अपने दरबारियों के साथ होली खेल रहे हैं, दशहरे पर खेजडी पूजन कर रहे हैं अथवा महलों में संगीत सुन रहे हैं । 18वीं शती के इन चित्रों में प्रलेखन को बहुत महत्व दिया गया, जिन घटनाओं का चित्रण होता था उनका पूरा विवरण चित्र के पीछे लिखा जाता था । धीरे-धीरे मेवाडी शैली पर 19वीं शती में बाहरी प्रमाव भी आया और 19वीं शती के मध्य में फोटोग्राफी के आने पर चित्रों की उपयोगिता सीमित हो गई ।

बूंदी 16वीं शती के अन्त में चुनार दुर्ग (उत्तरप्रदेश) में बनी एक रागमाला (1592 इ) बूंदी शैली की शुरुआत मानी जाती है क्योंकि उस समय चुनार के अधिपति बूंदी के राव भोज (1585-1607) थे, यद्यपि इन चित्रों पर आश्रयदाता का नाम नहीं है । यही नहीं बाद में बने बूंदी के तिथियुक्त चित्रों की शैली भी इन चित्रों के निकट हैं ।

17वी शती के चित्रों में रनिवासों के बहुत से फुटकर चित्र भारतीय और विदेशी संग्रहालय में हैं जिनमें स्त्रियों को तिलार खेलते और दाना चुगते कबूतरों को देखते हुए बनाया गया हैं । चित्रायलियों में केशवदास की रसिक प्रिया, भागवत, कृष्ण रुक्मिणीरी वेली एवं रागमाला पर आधारित चित्रों को रख सकते हैं । महाराजा जयपुर के निजी संग्रह में एक लम्बे खरडे पर बने काशी के घाटों का अंकन (रेखाचित्र) अपने ढंग का अनोखा काम है । हाडौती क्षेत्र अपनी नदियों, बन क्षेत्रों - वहाँ रहने वाली जीव जन्तु और हरीतिमा के लिए प्रसिद्ध है, ये सभी चित्रों में मिलते हैं । कलाकारों ने आम और केले के पेड, उनसे लिपटी लताओं और पुष्प गुच्छों का बड़ा सजीव अंकन किया है । इन चित्रों में बूंदी के स्थापत्य को बड़े विस्तार से दिखाया गया है कि यदि चेहरे नहीं भी देखें तो स्थापत्य देखकर बूंदी कलम की पहचान की जा सकती है । चित्रकार की पैनी दृष्टि कबूतरों की विभिन्न जातियों के अंकन में दिखाई देती है । बूंदी के चित्रों में स्त्री आकृतियां लंबोतरी, आखे कमलदल की भांति, भौहे घनी व मुखाकृति

गोल होती है । पुरुषाकृतियों की पगडी थोडी नीचे की ओर झुकी हुई होती है । चित्रकारों में सुरजन, अहमद, रामलाल, श्री किशन, मीरबगस, डालू आदि प्रमुख हैं ।

बीकानेर 17वीं शती बीकानेर में बहुत चित्र बने - जिनमें भागवत, रागमाला और दशावतार की चित्रावलियाँ उल्लेखनीय हैं । महाराजा रायसिंह (1571 -1611) बहुत से मुगल चित्रकारों को आगरे से बीकानेर लाए थे जिन्होंने यहाँ चित्र बनाए । रायसिंह के उत्तराधिकारियों-करनीसंह (1631 -1669) और अनूपसिंह (1669-1698) के समय में चित्रकारों को खूब प्रोत्साहित किया गया । इस समय के बने व्यक्ति चित्रों में व्यक्ति साम्य के साथ-साथ मुगल प्रभाव स्पष्ट है, अनूपसिंह के समय में बने बीकानेरी चित्रों में दकनी कलम का प्रभाव भी दिखता है क्योंकि उनकी नियुक्ति दकन में थी और उनके चित्रकार महाराजा के साथ रहते हुए वहां के चित्रकारों के सम्पर्क में आए होंगे । शाहजहाँ के समय अधिक मुगल चित्रकार बीकानेर आए क्योंकि बादशाह के रूचि स्थापत्य में अधिक थी और बीकानेर में करनसिह का शासन था जो चित्रकला के पारखी थे । इसका अनुमान एक चित्र से लगाया जा सकता है जिसमें उन्होंने वैकुण्ठ स्थित लक्ष्मीनारायण को चित्रित कराया । लक्ष्मीनारायण उनके इष्ट देवता थे, स्वण में उन्हें वैकुण्ठ दर्शन हुए, महाराजा ने अपने सक के विषय में चित्रकार को बताकर इस विषय को चित्रित कराया । यहां के चित्रकारों में रूकनुद्दीन, अलीरजा शाहदीन हामिद, अहमद, कासिम, शाह मुहम्मद और हाशिम के नाम और तिथि से युक्त चित्र मिलते हैं जो बीकानेर के जूनागढ़, भारत कला भवन, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी और राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली के संग्रहों में हैं, इनमें मुगल कलम की बारीकियां और रंग योजना देखने को मिलती है । 18वीं शती बीकानेरी चित्रकला में कोई महत्त्वपूर्ण कृति नहीं बनी किन्तु नियमित ढंग से चित्र बनते रहे ।

18वीं शती राजस्थान के मेवाड, बूंदी एबं बीकानेर राज्यों में चित्र तो बहुत बने परन्तु चित्रों में बह ताजगी नहीं रही जो 17वीं शती में थी । चित्रों का संयोजन नए ढंग से हुआ किन्तु नए विषय नहीं चित्रित हुए, रागमाला, बारहमासा, गीतगोविन्द आदि की ही पुनरावृत्ति होती रही । रेखांकन में स्थिरता आ गई, आकृतियों में गति नही दिखाई देती, वे कठपुतली की तरह खडी दिखती हैं, रंगों के चुनाव में भी कलाकर की मौलिकता और सृजनशीलता नहीं है । इसके विपरीत जयपुर, किशनगढ़, कोटा, मारवाड-जोधपुर और जैसलमेर में अत्यधिक चित्र बने, इनमें रंग तेज है और रेखाएं प्रवाह पूर्ण । नए विषयों के आने से कलाकारों को नए संयोजन करने पडे जिससे विविधता आई । 18-19वीं शती कोटा में शिकार दृश्यों का अंकन हुआ जिसमें जंगली जान्वरों की गीत देखने योग्य है । जंगल के वृक्षों एवं हरियाली का अंकन तो इतना यथार्थ दिखाई देता है कि प्रसिद्ध कला इतिहासकार डब्ल्यू.जी. आर्चर इन दृश्यों को प्रसिद्ध यूरोपीय कलाकार रूसो की कृतियों के समकक्ष रखते हैं ।

जयपुर की चित्रकला में भागवत गीतगोविन्द एवं राधा-कृष्ण, रागमाला, देही भागवत और व्यक्ति चित्रों का वर्चस्व बना रहा । सवाई जयसिंह के समय में रागमाला, बारहमासा, ईश्वरी सिंह के समय के बने जानवरों की लडाई के दृश्य, प्रतापसिंह के समय का भागवत, दुर्गापाठ, कृष्ण लीला और गीतगोविन्द प्रमुख हैं । साहिबराम घासी, सालिगराम और रामजी प्रमुख चित्रकार हुए ।

किशनगढ़ में सावंतसिंह के समय में निहालचन्द प्रमुख चित्रकार झा जिसकी कृति बणी ठणी, राजस्थानी चित्रकला का पर्याय बन गई । वहां भी चित्रकला का केन्द्र राधा-कृष्ण और गीत गोविन्द ही रहा ।

जोधपुर में 17वीं शती में राजाओं की कुछ तस्वीरें तो मुगल प्रभाव में बनी थीं, किन्तु विजयीसंह के चित्रकारों ने रामायण और हितोपदेश पर आधारित चित्रावलियां तैयार की जो वस्तुत: भव्य हैं । महाराजा मानसिंह नाथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे, अतएव उनके समय में शिवचरित, सिद्ध सिद्धान्त पद्धति पर आधारित चित्र बने । मानसिंह जी के स्वयं के व्यक्ति चित्र और उनके गुरु आयसनाथ देवनाथ के चित्र भी बहुत बडी संख्या में बने । जिसमें उन्हें पूजा-पाठ करते हुए चित्रित किया गया हैं। मानसिंह स्वयं अच्छे कवि एवं संगीतज्ञ थे इसलिये कई चित्रों में उन्हें नृत्य संगीत सुनते हुए भी बनाया है। इन सभी चित्रों में दरबारी वैभव तो दिखाई देता है किन्तु जोधपुर कलम की तैयारी और सफाई भी स्पष्ट है, कहीं कोई कमी नहीं है ।

पिछबई और फडचित्र: नाथद्वारा शैली एवं पिछवई 17वीं शती में जब श्रीनाथजी - कृष्ण का एक स्वरूप, मेवाड के सिहाड नामक ग्राम में स्थापित किया गया तो नित्य पूजा, उत्सवों तथा त्यौहारों के लिए चित्र बनाने वाले कलाकारों की आवश्यकता हुई, तब उदयपुर तथा आसपास के ग्रामीण क्षेत्र के चित्रकार यहां आकर बस गए । इन लोगों ने एक विशिष्ट शैली विकसित की जो नाथद्वारा शैली कहलाई । इसमें कृष्ण का स्वरूप काले पत्थर का है । विग्रह के साथ विभिन्न झांकियों और मन्दिरों के गोस्वामियों के व्यक्ति चित्र बनने लगे । चित्रों में पशु-पक्षियों तथा पत्र-गुणों का अंकन तो शृंगारिक ही है पर जलि चित्रण में स्वाभविकता है । ये चित्र कागज पर बनते थे किन्तु कृष्ण मन्दिरों में पिछवई की एक परंपरा है, निज गृह में मूर्त्ति के पीछे अवसर के अनुकूल एक परदा लगता है जो पिछवई कहलाता है । पिछवई कपडे पर बनती है और वैष्णव त्योहारों और उत्सवों के अनुसार उनके विषय बनाए जाते यथा शरद् पूर्णिमा पर मूर्ति श्वेत अथवा मोतिया रंगत का परिधान पहनती तो बसन्त में पीला । वर्षा ऋतु में मोरकुटी की पिछवई बनती जिसमें नृत्य करते हुए मयूर होते तो अन्नकूट के अवसर पर लगने वाली पिछवई में बर्त्तनों में सजे विविध प्रकार के व्यंजन । यहां आने वाले भक्तों के लिए कृष्ण लीला के चित्र बहुत बडी संख्या में बनते थे और आज भी बन रहे हैं । 19वीं शती के उत्तरार्द्ध और 20वीं शती के पूर्वार्द्ध में इन्हीं चित्रों के आधार पर भारी संख्या में कैलेण्डर बने जो मध्यमवर्गीय भारतीय घरों के पूजा गृह की शोभा बने । नाथद्वारा में हाथी दांत पर चित्र बनाने की प्रथा भी थी ।

फड या पटचित्र कपडों पर बने वे चित्र हैं जिन्हें देखकर भोपा (गायक) कथा गायन करता है । यह पूर्णत: लोक शैली है, समाजसेवी लोग जिन्होंने सेवा में अपने जीवन की बलि दे दी, उनके प्रति सम्मान प्रकट करने का माध्यम है । फड़ 10-12 मीटर लम्बे और लगभग पौन मीटर चौडे कपडे पर चित्रित होते हैं, इनका विषय नायक के जीवन की विभिन्न घटनाएं होती हैं । मेवाड, के शाहपुरा में फड़ बनाने वाले जोशी चित्रकार रहते हैं जो लोक नायक पाबूजी ओर देवनारायण के फड बनाते हैं, मोटे रंगों से बने इनके चित्रों में चेहरे भारी और आकृतियां छोटी बनती हँ । चित्रों का भाव मूलतः शृंगारिक ही होती है ।

9.8 मूर्तिकला एवं अन्य

मध्यकाल की मूर्तिकला में यद्यपि पहले की भव्यता नहीं दिखती किन्तु मंदिरो में मूर्तियाँ बनती रही, स्वतंत्र मूर्तियों का अभाव ही रहा । इस युग में धातु मूर्तियों का निर्माण बहुत बडी संख्या में हुआ और वह भी जैन तीर्थकरों की मूर्तियां व चौबीसी-जिसमें चौबीस तीर्थकर साथ बनाए जाते हैं, इनमें से अधिकांश तिथियुक्त है, इसलिए इनके क्रमिक विकास के अध्ययन में भी सुविधा है । पत्थर

की मूर्तियों में इस अवधि में काले पत्थर का बहुत प्रयोग हुआ और वैद्याव धर्म के प्रभाव से कृष्ण की लगभग सभी मूर्तियां काले पत्थर की ही है जिनमें उनके गोवर्धनधारी अथवा वांसुरी वादक स्वरूप को बनाया है । संगीत विषयक साहित्य के लिए यह स्वर्ण युग रहा । यहां के राजाओं के आश्रय में कई उल्लेखनीय ग्रन्थों की रचना हुआ ।

लोक शैलियों में पश्चिमी राजस्थान के लगा, मांगणियारों के गीत मध्यकाल में भी गाए जाते थे और लोकवाद्यों से उनका संगत होता था । मांड, नक्काल, नट बहुरूपिये, बाजीगर आदि राजा-प्रजा सभी का मनोरंजन करते थे । कठपुतली नचाने का काम माट लोग करते थे इसे राजघरानों में भी पसन्द किया जाता हैं जयपुर के जयगड़ में तो कठपुतली के कार्यक्रम के लिए प्रेक्षागह ही बना हुआ है ।

वस्त्रकला के क्षेत्र में रंग छपे वस्त्रों के लिए राजस्थान प्रसिद्ध रहा । बाराँ, जयपुर, जोधपुर की बंधेज तथा अजमेर के छपे वस्त्रों का निर्यात मध्यकाल में हो रहा था जिसके उल्लेख ईस्ट इडिया कंपनी के पत्र व्यवहार में मिलता है ।

काष्ठ कला के भी कई केन्द्र विकसित हुए । चित्तौड के पास बस्सी में काष्ठ कला का बहुत बड़ा केन्द्र है । जहां लकड़ी की मूर्तियां, खिलौने, एवं ईसर गणगौर, काले गोरे भैरव बनते हैं । यहां के सुथार कांवड बनाते थे जिसे मध्यकालीन चित्रकथा कहा जा सकता है । 10-12 चित्रों वाली कथा जिसमे लकड़ी के पटरों पर रामकथा के प्रमुख दृश्य चित्रित होते थे और उन्हें इस तरह जोडा जाता था कि डबे के रूप में बन्द दरवाजों को खोलने से एक के बाद एक दृश्य सामने आते थे और कांवड गायक गा-गाकर कथा सुनाता था ।

9.9 सारांश

मध्यकालीन राजस्थान का पूर्वार्द्ध तो संघर्ष पूर्ण रहा किन्तु मुगलयुग में यहाँ अपेक्षाकृत शान्ति रही, इससे राजस्थान के कला स्थापत्य में बडी प्रगति हुई -

- साहित्य में 'हिन्दी या 'भाषा' का रूप बना, जो हमारी आज की हिन्दी है ।
- संगीत में ध्रुपद शैली का विकास तो झा ही इससे ख्याल एवं हवेली संगीत की अपेक्षाकृत सुगम शैलियों निकली।
- कागज के आगमन से लेखन और चित्रकला में वृद्धि हुई, राजस्थानी चित्रशैलियों का रूप निर्धारित हुआ जिनमें धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त लोक कथाओं और ब्रज, अवधी तथा भाषा के ग्रंथों के आधार पर चित्रावलियां तैयार हुई ।
- स्थापत्य में मुगल प्रकार के बेल-बूटों एवं ज्यामितिक अलंकरणों का संयोजन हुआ जिनका उपयोग धार्मिक एवं रिहायशी स्थापत्य में हुआ। शिखरबद्ध शैली के मन्दिरों के साथ शिखर रहित हवेली शैली के मन्दिर बने । उद्यानों में 'चार बाग प्रकार का प्रचलन हुआ और महलों में ईरानी प्रभाव के स्नानघर (हमाम) बने ।

9.10 बोध प्रश्न -

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

1. मध्यकालीन राजस्थानी मन्दिर शैलियों के विषय में बताए । (100 शब्द)
2. राजस्थानी कला में कागज की क्या भूमिका रही । (150 शब्द)

9.11 संदर्भ ग्रन्थ:

1. मध्यकालीन भारतीय कलाएं एवं उनका विकास, जयपुर 1973 -नाथ, राम
2. राजस्थान की चित्रकला, जयपुर 1994 -नीरज, जयसिंह
3. पेंटिंग ऑफ इंडिया, स्कीरा सीरिज 1962 -बैरेट, डगलस एवं ग्रे, बेसिल
4. सागा ऑफ फोर्टस एण्ड फोर्टीफिकेशन ऑफ राजस्थान दिल्ली 2006 -मिश्र, रतनलाल
5. राजस्थान थ्रू द एजेज, बीकानेर 1990 -शर्मा, जी.एन.

इकाई - 10

मध्यकालीन राजस्थान में भक्ति आदोलन

(Bhakti Movement in Medieval Rajasthan)

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 भक्ति का अर्थ एवं प्राचीनता

10.3 पूर्व मध्ययुगीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति

10.4 भक्ति आन्दोलन के कारण

10.5 राजस्थान में भक्ति आन्दोलन-लोक देवता

- 10.5.1 गोगाजी
- 10.5.2 तेजाजी
- 10.5.3 पाबूजी
- 10.5.4 रामदेवजी
- 10.5.5 मल्लीनाथजी
- 10.5.6 हरभूजी

10.6 अनुभागीय सारांश

10.7 बोध प्रश्न-1

10.8 प्रमुख संत

- 10.8.1 धन्ना- (15 वीं शती)
- 10.8.2 पीपा- (15वीं शती)
- 10.8.3 जाँभोजी (1451 ई. - 1526 ई.)
- 10.8.4 जसनाथजी- (1482 ई. -1560 ई)
- 10.8.5 रैदास- (1388-1518 ई. के लगभग मध्य)
- 10.8.6 मीरां (1498-1546 ई)
- 10.8.7 दादू (1544 ई.-1630 ई.)

10.9 सारांश

10.10 बोध प्रश्न-2

10.11 संदर्भ ग्रंथ

10.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि :-

- मध्यकालीन राजस्थान में भक्ति आन्दोलन किस प्रकार हुआ ?

- राजस्थान में लोक देवताओं और संतों की इसमें क्या भूमिका रही ?
- मध्यकालीन भारतीय समाज में भक्ति आन्दोलन का क्या योगदान रहा ?

10.1 प्रस्तावना

प्राचीनकाल में ब्राहमणवाद एवम् वैदिक कर्मकाण्ड से परे जैन एवं बौद्ध धनों के आविर्भाव के साथ धार्मिक क्षेत्र में प्रथम क्रांति का सूत्रपात हुआ और समाज के अनेक वर्ग इनकी ओर आकर्षित हो गए। मध्यकाल के पूर्वाद्ध तक धर्म एवं समाज के समक्ष एक बार पुन: नीच, हीन एवं कमजोर तरके के लिए धर्म अथवा मुक्ति के द्वार बंद हो गए । इसके आधारभूत कारणों में पुरोहितवाद के सार्थ, समाज के सामाजिक ठहराव की पीरस्थितिजन्य जटिल एवं संकुचित्त मनोवृत्तियाँ, सामान्यजन में यथार्थ धर्म शास्त्रीय ज्ञान का अभाव, याज्ञिक कर्मकाण्ड, आडम्बर, वाह्याचार मुक्ति की दुरूहता तथा प्रचण्ड सामाजिक विषमता की विद्यमानता थी । राजस्थान में उक्त दुधीतियों को दूर करने में यहाँ के लोक देवों और संतों ने विशिष्ट भूमिका निभाई । उन्होंने सभी विषमताओं से परे मुक्ति के सरल और सहज माध्यम के रूप में केवल भक्ति तल को जन-जन के समक्ष रखा ।

10.2 भक्ति का अर्थ एवं प्राचीनता

भक्ति से आशय निष्काम भाव से युक्त भगवद् सेबा, प्रेम एवं शरणागति है । प्रागैतिहासिक काल में ही प्राकृतिक आपदाओं के नियंत्रक के रूप में किसी दिव्य शक्ति के प्रति पनपे भय एवं पूज्य भाव ने आदिम जातियों में भक्ति भाव को जन्म दिया । सिन्धु सभ्यता में मातृ शक्ति एवं शिव शक्ति को धूप, दीप, नेवैद्य का अर्पण तथा वहाँ देवदासियों. उपासिकाओं एवं नर्तकियों की मूर्तियाँ भक्ति की प्राचीनता को दर्शाती हैं । कालान्तर में भक्ति द्रविड सभ्यता के अन्तर्गत दक्षिण में प्रस्फुटित हो उत्तर भारत तक फैली और 'भक्ति द्रावडी उपजी ' की कहावत प्रसिद्ध हो गयी । हमारे प्राचीन धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य में भक्ति तत्व के उल्लेख प्राप्त होते हैं । वेद उपनिषद, महाकाव्य, गीता, जैन एवं बौद्ध साहित्य, पुराण एवं अन्य ग्रंथों में शरणागति, सेवा, प्रेम, भगवद् भजन आदि रूपों में भक्ति की प्रधानता दृष्टिगत की जा सकती है जिनमें वैदिक, शुंग, सातवाहन गुज, वर्धन आदि कालों में भारतीय धार्मिक जीवन में व्यापत 'भक्ति' इंगित होती है ।

दक्षिण में पूर्व मध्य युग में नायनार एवं आलवार संतों ने भक्ति को जन आन्दोलन का रूप प्रदान कर दिया । इन संतों ने असंख्य भक्ति गीतों की रचना की और ईश्वर के प्रति प्रेम, शरणागति, सेवा के सिद्धान्त दिये । द्रविड भक्त गीता और रामानुज के बीच की कडी थे । रामानुजाचार्य वैद्याव आचार्य थे जिन्होनें प्रपत्ति (शराणागति) को मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उपादान घोषित किया और भक्ति के द्वार सभी के लिए खोल दिये । इनकी चौथी अथवा पाँचवी शिष्य परम्परा में स्वामी रामानन्द हुए जिनके साथ उत्तरी भारत में भक्ति का आन्दोलनकारी प्रवेश हुआ ।

10.3 पूर्व मध्ययुगीन धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति

जहाँ राजनीतिक अस्थिरता सत्ता-षड्यन्त्र, घटती-बढ़ती राज्यिक सीमाओं ने मध्यकालीन युग को अंधकारमय युग की संज्ञा प्रदान कर दी वही शूद्र, अंत्यज, म्लेच्छ, की धर्म एवं समाज में पीततावस्था

तथा अन्याय अनेक विषमताओं तथा कुरीतियों ने इस युग के अंधकार को और स्याह कर दिया । इस्लाम के झंझावात् ने मंदिरों, मूर्तियों, कला कृतियों, साहित्यिक कृतियों को नष्ट कर दिया तथा अथाह सम्पत्ति को लूट लिया । कट्टर इस्लाम प्रचारक हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं साहित्य की धरोहरों को नष्ट कर रहे थे एवम् हिन्दू निम्न जातियाँ इस्लाम के बल एवं प्रलोभन की तरफ पलायन कर रही थी । यह स्थिति हिन्दू धर्म, संस्कृति एवं सामाजिक संगठन के लिए चुनौतीपूर्ण थी । यह समय था जब इस्लाम को अवरूद्ध करना तथा विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक संकुचित वृत्तियों का त्याग कर गह कमजोरियों को समूल मिटा देने की आवश्यकता उत्पन्न हो गयी थी । न तो राजनीतिक सत्ताधारी क्षत्रिय वर्ग में इस आमूलचूल परिवर्तन को समाज के रंगमंच पर लाने की वीरता थी और न ही धार्मिक सत्ता के तथा कथित अधिकृत वर्ग यथा ब्राह्मण, वज्रयानी, तंत्रवादी कालमुखी आदि के कोई मंत्र, हवन, बलि, प्रेत विद्या या शमशान उपासना में थी । व्यभिचार, भोगविलास, मदिरापान्, गूह षड्यंत्र तथा बाल-विवाह बहु-विवाह, सतीप्रथा बालहत्या की दुष्प्रवृतियों ने समाज की स्थिति को और बद्तर कर दिया।

इस लक्ष्य को सुपरिणाम दिये अस्त्र शस्त्र विहीन, रक्तायुक्त उपासना एवं आडम्बर से परे रहने बाते शांत, समभावी संतों ने । इन संतो ने तत्युगीन सभी विकट परिस्थितियों के निवारण का एक ही युगांतकारी समाधान दर्शाया और वह था-भक्ति । इस प्रकार हिन्दुत्व में एक सुधारवादी लहर उठी जिसने भक्ति आदोलन का रूप ले लिया । मध्यकालीन भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण देन भक्ति आदोलन है जिसके प्रवर्त्तक कई संत हुए । इस आदोलन के जन्मदाता रामानुज माने जाते हैं। जिन्होंने विशिष्टाद्वैत के सिद्धांत की स्थापना कर जीवात्मा की अलग सत्ता का प्रतिपादन कर प्रपत्ति के सिद्धांत का प्रसार किया । इसी प्रकार निम्बार्क ने कृष्ण की प्रेमपूर्ण भक्ति तथा माधवाचार्य ने निष्काम भाव से विष्णु भक्ति को मुक्ति हेतु आवश्यक निर्दिष्ट किया । भक्ति को जनधर्म बनाने का श्रेय रामानन्द को जाता है । जिन्होंने भक्ति को दक्षिण से उत्तरी भारत में पुनर्जीवित कर लोकप्रिय बना दिया । इन्होंने राम और सीता की प्रेमाभक्ति पर बल दिया । संस्कृत के स्थान पर हिन्दी भाषा का प्रयोग किया, जाति वर्ग, लिंग विभेद से रहित समानता पर आधारित नई सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात किया । इसी प्रकार अन्य संतों में बल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु नामदेव, रैदास, कबीर, गुरू नानक, सूर, तुलसी, ने भी भक्ति के सिद्धांतों का प्रसार किया तथा हिन्दू मुस्लिम धर्मो एवं संस्कृतियों के मध्य भ्रातृत्व भाव स्थापित किया । इन संतों का धर्म सरल और पवित्र था वे ऐकेश्वरवाद, निष्काम भावी भक्ति, गुरू की अनिवार्यता सत्संगति, हृदय की शुद्धता आदि में विश्वास करते थे तथा बहुदेववाद, जात-पाँत, मूर्तिपूजा के विरूद्ध थे । (यद्यपि मूर्ति भी भक्ति का एक प्रमुख उपादान बन चुकी थी) ऐकेश्वरवाद, समानता तथा सांप्रदायिक सौहार्द्र एवं समचय को प्रोत्साहन प्रदान करने में सूफी संतों की भी भूमिका रही ।

10.4 भक्ति आन्दोलन के कारण

उपर्युक्त विवेचन ऊँच-नीच का विभेद, जात-पाँत की भावना अस्पृश्यता. आर्थिक विपन्नता, धार्मिक पलायनवाद, कर्मकाण्ड, आडम्बर, मुक्ति की दुरूहता तथा विधर्मियों द्वारा स्थापत्य, शिल्प एवं साहित्य की बपौतियों को नष्ट भ्रष्ट करना आदि संक्षिप्त रूप से भक्ति आन्दोलन के उत्तरदायी कारण निर्धारित किये जा सकते हैं ।

10.5 राजस्थान में भक्ति आन्दोलन-लोक देवता

जटिल धार्मिक एवं सामाजिक स्थिति मध्यकालीन भारत में प्राय: सभी स्थानों पर मौजूद थी । राजपूताना भी उनमें से एक था । मंदिर प्रवेश, जलापूर्ति, आवास से सम्बन्धित अनेक निषेधाज्ञाएँ अत्यंतजो पर थी । भरतपुर, मेवात, फतेहपुर, झुसुनू शेखावाटी की बहुसंख्यक जनसंख्या इस्लाम अंगीकार कर चुकी थी । गौ-वध हो रहे थे । बाल हत्या तथा सही प्रथा का बोलबाला था । यहाँ भी इस्लाम की तूफ़ानी लहर तथा निम्न जातियों के पलायनवादी दृष्टिकोण धर्म परिवर्तन के प्रवाह को रोकने अथवा समाज को नई दिशा में मोड़ने का बल राजन्य राजपूत वर्ग, ब्राहमण वर्ग तथा वाममार्गी संप्रदाय आदि किसी में नहीं था । यह कार्य यहीं के लोकदेवों एवं संतों ने प्रभु नामस्मरण, शरणागति, भजन, कीर्तन, गुरुमहिमा आदि भक्ति उपादानों के द्वारा कर दिखाया । इन्होंने निम्न जातियों को गले लगाया और सभी को सामाजिक समानता का पाठ पढ़ाया । 11वीं सदी से 17 वीं सदी के मध्य राजस्थान में भक्ति आधारित धार्मिक जागीत स्वसंस्कृति प्रेम, पशु वनस्पति रक्षा तथा समाज के निम्न वगों में स्वाभिमान लाने वाले प्रात: स्मरणीय लोकदेव व संत विभूतियाँ प्रकट हुई । राजस्थान की मरूभूमि इन विभूतियों के अवतरण में सर्वाधिक सरसश्त रही । भक्ति आन्दोलन के प्रमुख वाहक यहाँ के लोक देव रहे राजस्थान में जिनकी महत्ता एवं लोकप्रियता क्षेत्रीय स्तर पर संभवत: उत्तरी भारत के संतो से भी अधिक रही । इन्होंने जीवन के आध्यात्मिक पक्ष के साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक पहलुओं को भी प्रधानता दी और यथोचित्त हक के लिये संघर्ष को भी मान्यता प्रदान की । राजस्थान में भक्ति आन्दोलन का स्वाभाविक शिलान्यास गोगा जी के द्वारा हुआ ।

10.5.1 गोगाजी-

गोगाजी के पिता ददेरवा जिला चुरू के शासक थे । दशरथ शर्मा गोगाजी का जन्म महमूद गजनी के समकालीन मानते हैं । पेमाराम इनका जन्म 10वीं अथवा 11वीं सदी में अनुमानित करते हैं । गोगाजी का जीवन घरेलू झगड़ों एवं समस्याओं से भरा हुआ था । गायों के हरण एवं मौसेरे भाईयों के समर्थन में आई मुस्लिम फौजों के साथ संघर्ष करते हुए वे वीरगति को प्राप्त हुए । लोकगीतों के अनुसार उन्होंने गायों की रक्षार्थ प्राण आहूत किये । इनकी स्मृति में प्रतिवर्ष भाद्र पक्ष कृष्ण नदमी को गोगामेढी नामक स्थान पर गोगानवमी नाम से मेला लगता है । उनकी अश्वारोही योद्धा तथा सर्प दोनों रूपों में भक्ति की जाती है । ग्रामीण समुदायों में गोगाजी की भक्ति इतनी लोकप्रिय है कि उनके लिए "गाँव खेजडी,, गाँव गाँव गोगो" कहावत प्रसिद्ध है । अच्छी पैदावार के लिए और शुभ कार्यो के लिए इनकी मनौती माँगी जाती है । इनकी भक्ति से सर्प का विष उतर जाने की मान्यता प्रचलित है । इन्हें संकट हरण माना जाता है । स्वत: सहज उपलब्ध स्थानीय वस्तुओं से बिना किसी बाह्य आडम्बर के इनकी भक्ति की जाती है । गोगाजी के अनेक लोक भजन, गीत आदि प्रचलित हैं । इनके भक्त हिंदू और मुस्लिम दोनों हैं जो राजस्थान के अतिरिक्त गुजरात, उत्तर प्रदेश, बिहार, हिमाचल प्रदेश तथा पंजाब में फैले हुए हैं । साक्षात्र प्रभाव, पर्चे, चमत्कार, दर्शन आभास आदि के कारण गोगाजी जाहर पीर भी पुकारे जाते हैं । इनकी भक्ति को हम जन् जीवन के आर्थिक और सामाजिक आचारो की अभिन्नता के रूप में दृष्टिगत करते है ।

10.5.2 तेजाजी

तेजाजी का जन्म मारवाड के नागौर परगने के खडनाल गाँव में वि. सं. 1130 (1073 ई) में हुआ । ये जाट जाति के धौल्या गोत्र से थे । तेजाजी भी गोगाजी के समान एक स्वाभिमानी गौ रक्षक थे । लाछागुजरी को दिए वचन के पालनार्थ इन्होंने गायों को मुक्त कराने के प्रयास में अपने प्राण न्यौछावर कर दिए । अंतिम समय में एक नाग द्वारा इन्हें दंशित कर कष्ट मुक्त करने की किंवदन्तियाँ भी प्रचलित हैं । इनकी पत्नी पेमल सती हुई ।सुरसुरा (किशनगढ़), परबतसर, खडनाल, ब्यावर आदि तेजाजी के तीर्थ स्थल हैं । जहाँ प्रतिवर्ष तेजाजी के मेले लगते हैं । परबतसर मे भाद्रपद शुक्ला 5 से 15 तक विशाल मेला लगता है । सभी धर्म, संप्रदाय के लोग यहाँ इकट्ठे होते हैं और पशुओं की खरीद फरोख्त आदि के रूप में आर्थिक गतिविधियाँ भी सम्पन्न की जाती हैं । पंजाब, गुजरात, उत्तर प्रदेश, हरियाणा व अन्य दूरस्थ प्रदेशों के भक्त भी यहाँ एकत्रित होते हैं । अत: इनकी भक्ति ग्रामीण जन जीवन और उसकी धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक क्रियाकलापों के निकट है तथा उन्हीं से जुड़ी है न कि धर्म ग्रंथ, पंडित, पांडित्य, आडम्बर आदि से ।

10.5.3 पाबूजी

पाबूजी का जन्म वि. सं. 1296(1239 ई.) में धाँधलजी राठौड़ के यहाँ कोलू गाँव में हुआ । पाबूजी साहसी, वचन के धनी, शरणागत् वत्सल, अछूतोद्धारक एवम् चमत्कारी लोक नायक थे । इन्होंने म्लेच्छ समझी जाने वाली थोरी जनजाति तथा आदिवासी भील जनजाति को गले लगाया । थोरी जाति के सात भाईयों को उन्होंने अपने प्रमुख सरदारों में स्थान दिया । पाबूजी का खान-पान् भी उनके साथ होता था । काछेला चारण से एक घोड़ी लेने पर पाबूजी ने उसे वक्त पर मदद करने का वचन दिया । जींदराव द्वारा काछेला चारण की गायें घेर लेने पर पाबूजी ने अपने वचन-पालन के लिए जींदराव से युद्ध किया और वीरगति को प्राप्त हुए । उनकी पत्नी सोढी सती हुई ।

राजस्थान में राठौड व लोकजन् पाबूजी को इष्ट देव मानते हैं । थोरी, मील और भोपा जाति के लोग भी बडी संख्या में इनके भक्त हैं । ये लोग सारंगी के साथ "पाबू घणी री वाचना" गाकर उनकी भक्ति करते हैं । मोपों द्वारा "पाबूजी की पड़" छन्दों में गाई जाती है । ग्रामीण जन समुदाय इन्हें ऊँटों के देव के रूप में भी भजते हैं जो पशुओं की बीमारी हर लेते हैं । यहाँ ग्रामीण लोक जीवन के विविध पहलुओं में भक्ति एक प्रधान अंग के रूप में समाहित है, उसी के निकट है, न कि किसी प्रकार के कर्म काण्ड, आडम्बर, ब्राह्मण हस्तक्षेप तथा दुरूह शास्त्रीय ज्ञान के ।

10.5.4 रामदेवजी

रामदेवजी सर्वाधिक लोकप्रिय लोकदेव हैं । ये तंवर वंशीय राजपूत थे । इनकी जन्मतिथि के बारे में निश्चित्त सूचनाओं का अमाव है । मल्लीनाथजी ने इन्हें पोकरण का इलाका प्रदान किया । रामदेव जी ने भैरव राक्षस की शक्ति को जन कल्याणार्थ समाप्त किया । रामदेवरा नामक नया गाँव बसाया । धर्म, दर्शन एवं सामाजिक समानता के सिद्धांत जनता के समक्ष रखे । नामस्मरण, गुरुमहिमा, सत्संगति, ईश्वरीय सार्वभौमिकता के भक्ति तत्वों का प्रसार किया । बाह्य आडमर, सामाजिक विभेदो का विरोध किया । सभी प्रकार के भेदभाव से रहित कामडिया पंथ की स्थापना की, जिसमें निम्नवर्गीय

सदस्य भी दीक्षित हुए । अछूतों में धारू मेघवाल और डालीबाई के नाम उल्लेखनीय हैं । उन्होंने अस्पृश्यों को समाज के आभूषण के समान माना- "हरिजन म्हारे हार हियै रो मोती, मूंग्या ' कहावै ।" इन्होंने माया, मोह, क्रोध, अहंकार को हृदय में न पालने पर बल दिया तथा इन्हें ईश प्राप्ति की राह में बाधक बताया । 1458 ई. से भाद्रपद शुक्ल 11 को इन्होंने रामदेवरा में जीवित समाधि ले ली ।

रामदेवरा में प्रतिवर्ष भाद्रपद माह में मेला लगता है । जिसमें लाखों भक्त एकत्रित होते हैं । इनके अनुयायियों में अधिकांशत ढेड, भाँबी आदि निम्न वर्ग अधिक हैं किन्तु उच्च वर्ग एवं मुसलमान भी बहुसंख्या में इनके भक्त हैं । पोकरण भी रामदेवजी का तीर्थ स्थल है । गाँवो में खेजडी के नीचे, खेतों में, चबूतरों पर इनके पगलिये, थान, देवल देवरे तथा उपर फहरी हुई जजा देखी जा सक्ती है । राजस्थान की मिट्टी में रामदेवजी की गंध है, हक में उनके लिए श्रद्धा, प्रशीत में उनके पर्चे और लोकजीवन में उनके आदर्श एवं इष्ट है । कृष्ण का अवतार मानकर भी इनकी सहज सरल भक्ति की जाती है । धूप, दीप, नारियल, मजाने के अर्पण के साथ भजन, कीर्तन करते हुए इनकी भक्ति की जाती है । स्थानीय स्तर पर लोक जीवन में जातीय विषमता को दूर करने के सर्वाधिक प्रभाव का श्रेय संभवत: रामदेवजी को ही जाता है । समाज के समक्ष धर्म के सरल रूप को प्रस्तुत करने में रामदेवजी ने नाम स्मरण, गुरू महिमा, सत् संगीत, भगवत् भजन आदि भक्ति तत्वों को प्रधानता दी ।

10.5.5 मल्लीनाथ जी

मल्लीनाथजी का जन्म मारवाड के राव सलखाजी के यहाँ 1358 ई. में हुआ । 1374 ई. में मल्लीनाथजी महेश के सामी बन गए । 1378 ई. में फिरोज तुगलक द्वारा जालौर के सूबेदार निजामुद्दीन के अधीन भेजी गई 13 दलों वाली सेना को मल्लीनाथजी ने परास्त कर दिया । यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी । इस घटना के बाद इनकी प्रतिष्ठा बहुत बढ़ गई । इस्लामी आक्रमण एवं आतंक से त्रस्त मानवता के आत्मबल को कुछ प्रोत्साहन मिला । इन्होंने अपने रिश्तेदारों को मण्डोर और नागौर जीतने में मदद की तथा सिवाना, खेड ओसियाँ की जागीरें भी प्रदान की ।

जहाँ एक तरफ मल्लीनाथजी की उक्त घटनाएँ उन्हें एक वीर योद्धा सिद्ध करती हैं वहीं उनकी सिद्धियाँ, योग साधना एवं हरि भक्ति उन्हें योगी एवं भक्त भी निर्दिष्ट करती है । अपनी पत्नी रूपांदे की प्ररणा से वे उगमसी भाटी के शिष्य बन गए और उन्हीं से दीक्षत्व ग्रहण किया । 1399 ई. में मारवाड़ के संतों को एकत्रित कर एक विशाल कीर्तन का आयोजन किया । जनमानस को नामस्मरण, सत्संगति, हीर गुणगान, योग-साधना की तरफ प्रेरित किया । वे निर्गुण निराकार ईश्वर में विश्वास करते थे ।

1399 ई. में इनका स्वर्गवास हो गया । तिलवाडा ग्राम (जिला बाडमेर) में इनका उपासना स्थल है । यहाँ प्रतिवर्ष चैत्र कृष्ण एकादशी से चैत्र शुक्ल एकादशी तक मेला भरता है जहाँ ग्रामीण जनजीवन की आर्थिक गतिविधियाँ भी सम्पन्न होती हैं । यह मेला पशु मेले के नाम से भी प्रसिद्ध है । जोधपुर के पश्चिमी परगने बाडमेर को इनके नाम पर मालानी पुकारा जाना जन् जन् में इनकी आस्था को व्यक्त करता है । मल्लीनाथजी की सिद्धियाँ, चमत्कार तत्व, हरि भक्ति ने इन्हें देव की संज्ञा से अभिहित किया एवं सदी दर सदी इनके प्रति भक्ति का प्रवाह आबद्ध रूप से चलता रहा । वेदोपीनषद् साहित्य में विहित भक्ति तत्वों को मध्यकाल में पुनर्जीवित करने एवम जन-जन में प्रसारित करने का श्रेय स्थानीय स्तर पर रामदेवजी, मल्लीनाथजी तथा रानी रूपांदे को दिया जा सकता है ।

10.5.6 हरभूजी

धर्म एवं वीरता के नायक हरभूजी (भुंडेल) नागौर के महाराजा साँखला के पुत्र थे । इनका जन्म 1438 ई. में अनुमानित किया जाता है । हरभूजी रामदेवजी के गुरू भाई थे । हरभजमाल (फलौदी) में इन्होंने रामदेवजी की प्रेरणा से ही यौद्धिक जीवन का परित्याग कर गुरू बालीनाथ से दीक्षा ग्रहण कर ली । हरभूजी ने राव जोधाजी को एक लकडी की तलवार प्रदान कर मंडोर की पुनःप्राप्ति का आशीर्वाद दिया । सद जोधा का यह अभीष्ट कार्य पूर्ण हुआ और उन्होंने हरभूजी को बेंगटी गाँव प्रदान कर कृतज्ञता जाहिर की ।

हरभूजी जन कल्याणार्थ उपदेश देते, दीन दुःखियों, जरूरतमंदों की मदद करते, सदाव्रत बाँटते, सिद्धि साधना करते तथा निर्गुण निराकार को भजते ।

बेंगटी (फलौदी) हरभूजी का प्रमुख तीर्थ स्थल है । जहाँ श्रद्धालु अभीष्ट प्राप्ति पर आते हैं एवं भक्ति भावना व्यक्त करते हैं । कालांतर में जोधपुर के राजा अजीतसिंह (1721 ई. मे) द्वारा बेंगटी में हरभूजी के मंदिर का निर्माण करवाया गया । अत: न केवल देहाती समुदायों वरन राजन्यवर्ग में भी इस धर्म नायक के लिए व्यापक श्रद्धा एवं भक्ति विद्यमान थी।

10.6 सारांश

उपरोक्त वृत्तान्तों से स्पष्ट होता है कि मरु प्रदेश के ये लोक देवता शौर्य, पराक्रम, त्याग, सिद्धित्व एवं स्वसंस्कृति आप आदि गुणों द्वारा देवत्व प्राप्त कर जन्-जन् के खम्माघणी उपास्य देव बन गये । ग्रामीण समुदायों, निम्न जातियों तथा उच्चवर्गीय तबकों में भी इनके प्रति पनपी भक्ति भावना ने इन लोक देवों के देवरे, देवल, थान, पगलिए मंदिर इत्यादि स्थापित कर दिए एवं सरल विधियों से नीम, खेजडी के ऊपर धजा फहराकर, अधो चबूतरे पर इनकी स्थानीय भक्ति प्रारम्भ कर दी । जहाँ न ब्राह्मण को दान-दक्षिणा देनी थी, न यज्ञ में अह्यित, न मंत्रों के सहस्रों जाप, न सहस्रों कमल और मोदक और न ही स्वर्ण और रजत । धूप, दीप, दूध, लापसी, चूरमा, बताशे, नारियल आदि ग्रामीण घरों में दैनिक उपभोग की सहज उपलब्ध सामग्री द्वारा की गई पूजा में कर्मकाण्ड या आडम्बर छूता भी न था।

निम्न जातियों को अछूत मानकर उच्चवर्गीय हिन्दुओं, पंडे, पुरोहितों अथवा धर्म के ठेकेदारों द्वारा उन पर उपासना, जलापूर्ति, स्पर्श आदि के लिए अनेक निषेधाज्ञाएँ लाग कर दी गई थीं उस समय इनकी धर्म तथा जीवन-चर्या से संबन्धित विभिन्न व्यवहारों एवं आकांक्षाओं की पूर्ति का अनुकरणीय प्रयास दीनों के इन देशें ने किया । केवल नामस्मरण, सत्संग, संकीर्त्तन एवं सत्य पर आधारित विषमता रहित धार्मिक एवं सामाजिक स्वरूप प्रजाजनों के समझ रखने वाले मरूभूमि के प्राय: ये सभी जूंझार समाज की उच्च जातियों से सम्बन्धित थे । उत्तरी मारत के अधिकांश सभी संत निम्न जातियों एवं समुदायों से थे और तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक जटिलताओं एवं असमानताओं की प्रवृतियों से कहीं न कहीं त्रस्त भी थे और इसी वेदना का स्वर उनकी वाणियों में मुखर भी हुआ है । किन्तु ये लोक देव स्वयं उच्च तबके के होते हुए भी तथा समाज में एक सम्मानजनक आनन्दाभोग करते हुए भी सदियों से संतप्त दलित तबके के उद्धार के हिमायती थे। भक्ति के सरल रूपों को उनके समक्ष रखकर इन द्विजों ने अनुष्टान संस्कार सम्पन्न न कर पाने से पनपे धर्म एवं भगवद् भय के मिथ्या संदेह से अद्विजों को मुक्त किया । उन के पलायनवादी, निराशाजनक दृष्टिकोण तथा इस्लाम

अंगीकार की लहर पर भी अंकुश लगाया । उनमें किसी न किसी स्तर पर आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान जगाया । भक्ति के नेपथ्य से ही विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक सुधार मध्यकालीन मंच पर आने प्रारंभ हुए"जात पात पूछे नहीं कोई हरि को भजै सौ हरि का होई" "हरिजन म्हारे हार हियेरो" "हारे हरजी पूजे पंथर पापी वे कहिये रेजी थे तो आतम पूजो ने पुजाबवों रे जी"। । वर्तमान आरक्षण इन लोक वीरों द्वारा निम्न तबके को दिये गये तत्कालीन संरक्षण में निहित था इनके प्रयासों ने हिन्दू निम्न जातियों द्वारा इस्लाम अंगीकार को अवरूद्ध किया प्रदेश की भौगोलिक दुर्गमता और विकटता का भी इसमें योगदान रहा ।

गौधन की रक्षा कर गौ वध को रोका इन कर्णधारों के व्यक्तिगत प्रयासों के अतिरिक्त इनके समाधिस्थ होने के बाद जन समुदायों में इनके प्रति जो भक्ति की लहर फूटी उसने युगों-युगों तक धर्म को न केवल दुरूह से सरल बना दिया एवं मुक्ति की संभावना जगाई वरन लाखों भिन्न-भिन्न लोगों को भक्ति के जल से सरोबार कर परस्पर निकट भी ला दिया । इनके मंदिरों, मेलों में सभी का स्वागत है । इनके मेले धर्म, अर्थ, कर्म, फर्ज के सम्मिलित स्वरूप हैं । जो "धर्म' के वास्तविक अर्थ को चरितार्थ करते प्रतीत होते हैं । इनकी भक्ति जीवन के निकट थी इससे पूर्व धर्म का यह रूप बाह्याचार, पाखण्ड, आडम्बर, वामाचार, अज्ञानता, अंधविश्वास एवं संक्रमण की राह में सहस्त्राब्दियों से न्यूनाधिक विलुप्त हो गया था । लाखों, करोडों लोगों के धार्मिक जीवन में इस क्रांतिमय परिवर्तन के कारण ही वह भक्ति आन्दोलन का रूप बनकर सामने आई । लोक जीवन के पारिवारिक, सामाजिक, सांस्कृतिक व्यवहारों एवं जीविकोपार्जन के विभिन्न पहलुओं में भक्ति प्राथमिक एवं अभिन्न अंग के रूप में समा गई । लोक भक्ति पर आधारित सरलता, सहजता, प्रेम, श्रद्धा, सत्संग और भगवद् भजन क्षेत्रीय स्तर को लांघकर व्यापक एवं विशाल स्तर पर प्रचलित हो गए जिनका केन्द्र-स्थल इन लोक शूरवीरों की जन्मस्थली राजस्थान था ।

10.7 बोध प्रश्न

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिये

1. मध्यकालीन में भक्ति आन्दोलन के पीछे एक व्यापक पृष्ठभूमि थी, स्पष्ट कीजिये । (100 शब्द)
2. मध्यकालीन राजस्थान के प्रमुख लोकदेवताओं का भक्ति आन्दोलन में क्या योगदान रहा । व्याख्या कीजिये । (150 शब्द)

10.8 प्रमुख संत

उक्त धर्मवीर लोक नायकों के अतिरिक्त राजस्थान प्रदेश में संत महापुरूष भी हुए, कुछ संतो का यहीं जन्म हुआ तो कुछ विभूतियों ने यहाँ भ्रमण, पीठ स्थापना स्थल तथा शिष्य परम्परा के द्वारा अपने सिद्धांतों से इस क्षेत्र को व्यापक रूप से प्रभावित किया । इन संतों ने अपनी आध्यात्मिक चैतन्य अवस्था को नवरूपा भक्ति के साथ सरल रूप में जनमानस के समक्ष प्रस्तुत कर कुरीतियों से पीडित समाज को चिन्तन के नए आयाम प्रदान किये । इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ संतों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत है ।

10.8.1 धन्ना - (15 वीं शती)

धन्ना का जन्म धुवन गाँव (टोंक जिला) में 1415 ई. में जाट परिवार में हुआ । बाल्यपन् से ही ईश्वरोनमुखी धन्ना उत्तर भारत में मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के प्रथम प्रणेता रामानन्द के शिष्य थे । वे कृषि कार्य एवं गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए ईश भक्ति में लीन रहते थे । इनके प्रति भक्तों की अपार श्रद्धा एवं विश्वास ने इनके जीवन में विभिन्न अलौकिक घटनाओं का आभास किया । धन्ना ने नामस्मरण, सत्संगति, साधु सेवा, गुरू भक्ति पर बल दिया।

10.8.2 पीपा (1 नुबी शती)

पीपा का जन्म 1428 ई. में गागरोन (कोटा) के शासक खीची राजपूत के यहाँ हुआ । धन्ना की भाँति ये भी रामानन्द के शिष्य थे तथा उनका भक्ति दर्शन रामानन्द से ही प्रभावित था । गुरु के उपदेश पर इन्होंने गहस्थ धर्म पालन के साथ ही ईश भक्ति की । पीपाजी के अनुरोध पर उत्तरी भारत में भक्ति आदोलन के प्रथम प्रवर्त्तक रामानन्द जी गागरोन पधारे और वहाँ कुछ समय तक प्रवास किया । उसके बाद पीपाजी ने भी राज्य त्यागकर रामानन्द जी के साथ काशी को प्रस्थान किया । दीक्षाकाल के बाद इन्होंने दर्जी वृत्ति धारण की । भ्रमण के दौरान ये पुन: गागरोन लौटे और एक गुफा में निवास करने लगे । यहीं इनका देहांत हो गया ।

भक्तों की अथाह आस्था इनके जीवन को विभिन्न अलौकिक घटनाओं से जोस्ती है । यथा इनकी भक्ति की भावविह्वलता में प्रभू दर्शनार्थ समुद्र में कूद कर सात दिन पश्तात्त बाहर निकलना' हिसक पशु सिंह को पालतू बनाना आदि । समदडी (बाडमेर) में पीपाजी का मदिर है । जहाँ चैत्र शुक्ल पुर्णिमा को भक्तजनों का मेला मरता है ।

पीपा का ईश्वर निर्गुण, निराकार अगम, अगोचर था । वे उसके प्रति पूर्ण शरणागत् थे । वे ईश्वर को गाय और स्वयं को बछड़ा' उसे चाँद स्वयं को चकोर, उसे स्वामी तथा स्वयं को उसका सेवक अभिहित करते हैं । उन्होंने केवल भगवद् भजन मात्र को जीवन का लक्ष्य निर्धारित किया । उन्होंने गुरू की महत्ता, सत्संग, नामस्मरण, आदि के सिद्धांत दिए तथा जात पांत, ,मूर्तिपूजा, तीर्थ यात्रा, बाह्याचारों का विरोध किया ।

10.8.3 जाँभोजी - (1451 ई. - 1526 ई)

विश्नोई संप्रदाय के प्रवर्त्तक जाँभोजी का जन्म 1451 ई. में पीपासर (नागौर) के पंशर वंश के राजपूत लोहटजी के यहाँ हुआ । ये बाल्यावस्था में गाएँ चराने को कार्य करते थे । वन के शात, नीरव, परिवेश ने इस मननशील एवं अल्पभाषी चरित्र को आत्मिक चिंतन में लीन कर दिया । ये आजीवन ब्रह्मचारी रहे । समराथल (बीकानेर) में इन्होंने ज्ञानोपदेश, सत्संग, हरिकीर्तन, विष्णुनाम जप, जन कल्याण आदि में अपना समय व्यतीत किया । यही पर कलश स्थापित कर विश्नोई पंथ का प्रवर्त्तन किया । 1526 में इन्होंने नश्वर देह त्याग दी । तालवा ग्राम में इनकी समाधि है । यह स्थान समराथल के निकट ही है और मुकाम नाम से प्रसिद्ध है । इनके सिद्धांतों को विश्नाई संप्रदाय के 29 नियमों में परिलक्षित किया जा सकता है जिनमें उन्होंने आत्मिक एवं दैहिक पवित्रता दैनिकचर्या की शुद्धता, संतोष, क्षमा, शील, दया, प्रेम का धारण तथा तर्क, निंदा, असत्य, चौरी, काम, क्रोध, लोभ, मोह का त्याग, पशु एवं वनस्पति संरक्षण, अफीम, तम्बाकू भांग मद्य का त्याग आदि नियमों का निर्धारण किया।

जाँभोजी के मक्ति दर्शन में विष्णु नाम जप, ईश्वर में प्रबल आस्था, गुरू महिमा, सत्संग आदि के तल समाहित हैं । उन्होंने भी तत्कालीन समाज में प्रचलित कुरीतियाँ यथा विभिन्न बाह्मचारों लोक आडचर, जातिगत भेदभाव का खुलकर विरोध किया । वामाचार व्यवहार, पाखण्ड, बलिप्रथा का जबर्दस्त खण्डन इनके द्वारा किया गया । विभिन्न प्रचलित संप्रदायों की पाखण्डी प्रवृतियों पर उन्होंने जिस दबंगता से प्रहार किया वह उन्हें कबीर के समकक्ष रखता है ।

10.8.4 जसनाथंजी - (1482 ई. - 1506 ई.)

महाभक्त जसनाथजी का जन्म कतारिया 13 सर (बीकानेर) में 1482 ई. में हमीर जी जाट के यहाँ हुआ । बाल्यकाल से प्रोढ़ावस्था तक इन्होंने भक्ति मार्ग का अनुसरण किया तथा आजीवन ब्रह्मचारी रहे । गोरखमालिया में 12 वर्षा तक इन्होंने ईश साधना की । लूणकरण को बीकानेर-राज्य की प्राप्ति का वरदान दिया । दिल्ली का कट्टर विधर्मी सुल्तान सिकंदर लोदी भी इनसे प्रभावित था । उसने कतरियासर के निकट इन्हें भूमि प्रदान की । यहाँ ये लोक-कत्याणार्थ उपदेश देते थे । 24 वर्ष की अल्पायु में उन्होंने कतरियासर में ही जीवित समाधि ले ली ।

वे एक प्रबुद्ध धर्म एवं समाज सुधारक थे । उन्होंने ईश्वर में अपार श्रद्धा, नाम महिमा, कर्मवाद में विश्वास, गुरू की महत्ता, योग साधना के भक्ति सिद्धांत कुरीतियों से जर्जर समाज के समक्ष रक्खे, धार्मिक पाखण्डों, जात गीत आदि का विरोध किया और समाज के समक्ष नैतिक एवम् मूल्यपरक आचरण के आदर्श भी प्रस्तुत किये । जो जसनाथी सम्प्रदाय के 310.5.10.7.16 नियमों में मानव जीवन की चारित्रिक आचार संहिता के रूप में निर्धारित हैं ।

10.8.5 रैदास - (1388 - 1518 ई. के लगभग मध्य)

साधुसेवि, दयावान, उदार हृदयी रैदास का जन्म 1388 ई. में बनारस में अनुमानित किया जाता है । ये रामानन्द के शिष्य थे तथा कबीर की शिक्षाओं का इन पर प्रभाव था ।

राजस्थान रैदास का भ्रमण स्थल रहा । यहाँ इन्होंने अपने सिद्धातों का प्रसार किया । चित्तौड की झाली रानी तथा भक्तिमती मीरां उनकी शिष्याएँ थीं । चित्तौड, गागरोन आदि में इनके यात्रा प्रवास के विवरण मिलते हैं । बीकानेर एवं जोधपुर क्षेत्रों में रैदास की शिक्षाओं का प्रभाव है । उक्त स्थलों पर रैदास के हस्तलिखित ग्रंथों का विशाल संकलन संग्रहीत है । रैदास ने ऐकेश्वरवाद, हरि स्मरण, साधु संगीत, गुरू की महत्ता पर बल दिया । उन्होंने जात-पाँत, छँच-नीच, बाह्य आडम्बर का विरोध किया ।

10.8.6 मीरां (1498-1546 ई.)

मीरां भारातीय दीर्घ संत परम्परा की एक अजस्र एवं अन्यतम् महत्वपूर्ण कड़ी थी । मीरां का जन्म 1498 ई. में मेडता के रतन सिंह राठौड के यहाँ कुडकी ग्राम में झा । बाल्यवस्था से मीरां के हृदय में उपजा कृष्णभक्ति का पौधा जीवनपर उत्तरोत्तर विकीसत होता गया । मेवाड के कुँवर भोजराज से उनका विवाह हुआ । मीरां ने अपने जीवनकाल में माता भ्राता पति, पिता तथा दादा के देहान्त के कष्ट सहे । मृत्यु को जीवन की हकीकत सिद्ध करने वाली विविध घटनाओं ने मीरां को और अधिक ईश्वरोमुखी बना दिया । मीरां के देवर राणा विक्रमादित्य द्वारा खानदान के यश पर कलुषता लगाने के भ्रम में भक्तिमती मीरां पर विभिन्न संकट बरपाए गए । यथा विष पान, सर्पदंश, शीशूल के प्रयास।

कहा जाता है कि मीरां ने रविदास से दीक्षत्व ग्रहण किया । रैदास के गुरूत्व के अधीन ही मीरां की भक्ति साधना चर्मोत्कर्ष पर पहुँची । भ्रमणशील, साधुसंगी, भक्त शिरोमणि मीरां द्वारिका में 1547 ई. को कृष्ण में तीन हो गई । मीरा सगुण साकार परमेश्वर की भक्त थीं । ईश्वर के प्रति पूर्ण समर्पित, शरणागत् प्रेमायुक्त भगवद् भजन, साधु संगीत उनकी भक्ति के प्रमुख अंग थे । जात पीत, वर्ग भेद में उनका कोई विश्वास नहीं था । दलित जाति के रैदास उनके गुरु थे । सांसारिक मोह, माया, अहम् को वे मिथ्या मानती थी; मीरां की भक्ति राजस्थान की सभी सीमाओं को लाँघकर देश एवं विदेश तक पहुँच गई । मीरां मध्ययुगीन भक्ति आदोलन के दृश्य पटल की एक शिरोमणि भक्त प्रतिष्ठित हो गई । स्त्री की दशा के पराभव काल में मीरां के जीवन की विभिन्न गतिविधियाँ क्रांतिकारी संबोधित की जा सकती हैं । अखिल भारतीय भक्ति आदोलन में पश्चिमी राजस्थान की इस स्त्री संत की भूमिका अति महत्वपूर्ण है।

10.8.7 दादू - (1544 ई.-1603 ई)

दादू का जन्म अहमदाबाद में 1544 ई. हुआ । इनका पालन पोषण एक ब्राहमण के हाथों हुआ । ग्यारह वर्ष की अवस्था में बुड्ढन (वृद्धानन्द) नामक संत से इन्होंने दीक्षत्व ग्रहण किया । इन्होंने नागौर, सांभर, आमेर में अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया एवं सिद्धांतों का प्रसार किया । मारवाड में भ्रमण करते हुए फुलेरा के निकट नरायणा में उन्होंने अपने जीवन का अंतिम समय व्यतीत किया । यही पर 1603 ई. में उन्होंने इस जगत से महाप्रयाण किया ।

दादू निर्गुण निराकार ईश्वर की सर्वशक्तिमता में विश्वास करते थे । उन्होंने हीरस्मरण सत्संग, गुरूमीहमा, भजन, कीर्तन आदि भक्ति सिद्धांतों का प्रसार किया । रूढ़िगत, पाखण्डी लोकाचारों पर अपनी बाणी से प्रहार किया । दान, व्रत, तप, तीर्थ, मूर्ति सभी के स्थान पर केवल राम नाम को ही सर्वोपरि माना । सत्य, अहिंसा, प्रेम, दया, परोपकार आदि गुणों को धारण करते हुए हृदय की शुद्धि पर बल दिया । परायणा में प्रतिवर्ष फाल्गुन शुक्ल पंचमी से एकादशी तक दादूपीथयों व श्रद्धालुओं का विशाल मेला लगता है जहाँ मध्यकालीन विषमताओं, जटिलताओं के अंधकार पर केवल भक्ति का प्रकाश छाया रहता है ।

लोकदेव, संत, आचार्य तथा भक्त कवियों की कड़ी के अंतर्गत प्रदेश में उक्त साधु चरित्रों के अतिरिक्त कई अन्य संत विभूतियों का अवतरण हुआ जिन्होंने स्थानीय तथा बाह्य स्तरों पर भी भक्ति सिद्धांतों का प्रसार किया । यथा हरिदास निरंजनी, बखनाजी, रज्जबजी, नागरीदास, पृथ्वीराज राठौड, दरियावजी, सुंदरदास, ईसरदास तलवेत्ता, छीहल, लालदास, चरणदास आदि ।

इन हिन्दू लोक देशे एवं सन्तों के अलावा राजस्थान में सूफी आन्दोलन के द्वारा भी लोगो में भक्ति की अलख जगाई जिन में प्रमुख रूप से शेख मुइनुद्दीन चिश्ती ने अजमेर से, शेख मखदुम हुसैनशेख हमीदुद्दीन नागौरी ने नागौर से, सूफी हमीदुद्दीन ने गागरोन से, हाजी नजमुद्दीन ने शेखावाटी सेमौलाना जियाउद्दीन ने जयपुर से एवं अन्य सूफी संतों ने ऐकेश्वरवाद, समानता एवं प्रेम के सिद्धांतों का प्रसार कर सांप्रदायिक समानव्य के प्रचार में योगदान दिया ।

10.9 सारांश

अत: भारत में इस्लामी आक्रमण, धर्म प्रसार, धर्म परिवर्तन आदि की लहर तथा अनेक धार्मिक एवं सामाजिक गृह कमजोरियों ने हिंदू धार्मिक जीवन में प्राचीनकाल से ही विद्यमान भक्ति को उजागर कर एक जन आदोलन रूप में परिणित करने की परिस्थियाँ उत्पन्न कर दी । संतों ने बह कर दिखाया जो तत्कालीन वाममार्गी, तंत्रवादी, वज्रयानी आदि विभिन्न प्रचलित समदायों, पंडे पंडितों तथा राजन्य वर्ग सभी की शक्ति से सामान्यत: परे था ।

भारत के संतों के समान संपूर्ण राजस्थान के संतों एवं लोकदेवों ने केवल भक्ति के अस्त्र से हिंदुओं द्वारा इस्लाम धर्म के अंगीकार को कहीं न कहीं अवरूद्ध किया, साप्रदायिक जटिलता एवं भेदभाव को कम किया, तथा भक्ति के रूप में मुक्ति के द्वार सभी वर्ग, जाति, पंथ के लिए खोल दिए । इन्होंने नैतिक मूल्यों के आदर्श कायम किए । धार्मिक जगत के बाह्य आडम्बर, पाखण्ड, ब्राह्मणबाद की गुलामी और भय का खण्डन किया । धर्म के शुद्ध, सरल, सहज रूप को सबके लिए रखा । भक्ति प्रकाश से अस्पृश्य नीच जातियों के हृदय में मुक्ति की नवीन आशा एवं स्वाभिमान का दीप प्रज्वलित किया । विभिन्न धार्मिक अंधविश्वासों पर कठोर प्रहार किया । इन संतों ने केवल अपनी वाणियों बोलियों, सबदों तथा स्वयं के जीवनवृत्त आदर्शो के अनुकरणीय उदाहरणों से भक्ति तत्व को आदोलन का रूप प्रदान कर दिया । निम्न जाति के आकर्षण का केन्द्र तो यह रहा ही किन्तु उच्च वर्ग भी इन संतों के आदशों से प्रभावित हुआ । अत इसके अन्तर्गत उच्च एवं निम्न वर्ग, हिंदू एवं मुसलमान, स्त्री एवं पुरूष सभी सम्मलित थे ।

राजन्य वर्ग तथा सम्पन्न उच्च वर्ग द्वारा इन संतों के सम्प्रदायों, पीठों, मंदिरों, अखाड़ों आदि को प्रचुर भूमि, सम्पत्ति के दान अनुदान, प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्रदान कर भक्ति आन्दोलन में अप्रत्यक्ष सहयोग प्रदान किया गया । एक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि जहाँ भारत के अधिकांश संत नीच जाति एवं व्यवसायों से संबंधित थे तथा समाज के दृष्टिकोण के अनुसार हेय थे तथा तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक व्यवस्था से त्रस्त थे, असंतुष्ट थे और यही वेदना उनकी वाणियों में परिलक्षित भी होती है, वहीं राजस्थान के प्राय: सभी लोकदेवता, संत एवं भक्त कवि उच्च जातियों वाले थे जो समाज में अपनी स्थिति से संतुष्ट थे । समाज में एक समानजनक जीवन का भोगानंद करते हुए भी उन्होंने परित्यक्त, अस्पृश्य, नीच वर्ग के कष्ट को आत्मसात किया एवं उनके उद्धार के भरपूर प्रयास किए । म्लेच्छों, अन्त्यजों को गले लगाया, साथ खान पान, रहन-सहन किया, पद, स्थान प्रदान किये, धर्म परिवर्तित हिन्दुओं को पुन: हिन्दू धर्म में प्रविष्ट किया, स्वयं के पंथों में स्वागत एवं दीक्षित किया, भक्ति का मंत्र दिया तथा धर्म की सर्वसुलभता प्रदान की ।

स्थानीय राजपूत राजन्य वर्ग इस्लामी आक्रांताओं से लोहा लेने की कसौटी पर पूरे खरे नहीं उतरे किन्तु उनके द्वारा स्थानीय संतो, सम्प्रदायों, पीठों, लोक साहित्यिक धार्मिक संग्रह केन्द्रो, मन्दिर, गुरुद्वारे निर्माण आदि को भरपूर संरक्षण, दान एवं प्रोत्साहन दिया गया । इस आश्रय एवं संरक्षण ने भी उक्त संतो एवं समदायों के भक्ति सिद्धान्तो के प्रचार प्रसार में अप्रत्यक्षत: महयूर्ण योगदान दिया।

बाह्य भक्त संतों का प्रभाव राजस्थान तक पहुँचा तो यहाँ के संत सिद्धांतों की हवा वहाँ भी प्रवाहित हुई । गोगाजी, रामदेवजी, मीरां, दादू की लोकप्रियता महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब, हरियाणा,

हिमाचल, उत्तर प्रदेश तक फैली । सभी धर्म संप्रदाय, जाति के अनुयायी इनके भक्त हैं न कि एक जाति अथवा एक संप्रदाय के । भक्ति जल के प्रदाह में जातिवाद, वर्गवाद एवम् क्षेत्रवाद आदि से सम्बन्धित अनेक दुश्रीरीतियाँ न्यून होने लगी ।

अत: भक्ति आदोलन में राजस्थान की महत्वपूर्ण भूमिका रही । यह एक नैसर्गिक एवं सुफलदायक जन आदोलन रहा जिसने भक्ति के उपादान से भारतीय जन-जीवन में धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का मंत्र फूंका ।

10.10 बोध प्रश्न 2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए ।

1. राजस्थान के भक्ति आन्दोलन में मीरां की भूमिका का विश्लेषण कीजिये । (100 शब्द)
2. मध्यकालीन राजस्थान में भक्ति आन्दोलन के प्रमुख संतों का योगदान स्पष्ट कीजिए । (150 शब्द)

10.11 सदर्भ ग्रंथ

1. संस्कृति के चार अध्याय - दिनकर, रामधारीसिंह
2. जोधपुर राज्य का इतिहास, भाग 1 - ओझा,गौरीशंकर हीराचन्द
3. सोशियल लाइफ इन मिडाइवल राजस्थान - शर्मा, गोपीनाथ
4. अर्ली चौहान डाइनेस्टीज़ - शर्मा, दशरथ
5. राजस्थान थ्रू दि एजेज़, खण्ड -1 - शर्मा, दशरथ
6. मध्यकालीन राजस्थान में धार्मिक आन्दोलन - पेमाराम
7. पूर्व मध्ययुगीन धार्मिक आस्थाएँ - पगारे, शरद
8. मिडाइवल भक्ति मूवमेंट - पांडे, सुष्मिता

इकाई-11

मध्यकालीन राजस्थान में सूफी आंदोलन

(Sufi movement In Medieval Rajasthan)

इकाई की रूपरेखा

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 प्रथम सूफी

11.3 खानकाह

11.4 समा (सूफी कीर्तन)

11.5 विभिन्न सूफी संघ एवं भारत में उनकी स्थापना

- 11.5.1 चिश्ती
- 11.5.2 कादिरी
- 11.5.3 नक्शबन्दी
- 11.5.4 फिरदौसी
- 11.5.5 मदारी
- 11.5.6 शत्तारी
- 11.5.7 सुहरावर्दी

11.6 चिश्ती सिलसिला एवं उसके प्रमुख सन्त

- 11.6.1 ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती
- 11.6.2 सूफी हमीदुद्दीन नागौरी
- 11.6.3 शेख फरीदुद्दीन महमूद
- 11.6.4 खाजा मखदूम हुसैन नागौरी
- 11.6.5 शेख बुरहान चिश्ती

11.7 मदारी सिलसिला

11.8 रसूल शाही सिलसिला

11.9 सुहरावर्दी सिलसिला

11.10 कादिरिया सिलसिला

11.11 मगरिबी सिलसिला

11.12 संदर्भ ग्रन्थ

11.0 उद्देश

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप जान सकेगे कि -

- सूफीवाद का तसव्वुफ़ क्या है ?

- इसका प्रादुर्भाव कहां और कर हुआ ?
- इसमें प्रमुख रूप से कौन-कौन सिलसिले भारत आये ?
- इन प्रमुख सिलसिलों के राजस्थान में कौन-कौन प्रमुख संत हुए एवं इसका राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर क्या प्रमाव पड़ा ?

11.1 प्रस्तावना

मध्यकालीन राजस्थान में सूफियों के बारे में कुछ कहने से पहले हमें आपको तसव्वुफ के संबंध में कुछ जानकारी देना है । जैसे-

- सूफी कौन थे ?
- इस्लाम मे तसव्वुफ का उदगम
- इस्लाम में तसव्वुफ की आवश्यकता
- विभिन्न सूफी सके परिभाषाओं की उत्पत्ति तथा खानकाह

सूफी शब्द का उद्‌गम-सूफी शब्द न तो कुरान पवित्र और नही (हदीस मुहम्मदसा की जीवनी एवं उनके उपदेश) में मिलता है । परन्तु कुरान में ऐसे अनेक वाक्य है जैसे तौहिद, तकवा,खौफ, जिक्र आबिद, जाहीद,औलिया, अल्लाह, मुकबूर्न, इत्यादि, जिनकी व्याख्या द्‌वारा सूफीयों के मत की पुष्टि होती है ।

हजरत मुहम्मद के जीवन की बहुत सी घटनाऐं और उनके बहुत से प्रवचन सूफी सिद्धांत की आधारभूत सामग्री बन गए है । हजरत मुहम्मद के कुछ साथी (साहाबी) सदैव मस्जिद में निवास करते, इबादत में लीन रहते और सांसारिक जीवन से दूर रहते थें ये लोग "अहले सूफ्फा ' कहलाते थे । कुछ विद्‌वानों का मत है कि प्रारम्भिक सूफी यही लोग थे परन्तु यह मत सही नही है, वर्तमान शोध से यह सिद्ध हो चुका है कि "अहले सुफ्फा' से 'सुफी' शब्द का प्रचलन नही हुआ है परन्तु जिन महापुरुषों ने विशेष प्रकार के सूफ (ऊनी) वस्त्र धारण किये हे सूफी कहलाने लगे ।

तसव्यूफ को सुलुक अथवा तरीकत (आध्यात्मिक यात्रा) भी कहा जाता है । इस पथ पर यात्रा के लिए मार्ग-दर्शन की आवश्यकता होती है जो *पीर* अथवा मुर्शिद (गुरु) द्‌वारा किया जाता है ।

शिष्य को *मुरीद* कहते हैं, जिसे इस पथ पर यात्रा करने की इच्छा *(इरादा)* हो वह किसी *पीर* से बैत करता है । बैत का अर्थ *पीर* के हाथ पर अपना हाथ देकर *पीर* के संघ *(सिलसिला)* के सुफियों तथा उस संघ को नियम पालन करने को प्रतिज्ञा बद्ध होता है ।

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध को *पीरी-मुरीदी* कहा जाता है ।

यह यात्रा बड़ी कठिन है, इसमें अनेक *मंज़िले* मिलती हैं, जिन्हें *मकाम* कहा जाता है ।

जिन आश्चर्यजनक एवं असाधारण आध्यात्मिक परिस्थितियों का इस यात्रा में सामना करना पड़ता है उसे हाल कहते है । इसका बहुवचन अहवाल है ।

पीर साधना *(इबादत)* के विभिन्न नियम निर्धारित करता है, प्राय: अल्लाह का नाम लेने पर जोर दिया जाता है । इसे *'जिक्र'* कहते हैं । इसके साथ मुरीद को शरीअत के नियमों का पालन करना पड़ता है । घोर तपस्या, पीर के इशारों पर *चिल्लाह* (40 दिन किसी एक कमरे में एकान्त इबादत करने को कहते हैं) द्‌वारा अल्लाह का जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसे *मारिफत* कहते हैं ।

11.2 प्रथम सूफी

सर्व प्रथम सूफी शब्द कूफा के निवासी अबू हाशिम के साथ जुड़ा हुआ है जो 778 ई. तक जीवित रहे । अगर यह सिद्धांत सही हैं तो फिर क्यों हजरत मुहम्मद के जीवन तथा उनके मृत्यु के प्राय: 200 वर्षो तक इस्लामिक इतिहास मे सूफी शब्द का प्रयोग नही किया गया? इसका उत्तर इमाम कुरैशी ने इस प्रकार दिया है ।

हजरत मुहम्मद के साथियों को साहाबा के अतिरिक्त कोई उपाधि सर्वश्रेष्ठ नहीं हो सकती थी । सहाबा के साथी 'ताबेईन' ' कहलाए और उनके बाद उनके साथी तबआ-ताबेईन के उपाधि से विभूषित किए गए । तदुपरान्त जिन महापुरुषों का ध्यान धर्म की ओर अधिक गया उन्हे जाहिद (संयमी) और आबिद (तपस्वी) कहा गया । अत: सुन्नियों में सर्वश्रेष्ठ ईश्वर भक्त पुरुष 'सूफी' के नाम से विख्यात हुए और दूसरी सदी से पूर्व ये बुजुर्ग इस नाम से प्रसिद्ध हुए ।

11.3 खानकाह

सूफीवाद के प्रसार के साथ-साथ खानकाहों की भी स्थापना शुरू हुई क्योंकि इससे पहिले खानकाह नामक कोई संस्था इस्लाम में नहीं थी । खानकाह का अर्थ यहां पर यह है कि वह स्थान जहां एक सूफी अपने शिष्यों के साथ स्थाई तौर पर रहकर ईश्वर की आराधना करे जो एक् घास-फूस का छप्पर तथा मिट्टी लकड़ी से बनी होती थी । कई खानकाहें दो मंजिली भी होती थी । मौलाना अब्दुर्राहमान जामी के अनुसार सर्व प्रथम खानकाह का निर्माण एक ईसाई हाकीम ने रमला (सीरिया) मे अबु हाशिम सुफी के लिए कराया था ।

11वीं सदी ई में *खानकाहों* का पूर्ण विकास हुआ । खानकाह के अनुशासन का पालन करने की प्रवृत्ति ने सूफीयों के संघठन की नीव को दृढ़ कर दिया ।

खानकाह में केवल पीर / मुर्शिद (मुख्य गुरु) के बताए हुए नियमों का पालन करना होता था, उसे उस विशिष्ट सूफी सम्प्रदाय का पूर्ण ज्ञाता समझा जाता था और उसकी आज्ञा का उल्लंघन सम्भव न था ।

शेख अबू सईद अबुल खैर ने खानकाह वालों के लिए निम्नांकित 10 नियमों का पालन अनिवार्य बना दिया था:

1. सूफियों को अपने पोषाक / वस्त्र साफ रखने होंगे, और अपने मन को शुद्ध रखना होगा ।
2. किसी सूफी को मस्जिद अथवा किसी अन्य पवित्र स्थान पर गप लड़ाना नहीं चाहिए ।
3. सूफी लोग मिलकर इबादत करेंगे ।
4. सूफी रात्रि में अधिक इबादत करेंगे ।
5. प्रात: काल (फजर) सूफी लोग ईश्वर से क्षमा याचना करेंगे और उसका जिक्र करेंगे ।
6. प्रात: काल प्रत्येक सूफी अधिक से अधिक समय कुरआन का पाठ करने में व्यतीत करेंगे । तथा सूर्योदय के पूर्व किसी से बात-चीत नहीं करेगे ।
7. सांयकाल की नमाज (मगरीब) और इशा (सोने के समय) के नमाज के मध्य में ईश्वरीय जिक्र (स्मरण) करना होगा।

8. प्रत्येक दरिद्र याचक तथा नव आगन्तुक का स्वागत करना उसकी सेवा में जो भी कष्ट हो उसे सहन करनी होगी।
9. कोई सूफी अकेले भोजन नहीं करेगा, सब मिलकर भोजन करेंगें ।
10. बिना एक-दूसरे से आज्ञा लिए खानकाह से अनुपस्थित न रहेंगे ।

चिश्ती खानकाहा / जमअत खाना केवल सूफियों के समूहिक जीवन तथा इबादत का केन्द्र ही नहीं था । परन्तु इस स्थान पर हर एक (हिन्दू-मुस्लिम) को सिर छिपाने की जगह मिल जाती थी, कमी तो शासन के अत्याचार से बचने हेतु तो कभी शत्रु के आक्रमण से बचने के लिए लोग खानकाह की ओर दौडते थे । मानसिक शान्ति प्राप्त करने एवं दुखी से निवारण हेतु भी लोग यहां आते थे ।

हर धर्म जाति या श्रेणी का व्यक्ति हो अगर वह किसी सूफी खानकाह में आकर शरण लेता था उसे वहां पर हर प्रकार की सहायता प्राप्त होती थी ।

खानकाह में दो तरह के लोग हुआ करते थे ।

(क) अस्थाई- जो राहगीर या तीन दिन से अधिक खानकाह में नही ठहरते थे ।

(ख) स्थायी - वे लोग खानकाह का समस्त इन्तजाम देखते थे ।

इसी तरह खानकाह सुफियों में सामूहिक जीवन तथा उनकी साधना का केन्द्र बना गया, हिन्दु-मुस्लिम हर धर्म पर विश्वास रखने वाले दीन-दुखी, फकीर, योगी, कलन्दर, राहगीर, सर्व- साधारण सभी व्यक्ति के लिए खानकाह आश्रय का स्थान बन गया । खानकाह में लंगर की प्रथा थी, जहाँ सभी प्रकार के लोगों का निःशुल्क भोजन मिलता था ।

11.4 समा (सूफि कीर्तन)

समा का अर्थ सुनना और इसका प्रयोग अल्लाह के प्रेम और उसकी 'मारिफत' के गीत सुनने के अर्थ में होता है, इसलिए समा का अर्थ सूफियों का संगीत एवं नृत्य समझा जाता है । यह छिपे हुए वज्द (भावावेश) को प्रकट करता है । प्रत्येक शांत हृदय को उत्तेजित करता है । किसी को लाभ पहुंचाता है तो किसी को मिला देता है ।

अल-हुज्वेरी के अनुसार 'समा' उस समय तक न करना चाहिए, जब तक स्वत: उसके लिए प्रेरणा न प्राप्त ही उसे आदत न बनाना चाहिए । समा के समय मुर्शिद (गुरु) की उपस्थिति जरूरी होती है । सर्वसाधारण को उस स्थान से हटा देना चाहिए तथा हृदय में कोई सांसारिक विचार होना नहीं चाहिए।

समा की अवस्था में सूफी आवेश में आकर नृत्य करने लगता है । चिश्ती सूफियों ने सभा पर अत्यधिक बल दिया तथा हिन्दुस्तान मे समा का प्रचलन इन्हीं सूफियों के जरिए हुआ ।

समा में हिन्दवीं गीतों का प्रयोग 13वीं सदी से ही प्रारम्भ हो गया था । धीरे-धीरे सूफियों ने समा में फारसी की अपेक्षा हिन्दवीं का अधिक प्रयोग किया जिससे अधिक शांति मिलने लगी थी ।

11.5 विभिन्न प्रमुख सूफि संघ एवं भारत में उनकी स्थापना

इस इकाई में आपकों सूफी संघ के विषय में संक्षिप्त टिपणी दे रहे है । इससे आपको विभिन्न सूफी संघ जो भारत तक पहुँचे तथा उनकी स्थापना के संबंध में कुछ ज्ञान हो जाएगा ।

11.5.1 चिश्ती सिलसिला

इस संघ के संस्थापक अबु ईशहाक शामी चिश्ती (मृ0 940) थे । परन्तु भारत में इस संघ की स्थापना खाजा मुईनुद्दीन चिश्त्ती (मृ0 1226 ई) ने की और अपनी खानकाह अजमेर (राजस्थान) में बनायी ।

11.5.2 कादिरी सिलसिला

इस संघ के संस्थापक शेख अब्दुल कादिर जिलानी (मृ0 1176 ई) थे । इस संघ के दो प्रमुख सूफी शेख निआमतुल्लाह तथा मखदूम मुहम्मद जिलानी ने उच्च (मुल्तान) को अपना केन्द्र बनाया नागौर में भी इस संघ के अनेक प्रमुख संतों का निवास था ।

11.5.3 नमारन्दी सिलसिला

ख्वाजा बहाउद्दीन नक्शबन्दी (मृ0 1388 ईZ) इस संघ के संस्थापक थे । खाजा बाकी बिल्लाह (मृ0 1603 ई) ने इस संघ को भारत पहुँचाया परन्तु शेख अहमद सिरीहन्दी(मृ0 1624 ई) (जो मुजद्दीद अल्फ शानी के नाम से मशहूर थे) ने संघ को लोकप्रियता, यश तथा उन्नति दिलाई ।

11.5.4 फिरदौसी सिलसिला

भारत में इस संघ की स्थापना शेख रूकनउद्दीन फिरदौसी से हुई । शेख शरफुउद्दीन यहया अल मनेरी (मृ0 1381 ई) (बिहार) ने इस संघ को चरमसीमा पर पहुँचाया ।

11.5.5 मदारी सिलसिला

शाह वदीउद्दीन मदार (मृ0 1436 ई) इस संघ के प्रमुख सूफी तथा संस्थापक थे जिनकी मज़ार मकनपुर में (कानपुर से करीब 40 कि0मी0 दूरी पर स्थित है) है ।

11.5.6 शत्तारी सिलसिला

इस संघ के संस्थापक शाह अब्दुल्लाह शत्तारी थे जिन्होंने अपना केन्द्र मान्डु (मध्य प्रदेश) को बनाया । शेख मुहम्मद गौश शत्तारी ग्वालियरी इस संघ के प्रमुख सूफियों में से एक है ।

11.5.7 सुहराबर्दी सिलसिला

इस संघ के संस्थापक शेख जिआउद्दीन अबु अल अब्दुल कादिर सुहरावर्दी (मृ0 1168 ई0) थे परन्तु इस सिलसिले को चरमसीमा पर पहुँचाने का श्रेय शेख शिहाबउद्दीन सुहरावर्दी (मृ0 1234 ई0) को जाता है । जिन्होने अपने त्यागपूर्ण जीवन, मेहनत, उच्च नैतिकता तथा आध्यात्मिक शिक्षा और प्रमुखता से इस संघ को न केवल उन्नति और यश दिलाया परवरन् अधिक से अधिक लोकप्रिय तथा प्रतिष्ठित भी किया । भारत में इस संघ के संस्थापक शेख बहाउद्दीन जकरिया थे ।

हिन्दुस्तान में अबुल फजल के अनुसार 14 सूफी सिलसिला आए जिसमें राजस्थान में चिश्ती, सुहरावर्दी, मदारी, नक्शबंदी, कादीरी, मगरीबी आदि प्रमुख हैं ।

11.6 चिश्ती सिलसिला एवं उसके प्रमुख सन्त

11.6.1 खाजा मुईनुद्दीन चिश्ती

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती (र0अ0) का जन्म 1141 -42 ई0 के लगभग संजर शहर (सिस्तान) अफगानिस्तान में हुआ । जब वे 15 वर्ष के हुए उनके पिता का देहावसान हो गया । एक बाग और पनचक्की पिता ने सम्पत्ति में छोड़ी थी, उसी से उनका जीवन निर्वाह होता था । इनके जीवन में सबसे बढ़ा परिवर्तन उस समय हुआ जब शेख इब्राहीम कदोजी नामक एक मज्जुब के वे सम्पर्क में आये ।

उनसे प्रभावित होकर संसार त्याग करने पर मुईनुद्दीन गुरू की खोज में भटकते रहे । समरकन्द में दो वर्षा तक उन्होंने कुरान का अध्ययन किया और फिर बुखारा चले गये । वहां पर उन्होंने मौलाना हिसामुद्दीन बुखारी से कुरान पढ़ा । अन्त में खाजा उस्मान हारूनी के शिष्य हुए । हारूनी के साथ इन्होंने अपना समय बिताया । कुछ लोगों का कहना है कि बीस वर्षा तक दे उनके साथ रहे । इसके बाद कहते हैं कि सपने में हज़रत मुहम्मद (स.अ.) ने उन्हें भारत वर्ष में जाकर इस्लाम धर्म के प्रचार प्रसार का आदेश दिया । कहा जाता है कि नीशापुर से जब वे भारत वर्ष के लिए चले तब रास्ते में बहुत से सुप्रसिद्ध सूफियों से मिलने का उन्हें सौभाग्य प्राप्त हुआ । इन साधकों की सत्संगति से उन्हें पूरी आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त हुई । पहले ए बगदाद आये, वहां पर कादिरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक अब्दुल कादिर जिलानी से मिले । वही पर सुहरावर्दी सम्प्रदाय के प्रवर्तक अबूनजीब सुहरावर्दी और उनके उत्तराधिकारी तथा पुत्र शिहाबुद्दीन से मिले । उनकी यह यात्रा मक्का, मदीना से शुरू हुई थी और इराक़ तथा पीर्सया होते हुए वे आगे बढ़े थे । हमदान में उनकी मुलाकात शेख अबू युसूफ हमदानी से हुई और त्बरीज में वे अबूसईद तबरीज़ी से मिले । मौलाना जलालुद्दीन रूमी, तबरीजी के ही शिष्य थे । इस्फाहान में ख्वाजा कुबुद्दीन बख्तियार काकी से मुईनुद्दीन की भेंट हुई ।काकी इनके शिष्य हो गये और भारत वर्ष में आकर उनके उत्तराधिकारी हुए । ये भी एक बहुत बड़े संत हुए । इस प्रकार से रास्तें में बहुत से सूफी साधकों से मिलते हुए तथा बहुत से सूफी साधकों के मक्बरों का दर्शन करते हुए मुईनुद्दीन सब्जवार पहुंचे ।

जहाँ से वे यात्रा करते हुए लाहौर पहुंचे । प्रत्येक स्थान पर वहां केप्रसिद्ध सूफियों के मज़ार पर कई-कई वर्ष तक इबादत में लगे रहते थे । जहां कही भी अधिक प्रसिद्धि प्राप्त होने लगती और उनकी इबादत एवं ध्यान में बाधा पड़ने लगती, वे उस स्थान से दूसरे स्थान को चले जाते । लाहौर में हुज्वेरी दात गंज बक्श के मज़ार पर भी तपस्या की ।

सियारूल औलिया के अनुसार तरायन की दूसरी लड़ाई के पूर्व शेख मुईनुद्दीन चिश्ती, अजमेर (राजस्थान) पहुंचे, उनके प्रगाढ़ मोनववाद तथा कठोर तपस्या ने उनके चारों ओर निष्ठावान अनुयायियों का एक समुदाय एकत्रित कर दिया । अल्प समय के अन्दर उनकी ख्याति, शिक्षा तथा दीक्षा राजपूताना में ही नहीं परन्तु पूरे देश में फैल गई ।

ख्वाजा साहब ने ईश्वर को पहचानने का मूल मंत्र यह बताया कि साधक प्राणीजनों से सम्बन्ध तोड़ डाले और ईश्वर का जो ज्ञान प्राप्त करें उसे अपने ही तक सीमित रखे । तौहीद के क्षेत्र में प्रेमी, प्रेम तथा में कोई भेद-भाव नहीं किया जा सकता । हाजी लोग काबे की परिक्रमा करते हैं किन्तु साधक हृदय की ।

ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती हमेशा दरिद्र, पीड़ित व भूखों की सहायता के लिए अपने शिष्टों को उपदेश दिया करते थे । उनका कहना था "जे नदी के समान दानी, सूर्य के समान दयालु एवं भूमि के समान नम्र है वही अल्लाह का मित्र है ।

इनके वंशजो में शेख फखरूद्दीन का नाम उल्लेखनीय है । जो सरवाड़ में आराम फरमा रहे है । शेख हिसामुद्दीन सोख्ता भी उनके वंशजों में से थे जो सांभर नामक शहर के लोगो के आध्यत्मिक ज्ञान का स्रोत है उनकी एक पुत्री बीबी हाफिज जमाल भी अत्यधिक पहुँची हुई महिला थी दो भी ख्वाजा साहब की मुरीद एवं खलीफा थी उसका मजार भी खाजा साहब की मजार के पास है जो सभी धर्मो के लोगो की रूहानी आवशयकताओं को पूरा करता है ।

11.6.2 सूफी हमीदुद्दीन नागौरी

नागौर राज्य में चिश्ती सिलसिला के संस्थापक शेख हमीदुद्दीन सूफी सजाती थे । शेख हमीदुद्दीन सूफी, ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी के प्रमुख शिष्यों (मुरीदो) में से एक थे । ख्वाजा साहब ने चिश्ती शाखा तथा इस्लाम धर्म के प्रचार हेतु शेख हमीदुद्दीन को नागौर में नियुक्त किया ।

इस प्रकार से राजस्थान में चिश्ती शाखा तथा इस्लाम धर्म के प्रचार का द्वितीय प्रमुख केन्द्र नागौर बन गया । इसका श्रेय शेख हमीदुद्दीन सूफी नागौरी को ही था । शेख हमीदुद्दीन नागौरी अपने शिष्यों की गोष्ठी में कभी भी सांसारिक वार्तालाप नहीं करते थे और न किसी को करने देते थे । एक दिन जब वे अजमेर में अपने आध्यात्मिक गुरू खाजा मुईनुद्दीन चिश्ती अजमेरी की सेवा में उपस्थित थे तो ख्वाजा ने प्रसन्न होकर अपने मुरीदों (शिष्यो) से कहा कि, "जिसे जो मांगना हो, मांग ले क्योंकि ईश्वर की स्वीकारता (कुबूलियत) के द्वार खुले हुये हैं । वह उसे अवश्य पूरा करेगा ।" इस पर शेख हमीदुद्दीन नागौरी ने उत्तर दिया कि, "खाकसार (दास) की कोई इच्छा नहीं है । मेरी इच्छा तो ईश्वर की इच्छा के अन्तर्गत है । "ख्वाजा साहब यह सुनकर बहुत प्रसन्न हुए उसी दिन से शेख हमीदुद्दीन नागौरी की उपाधि "सुल्तानुत्ताग़रेकीन" (संन्यासियों का सम्राट) हो गयी ।

शेख हमीदुद्दीन नागौरी केवल एक बीघा भूमि पर ही निर्भर करते थे । यही एक बीघा भूमि शेख के जीविकोपार्जन का साधन थी । वे स्वयं एक साधारण राजस्थानी ग्रामीण कृषक की भांति जीवन व्यतीत करते थे । एक बीघा भूमि में से आधी भूमि एक ऋतु में तथा शेष दूसरी ऋतु में बोते थे । उनकी पत्नी बीबी खदीजा भी अपने समय की अत्यंत पवित्र तथा दृढ़ अध्यात्मवादी चरित्र वाली महिला थी । वह अपने पति की हर प्रकार से सेवा करती थी तथा उनके सुख-दुःख में बराबर से उनका साथ देती थीं । शेख के जीवन का पूर्ण प्रभाव उनकी धर्मपत्नी पर था । वह अपना अधिकतर समय खाना बनाने, सूत कातने तथा कपडा बुनने में व्यतीत करती थी । शेख नागौर में एक छोटे से कच्चे मकान में रहते थे । इस मकान के अवशेष मोहल्ला पीरजादगान में आज भी मौजूद हैं । नागौर निवासी इस खण्डहर को 'फूलमहल के नाम से पुकारते हैं । शेख अपने घर में एक गाय भी पाले हुए थे जिसका दूध वह स्वयं दुहा करते थे ।

चिश्ती शाखा के थी धन-सम्पत्ति से कोसों दूर भागते थे और वे इसे सर्प की भांति खतरनाक समझते थे । इसलिये वे न तो किसी के धन को स्वीकार करते थे और न ही राजकीय सेयाओं को । चूंकि शेख हमीदुद्दीन नागौरी इसी शाखा के अनुयायी थे अतएव वे इस नियम का कठोरता से पालन करते थे ।

सुल्तान शम्सुद्दीन इल्तुतमिश शेख हमीदुद्दीन नागौरी में अत्यधिक भक्तिभाव रखता था । शेख के द्वारा सुल्तान के भेजे हुए उपहार को न स्वीकार करने पर सुजान ने शेख की भक्ति स्वरूप शेख हमीदुद्दीन नागौरी के जीवनकाल में ही उनकी खानकाह के मुख्य द्वार पर 1230 ई. में एक बुलन्द दरवाजे का निर्माण करवाया और उसका नाम सुल्तानन्नुत्तारेकीन के नाम पर अतारीकन का दरवाजा रखा । यह दरवाजा आज भी अपने उक्त नाम से देश-विदेश में प्रसिद्ध है तथा अपनी सुन्दरता में अद्वितीय है ।

शेख हमीदुद्दीन नागौरी के पार्थिव शरीर को नागौर में स्थित उन्हीं की खानकाह (मठ) में दफनाया गया जो आज भी हिन्दू मुस्लिम तथा अन्य धर्मो के असंख्य लोगों का आश्रय स्थल है

11.6.3 शेख फरीदुद्दीन महमूद

शेख हमीदुद्दीन नागौरी की मृत्यु के उपरान्त अहमद सईद सूफी उर्फ शेख वहीदुद्दीन मुहम्मद सईद सूफी उर्फ शेख फरीदुद्दीन महमूद तथा इब्राहीम सईद सूफी उर्फ शेख नजीबुद्दीन नामक उनके तीनों पौत्रों ने भी, जो कि उनके स्वर्गीय ज्येष्ठ पुत्र शेख अजीजुद्दीन के पुत्र थे, चिश्ती शाखा के सिद्धान्तों तथा इस्लाम धर्म का प्रचार पूर्व की भांति नागौर तथा उसके निकटवर्ती स्थानों में पूर्ण रूप से प्रचलित रखा । चूंकि शेख अज़ीजुद्दीन का स्वर्गवास उनके पिता शेख हमीदुद्दीन नागौरी के जीवनकाल में ही हो गया था और शेख हमीदुद्दीन नागौरी की मृत्यु के उपरान्त उनका कोई अन्य पुत्र जीवित न था, इसलिये शेख अज़ीजुद्दीन के द्वितीय पुत्र तथा शेख हमीदुद्दीन नागौरी के पौत्र मुहम्मद सईद सूफी उर्फ शेख फरीदुद्दीन महमूद, शेख हमीदुद्दीन न्नौगौरी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी हुए ।

आपने अपने शेख हमीदुद्दीन नागौरी के मलफुजात (वर्णियों को) संगृहीत किया जो सकर उस सुदूर के नाम से मशहूर है ।

11.6.4 ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी

चिश्ती सम्प्रदाय के सन्तों में ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी का भी नाम उल्लेखनीय है । वे सुल्तान सिकन्दर लोदी (ई. सन् 1489 - ई. सन् 1500) के समकालीन थे । वे शेख निजामुद्दीन के पौत्र तथा शेख खालिद के पुत्र थे । उनका पूरा नाम कमालुद्दीन हुसैन था किन्तु दे ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी के नाम से ही अधिक विख्यात थे । दे अपने समय के बहुत बड़े विद्वान, सूफी और शेख हमीदुद्दीन नागौरी के आध्यात्मिक उत्तराधिकारी थे । वे संसार वालों से समझ नहीं रखते थे । उन्होंने नागौर में पैगम्बर मोहम्मद साहब के नाम पर कुरआन की के तीस ग्रन्थ तैयार किये और उनका नाम 'नूरून्नबी' रखा । यही नहीं, उन्होंने जनसाधारण के लाभ के लिए नागौर में 'रसूल बाड़ी' नामक एक उद्यान तथा 'मुस्तफा सागर' नामक एक हौज का भी निर्माण करवाया था ।

ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी ने अफ्ने पीर आध्यात्मिक तथा अपने निकटवर्ती सम्बन्धी शेख क्बीरुद्दीन से, जो कि शेख हमीदुद्दीन नागौरी के पौत्र तथा शेख अजीजुद्दीन के द्वितीय पुत्र शेख फरीदुद्दीन महमूद के प्रपौत्र थे, गुजरात में शिक्षा पायी थी । किन्तु उन्होंने अपना अधिकतर जीवन-काल अजमेर तथा नागौर में ही व्यतीत किया था ।

वाकियात-ए-मुश्ताकी के अनुसार खाजा हुसैन नागौरी मान्डू गये एवं सुल्तान गयासउद्दीन खलजी से भेंट की । जब खाजा मखदूम हुसैन नागौरी नागौर के लिए विदा हुए तो मालवा के सुल्तान

गयासुद्दीन खलजी ने उन्हें उपहार स्वरूप बहुत सा धन प्रस्तुत किया ।ख्वाजा ने पहले तो इसे सवैकार करने से साफ इन्कार कर दिया, किन्तु फिर बाद में उन्होंने अपने पुत्र के अनुनय पर इसे अजमेर में ख्वाजा शेख मुईनुद्दीन चिश्ती तथा नागौर में शेख हमीदुद्दीन नागौरी की समाधियों पर इमारत बनवाने में व्यव करने की शर्त पर स्वीकार कर लिया । अजमेर ने खाजा मुईनद्दीन चिश्ती की समाधि पर गुम्बद तथा नागौर में शेख सूफी हमीदुद्दीन नागौरी की समाधि की चहारदीवारी आप ही की बनवाई हुई है ।

ख्वाजा मखदूम हुसैन नागौरी ने अपने पूर्वज शेख हमीदुद्दीन नागौरी द्वारा नागौर में स्थापित चिश्ती सूफी शाखा के द्वितीय प्रमुख केन्द्र तथा उसके द्वारा चिश्ती शाखा के सिद्धान्तों एवं इस्लाम धर्म के प्रचार तथा प्रसार को पूर्व की भांति अपने समय में भी पूर्ण रूप से प्रचलित रखा और उसमें किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं होने दिया । उनके समय में भी नागौर पूर्व काल की भांति चिश्ती सूफी शाखा का द्वितीय प्रमुख केन्द्र बना रहा ।

इसके अतिरिक्त शेख हमीदुद्दीन नागौरी के वंशजों में आगे चलकर शाह गुलाम इमान उर्फ शेल मानु गुलाम मुईनुद्दीन उर्फ चांदशाह जी शेख अब्दुल कादिर जैसे प्रसिद्ध सूफी हुए । इन लोगों ने भी अपने पूर्वजों द्वारा स्थापित चिश्ती सूफि शाखा की परम्परा को राजस्थान के विभिन्न भणों में निरन्तर बनाये रखा ।

शेख् अब्दुल कादिर मुगुल सम्राट अकबर के समकालीन थे । मुगल सम्राट अकबर उनके प्रति अत्यधिक भक्ति भाव रखता था । उसने 9 रजब हि. सन् 988, (1580 ई) के अपने एक फरमान द्वारा राजस्थान में स्थित झुंझुनू के दक्षिण में तीन कोस पर स्थित मौजा बाकरा आप को प्रदान किया. । आपके शेख अब्दुल मजीद तथा शेख कमालुद्दीन नामक दो अत्यधिक विद्वान पुत्र थे । शेख अब्दुल मजीद की सन्तान नागौर में है और वे फूल महल वाले कहलाते हैं जब कि शेख कमालुद्दीन की सन्तान झुंझुनू सीकर तथा फतेहपुर में आबाद है । शेखुल मशाइख हजरत इमाम-ए-अली तथा शाह-ए-विलायत हाजी नजमुद्दीन फतेहपुरी आदि आप ही की सन्तान में से है ।

शाह गुलाम इमाम उर्फ शेख मानू का स्वर्गवास 14 जिलहज हि. सन् 1208, (1793 ई.) में हुआ था । इनकी मज़ारे मुबारक (समाधि) कस्बा सिंधाना में है जबकि गुलाम मोईनुद्दीन उर्फ बादशाह जी की समाधि पाली में है । इस प्रकार से हम देखते हैं कि सुल्तानुत्तारेकीन ख्वाजा शेख हमीदुद्दीन नागौरी के द्वारा नागौर में स्थापित चिश्ती सूफी शाखा के द्वितीय प्रमुख केन्द्र तथा उसके द्वारा चिश्ती सूफी शाखा के सिद्धान्तों एवं इस्लाम धर्म के प्रचार एवं प्रसार का कार्य उनके उपरान्त कालान्तर में सल्तनत तथा मुगल काल एवं उसके उपरान्त भी उनके पौत्रों, प्रपौत्रों, वंशजों, अनुयायियों तथा मुरीदों (शिष्यों) के द्वारा नागौर ही में नहीं बल्कि नागौर तथा राजस्थान के विभिन्न निकटवर्ती क्षेत्रों में भी पूर्व की भांति पूर्ण रूप से निरन्तर प्रचलित रहा और जिसके अवशेष जिला नागौर तथा राजस्थान के विभिन्न स्थानों पर उनके वंशजों, उनकी समाधियों, मकबरों, खानकाओ अथवा मठों के रूप में आज भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं ।

शेख हमीदुद्दीन नागौरी का विचार था कि सूफी न केवल मानव जाति के हित में कार्य करें परन्तु पशु-पक्षी से भी प्रेम करना चाहिए । वे जीव, हत्या का घोर विरोध करते थे एवं पक्के शाकाहारी व्यक्ति थे । सुरूर उस सुदुर के अनुसार शेख हमीदुद्दीन को मांस के प्रयोग से इतनी घृणा थी कि मृत्यु के बाद आपकी आता की शांति के लिए भोजन वितरित करते समय मांस से बना किसी तरह का भी

भोजन का इस्तेमाल न करने की न केवल अपने संतानों को बल्कि अपने शिष्यों को भी यही चेतावनी दी थी ।

शेख हमीदुद्दीन नागौरी का जीव-जन्तु से इतना प्रेम था कि एक बार वे जंगल में तपस्या में लीन थे । जर घर लौटे तो उनके कपडे में एक चींटी लिपटी हुई घर आ गई शेख को जब पता चला तो वे जंगल में उसी स्थान पर पहुंचे जहां तपस्या में लीन थे और उस चींटी को उसी स्थान पर छोडा।

शेख हमीदुद्दीन सूफी नागौरी से प्रभावित होकर नागौर के 'मुक्ता' ने उन्हें कुछ भूमि और नकद धन देना चाहा । शेख ने क्षमा याचना करते हुए उसे अस्वीकार कर दिया । तब उस मुक्ता - ने इसकी सूचना सुल्तान इल्तुतमिश को दी जिसने 500 चांदी के टंके तथा एक गांव दिये जाने का 'फरमान' उसके पास भेजा । शेख ने अपनी पत्नी को इसकी सूचना दी । उस समय उनकी पत्नी एक फटा हुआ दुपटटा अपने सर पर डाले थी और शेख एक अत्यंत जीर्ण शीर्ण लंगोटी पहने थे । उनकी पली ने उत्तर दिया । खाजा क्या आप अपने वर्षा के आध्यात्मिक प्रयत्न और तपस्या का यह उपहार प्राप्त कर अपमान करना चाहते हैं । आप चिंता न करें, मैंने दो सेर सूत काता है । वह आपके लिए एक लंगोटी और मेरे लिए एक दुपटटा तैयार करने के लिए पर्याप्त है । यह सुन कर शेख हमीदुद्दीन बहुत प्रसन्न हुए और 'मुक्ता' से कहा कि उन्होंने शाही उपहार अस्वीकार करने का निश्चय कर लिया है ।

सूफी हमीदुद्दीन नागौरी के परिवार में बात-चीत हिन्दी भाषा में होती थी । 'माँ' को 'माई' और 'भाई' को भाई कह कर सम्बोधित किया जाता था ।

शेख साहब अपनी पुस्तिका तथा पत्रों में हिन्दी के दोहे लिखा करते थे, जैसे-

ओखदि भोजन धनि गई, ओउ भई विरहीन
ओजदि देख न जानई, नारि न चेते तीन

एक पत्र में यह दोहा लिखते है

आपकार-आपकार समा कोउ करे
रोगिन कैसे जोगिन करें
बिरले चीन जो रोगिन गई
जोगिन करीगुन गई को दोस
अचान रसायन संबरे रंग
जो मारे ओस ।

11.6.5 शेख बुरहान चिश्ती

शेखबुरहान चिश्ती का आदि स्थान कहां था और वे किस सन् संवत में देश के इस भाग में आये, यह जानने के लिए अभी तक कुछ भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुए हैं । राजस्थान इतिहास के यशस्वी लेखक जेम्स टॉड का अनुमान है कि तैमूर के आक्रमण (सं0 1455 वि0) के कुछ पश्चात् यह दरवेश देश के इस भाग में युद्धप्रिय किन्तु धर्मसीहणु राजपूतों में इस्लाम का प्रचार करने आया हो जहां उसे अपने कार्य में सफलता मिलने पर भी संरक्षण और आतिथ्य तो मिल ही सकता था ।

श्री मेकडोनॉल्ड ने अपनी कृति (Aspects of Islam) में लिखा है कि "इस्लाम के प्रचार के लिए नीतिज्ञ दरवेश प्रान्तीय प्रदेशों में जाते, अपनी सदभावना तथा प्रेम प्रदर्शित करते, नीतियुक्त उपदेशों से लोगों को प्रभावित करते, दुआ देते और उन्हें अपना श्रद्धालु भक्त बना लेते थे । खुद वही

स्थान बनाकर रहते और शनैः शनै अपने दूसरे अनुयायियों को वहां ला कर बसाते और इस प्रकार अपने आस-पास एक संगठन खड़ा कर लेते थे ।' श्री मेकडोनॉल्ड का उपर्युक्त कथन महात्मा शेखबुरहान चिश्ती के कार्य कलापों का अवलोकन करने पर बिल्कुल सही बैठता है । हिन्दुओं से भरे प्रदेश में दे आये और अपने प्रेम, उदारता और नीतियुक्त उपदेशों से उन्हें प्रभावित किया । उन्हें आशीर्वाद और दुआयें दी, उनके हित-चिन्तन की कामना की और उन्हीं के बीच रहने लगे । अन्त में अपने अनुयायी पन्नी पठानों को रोह से बुलाकर वहीं अपने आस-पास बसा कर एक संगठन खडा कर लिया ।

चिश्ती पक्ष के भारत में आने वाले सबसे पहले सूफी खवाजा मुईनुद्दीन चिश्ती थे । शहाबुद्दीन गौरी के अन्तिम आक्रमण (सं0 1249 वि0) के समय में वे भारत आये और अजमेर में स्थाई निवास बना कर रहने लगे । उनके बाद में आने वाले चिश्ती फकीरों में अधिकांश फकीर ख्वाजा साहब की शिष्य परम्परा में थे । इसलिए शेखबुरहान चिश्ती के लिए भी यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वे ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती की शिष्ट परम्परा में रहे हों, किन्तु रोह के अफगानों में उनके प्रति श्रद्धा और भक्ति को देखते हुए ऐसा लगता है कि वे शिबी और हसन अब्दाल के बीच में फैले रोह परगने के किसी गांव के निवासी थे और प्रारम्भ में रोह के उन पठानों के बीच में रहकर ही उन्होंने तपस्या की थी।

महात्मा शेखबुरहान बहुत लम्बे समय तक नाँण में अरडकी के तकिये (मठ) में रहे । तत्पश्चात दे ताला घोला चले गये । ताला घोला नाँण अमरसर में 14 मील पूर्व में हैं ।

शेखबुरहान के अन्य कार्यो और उनकी शिष्य परम्परा के सम्बन्ध में अधिक जानकारी नहीं मिलती । उनके एक शिष्य कुतबन के विषय में यह जाना जाता है कि वह शेरशाह सूर के पिता हसन खां सूर का आश्रित था और उसका समय सं0 1550 वि0 के लगभग था ।

ताला घोला में शेखबुरहान की दरगाह है । वहां पर उनके खादिम (सेवक) सैंकड़ों की संख्या में बसते हैं और दे अपने को शेखबुरहान के वंशज बतलाते हैं । जागीरदारी प्रथा की समाप्ति से पूर्व उनसे काश्त की जमीनों का लगान नहीं लिया जाता था ।

ताला घोला में शेख की दरगाह के खादिम यदि शेखबुरहान के वंशज हैं तो यह मानना पडेगा कि महात्मा शेखबुरहान विवाहित थे । शेखबुरहान सर्व प्रथम देश के इस भाग में आये तब वे एकाकी थे । रमते हुए फकीर थे । पानी पीने के पात्र के सिवाय उनके पास कुछ नहीं था । यदि उन्होंने शादी की हैं तो वह समय उनकी वृद्धावस्था का होना चाहिए, जबकि रोह से आने वाले पठानों के अनेक कबीले यहा बस चुके थे । सम्भव है किसी उनके भक्त अफगान नें उन्हें कन्या अर्पित की हो । प्रसिद्ध मुस्लिम संत ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने भी अजमेर में स्थाई निवास करने के पश्चात वृद्धावस्था में दो विवाह किये थे, जिनमें दूसरा विवाह तो उन्होंने 90 वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु से सात वर्ष पूर्व किया था।

11.7 मदारी सिलसिला

कहा जाता है कि जब शाहबदीउद्दीन भारतवर्ष में आये तो व पहले पहल अजमेर गये । वहां उन्हें ख्वाजा मुईनुद्दीन की आत्मा ने उनके भविष्य के कार्यक्रम से परिचित कराया । अजमेर से वे मकनपुर चले गये । मकनपुर, कानपुर से 40 मील की दूरी पर है । कहते हैं कि सन् 1485 ई0 में इनकी मृत्यु वहीं पर हुई । लेकिन उनके जन्म और मृत्यु की तिथि के सबन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी कहना कठिन है । संतों के अनुयायियों की यह प्रवृत्ति रहीं है कि उनकी शक्ति और विशिष्टिता को बढा-चढ़ाकर बताने के लिए नाना प्रकार के चमत्कारों की कहानियां गढ़ लेते हैं और उनकी उम्र को

अधिक से अधिक बढ़ाकर बताने की चेष्टा करते हैं । अतएव इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से किसी बात को मान लेना कठिन है ।

कहते हैं कि मदार शाह अविवाहित थे और स्त्रियों के सम्पर्क में नहीं आये थे । वे काले वस्त्र का व्यवहार करते थे । उनके मकबरे पर हिन्दू मुसलमान सभी तीर्थ यात्रा करने जाते हैं । स्त्रियां वहाँ नहीं जाती । लोगों का कहना है कि अगर वे वहाँ चली जाये तो उन्हें असहयय पीड़ा होती है । लगता है जैसे वे आग की लपट के बीच में हों । उनके नाम पर लोग बच्चों के गले में सोने, चांदी की बद्धी पहनाते हैं । लोग उनके जन्म दिवस पर आटे की बनी हुई चीजें, मांस तथा अन्य खाने की चीजें चढ़ाते हैं, कुछ लोग उनके नाम पर आग में चलते हैं । इसको 'धम्माल कूदना' कहते हैं । 'धम्माल' का मतलब 'पुण्य-स्थान' है । उस अवसर पर खूब अधिक आग जलाकर मदारी फकीरों को बुलाते हैं । दल का नेता ओर अन्य फकीर फातिहा पढ़ते हैं, इसके बाद चन्दन की लकड़ी आग में डालते हैं । पहले, दल का नेता आग में कूदता है इसके बाद और दूसरे फकीर । उस समय वे 'दम-मदार'- 'दम-मदार' कहते रहते हैं । उनका विश्वास है कि वैसा कहने से उन्हें कुछ भी नहीं होगा । सांप के काटने और बिच्छू के डंक मारने पर भी वे हम-मदार कहते हैं और उनका बिश्वास है कि उससे विष का असर नहीं रहेगा । आग से जब वे निकलते हैं तब उनके पैर को दूध और बाद में पानी से धोते हैं और कहा जाता है कि उनके पैरों में किसी प्रकार का घाव नहीं होता ।

11.8 रसूल सिलसिला

रसूलशाही सम्प्रदाय के जन्मदाता रसूलशाह नामक एक संत थे, जो अलवर के पास बहादुरपुर कस्बे के थे । इनके संत होने की कहानी बड़ी विचित्र है । इस सम्प्रदाय के फकीरों का कहना है कि औरंगजेब के तुरन्त बाद के उत्तराधिकारियों के समय में नियामतुल्ला नामक एक धनी जौहरी था जो अलवर से 20 मील दूर बहादुरपुर का रहनेवाला था । एक बार वह अपने व्यवसाय के सिलसिले में मिल गया और वहाँ पर दाउद नामक एक संत से मिलने गया । उनकी ख्याति वह पहले ही सुन चुका था । दाऊद शराब पीते थे और उनका आचरण लोगों की दृष्टि में बहुत निक्रृष्ट दर्ज का था । जब नियामतुल्ला उसके पास गया तब उन्होंने उसे शराब पीने के लिए दी । संत के समान के लिए वह उसे पी गया लेकिन पीने के साथ ही जैसे उसका कायापलट हो गया । उसे ईश्वरीय ज्ञान हो गया और सब कुछ का त्यागकर वह फकीर हो गया और दाऊद की सेश में रह गया । एक दिन दाऊद ने नियामतुल्ला से कहा कि उस (दाऊद) की मृत्यु का समय आ गया लेकिन उसकी आता नियामतुल्ला के भीतर प्रदेश कर जायेगी । दाऊद ने यह भी कहा कि उसकी मृत्यु के पश्चात नियामतुल्ला अलवर चला जाये, वहां उसे सईद रसूल शाह मिलेगा । रसूलशाह को शिष्य बनाकर आध्यात्मिक ज्ञान बताने के लिए भी दाऊद ने कहा । यह सभी कह लेने के बाद ही दाऊद की मृत्यु हो गयी और नियामतुल्ला अलवर चला आया । दाऊद ने बतलाया था कि रसूलशाह एक नये सम्प्रदाय का प्रवर्तक होगा ।

अलवर में आकर नियामतुल्ला ने सईद रसूलशाह को बुलवा भेजा और उसे शराब पीने के लिए दी । उसे पीने के बाद रसूलशाह का भी जीवन परिवर्तित हो गया । उसने अपना सिर मुढवा दिया, मूँछें और भौंहों को भी साफ करा दिया और नियामतुल्ला का शिष्य हो गया । कई वर्षों तक वह पीर की सेवा में रहा । एक दिन दाऊद की तरह नियामतुल्ला ने भी रसूलशाह से कहा कि उसकी मृत्यु हो

जायेगी और उसकी आत्मा रसूलशाह में प्रवेश कर जायेगी और वह (रसूलशाह) अपने नाम पर एक सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करेगा ।

रसूलशाह ने नियामतुल्ला की मृत्यु के बाद अपने नाम पर रसूलशाही सम्प्रदाय चलाया । इस सम्प्रदाय वाले सिरपर एक उजला या काला रूमाल बांधते हैं । एक कमाल में भस्म बांधे हुए रहते हैं जिसे वे अपने शरीर और चेहरे पर मलते हैं । वे अपने-सिर, अपनी मुछों, और भौंहों को मुंडाते हैं । काठ की चडडी पहनते हैं और गर्मी के दिनों में हाथ में पंखा लिये फिरते हैं । वे शराब पीना धर्म-विरूद्ध नहीं मानते । उनकी दृष्टि में नशा सेवन धार्मिक कृत्य है । पीने की इस आदत ने उन्हें सिक्स सरदारों के निकट ला दिया और कहते हैं कि रणजीत सिंह ने मद्य के लिए उन्हें दो सौ रूपये मासिक की रकम निश्चित कर दी थी । यह सम्प्रदाय अल्पसंख्यक ही है । इस सम्प्रदाय वाले ब्रह्मचर्यव्रतका पालन नहीं करते । लोगों का ख्याल है कि इस सम्प्रदाय वाले निर्धन नहीं है । वे भीख मांगते हुए नहीं देखे जाते । उनमें बड़ा से साहित्य के प्रेमी भी हैं । पंजाब में उनका खान स्थान लाहौर में एक बाजार के निकट एक इमारत हैं । रसूलशाहियों का यह वृतान्त रोज के आधार पर है जिसे जान ए0सुभान ने कहा है कि वह तहकीकातें चिश्ती नामक पुस्तक में दिये हुए उनके वृतान्त से पूरा का पूरा मिलता है । बहाउद्दीन जकरिया मुलतानी की सत्रहवीं पीढ़ी में रसूलशाह का नाम आता हैं ।

11.9 सुहारवर्दी सिलसिला

काजी हमीदुद्दीन नागौरी

नागौर राज्य में इस शाखा के सस्थापक काजी हमीदुद्दीन नागौरी थे । जिनका पूरा नाम शेख मुहम्मद इल-ए-अता था । वे शेख अताउद्दीन के पुत्र थे उनका जन्म बुखारा में हुआ और वे अपनें पिता शेख अताउद्दीन के साथ, जो कि इस्लाम धर्म के प्रथम खलीफा हज़रत अबुबक्र सिद्दीक के वंशजों में से थे, सुलतान मुइल्युद्दीन मोहम्मद बिन साम अथवा सुल्तान मुहम्मद गौरी के राज्यकाल में बुखारा से दिल्ली आये । सुल्तान मोहम्मद गौरी ने उन्हें नागौर में काजी (न्यायाधीश) बना दिया, शेख अबुल फजल के अनुसार काजी हमीदुद्दीन तीन साल तक नागौर के काजी बने रहे, अचानक उन्हें तसव्वुफ़ की ओर झुकाव हो गया वे बगदाद पहुंचकर शेख शिहाबुद्दीन सुहरावर्दी के शिष्य बने तथा खिलाफत पाकर देहली आ गये।

काजी हमीदुद्दीन नागौरी एक महान विद्वान थे । वे समा सुना करते थे और उसी में लीन रहते थे । उन्होंने नागौर को अपनी सुहरावर्दिया सूफी शाखा का केन्द्र बनाया और वही से अपने सूफी सिद्धान्तों को सम्पूर्ण राजस्थान में फैलाना आरम्भ किया ।

नागौर के मुख्य-न्यायाधीश (काजी) के पद पर रहकर के काजी हमीदुद्दीन नागौरी ने नागौर में इस्लाम धर्म का प्रचार किया और अपने सुहरावर्दिया सूफी शाखा के सिद्वान्तों का वहां तथा उसके निकटवर्ती क्षेत्रों में प्रचार किया । अनन्तर अपने आश्रयदाता तथा संरक्षक सुलान शम्मुद्दीन इल्तुतमिश की मृत्यु के उपरान्त वे दिल्ली लौट आये और अपने घनिष्ठ मित्र खाजा कुतुबुद्दीन बख्तियार काकी की खानकह (मत) में रहने लगे । परन्तु कुछ वर्षा के पश्चात रविवार की रात्रि में रमज़ान की पांचवीं तिथि हि.स. 644, 9 नवम्बर 1246 ई. को वे परलोक सिधार गए । उन्हें दिल्ली में ही कुतुबुद्दीन बख्तियार की मजार के पास दफनाया गया ।

काजी हमीदुद्दीन नागौरी के उपरान्त, उनके वंशजों तथा अनुयायियों ने नागौर में सुहरवर्दीया सूफी शाखा के सिद्धान्तों को प्रचलित रखा । सुप्रसिद्ध विद्वान प्रो. खलीक अहमद निजामी के ग्रन्थ

'सम आस्पेक्ट्स ऑव रीलिजन एन्ड पालिटिक्स इन इन्दिया डयुरिंग दी थर्टीन्ध सेंचुरी' से ज्ञात होता है कि काजी हमीदुद्दीन नागौरी के पौत्र इब्राहीम के पौत्र तथा महमूद के पुत्र, खाजा जहीरुउद्दीन ने कुरान के एक भाग 'सुरे-वद-दुहा की टीका एवं व्याख्या 'मिसबाह-उल-आशिकीन' शीर्षक के अंतर्गत की थी ।

आज भी नागौर में स्थित मुहल्ला सुहरावर्दिया तथा जिला नागौर में स्थित रोहेल काजियान नामक गांव में, जो कि नागौर नगर से लगभग 19 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है, सुहरावर्दिया सूफी शाखा के अधिकांश अनुयायियों का निवास करना, तथा उक्त स्थानों के निवासियों का अपने को काजी हमीदुद्दीन नागौरी सुहरावर्दी का वंशज बताना, तथा रोहेल काजियान नामक गोंद में निवास करने वाले काजी हमीदुद्दीन नागौरी सुहरावर्दी के वंशजों के पास काजी हमीदुद्दीन नागौरी द्वारा हि.स. 561 में बगदाद से लाई हुई कुछ वस्तुओं का होना तथा मुगल सम्राट औरंगजेब के राज्यकाल के मोहर्रम हि. सं. 1098, नवम्बर-दिसम्बर 1684 ई. में हमीदुद्दीन नागौरी के वंशज़ों द्वारा एक मस्जिद का निर्माण करवाना, जैसा कि इसी मस्जिद में लगे हुए एक फारसी अभिलेख से स्पष्ट है, इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि इस प्रदेश में सुहरावर्दी सम्प्रदाय के सूफीयों का पूर्णत: प्रभाव बना रहा ।

11.10 कादिरिया सिलसिला

वर्तमान नागौर नगर के अंतर्गत नागौर राज्य में खानजादा वंश के संस्थापक शम्सखां दन्दानी के काला गुम्बद नामक मकबरे के निकट एक दरगाह आज भी वर्तमान में स्थित है जिसे नागौर के लोग 'बडे पीर साहब (हजरत अब्दुल कादिर जीलानी) की दरगाह कहते हैं । इस दरगाह में एक मजार (समाधि) है जिसके विषय में नागौर निवासियों का कथन है कि यह हजरत अबुल कादिर जीलानी (बडे पीर साहब) के ज्येष्ठ पुत्र हजरत शेख सैयद अब्दुल बहाव की समाधि है । नागौर निवासियों का यह उक्त कथन कहां तक सत्य है, इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है ।

यह सत्य है कि बड़े पीर साहब की दरगाह अथवा खानकाह का निर्माण नागौर के खानजादा वंश के शासक सलाह खां के पुत्र खान-ए-आजम मजलिस-ए-आली फीरोज खां द्वितीय ई. सन 1470 के शासन काल के हि.स. 885 ई. सन 1480-81 में हुआ था जैसा कि बडे पीर साहब की दरगाह अथवा खानकाह से ही प्राप्त एक फारसी अभिलेख से स्पष्ट है ।

11.11 मगरिबी सिलसिला

राजस्थान में इस सिलसिला के संस्थापक बाबा शेख इलाकु मगरिबी थे जो पाश्चात्य अथवा अफ्रीकी सम्प्रदाय से संबन्धित थे और पूर्व मध्यकाल में किसी समय खादू (खत्तू) में आकर बस गए थे ।

बाबा शेख इस्हाक मगरिबी अपने समय के एक प्रख्यात धर्मज्ञानी थे । उन्होंने नवशिष्यों को मगरिबी सिलसिले (शाखा) के धर्म-सिद्धन्तों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया जो इन नव-शिष्यों में से शेख अहमद खादू (खत्तू) ने मगरिबी सिलसिले के धर्म सिद्धन्तों की शिक्षा में ऐसी विशेष योग्यता प्राप्त की, कि उन्हें बाबा शेख इशहाक मगरिबी ने 'दीपक अथवा प्रकाश' की उपाधि प्रदान की । उनकी बढ़ती हुई अत्यधिक विद्वत्ता तथा धार्मिकता के कारण कालान्तर में उन्हें 'कुतुब-उल-अक्ताब' अर्थात 'ध्रुवतारों का ध्रुक्तारों की उपाधि भी दी गयी ।

शेख अहमद खाटू (खत्तू) का पारिवारिक उपनाम गंजबक्श था और उन्हें खाटू (खत्तू) इसलिए कहते थे कि खाटू (खत्तू) उनके आध्यात्मिक निर्देशक अथवा पीर बाबा शेख इशहाक मगरिबी का निवास स्थान था । अब्दुल फजल अल्लामी के अनुसार शेख अहमद खाटू (खत्तू) का जन्म हि. सन् 737, 1336 ई0 में दिल्ली में उस समय के एक कुलीन परिवार में हुआ था । उनका नाम नासिरूददीन था और वह बाबा इसहाक मगरिबी के मुरीद (शिष्य) थे ।

शेख अहमद खाटू (खत्ते) ने अपने पीर बाबा शेख इशहक मगरिबी के स्वर्गवास के उपरान्त इस्लाम के धार्मिक स्थलों के दर्शनार्थ उनकी तीर्थयात्रा करने का निश्चय किया । तीर्थ यात्रा करने के पश्चात वह गुजरात के शासक सुल्तान अहमदशाह प्रथम (ई. उन 1411 ई. सन 1442) के राज्यकाल में गुजरात चले गये और वहां अहमदाबाद के निकट सरखेज नामक स्थान पर स्थायी रूप से बस गये, वहीं उनका देहान्त हुआ । कहा जाता है कि सुल्तान अहमद शाह ने जब अहमदाबाद नगर की बुनियाद डाली उस वक्त चार अमहद नामक व्यक्ति, जिनमें सुल्तान स्वंय एवं शेख अहमद खट्टू शामिल थे। शेल अहमद खाटू(खत्ते) को सरखेज में ही दफनाया गया । उनके मकबरे का निर्माण गुजरात के शासक सुल्तान अहमदशाह प्रथम के पुत्र सुल्तान मोहम्मदशाह प्रथम ने करवाना प्रारम्भ किया और जिसे उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी सुजान कुतुबुद्दीन अहमदशाह ने अपने समय में पूर्ण किया के अनुयायी पूर्वत: अपने सिद्धान्त व मत का प्रचार करते रहे और उनकी गतिविधियां मुगल साम्राज्य के अन्त तक चलती रही ।

11.12 संदर्भ ग्रंथ

1. सम आस्पेक्टस ऑफ रिलिजन एण्ड पॉलीटिक्स इन इण्डिया डयुरिग द थर्टीन्ध सेंच्युरी – प्रोफेसर के0ए0ई निजामी
2. काजी हमीदुद्दीन नागौरी-दी फर्स्ट चीफ जस्टिस ऑफ नागौर इन अर्लिमेडिएवल इण्डिया (इस्लामिक कल्चर, भाग-53, नं.-4, अक्टूबर 1979) – एम.एचसि.द्दीकी
3. आफताबनागौर-ए- – पीरजादा एम0ए फारुकी0
4. ए कॉम्परीहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ इण्डिया,भाग5- – मोहम्मद हबीब एण्ड के0एनि0ज़ामी
5. वाकियात(.अनु) मुश्ताकी-ए- – रिजी अथर अबास
6. मध्यकालीन नागौर का इतिहास, जोधपुर – मौहम्मद हलीम सिद्दीकी

इकाई 12

राजस्थान में ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना-सन् 1817-18 ई. की संधियां, कारण,धाराएं तथा प्रभाव

(Establishment of British Paramountcy in Rajasthan-Treaties of 1817-18 causes, terms and impact)

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 राजस्थान में सन 1817-18 से पूर्व की परिस्थितियां

12.3 राज्यों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच हुई संधियों के कारण

12.4 संधियों की मुख्य धाराएं (शर्ते)

12.5 संधियों के प्रभाव

12.6 ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना

12.7 सारांश

12.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

12.9 संदर्भ ग्रन्थ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि -

- अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध एवं उन्नीसवीं सदी की शुरुआत में राजस्थान में राजनीतिक परिस्थितियां क्या थी जिनके कारण राज्यों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच संधियों की आवश्यकता हुई ?
- इन राज्यों से संधियों कब हुई तथा संधियों की मुख्य धाराएं (शर्ते) क्या थीं जो लगभग सभी राज्यों के लिए समान थीं तथा विशेष धाराओं का क्या प्रयोजन था ?
- राज्यों पर संधियों के वित्तीय, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में तत्काल एवं दूरगामी प्रभाव क्या हुए तथा ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना किस प्रकार हुई?
- ब्रिटिश प्रभुसत्ता किन मूल तत्वों पर आधारित थी ?

12.1 प्रस्तावना

राजपूताना के इतिहास में वर्ष 1817-18 ई. को एक विभाजन रेखा के रूप में देखा जाता है । इससे पूर्व के कुछ वर्षो को अंतर्राज्यीय युद्धों तथा पिंडारियों, मराठों और अमीरखा के अतिक्रमणों और आक्रमणों से उत्पन्न स्थिति से क्षेत्र में व्यापत अराजकता एवं असुरक्षा के कारण 'जंगल राज' की संज्ञा दी जा सकती है । उक्त वर्ष के बाद का काल रियासतों के लिए शान्ति एवं सुरक्षा प्रदान करने वाला माना जा सकता है, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने संधियों की ईमानदारी से पालना करने की अपेक्षा अपनी शक्ति के बल पर उनके उल्लंघन में अधिक तत्परता तथा रूचि दिखाई और राज्यों के आंतरिक मामलों में 'ब्रिटिश प्रभुसत्ता' के नए शब्दजाल के अंतर्गत उनका हस्तक्षेप बढ़ता ही गया । इसे रियासतों के शासकों की अदूरदर्शिता कहें अथवा अंग्रेजी सरकार की चतुराई और उनकी साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति, जिससे रियासतें संधियों के भंवरजाल में फंसकर न केवल अपनी स्वायत्तता से हाथ वो बैठीं बल्कि 'ब्रिटिश प्रभुसत्ता' के मकड़जाल में फंसकर उसके बाहर तो नहीं निकल सकी परन्तु उस प्रयास में अपना अस्तित्व सदैव के लिए जरूर खो दिया ।

12.2 राजस्थान में सन 1817-18 से पूर्व की परिस्थितियां

अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में मुगल सत्ता के निरन्तर कमजोर होने से मराठों का उत्कर्ष होता गया और वे न केवल उत्तरी भारत में प्रमुख घटनाओं में निर्णायक भूमिका निभाने लगे बल्कि धीरे-धीरे मुगल सम्राट शाह आलम - 2, जिसके दरबार में महादाजी सिंधिया ने सन् 1784 में वकील-ए-मुतलक (रीजेंट) के रूप में अपनी पुख्ता पैठ जमा ली थी, के भाग्य का फैसला करने की स्थिति में थे । सिंधिया तथा उसके फ्रांसिसी सेनानायकों की मुगल दरबार में स्थिति मजबूत होने से ब्रिटिश सरकार को भारत में उनसे खतरा पैदा होने का अंदेशा निर्मूल नहीं था, विशेषकर तब जबकि यूरोप में नेपोलियन का वर्चस्व लगातार बढ रहा था । लॉर्ड बेलेजली जो 1798 ई. में भारत का गवर्नर जनरल बनकर आया, को शीघ्र ही यह आभास हो गया कि सिंधिया तथा फ्रांसिसी सेनानायकों का मुगल दरबार में बढ़ता हुआ प्रभुत्व ब्रिटिश सरकार के लिए अहितकर हो सकता है । दूसरे एंग्लो-मराठा युद्ध (1803-०5 ई) में अंग्रेजों का प्रमुख उद्देश्य मुगल बादशाह को मराठों के प्रभाव से मुक्त कराकर दिल्ली दरबार में अपना प्रभुत्व स्थापित करना था ।

मराठों का उत्तर की ओर राजपूताना की कुछ रियासतों पर लगातार अतिक्रमण, जो अंग्रेजों की दृष्टि में सामरिक रूप से महत्वपूर्ण थीं, को ब्रिटिश सरकार ने अपनी रक्षात्मक संधियों के घेरे में लाने का प्रयत्न किया । इस नीति के अनुसरण में ब्रिटिश कमाण्डर-इन-चीफ जनरल लेक को राजपूताना की विभिन्न रियासतों से संधि करने के लिए अधिकृत किया गया और भरतपुर, अलदर (माचेड़ी), जयपुर, जोधपुर, प्रतापगढ़ आदि राज्यों से संधियों की गई । एंग्लो-मराठा युद्ध में मराठों की पराजय से मुगल दरबार में फ्रांसिसी सेनानायकों का प्रभाव समाप्त हो गया तथा सितम्बर 1803 में दिल्ली में ब्रिटिश रेजिडेंसी स्थापित कर दी गई जिसमें नियुक्त ब्रिटिश रेजिडेंट मुगल दरबार में कम्पनी सरकार का प्रतिनिधित्व करने लगा । कालांतर में यह रेजिडेंट राजपूताना में स्थित राज्यों के मामलों में भी प्रतिनिधित्व करने लगा।

मराठों के विरूद्ध किए गए युद्धों के कारण बढ़ते हुए वित्तीय भार ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी के कोर्ट आफ डायरेक्टर्स का धैर्य समाप्त कर दिया और वेलेजली के स्थान पर लार्ड कॉर्नवालिस को भारत में शांति स्थापित करने के उद्देश्य से गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया । उन्होने हस्तक्षेप न करने की सामान्य नीति के अन्तर्गत पूर्व की संधियों को निरस्त कर दिया परन्तु धौलपुर (1606) भरतपुर (1805) तथा अलवर (1803,1805 एवं 1811) राज्यों के साथ हुई संधियां यथावत रखीं । उसके बाद जार्ज बालों तथा मिन्टो ने भी यही नीति अपनाई । इसके फलस्वरूप मराठों और पिंडारियों का आतंक बढ़ने लगा और राजपूताने की रियासतों की स्थिति बिगडने लगी । उदयपुर की राजकुमारी कृष्णा कुमारी का अंत राज्यों की आपसी कलह और राजनीतिक कुचक्र से ही हुआ जिसमें अमीरखा की भी भूमिका थी । इन कुचक्रों के कारण हुए आपसी युद्धों में जयपुर, जोधपुर और उदयपुर के राजकीय कोष खाली हो गए । जोधपुर के महाराजा मानसिंह ने अलग-थलग पड़ने पर अंग्रेजों से सहायता मांगी परन्तु हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण उसे निराशा ही हाथ लगी।

इसी बीच ढोकलसिंह जो जोधपुर राज्य के महाराजा के पद के लिए दावेदार बन गया था, ने जयपुर के महाराजा जगतसिंह से हाथ मिला लिए । जयपुर की सेना और अमीरखा के साथियों ने जोधपुर के दुर्ग को घेर लिया और लूटपाट मचा दी । मारवाड की यह दयनीय दशा देख ढोकलसिंह के राठौड सैनिकों ने जगतसिंह का साथ छोड़ दिया । अवसरवादी अमीरखां ने भी जगतसिंह का साथ छोड़, उसके जयपुर राज्य के इलाकों में लूटपाट करने लगा । जयपुर ने माचेडी (अलवर) के राव और दिल्ली ब्रिटिश रेजिडेंट से सहायता मांगी परन्तु असफल रहा । इन परिस्थितियों में जगतसिंह ने जोधपुर दुर्ग का घेरा उठा लिया और जयपुर आकर ब्रिटिश रेजिडेंट से रक्षात्मक संधि करने की पुन: चेष्टा की परन्तु निराश होना पड़ा ।

इसी समय बापूजी सिंधिया ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया और चालीस लाख रूपयों की मांग की । जगतसिंह ने अमीरखां और होल्कर से सहायता की पेशकश की परन्तु सफलता नहीं मिली । जगतसिंह ने एक बार फिर अंग्रेजों से मध्यस्थता एवं संधि के लिए कोशिश की परन्तु कामयाब नहीं हुआ । चारों ओर से निराश होकर जगतसिंह ने अंत में सिंधिया को रकन चुका कर उससे छुटकारा पाया और मानसिंह से मतभेद भुलाकर आपस में वैवाहिक सबक स्थापित कर लिए । अमीरखां जो इस समय मेवाड के इलाके में लूटपाट कर रहा था, जोधपुर एवं जयपुर के बीच हुई सुलह से विचलित हो गया और उसने जयपुर पर आक्रमण करने की धमकी दे दी और सन् 1811 के प्रारम्भ में जयपुर राज्य में लूटपाट शुरू कर दी । सुरक्षा का कोई उपाय नहीं होने से जगतसिंह ने अमीरखां को सत्रह लाख रूपए की रकम चुका दी और उसके अधिकारी मोहम्मद शाह खां को शेखावाटी क्षेत्र से जयपुर राज्य को मिलने वाले कर (ट्रिब्यूट) के छह लाख रूपए को अपना हिस्सा मानकर वसूल करने के लिए अधिकृत कर दिया ।

इसी समय माचेडी (अलवर) के राव ने अपनी सेना भेजकर जयपुर राज्य के कुछ इलाकों पर कब्जा कर लिया । ब्रिटिश रेजिडेंट सी.टी. मेटकॉफ ने माचेडी के राव को इस कृत्य के लिए चेतावनी दी तथा नहीं मानने पर अपनी सेना भेजकर जयपुर राज्य को उसके इलाके वापस दिलवाए ।

अमीरखा और सिंधिया पुन: बारी-बारी से जयपुर के इलाके में लूटपाट करने आए और महाराजा से बड़ी रकम ऐंठ कर ले गए । जयपुर के महाराजा ने पुन: दो बार अंग्रेजों से सहायता की प्रार्थना की परन्तु सफलता नहीं मिली । सिंधिया, होल्कर तथा अमीरखा के उदयपुर राज्य के इलाकों में लूटपाट

करने और रकम ऐंठ कर ले जाने से उस राज्य की माली हालत इतनी बिगड गई कि महाराणा को अपने खर्च के लिए कोटा राज्य के रीजेंट जालिम सिंह पर निर्भर रहना पड़ता था । अमीरखां ने जोधपुर को भी नहीं बख्शा और लगभग दो वर्षा तक उसके खजाने का पूरा दोहन किया । महाराजा मानसिंह राजकार्य के प्रति उदासीन हो गए तथा उन्होने छतरसिह को युवराज घोषित करके एक रीजेंसी स्थापित कर दी ।

राजपूताना की अन्य रियासतों - बूंदी, कोटा, करौली, बांसवाडा आदि ने भी समय-समय पर मराठों के अतिक्रमण का उत्पीडन सहा ।

12.3 राज्यों और ईस्ट कम्पनी के बीच हुई संधियों के कारण

लॉर्ड मिन्टो (1807-1813 ई) के पश्चात् लार्ड हैस्टिंग्ज (1813-23 ई) गवर्नर जनरल बन कर आए जो राज्यों में हस्तक्षेप की नीति के समर्थक थे । दिल्ली के रेजिडेंट सी.टी. मेटकॉफ ने उन्हें अपनी एक योजना पेश की जिसमें छोटी बड़ी रियासतों को रक्षात्मक संधियों के माध्यम से ब्रिटिश सुरक्षा देना तथा रियासतों की संयुक्त सैन्यशक्ति से सिंधिया, होल्कर, अमीरखां और पिंडारियों की लूटपाट की नीति पर लगाम लगाना और ब्रिटिश इलाकों पर उन्हें अतिक्रमण करने से रोक कर अपने लिए एक सुरक्षा कवच सुनिश्चित करना था । इसलिए जब मार्च 1816 में जयपुर ने पुन: ब्रिटिश रेजिडेंट को संधि के लिए अपील की तो दिल्ली स्थित रेजिडेंट को अपनी योजना को क्रियानित करने का अवसर मिला । परन्तु संधि की शर्तो को लेकर, विशेषकर रियासत द्वारा दिए जाने वाले कर (ट्रिब्यूट) के बारे में मतभेद होने के कारण संधि नहीं हो पाई । इसके बाद मेटकॉफ ने दबाव की नीति अपनाई । उन्होने जयपुर राज्य को कर चुकाने वाले ठिकानों पर अलग से ब्रिटिश सरकार से संधि करने के लिए दबाव डाला । खेतडी व उणियारा के ठिकानों से बातचीत की और उन्हें ब्रिटिश संरक्षण देने की पेशकश की ताकि उनकी वफादारी जयपुर राज्य से हटकर ब्रिटिश सरकार की तरफ हो जाये । इन दांवपेचों से न केवल राज्य की संप्रभुता में कमी होती बल्कि उसके राजस्व के संसाधनों और सैन्य शक्ति में भी कमी होती । अत: जयपुर को संधि की शर्तो के बारे में झुकना पडा और अंत में अप्रेल 1818 में संधि पर हस्ताक्षर हो गए।

अमीरखां ने भी सन् 1817 में ब्रिटिश सरकार से रक्षात्मक संधि की पेशकश की जिसे ब्रिटिश सरकार ने कुछ समय बाद अपनी शर्तो पर मान लिया । नौ नवंबर 1817 को हुई इस संधि के अनुसार (1) अमीरखां के पास होल्कर के जो इलाके थे, वे अमीरखां और उसके उत्तराधिकारियों के पास ही रहेंगे, ऐसी ब्रिटिश सरकार ने गारन्टी दी तथा उन इलाकों की सुरक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने अपने ऊपर ले ली (2) अमीरखां अपनी सेना को भंग कर देगा तथा उतनी ही सैन्य टुकडियां रखेगा जितनी उसके अंदरूनी सुरक्षा के लिए आवश्यक हो (3) वह अब किसी इलाके पर आक्रमण नहीं करेगा, पिडारियो और लूटपाट करने वाले अन्य कबीलों से अपने संबंध तोड देगा और अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें दबाने और सजा देने के लिए ब्रिटिश सरकार के साथ सहयोग करेगा । ब्रिटिश सरकार की रजामंदी के बिना वह किसी से भी संबंध नहीं बनायेगा (4) वह अपनी तोपें और अन्य सैन्य सामान ब्रिटिश सरकार को सौंप देगा जिसके बदले में उसे मुआवजा दे दिया जाएगा । वह केवल अपनी आंतरिक सुरक्षा के लिए व दुर्गो की रक्षा के लिए ही कुछ आवश्यक सैन्य सामान रख सकेगा (5) वह सेना जो अमीरखां अपने पास रखेगा, उसे भी अंग्रेजी सरकार द्वारा मांगने पर भेजना होगा ।

राजपूताना की अन्य अग्रांकित रियासतों के साथ भी संधियां इसी समय हुई करौली (9 नवम्बर 1817), कोटा (26 दिसम्बर 1817), जोधपुर (6 जनवरी 1818), उदयपुर (13 जनवरी 1818), बूंदी (10 फरवरी 1818), बीकानेर (9 मार्च 1818), किशनगढ़ (26 मार्च 1818), जयपुर (2 अप्रैल 1818), बांसवाडा (25 दिसम्बर 1818), प्रतापगढ़ (5 अक्टूबर 1818) डूंगरपुर (11 दिसम्बर 1818), जैसलमेर (12 दिसम्बर 1818) तथा सिरोही (11 सितम्बर 1823) । शाहपुरा को उस समय रियासत का दर्जा प्राप्त नहीं था । इसको कचोला का हिस्सा मेवाड द्वारा जागीर में दिया गया था तथा शाहपुरा (फूलिया क्षेत्र) ब्रिटिश सरकार ने अजमेर इलाके से दिया था । सन् 1848 में ब्रिटिश सरकार ने एक सनद जारी करके शाहपुरा द्वारा देय कर (ट्रिब्यूट) 10,000 रू. वार्षिक तय कर दिया । साथ ही राजा को फूलिया परगना में दीवानी एवं फौजदारी मामलों को स्वतंत्र रूप से निपटाने तथा सजा देने के अधिकार दे दिए परन्तु उन सभी गंभीर अपराधों को, जिनमें मृत्युदण्ड अथश आजन्म कारावास का प्रावधान था, गवर्नर जनरल के एजेन्ट को सूचीत करने तथा उसकी सलाह से निपटाने का प्रावधान था ।

12.4 संधियों की मुख्य धाराएँ

सामान्य शर्त:- सन् 1817-18 से पूर्व की गई संधियां सहयोगी-सुरक्षा व्यवस्था पर आधारित थी परन्तु 1817- 18 की संधियों में राज्यों द्वारा ब्रिटिश सरकार की प्रभुता स्वीकार की गई थी और राज्यों के शासकों को अधीनस्थ दर्जा दिया गया था । परन्तु जो बात पूर्व की संधियों और बाद की संधियों में समान थी, वह भी लॉर्ड वेलेजली (1798-1805) द्वारा प्रतिपादित नीति जो प्रायद्वीप में एकमात्र अंग्रेजी सरकार की सर्वभौमिकता बनाए रखने की समर्थक थी और देशी राज्यों की राजनीतिक स्वतंत्रता छीनकर उन्हें केवल नाममात्र की सत्ता के चिन्ह धारण करने की अनुमति देना था ।

प्रत्येक राज्य के साथ संधि में उस राज्य की परिस्थितियों तथा ब्रिटिश सरकार की अपनी आवश्यकताओं के संदर्भ में शर्ते रखी गई थीं । कुछेक शर्त सभी राज्यों के लिए समान थी । सबसे महत्वपूर्ण शर्त वह थी, जिसका उद्देश्य सभी राज्यों को एक दूसरे से अलग-थलग करना था ताकि उनमें एकता न हो जाये । यह धारा सीधे सादे शब्दों में न कहकर घुमा फिराकर संधि में जोड़ी गई, जैसे, शासक एवं उनके वंशज उत्तराधिकारी दूसरी रियासत के शासक अथवा रियासत से किसी प्रकार का संबंध नहीं रखेगें । वे बिना ब्रिटिश सरकार की जानकारी में लाए एवं बिना उनकी अनुमति के किसी अन्य रियासत अथवा उसके शासक के साथ किसी तरह की शर्ता या समझौता नहीं करेगें । वे तथा उनके वंशज व वारिस किसी राज्य पर आक्रमण नहीं करेंगे ।

दूसरी महत्वपूर्ण शर्त वह थी जिसके द्वारा शासकों ने ब्रिटिश सरकार के अधीनस्थ सहयोगी के रूप में कार्य करना स्वीकार किया और ब्रिटिश सरकार की सर्वाच्चसत्ता को स्वीकारा । यदि दो राज्यों में कोई विवाद हो जाये तो उक्त विवाद ब्रिटिश सरकार को मध्यस्थता एवं निर्णय के लिए सौंपा जावेगा । इन् संधियों में पीढ़ी दर पीढ़ी दोस्ती, मित्रता तथा आपसी हितों की समानता दर्शाते हुए कहा गया कि एक पक्ष का शत्रु अथवा मित्र दूसरे पक्ष का भी शत्रु अथवा मित्र माना जावेगा । राज्यों की सुरक्षा का दायित्व ब्रिटिश सरकार पर होगा तथा राज्यों के शासक ब्रिटिश सरकारके मांगने पर अपने राज्य के सैन्यदल उपलब्ध करायेंगे । कुछेक राज्यों से की गई संधियों में उन्होने ब्रिटिश सरकार को नियमित रूप से कर (ट्रिब्यूट) देना स्वीकार किया । कुछेक राज्यों के साथ संधि में ब्रिटिश सरकार ने यह स्वीकार किया कि वह उन राज्यों में अपना कोई अधिकार-क्षेत्र (ज्यूरिसिड़शन) नहीं स्थापित करेगी ।

विशेष शर्त:-कुछेक राज्यों के साथ हुई संधियों में विशेष शर्त थीं जिनसे ब्रिटिश सरकार का हित किसी भी तरह प्रभावित होता था । उदाहरणार्थ, खोरासन एवं काबुल व सिरसा के बीच ब्रिटिश व्यापार बीकानेर राज्य के मध्य से गुजरने बाले मार्ग से होता था । ब्रिटिश हित में यह था कि यह मार्ग व्यापार व वाणिज्य के लिए सुरक्षित हो तथा माल पर कस्टम चुंगी नहीं बढ़ाई जावे । अत: बीकानेर राज्य से हुई संधि में ये शर्त धारा 10 में रखकर 155 राज्य के शासक को इनकी पालना के लिए पाबन्द कर दिया । इसी तरह धारा 7 में प्रावधान किया गया कि शासक के विरूद्ध कार्य करने वाले उपद्रवी ठाकुरों अथश राज्य के अन्य लोगों द्वारा विद्रोह करने अथश शासक की सत्ता उलटने की कोशिश करने बालों को काबू में करने की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार की होगी परन्तु इसके लिए सेना पर होने वाले व्यव के भुगतान की जिम्मेदारी शासक की होगी । यदि शासक इसमें असमर्थ हुआ तो राज्य का कुछ इलाका वह ब्रिटिश सरकार को सुपुर्द कर देगा जो भुगतान के पश्चात् राज्य को वापस लौटा दिया जायेगा।

इसी प्रकार जोधपुर रियासत से की गई संधि में धारा 8 के द्वारा यह सुनिश्चित किया गया कि ब्रिटिश सरकार के कभी भी चाहने पर रियासत 1500 घुडसवार की सैन्य टुकडी उनकी सेवा में उपलब्ध करायेगी और आवश्यक हुआ तो रियासत की पूरी सेना भी ब्रिटिश सेना की सेवा में आयेगी सिवाय इतने सैनिक छोड़कर जो रियासत के आंतरिक प्रशासन चलाने के लिए आवश्यक हों ।

उदयपुर, डूंगरपुर, प्रतापगढ़ और बांसवाडा राज्यों से हुई संधियों में कुछ धाराएं ऐसी थी जिनकी कथनी और करनी में विरधोभास था । उदयपुर से हुई संधि की धारा 9 के अनुसार महाराणा अपनी रियासत के खुद मुख्तार (एबसोल्यूट) शासक होगें और उनके राज्य में अंग्रेजी हुक्मूत का दखल नहीं होगा । इस धारा के विपरीत कैफेन जेम्स टॉड जो ब्रिटिश सरकार का मेवाड में स्वय पॉलिटिकल एजेण्ट नियुक्त द्वा था ने सारी रियासत के प्रशासन को अपने कजे में लेकर पूर्णरूप से राजकाज को चलाया और मई 1818 में महाराणा और उसके सामंती के बीच एक कौलनामा कराया जिसमें उन सभी को उसमें लिखित शती की पालना के लिए पाबन्द किया ।

डूंगरपुर के साथ हुई संधि (धारा 4) में महारावल को राज्य का खुदमुख्तार (एबसोल्युट) शासक माना गया और कहा गया कि उनके राज्य में ब्रिटिश सरकार की दीशनी और फौजदारी हुकूमत दाखिल नहीं होगी परन्तु धारा 5 में लिखा गया कि राज्य के मामले अंग्रेज सरकार की सलाह के अनुसार तय होगें और इस काम में महाराश्ल की मर्जी का यथासाध्य पूरा ध्यान रखा जावेगा ।

प्रतापगढ़ राज्य से हुई संधि की धारा 5 में कहा गया कि राजा अपने राज्य के स्वामी रहेंगे और लुटेरी जातियों का दमन करने एवं पुन: शांति व सुशासन स्थापित करने के अतिरिक्त उनके प्रबन्ध में अंग्रेजी सरकार कभी हस्तक्षेप नहीं करेगी राजा इकरार करते हैं कि वे अंग्रेजी सरकार की राय पर चलेंगे और अपने राज्य मे टकसाल या सौदागरों तथा व्यापार की वस्तुओं पर कोई अनुचित कर नहीं लगायेंगे । स्पष्ट है कि संधि में विसंगति के कारण राजा में निहित शक्तियां कबूल करके भी नकार दी गई ।

सिरोही रियासत के महाराव के रीजेंट के साथ हुई संधि की शर्त ऐसी थी जिसकी वजह से रियासत को ब्रिटिश सरकार पर आश्रित एक कॉलोनी के रूप में काम करने को बाध्य कर दिया । संधि की शर्त 4 के अनुसार अंग्रेजी हुकूमत सिरोही रियासत में दाखिल नहीं होगी लेकिन यहां के राजा हमेशा अंग्रेजी सरकार के अफसरों की सलाह के अनुसार रियासती इंतजाम करेगें और उनकी राय पर अमल करेंगे । शर्त 5 के अनुसार रीजेंट ने जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने संधि में जीवनपर्यन्त के लिए रीजेंट मान लिया था, खुले रूप से वादा किया कि वे ब्रिटिश सरकार के हाकिमों की सलाह के अनुसार जिस बात

से राज्य को समृद्ध बनाने में ठीक समझा जावेगा, उसपर अमल करेंगे । ब्रिटिश हितों की रक्षार्थ शर्त संख्या 9 व 10 समाहित की गई । शर्त 9 में कहा गया कि ब्रिटिश अधिकारी सिरोही रियासत के इलाके में राहदारी व चुंगी आदि की दरें समय-समय पर निर्धारित करने में सक्षम होगें ताकि व्यापार और प्रजा को प्रोत्साहन मिले । शर्त 10 के मुताबिक जब कोई अंग्रेजी फौज की टुकड़ी सिरोही राज्य में अथवा आसपास के इलाकों में नियुक्त हो तो उसके लिए रसद व जरूरी सामान का प्रबन्ध बिना उस पर कोई महसूल लगाए, रियासत करेगी । यदि ब्रिटिश सरकार की राय होगी कि कुछ अंग्रेजी फौज सिरोही में रखी जावे तो राजा को इस बात से असंतोष या नाराजगी नहीं होगी । अगर यह जरूरी हो कि रियासत की जरूरत के वास्ते फौज की भर्ती हो और उसमें अंग्रेज अफसर रहें और वे फौज को नियंत्रित करें तो राजा इस मामले में अंग्रेजी हिदायतों की पालना करेंगे और राजा की यह फौज हमेशा अंग्रेजी सरकार के अफसरों के अधीन काम करने के लिए तैयार रहेगी ।

2.5 संधियों के प्रभाव

इन संधियों का तत्काल प्रणव यह हुआ कि मराठों, पिंडारियों और अन्य लूटपाट करने वाले कबीलों से राजपूताने की रियासतों को छुटकारा मिल गया, उन के द्वारा किया जा रहा शोषण समाप्त हुआ और राजाओं ने चैन की सास ली । संधियों के बाद उन्होने बाहरी एवं आंतरिक खतरों से राहत महसूस की क्योंकि आगे से राज्यों की सुरक्षा की जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार ने ले ली थी । आगे से अंतर्राज्यीय युद्धों की संभावना भी नहीं के बराबर हो गई क्योंकि आगे से अंतर्राज्यीय झगड़ों को ब्रिटिश सरकार की मध्यस्थता द्वारा हल करने का प्रावधान रखा गया था । दूसरा प्रभाव यह हुआ कि अब सैनिक सहायता के लिए राजा अपने सामंतों की बजाय अंग्रेजी सरकार पर निर्भर हो गए । परन्तु इन संधियों के दूरगामी प्रभाव राज्यों के हित में नहीं थे, विशेषकर बित्तीय, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में ।

(1) राज्य वित्तीय रूप से पंगु हो गए: कई रियासतों के साथ की गई सन्धियों में एक शर्त यह भी जोड़ दी गई थी कि वे ब्रिटिश सरकार को नियमित रूप से खिराज (ट्रीब्यूट) देगें । इसके भुगतान की शर्त भी भिन्न-भिन्न थी । जयपुर के साथ हुई सधइ (शर्त 6) के अनुसार रियासत प्रथम वर्ष में कुछ भी भुगतान नहीं करेगी, परन्तु दूसरे वर्ष 4 लाख रूपए, तीसरे वर्ष 5 लाख, चौथे वर्ष 6 लाख, पांचवे वर्ष 7 लाख और छठे वर्ष 8 लाख रूपये भुगतान करेगी । आगे के वर्षो में भी आठ लाख रूपये वार्षिक तब तक देती रहेगी जब तक कि राज्य का राजस्व 40 लाख रूपये वार्षिक से ऊपर नहीं होता । राजस्व 40 लाख से ऊपर होने पर 8 लाख के अलावा चालीस लाख से ऊपर की राशि का 5/16 भाग अतिरिक्त देय होगा । बाद की घटनाओं से स्पष्ट द्वा कि राज इतनी बड़ी रकम देने की स्थिति में नहीं था । अत: राज्य पर कर्जा बढ़ता गया और खिराज का बकाया भी बढ़ता गया । सन् 1833 में यह बकाया 16 लाख रूपए हो गया तथा राजपूताना स्थित गवर्नर जनरल के एजेन्ट ने सरकार को सुझाव दिया कि छह माह का बकाया हो जाने पर उस पर 12 प्रतिशत की दर से आज वसूला जाये ताकि दरबार को देरी का बहाना न मिले । अन्य राज्यों के लिए भी बाज की यह दर लाग करने की नीति बना ली । जयपुर राज्य से ब्रिटिश सरकार ने सन् 1819 से 1835 तक खिराज (ट्रिब्यूट) के रूप में 1.18 करोड़ रूपयों की मांग की जिनमें से 96.75 लाख रुपए चुकाए जा चुके थे तथा वर्ष 1835 के अंत में 23.50 लाख रूपए (12 प्रतिशत बाज सहित) बकाया थे । रकम नहीं चुकाने का परिणाम यह हुआ

कि राज्य के आंतरिक कामकाज में ब्रिटिश हस्तक्षेप बढ़ता गया और अंत में जोधपुर - जयपुर की शामलात सांभर झील को ब्रिटिश सरकार ने ले लिया ताकि खिराज की बकाया राशि नमक की आय से वसूली जा सके । आखिरकार ब्रिटिश सरकार को अहसास हुआ कि उन द्वारा शुरू में तय किया गया खिराज राज्य की वास्तविक आय के अनुपात से अधिक था । इसलिए उन्होने सन् 1842 में 46 लाख रूपए माफ कर दिए और उस वर्ष के बाद खिराज की राशि घटाकर 4 लाख रू. वार्षिक तय कर दी ।

इसी प्रकार उदयपुर से हुई संधि (शर्त 6) के अनुसार राज्य की आय का चौथाई भाग प्रतिवर्ष पांच वर्ष तक खिराज के रूप में दिया जाना तय हुआ और उसके बाद आय का 378 भाग प्रतिवर्ष देना तय हुआ । चूंकि राज्य यह राशि नियमित रूप से देने में असफल रहा परिणामस्वरूप सन् 1823 तक आठ लाख रूपया बकाया हो गया और महाजनों से लिया कर्ज 2 लाख रूपये हो गया । अत: राज्य का प्रबन्तध अंग्रेजी सरकार ने एक ब्रिटिश पॉलिटिकल एजेन्ट को सीमा । महाराणा को प्रतिदिन खर्च के लिए एक हजार रूपये मिलते थे । राज्य के कुछ इलाकों का राजस्व केवल रिटिश सरकार को नियमित कर चुकाने के लिए आवांटित करना पडा । महाराणा जबान सिंह के शासन काल (1828-38 ई)में काफी खिराज बकाया हो गया और राज्य कर्ज से दब गया । उसके दत्तक पुत्र और उत्तराधिकारी सरदार सिंह के 1838 ई. में गद्दी पर बैठते समय राज्य पर लगभग 20 लाख रूपए का ऋण था जिसमें से 8 लाख खिराज की राशि थी । अंत में ब्रिटिश सरकार ने तय किया कि यदि राज्य बकाया नहीं चुकाता है तो कुछ इलाके जमानत के रूप में ले लिए जावे । बाद में यह जानकर कि राज्य के लिए इतना खिराज चुकाना संभव नहीं है, सन् 1846 अरु में इसे घटाकर 2 लाख रूपए प्रतिवर्ष कर दिया।

अन्य राज्यों-जोधपुर, झालावाड़, बूंदी, कोटा, डूंगरपुर, बांसवाड़ा आदि, जिनकी संधियों में खिराज देने का प्रावधान था, भी वित्तीय समस्याओं से ग्रसित हो गए । जो राज्य उदयपुर के ब्रिटिश पॉलिटिकल एजेण्ट के अधीन थे, वहां चुंगी वसूलने का अधिक्कार ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथों में ले लिया ताकि खिराज की राशि इस धन से वसूली जा सके । साथ ही राज्यों को आगाह कर दिया कि खिराज चुकाने का कोई संतोषप्रद प्रबन्ध नहीं किया गया तो ब्रिटिश सरकार को उनके इलाकों पर कब्जा करने का अधिकार है ।

2. आर्थिक शोषण : संधियों में स्पष्ट रूप से कोई ऐसा प्रावधान नहीं था जिससे ब्रिटिश सरकार की इन राज्यों में आर्थिक लाभ के लिए घुसपैठ का इरादा प्रकट होता हो सिवाय इसके कि कुछेक राज्यों में चुंगी की दर नियमित करने में उन्होने रुचि अवश्य दिखाई । परन्तु संधियों के पश्चात् उन्होने अपने व्यापारिक हितों के लिए रियायतों की मांग की ।

दौलतराव सिंधिया और ब्रिटिश सरकार के बीच दिनांक 25 जून 1818 को हुई संधि से अजमेर क्षेत्र अंग्रेजों के कव्वे में आ गया था जिसका वार्षिक राजस्व लगभग 5 लाख रू. था । उन्होने 28 जुलाई 1818 को अपना एक सुपीरन्टेंडेण्ट वहाँ नियुक्त कर दिया । अजमेर के मेरवाडा क्षेत्र के आसपास के गांव जो मारवाड और मेवाड राज्यों के थे, उनका प्रशासन भी अंग्रेजों ने उक्त राज्यों से संधियाँ करके अपने हाथों में ले लिया था । कालांतर में यहां ब्रिटिश कोष (ट्रेजरी) स्थापित होने से राज्यों द्वारा खिराज यहीं जमा कराया जाने लगा । सेठ साहूकारों को रियायत देकर अजमेर में बसने के लिए आकर्षित किया गया । सन् 1836 में एक नया शहर (नया नगर अथवा ब्यापार) बसाया गया जहां बाहर के आपारियो

को रियायत देकर आने के लिए प्रेरित किया गया । बाबर के बसने से पाली (जोधपुर राज्य) का ब्यापारिक केन्द्र के रूप में महल समाप्त हो गया और खबर एक व्यापारिक केन्द्र बन गया ।

ब्रिटिश सरकार का ध्यान शीघ्र ही मालवा और हाडौती के क्षेत्र में पैदा होने बाले अफीम की ओर गया । मालवा का अफीम चीन के बाजारों में ब्रिटिश सरकार के बंगाल के अफीम से प्रतिस्पर्धा में ऊंचा रहता था । अत:मालवा व हाडौती के अफीम की पैदाकर और आपार को काबू में करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने सभी प्रकार के तरीके अपनाए । उन्होने बूंदी और कोटा राज्यों पर अनुचित दबाव डालकर गुरु संधियां की परन्तु उसके बाबजूद वे न तो पैदावार और न ही व्यापार को नियंत्रित कर सके । अंत में उन्होने इस पर भारी चुंगी लगा दी और तस्करी रोकने के लिए विभिन्न उपाय किए । यह व्यापारिक मार्गो से होकर कराची जाता था जहां से यह जहाजों से चीन पहुंचता था । व्यापारिक मार्गो पर ब्रिटिश सरकार द्वारा निगरानी रखी जाने लगी और अफीम पकड़ने वालों को इनाम देने की घोषणा की गई । कुछेक राज्यों के शासकों ने ब्रिटिश सरकार के इस संबंध में दिए गए निर्देशों की अवहेलना की । राज्यों की आमदनी पर इस जापार के रोक-टोक से असर पड़ने लगा और बिरोध शुरू हो गया । अत: ब्रिटिश सरकार ने अफीम पर चुंगी बडा दी और नए व्यापारिक मार्ग खोले जिससे इस पर उनका नियंत्रण बना रहे ।

राजपूताना में नमक का उत्पादन जोधपुर रियासत के सांभर डीडवाना, पचपद्रा, फलोदी, पोकरण, सरगोट नाश, गुद्रा, तथा भरतपुर व बीकानेर के कुछ हिस्सों में होता था । सन् 1835 से 1843 तक सांभर झील (जोधपुर-जयपुर का शामलात भाग) को ब्रिटिश सरकार ने ले लिया था तथा इस काल में उनकी इस स्रोत से आय 11.55 लाख रूपये हुई । यह नमक भिकनी, दिल्ली, आगरा, उत्तर-पश्चिमी प्रांत, ग्वालियर, बुन्देलखण्ड तथा सेण्ट्रल प्रोविसेज को जाता था । इतने बडे कारोबार को लेने के लिए ब्रिटिश सरकार लालायित थी और सन् 1856 में इस संबंध में संधियां करने का मानस बनाया परन्तु 1३57 के विद्रोह के कारण बात आगे नहीं बढ़ पाई । सन् 1869 में जयपुर से संधि करके सांभर शामलात का जयपुर का भाग ब्रिटिश सरकार ने 2.75 लाख रूपये वार्षिक पर लीज पर ले लिया । अगले वर्ष (1870) जोधपुर ने भी अपने हिस्से की सांभर झील को ब्रिटिश सरकार को लीज पर दे दिया । उसी वर्ष दूसरी संधि के द्वारा गुढा व नाश को भी लीज पर दे दिया गया । सन् 1879 में जोधपुर से हुई संधि के द्वारा पचपद्रा, डीडवाना, फलोदी व की क्षेत्र लीज पर दे दिए गए । अन्य राज्यों, बीकानेर (लूनकरणसर व ताल छापर क्षेत्र) जैसलमेर, सिरोही, भरतपुर आदि से भी संधियां हुई । ब्रिटिश सरकार को सांभर , डीडवाना पचपद्रा आदि झीलों से उन्नीसवीं सदी के अंत में 1.11 करोड़ रूपयों की वार्षिक आय होती थी ।

12.6 ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना

वित्तीय एवं आर्थिक हितों के साथ-साथ अंग्रेजी सरकार ने राज्यों पर राजनीतिक शिकंजा भी कसना शुरू किया जिससे कालांतर में उनकी प्रभुसत्ता स्थापित हो गई । उन्होने अपने पॉलिटिकल एजेण्ट्स इन राज्यों में नियुक्त कर दिए यद्यपि उनके साथ की गई संधियों में इस प्रकार की नियुक्तियों का कहीं भी उल्लेख अथवा प्रावधान नहीं था । जब बीकानेर राज्य के सुजानगढ़ कस्बे में सन् 1668 में पोलिटिकल एजेण्ट नियुक्त किया गया तो महाराजा ने इसके लिए विरोध जताया । अंग्रेजों का उत्तर था कि संधियों में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है कि अंग्रेजी सरकार इस प्रकार की नियुक्तियाँ नहीं करेगी और पॉलिटिकल एजेण्ट की नियुक्ति कर दी गई । सन् 1832 में अजमेर में 'एजेण्ट टू द गवर्नर जनरल

इन राजपूताना स्टेट्स' की नियुक्ति के पश्चात् राजस्थान स्थित सभी रियासतों पर ब्रिटिश नियंत्रण कसता गया।

ब्रिटिश सरकार धीरे-धीरे संधियों की शर्तो की पालना की बजाय उनकी अवहेलना और उल्लंघन में लिप्त हो गई । जोधपुर के महाराजा मानसिंह और उनके ठाकुरों के बीच, जो धोकलसिंह को उनकी जगह गद्दी पर बिठाना चाहते थे, सन् 1827 में विवाद बहुत बढ़ गया था तथा मानसिंह ने संधि की धारा के तहत अंग्रेजी सरकार से मदद मांगी परन्तु ब्रिटिश सरकार मदद के लिए नहीं आई इस दलील के साथ कि यह बाहरी आक्रमण नहीं था हालांकि धोकलसिंह की अगुवाई में ठाकुर जयपुर इलाके से जोधपुर पर आक्रमण की तैयारी कर रहे थे । इसी तरह जब 1839 में ठाकुरों और मानसिंह के बीच फिर टकराव हुआ तो ब्रिटिश सरकार ने मानसिंह को मदद देने की बजाय जोधपुर पर आक्रमण कर पांच महीने तक जोधपुर के किले को अपने कव्वे में रखा और महाराजा पर दबाव बढाकर एक कौलनामा लिखवाया कि भविष्य में वे अपना राज्य प्रबन्ध ठीक प्रकार से करेंगे । इस प्रकार ब्रिटिश सरकार संधि की शर्तो के मामले में दोहरे मापदण्ड अपनाती रही ।

इसी प्रकार बीकानेर महाराजा ने सन् 1830 में अपने विद्रोही ठाकुरों के खिलाफ संधि की शर्त 7 के तहत मदद मांगी । इस शर्त में स्पष्ट तौर पर कहा गया कि महाराजा के मांगने पर, अंग्रेज सरकार महाराजा से विद्रोह करने वाले और उनकी सत्ता को न मानने वाले ठाकुरों तथा राज्य के अन्य पुरूषों को उनके अधीन करेगी परन्तु अंग्रेजी सरकार ने संधि की व्याख्या अपनी मर्जी से करते हुए कहा कि यह प्रावधान अस्थाई परिस्थितियों के लिए था तथा महाराजा को अधिकार नहीं देता कि वह ब्रिटिश सरकार से भशिष में सहायता की गुहार करें । सरकार ने रेजिडेंट को लिखा कि रियासतों के आंतरिक झगड़ों को निपटाने के लिए ब्रिटिश सहायता कभी नहीं दी जावे जब तक कि ब्रिटिश सरकार के इस बारे में स्पष्ट निर्देश न हो । ब्रिटिश सरकार के इस कृत्य पर डॉ. करणीसिंह लिखते हैं कि बीकानेर दरबार को जब ब्रिटिश सहायता की सख्त आवश्यकता थी, तब उन्हें अधरझूल में छोड़कर उनके साथ विश्वासघात किया गया ।

कोटा से दिसम्बर 1817 में हुई संधि में एक पूरक शर्त फरवरी 1818 में जोड दी जिसके तहत कोटा राज्य का राज्य प्रबन्ध तत्कालीन दीवान राजराणा जालिमसिंह के बंशजों और उत्तराधिकारियों में निहित कर दिया । इस प्रावधान से महाराव नाममात्र का शासक रह गया और शासक व दीशन में निरन्तर टकराव एवं द्वेष रहने लगा । अंत में ब्रिटिश सरकार ने इसका हल सन् 1638 में निकाला और कोटा राज्य का बिमाजन करके झालावाड का नया राज्य बनाया जिसे जालिमसिंह के बंशजों को दे दिया गया ।

संधियों में दो प्रावधान 'अधीनस्थ सहयोग' और 'ब्रिटिश सरकार की प्रभुसत्ता ऐसे थे जिनकी आड में ब्रिटिश सरकार ने राज्यों के आतरिक मामलों में खुलकर हस्तक्षेप किश, जिससे राज्यों की संप्रभुता पर आघात हुआ । किसी भी राज्य का सिक्का उसकी संप्रभुता का चिन्ह होता था । ब्रिटिश सरकार ने राजाओं के सिक्के ढालने के अधिकार और उनकी मुद्रा को प्रचलन में आने से रोकने का प्रयत्न किया । इसका राज्यों ने विरोध भी किया परन्तु सफल नहीं हुए । इसी प्रकार राज्यों की डाक सेवा को बन्द करवा कर इम्पीरियल डाक सेवा के लिए राज्यों में डाकघर चालू किए, अपने हित के लिए राज्यों में रेलवे सेवा शुरू की जिसके लिए जमीन और अन्य अधिकार राज्यों से प्राप्त किए जबकि संधियों में स्पष्ट था कि वे राज्यों में अपना कोई भी 'अधिकार क्षेत्र' (जुरिसिडक्शन) नहीं कायम करेगें

। डाक, तार व रेलवे कर्मचारियों की राज्यों में तैनाती राजाओं को हमेशा ब्रिटिश सरकार की उपस्थिति का अहसास कराती रहती । अपने हित अथवा राजाओं के अहित के लिए ब्रिटिश सरकार उत्तराधिकार, नाबालिग राजा के काल में राज्य प्रबन्ध, राजा को राजगद्दी से पदच्युत करना इत्यादि मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए सदैव तत्पर रहती थी । कालांतर में राज्यों में विभिन्न महत्वपूर्ण पदों पर अंग्रेजी अफसरों की नियुक्ति से राज्यों के भू-प्रबन्ध में सिद्धान्त, तिटिश राज्य आधारित पुलिस प्रशासन एवं चाय पालिका संबंधी कानून वनाए गए और उन्हें राज्यों में लाग कर दिया गया । देशी शिक्षा प्रणाली के स्थान पर रिटिश शिक्षा प्रणाली और देशी औषधालयों के स्थान पर ब्रिटिश आधारित चिकित्सा पद्धति का ढांचा राज्यों में खड़ा कर दिया गया ।

इन संधियों का सरसे पड़ा प्रभाव यह हुआ कि राजा- महाराजा अपनी ही सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार पर निर्भर हो गए । दे अपनी एवं प्रजा की सुरक्षा के प्रति उदासीन रहने लगे । राजा और प्रजा का आपसी संबंध ढीला होता चला गया और राज्य का प्रशासन कमजोर हो गया जिस पर अंग्रेज अफसरों अथवा अंग्रेजों के प्रति वफादार हिन्दुस्तानी अफसरों का कब्जा हो गया । धीरे-धीरे ब्रिटिश प्रभुसत्ता पोषित होती चली गई ।

इस प्रकार ब्रिटिश सरकार और राज्यों के आपसी संबंध संधियों के प्रावधानों पर कम और ब्रिटिश हितों और समय की आवश्यकताओं पर ज्यादा आधारित होने लगे । संधियों की शर्तो के विपरीत किए गए मनमाने कार्यो को नजीर और परिपाटी के रूप में उद्धृत करके भविष्य में प्रावधानों के उल्लंघन को न्यायोचित करार दे दिया जाता था । धीरे-धीरे इन स्वेच्छाचारी कार्यकलापों से ब्रिटिश प्रभुसत्ता रूपी एक ऐसा शब्दजाल बन गया जिसके तहत सभी जायज- नाजायज कार्यो को उचित ठहराया जाने लगा । कैसी विडंबना थी कि रियासतों और ब्रिटिश सरकार के बीच किसी विवाद की और निर्णय की मध्यस्थता का अधिकार भी ब्रिटिश सरकार को ही था और उसका फैसला रियासतों को मानना पडता था । सन् 1857 के विप्लव के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारत में प्रशासन समाप्त हो गया और गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट 1858 के द्वारा प्रशासन ब्रिटिश साम्राज्ञी के अधीन हो गया । नवंबर 1, 1858 को ब्रिटिश महारानी की घोषणा के द्वारा भारतीय रियासतें ब्रिटिश साम्राज्य का अंग हो गई और उनकी ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ हुई संधियों व इकरारनामा को ब्रिटिश सरकार ने भी पालनार्थ स्वीकार कर लिया । ब्रिटेन की रानी ने भारत की सम्राज्ञी (केसरे-हिन्द) का खिताब धारण कर यह दिखाने की कोशिश की कि वह मुगल साम्राज्य की उत्तराधिकारी थी परन्तु यह वास्तविकता नहीं थी । राज्यों का ब्रिटिश सरकार से संबंध संधियों और इकरारनामों से था और दोनों इन अनुबंधों से बंधे थे । सन् 1877 में लॉर्ड लिटन द्वारा दिल्ली दरबार का आयोजन किया गया जिसमें राजाओं को बुलाकर यह दर्शाने की चेष्टा की गई कि ब्रिटिश सरकार और उनका संबंध राजा-सामंत (sovereign feudal) जैसा है और उनकी (राजाओं की) हैसियत अथवा स्तर मुगलों के राजपाट समाप्त होने से नहीं बदले हैं, केवल उनके स्वामी बदल गए हैं । यही धारणा ब्रिटिश प्रभुसत्ता की स्थापना के मूल में थी जो आगे चलकर ब्रिटिश निरंकुशता में बदल गई ।

सन् 1858 तक ब्रिटिश सरकार की रियासतों के प्रति नीति अस्पष्ट थी क्योंकि भारत की सैकडों रियासतों की समस्याएं एवं परिस्थितियां भिन्न थीं और बदलती रहती थी । परन्तु 1658 के बाद राज्यो से संबंधों को नियंत्रित करने हेतु एक सैद्धान्तिक आधार तैयार किया गया ।

प्रश्न यह उठता है कि ब्रिटिश सम्राट को भारतीय रियासतों पर प्रभुसत्ता का उपभोग करने का अधिकार किसने दिया । सीधा सा उत्तर हैं । उनकी सैनिक ताकत ने । ली-वार्नर लिखते हैं कि ब्रिटिश सत्ता को ललकारा नहीं जा सकता क्योंकि ब्रिटिश सरकार और रियासतों की हैसियत बराबर की नहीं है, ब्रिटिश सरकार सर्वोच्च है और वह अपने अधिकारों और आदेशों की पालना करवाने में अपनी ताकत में कभी भी कमी नहीं होने देगी । ब्रिटिश सम्राट की प्रभुसत्ता को निम्नलिखित तलों के माध्यम से लागू किया जाता था

शाही विशेषाधिकार (रॉयल प्रिरोगेटिव्ज) सन् 1858 में भारत का प्रशासन ईस्ट इण्डिया कम्पनी से ब्रिटिश सम्राज्ञी द्वारा लिए जाने पर सभी राजाओं ने अपनी स्वामिभक्ति और निष्ठा सम्राज्ञी को अर्पित कर दी । किसी राजा की गद्दीनशीनी अथवा गद्दी से हटाने को मान्यता तभी मिलती थी जब ब्रिटिश सम्राट अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग करके इस प्रकार का आदेश देता था ।

पार्लियामेन्ट के अधिनियम: ब्रिटिश पार्लियामेन्ट के अधिनियम अप्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश सम्राट को प्रभुसत्ता के अधिकार प्रदान करते थे । उदाहरणार्थ, ब्रिटिश कानून के अनुसार ब्रिटिश भारत में रहने वाला कोई भी व्यक्ति रियासतों को रूपया उधार नहीं दे सकता था और न ही रियासतों के नाम पर रूपया एकत्रित कर सकता था ।

इस कानून से राजाओं द्वारा उधार लेने पर अप्रत्यक्ष रूप से रोक लग गई । इसी प्रकार इण्डियन आर्म्स एक्ट (1878) के तहत शस्त्रों तथा युद्धोपकरण का आयात-निर्यात ब्रिटिश सरकार द्वारा नियंत्रित होता था । इसका परिणाम यह रूप कि रियासतों को हथियारों के जरिये शक्तिशाली नहीं होने दिया जाता ।

प्राकशतिक नियम: इसके अंतर्गत ब्रिटिश प्रभुसत्ता ने अमानवीय कृत्यों जैसे दास प्रथा, शिशुवध व सती को रोकने में अपने को सक्षम समझा ।

रियासतों से सीधा संबंध: संधियों और समझौतों के रूप में ब्रिटिश सरकार द्वारा द्वितीय पक्ष से सीधा इकरार करना प्रभुसत्ता की शक्ति का सबसे बडा स्रोत था । मूल संधियों में संशोधन करना अथवा उनमें कुछ जोड़ना अथवा पूरक संधियों को मूल संधियों से जोड़कर कुछ नई गतिविधियां जैसे रेलवे, डाकघर, तारघर आदि जो मूल संधियों के समय विद्यमान नहीं थे, को नियंत्रित करना इस कृत्य में शामिल थे ।

दस्तूर, लोकाचार एवं प्रथाएं: दस्तूर, लोकाचार तथा प्रथाएं शाही विशेषाधिकारों के प्रमुख स्रोत थे । स्थानीय ब्रिटिश अधिकारी बहुधा मौके पर ही परिस्थितिजन्य आवश्यकताओं के संदर्भ में कुछ निर्णय ले लेते थे और ये निर्णय कालांतर में प्रथागत कानून का रूप ले लेते थे ।

इस प्रकार की कार्यप्रणाली के कारण ब्रिटिश प्रभुसत्ता की प्रकृति लचीली थी और प्रभुसता का प्रमुख आधार था शक्तिशाली होना । ब्रिटिश प्रभुसत्ता का आधार यह नहीं था कि वह पूर्णरूपेण अधिकार सम्पन्न थी बल्कि यह था कि प्रथमत: तथा मूलत: वह प्रभुसत्ता थी और इसी कारण वह अधिकारों का उपभोग करती थी और इसीलिए वह अंत तक अपरिभाषित रही ।

12.7 सारांश

राजपूताना की रियासतों में आपसी युद्ध, पिंडारियों की लूटपाट और अमीरखां के आक्रमण तथा कुटिल षडयंत्रो ने इस क्षेत्र में अराजकता की स्थिति उत्पन्न कर दी थी । राजकोष खाली हो चले थे । वाणिज्य और व्यापार तय हो गए थे । ब्रिटिश सरकार भी पिंडारियों और मराठों से तंग आ चुकी

थी । उनको अलग-अलग करने और अपनी शक्ति, को बढ़ाने की नीति के अंतर्गत ब्रिटिश सरकार ने लार्ड हैस्टिंग्ज (1813-23 ई) के गबर्नर जनरल के कार्यकाल में रियासतों से 1817- 18 ई. में संधियां कर ली । अमीर खां और ब्रिटिश सरकार के बीच भी 1817 ई. मे संधि हो गई जिससे उस पर अंकुश लग गया । उसके पुनवार्स हेतु एक नई रियासत टोंक कायम की गई, जिसका उसे नवाब बना दिया गया।

अन्य रियासतों से हुई संधियों में शासको ने ब्रिटिश सरकार की सर्वोच्चता मानते हुए अपने को उसके एक अधीनस्थ सहयोगी के रूप में कार्य करना स्वीकार किया । संधियों की शर्तो के अनुसार वे आपस में कोई संबंध नहीं रख सकती थीं, आक्रमण नहीं कर सकती थी, आपसी विवाद को सुलझाने के लिए ब्रिटिश सरकार की मध्यस्थता और उसका निर्णय उन्हें मान्य था । राज्यों की सुरक्षा की जिम्मेदारी अब ब्रिटिश सरकार की होगी तथा ब्रिटिश सरकार और राज्यों के बीच संबंधों में एक पक्ष का शत्रु अथवा मित्र दूसरे पक्ष का भी शत्रु अथवा मित्र माना जाएगा ब्रिटिश सरकार के मांगने पर शासकों को अपने राज्य के सैन्य दल भेजने पड़ेगें । संधि के अनुसार कुछेक राज्यों से नियमित खिराज (ट्रिब्यूट) मांगा गया । कुछेक संधियों में ब्रिटिश व्यापार के हितों संबंधी व अन्य विशेष प्रावधान रखे गये । सिरोही रियासत के रीजेंट से की गई संधि (1823 इ)ई की शर्ते तो ऐसी थीं जिससे वह रियासत ब्रिटिश सरकार की एक कॉलोनी बनकर रह गई।

इन संधियों का तत्काल प्रभाव यह हुआ कि मराठों, पिंडारियों और अमीरखां का आतंक समाप्त हो गया और क्षेत्र में शांति स्थापित हो गई । रियासतों ने बाहरी और आतंरिक खतरों से राहत पाई । परन्तु इनके दूरगामी परिणाम राज्यों के लिए घातक सिद्ध हुए । जिन राज्यों से नियमित खिराज मांगी गई थी वह राशि इतनी अधिक थी कि वित्तीय रूप और आर्थिक रूप से वे पंगु हो गए और कर्ज से दब गए जिसे चुकाने के लिए उन्हें साहूकारों से कर्ज लेना पड़ा अथवा अपने राज्य के इलाके ब्रिटिश सरकार को गिरवी रखने पड़े । अफीम और नमक के व्यापार पर ब्रिटिश नियंत्रण हो गया।

धीरे-धीरे राज्यों के आंतरिक प्रशासन में ब्रिटिश सरकार का हस्तक्षेप बढ़ने लगा और अंग्रेज अफसरों की राज्यों में महत्वपूर्ण पदों पर नियुक्तियां होने लगी जिन्होने वहां के प्रशासन को बदल कर अपने सिद्धांतों के अनुरूप बनाया । रेल, डाक, तार, चिकित्सा, भूप्रबन्ध, पुलिस तंत्र, शिक्षा पद्धति, न्यायपालिका आदि के माध्यम से सभी क्षेत्रों में परिवर्तन आए । राजा की प्रशासन पर पकड़ कमजोर हो गई और प्रजा से उसका फासला बढ़ता गया । सामंती से भी उसका पहले जैसा संबंध नहीं रहा क्योंकि अब वह अपनी राज्य की सुरक्षा के लिए सामंतों पर नहीं बल्कि अंग्रेजी सरकार पर निर्भर था । धीरे-धीरे राज्यों और ब्रिटिश सरकार के संबंध संधियों के प्रावधानों पर कम और ब्रिटिश हितों पर अधिक आधारित होने लगे ।

कालान्तर में हर काम में हस्तक्षेप बढ़ने और राज्यों के मुकाबले अधिक शक्तिशाली पक्ष होने के कारण ब्रिटिश प्रभुसता स्थापित हो गई । इस दासता से मुक्ति पाने के लिए उन्हें अपना अस्तित्व सदैव के लिए खोना पडा ।

12.8 बोध प्रश्न

1. राज्यों और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच हुई संधियों के क्या कारण थे (500 शब्द)
2. संधियों की मुख्य धाराओं (शर्तो) के तत्कालीन एवं दूरगामी परिणाम क्या हुए? (500 शब्द)
3. ब्रिटिश प्रभुसत्ता के मुख्य आधार क्या थे? (300 शब्द)

4. ब्रिटिश प्रभुसत्ता अपरिभाषित क्यों रही? (100 शब्द)

12.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. ए कलेक्श्न ऑफ ट्रिटीज, अंगेजमेन्ट्स एण्ड सनस,
   वॉल्यूम III, कलकत्ता)1932(– एचीसन सीयू.
2. इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, वॉल्यूम VI, लन्दन)1886) - हंटर, डब्ल्यू.डब्ल्यू
3. द रिलेशन्स आफ हाउस आफ बीकानेर विद
   द सैण्ट्रल पावर्स, नई दिल्ली)1974(– करणी सिंह
4. द नेटिव स्टेट्स आफ इण्डिया,
   तुलसी पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली)1979(– ली वांर्नर, डब्ल्यू
5. एन हिस्टोरीकल स्कैच आफ द नेटिव
   स्टेट्स आफ इण्डिया, लंदन)1875(– मालेसन, जी.बी
6. मारवाड एण्ड द मराठाज)1724-1843 ई) जोधपुर (1968) – परिहार, जीआर.
7. एनल्स एण्ड एंटीक्यूटीज ऑफ राजस्थान
   (एडिटेड बाय विलियम क्रूक(, लंदन)1920) – टॉड, जेम्स
8. राजपुताना एजेन्सी 1832-1858 आलेख पब्लिशर्स, जयपुर)1978) – वशिष्ठ, वी.के.
9. ब्रिटिश पेरामाउंट्सी एण्ड इण्डियन रेनासें, पार्ट.I
   वॉल्यूम IX, भारतीय विद्याभवन)196(3 – मजूमदार, आर.सी.

इकाई - 13

राजस्थान में 1857 ई. का विप्लव : कारण एवं परिणाम (Uprising of 1857 in Rajasthan: Causes and consequences)

ईकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 विप्लव के लिए उत्तरदायी कारण

- 13.2.1 राजनीतिक कारण
- 13.2.2 प्रशासनिक कारण
- 13.2.3 आर्थिक कारण
- 13.2.4 सामाजिक कारण
- 13.2.5 धार्मिक कारण
- 13.2.6 सैनिक कारण
- 13.2.7 तात्कालिक कारण

13.3 बोध प्रश्न

13.4 विप्लव का प्रारम्भ एवं प्रसार -

- 13.4.1 दिल्ली
- 13.4.2 अवध
- 13.4.3 कानपुर
- 13.4.4 झांसी
- 13.4.5 बिहार
- 13.4.6 राजपूताना
- 13.4.7 पंजाब

13.5 1857 के विप्लव के परिणाम

13.6 सारांश

13.7 बोध प्रश्न

13.8 संदर्भ ग्रन्थ

13.0 उद्देश्य

1. अंग्रेजी सस्ता के खिलाफ होने वाले सबसे त्यापक और भयंकर विप्लव पर प्रकाश डालना।

2. 1657 ई. के विद्रोह के लिए उत्तरदायी राजनीतिक, प्रशासनिक, आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक तथा सैनिक कारणों का विश्लेषण करना ।
3. क्रांति के प्रमुख केन्द्र एवं घटनाओं को रेखांकित करना ।
4. राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के प्रेरणास्त्रोत 1857 के विद्रोह के परिणामों को प्रतिपादित करना।

13.1 प्रस्तावना

1857 ई. में ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह आधुनिक भारतीय इतिहास की एक अभूतपूर्व तथा युगान्तकारी घटना है। भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना छल, धोखे और विश्वसघात से हुई थी । भारत में जिस तरह - ब्रिटिश सजा- कायम हुई उस तरह इतिहास में और कोई सत्ता कायम नहीं हुई थी ।

इस इकाई में हम यह जान पायेंगे कि 1857 ई. का विप्लव अकस्मात घटना नहीं थी । अपितु इसकी पृष्ठभूमि में वह असंतोष निहित था जो 19 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही भारतवासियो में फैला हुआ था । भारत में अंग्रेजी शासन की स्थापना 1757 ई. के प्लासी के युद्ध से हुई थी और 1857 ई. तक यहाँ एक विशाल ब्रिटिश साम्राज्य स्थापित हो गया था इन सौ वर्षो में भारतीय जाता ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शासन सम्बन्धी, लगान सम्बन्धी, धार्मिक और राजनीतिक नीति से असन्तुष्ट थी ।

यहां हम 1857 के विप्लव की उत्पति के विविध कारणों से परिचित होंगे । विशेष तौर पर हम यह जान पायेंगे कि प्रारम्भ में कंपनी नवाबों या बादशाह के नाम पर काम चलाती रही, इसलिए लम्बे समय तक तो भारतवासी यह नहीं समझ सके कि शासन का अधिकार किसी विदेशी के हाथ में चला गया है और वे अपने ही देश में गुलाम बन गये हैं लेकिन जब लोगों को वास्तविकता का पता चला तो विद्रोह का वातावरण बनने लगा । जनता के निरन्तर बढते हुए असंतोष के परिणामस्वरूप एक जापक और भयंकर विद्रोह हुआ, जिसे भारत का स्वतंत्रता संग्राम कहा जा सकता है ।

इस इकाई में एक यह जान पायेंगे कि 1857 ई के संघर्ष का मुख्य रंगस्थल उतरी भारत था जहां क्रांतिकारियों ने अपनी सरकारें स्थापित कर ली थी । विद्रोह के प्रमुख कर्णधार झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई, कुंवर सिंह, नाना साहब, अमर सिंह, तॉत्या टोपे, मौलवी अहमदशाह, राव तुलाराम, इत्यादि थे । एक वर्ष से ज्यादा समय तक विद्रोहियों ने भारी कठिनाइयों के बावजूद अपना संघर्ष वीरतापूर्वक जारी रखा । हजारों लोगों ने अपने प्रिय आदर्श के लिए लडते हुए इज्जत से जान दी। यद्यपि क्रांति निर्दयतापूर्वक दबा दी गई । लेकिन इसका भारतीयों तथा अग्रेज शासकों के पारस्परिक सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ा ।

1857 की घटनाओं से यह सिद्ध होता है । कि उस समय भारत में हिन्दू और मुसलमानों में बहुत एकता थी । इसी कारण 1857 के संघर्ष ने राष्ट्रीय और जातीय रूप धारण किया, साम्प्रदायिक नहीं । उसी भाईचारे और एकता की महती आवश्यकता आज भी है ।

हम यह भी पढ़ेंगे की 1657 का विद्रोह सिर्फ एक ऐतिहासिक दुर्घटना नहीं थी । अपितु अपनी विफलता में भी इसने एक महान् उद्देश्य की पूर्ति की । यह उस राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम का प्रेरणा स्रोत बन गया, जिसने बह हासिल कर दिखाया, जो विद्रोह हासिल नहीं कर सका ।

13.2 विप्लव के लिए उत्तरदायी कारण

गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग के शासनकाल की एक महत्वपूर्ण घटना 1857 का विद्रोह थी । इसने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी और कई बार ऐसा प्रतीत होने लगा था कि भारत में अंग्रेजी राज्य का अन्त हो जायेगा । यद्यपि यह सैनिक विद्रोह के रूप में शुरू हुआ किन्तु जन ही इसने उदर भारत के विस्तृत क्षेत्र की जनता और कृषक वर्ग को भी शामिल कर लिया । इस व्यापक विद्रोह के अनेक कारण थे, किन्तु मोटे तौर पर इसका मुख्य कारण अंग्रेजों द्वारा भारतीय जनता का अत्यधिक शोषण था । 1757 के प्लासी युद्ध के बाद ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ऐसी नीतियाँ अपनाई, जिससे भारतीय जनता में तीव्र असंतोष उत्पन्न हुआ । चूंकि यह विद्रोह सिपाहियों द्वारा शुरू किया गया था और इसका तात्कालिक कारण सिपाहियों की बगावत थी । अत: विदेशी इतिहासकार केवल सैनिक असन्तोष को ही इसका वास्तविक कारण मानते हैं । परन्तु आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि यह ब्रिटिश शासन के दौरान विकीसत हो रहे विविध स्तरीय असन्तोष का परिणाम था । यहां हम 1857 ई. के विप्लव के महत्वपूर्ण कारणों का विश्लेषण करेंगे ।

13.2.1 राजनीतिक कारण

अंग्रेज भारत में व्यापारी के रूप में आये थे, परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने राज्य स्थापना तथा उसके विस्तार का कार्य आरम्भ किया । धीरे-धीरे भारतीयों की राजनीतिक स्वतंत्रता का अपहरण होता गया और वे अपने राजनीतिक तथा उनसे उत्पन्न अधिकारों से वंचित होते गये । जिसके फलस्वरूप उनमें बडा असंतोष फेला, जिसका विस्फोट 1857 ई. के विप्लव के रूप में हुआ । इस क्रांति के राजनीतिक कारण निम्नलिखित थे

(1) **र्ड डलहौजी की साम्राज्यवादी नीति**:.- 1857 की क्रांति के लिए डलहौजी की साम्राज्यशदी नीति काफी हद तक उत्तरदायी थी । उसने विजय तथा पुत्र गोद लेने कई निषेध द्वारा देशी राज्यों के अपहरण का एक कुचक चलाया जिसने समपूर्ण भारत के देशी नरेशों को आतंकित कर दिया और उनके हृदय में अस्थिरता तथा आशंका का बीजारोपण कर दिया । लार्ड डलहौजी ने व्यपगत सिद्धाना या हडप-नीति को कठोरतापूर्वक अपनाकर देशी रियासतों के निःसन्तान राजाओं को उत्तराधिकार के लिये दत्तक-पुत्र लेने की आज्ञा नहीं दी और सतारा (1848), नागपुर (1853), झांसी (1854), बरार (1854), संभलपुर, जैतपुर, बघाट, अदपुर आदि रियासतों को कथनी के ब्रिटिश-साम्राज्य में मिला लिया । उसने 1856ई. में अंग्रेजों के प्रति वफादार अदद रियासत को कुशासन के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया ।

(2) **मुगल सम्राट के साथ दुर्व्यवहार:-** अंग्रेजों ने भारतीय शासको के साथ दुर्व्यवहार भी किया । उन्होंने मुगल सम्राट को नजर देना व समान प्रदर्शित करना बन्द कर दिया इतना ही नहीं लार्ड डलहौजी ने मुगल सम्राट की उपाधि को समाज़ करने का निश्चय किया उसने बहादुरशाह के सबसे बडे पुत्र मिर्जा जवाबख्त को युवराज स्वीकार करने इंकार कर दिया और बहादुरशाह से अपने पैतृक निवास स्थान लाल किले को खाली कर कुतुब में रहने के लिए कहा । यद्यपि दिल्ली का सम्राट अब शक्तिहीन शोभा की वस्तु मात्र रह गया था परन्तु देशी राजाओं तथा जनता में अब भी उसकी प्रतिष्ठा बची हुई थी । साथ ही भारतीय मुसलमान उस समय तक तैमूर-वंश के अंतिम शासक बहादुरशाह के समान और समृद्धि को अपना समान व समृद्धि समझते थे । इस कारण बहादुरशाह के प्रति अंग्रेजों के दुर्व्यवहारों से भारतीय

मुसलमानों विशेषकर दिल्ली में बहुत असन्तोष फैला परिणामस्वरूप विद्रोहियों ने मुगल सम्राट को अपना नेता मान लिया और उसका दरबार क्रांति का प्रमुख केन्द्र बन गया ।

(3) **ब्रिटिश पदाधिकारियों के वक्तव्य:-** डलहौजी की साम्राज्यदी नीति के साथ-साथ कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने ऐसे वक्तव्य दिये जिससे देशी नरेश बहुत आतंकित हो गये और अपने भावी अस्तित्व के सम्बन्ध मे पूर्ण रूप से निराश हो उठे । उदाहरणस्वरूप सर चार्ल्स नेपियर ने वक्तव्य दिया था कि यदि मैं बारह वर्ष तक भारत का सम्राट होता तो किसी भी भारतीय नरेश का अस्तित्व न रह जाता । निजाम का नामो-निशान न रह जायेगा और नेपाल हमारा हो जायेगा।

(4) **नाना साहब और रानी लक्ष्मी बाई का असन्तोष:-** झांसी की रानी लक्ष्मी बाई तथा पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब अंग्रेजों के घबहार से बहुत नाराज थे । अंग्रेजों ने झांसी के राजा-गंगाधर राव के दत्तक पुत्र दामोदर राव को उत्तराधिकार से वंचित करके झांसी राज्य को कथनी के राज्य में शामिल कर लिया था । इस अत्याचार को रानी लक्ष्मीबाई सहन न कर सकी और क्रान्ति के समय उसने विद्रोहियों का साथ दिया । इसी तरह अंग्रेजों ने पेशवा बाजीराव के दत्तक पुत्र धोसु पन्त अथवा नाना साहब के साथ भी अचाय किया और उन्हें नोटिस दिया गया कि बिठुर की जागीर भी तुमसे जिस समय चाहे छीन ली जायेगी । उनकी पेंशन भी जब्त कर ली गई । फलत: विप्लव के समय उसने क्रांतिकारियों का नेतृत्व किया ।

(5) **अवध का विलय और नवाब के साथ अत्याचार:-** अंग्रेजों ने बलपूर्वक लखनऊ पर अधिकार करके नबाव वाजिद अली शाह को निर्वासित कर दिया था और निर्लज्जतापूर्वक महलों को लूटा था । बेगमों के साथ बहुत अपमानजनक व्यवहार किया गया था । इससे अवध के सभी वर्ग के लोगों में बडा असन्तोष फैला और अवध क्रांतिकारियों का केन्द्र बन गया।

(6) **प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था का विध्वंस:-** अंग्रेजों की विजय के फलस्वरूप प्राचीन राजनीतिक व्यवस्था पूर्ण रूप से ध्वस्त हो गई थी । ब्रिटिश शासन से पहले भारतवासी राज्य की नीति को पूरी तरह प्राभावित करते थे परन्तु अब वे इससे वंचित हो गये । अब केवल अंग्रेज ही भारतीयों के भाग्य के निर्माता हो गये ।

(7) **अंग्रेजों के प्रति विदेशी भावना:-** भारतीय जनता अंग्रेजों से इसलिए भी असन्तुष्ट थी क्योंकि वे समझते थे कि उनके शासक उनसे हजारों मील दूर रहते है । तुर्क, अफगान और मुगल भी भारत में विदेशी थे लेकिन वे भारत में ही बस गये थे और इस देश को उन्होंने अपना देश बना लिया था । जबकि अंग्रेजों ने ऐसा कोई काम नहीं किया था । अतएव भारतीयों के हृदय और मस्तिष्क से अंग्रेजों के प्रति विदेशी की भावना नहीं निकल सकी थी ।

(8) **उच्च वर्ग में असंतोष:-** देशी राज्यों के नष्ट हो जाने से न केवल उनके नरेशों का विनाश हुआ वरन् उच्च वर्ग के लोगों की स्थिति पर भी बड़ा घातक प्रहार हुआ । उच्च वर्ग के लोगों को इन राज्यों में अनेक विशेषाधिकार व सुविधाएं प्राप्त थी । देशी राज्यों को कथनी के राज्य में मिला लिये जाने पर उनकी नई व्यवस्था की गई और उच्च वर्ग को जो विशेषाधिकार तथा सुविधाएं प्राप्त थी उनको समाप्त कर दिया गया । इससे उच्च वर्ग के लोगों में बडा असंतोष था ।

13.2.2 प्रशासनिक कारण

अंग्रेजो की प्रशासनिक नीतियों से भारतीय संतुष्ट नहीं थे । उनकी नीतियों के कारण भारत में प्रचलित संस्थाएं एवं परम्पराएँ समाप्त होती जा रही थी तथा प्रशासन जनसाधारण से दूर हो गया था । अंग्रेजी प्रशासन की वे नीतियाँ, जिनसे भारतीयों में असंतोष फैला, निम्नलिखित है -

(1) **नवीन शासन-पद्धति को समझने में कठिनाई होना:-** भारतीय जिस शासन को सदियों से देखते आ रहे थे, वह समाप्त कर दिया गया था । नई शासन-पद्धति को समझने में उन्हें कठिनाई आ रही थी तथा, उसे वे शंका की दृष्टि से देखते थे ।

(2) **भारतीयों को प्रशासनिक सेवाओं से अलग रखने की नीति:-** अंग्रेजों ने शुरू से ही भारतीयों को प्रशासनिक सेवाओं में शामिल न कर भेद-भाव पूर्ण नीति अपनाई । लार्ड कार्नवालिस का भारतीयों की कार्यकुशलता और ईमानदारी पर विश्वास नहीं था । अत: उसने उच्च पदों पर भारतीयों के स्थान पर अंग्रेजों को नियुक्त कर दिया । परिणामत: भारतीयों के लिए उच्च पदों के द्वार बन्द हो गये । यद्यपि 1833 ई. के कम्पनी के चार्टर एक्ट में यह आवश्वासन दिया गया था कि धर्म, वंश, जन्म, रंग या अन्य किसी आधार पर सार्वजनिक सेवाओं में भर्ती के लिए कोई भेदभाव नहीं बरता जाएगा, परन्तु अंग्रेजों ने इस सिद्धान्त का पालन नहीं किया । सैनिक और असैनिक सभी सार्वजनिक सेवाओं में उच्च पद यूरोपियन व्यक्तियों के लिए ही सुरक्षित रखे गये थे । सेना में एक भारतीय का सबसे बड़ा पद सूबेदार का होता था जिसे 60 या 70 रूपये प्रति माह वेतन मिलता था । असैनिक सेवाओं में एक भारतीय को मिल सकने वाला सबसे बड़ा पद सदर अमीन का था जिसे 500/ - रूपये प्रति माह वेतन मिलता था । उच्च पद देना अंग्रेज अपना एकाधिकार समझते थे ।

(3) **ब्रिटिश न्याय व्यवस्था से भारतीयों में असंतोष:-** ब्रिटिश न्याय प्रशासन एक भिन्न प्रशासनिक व्यवस्था का प्रतीक था । विधि प्रणाली और सम्पत्ति अधिकार पूरी तरह से नये थे । न्याय प्रणाली में अत्यधिक धन तथा समय नष्ट होता था और फिर भी निर्णय अनिश्चित था । भारतीय इस न्याय व्यवस्था को पसन्द नहीं करते थे । अगर एक छोटा सा किसान भी किसी जमींदार की शिकायत करता था तो जमीदार को न्यायालय में जाना पडता था । इस प्रकार सम्मानित व्यक्ति अंग्रेजी न्यायालयों से असंतुष्ट थे ।

(4) **दोषपूर्ण भूराजस्व प्रणाली:-** भूराजस्व प्रणाली को नियमित करने के नाम पर अंग्रेजों ने अनेक जमींदारों के पट्टों की छानबीन की । जिन लोगों के पास जमीन के पट्टे नहीं मिले, उनकी जमीनें छीन ली गई । बम्बई के प्रसिद्ध इमाम आयोग ने लगभग बीस हजार जागीरें जल कर ली थी । लार्ड बैन्टिक ने तो माफी की भूमि भी छीन ली । इस प्रकार कुलीन वर्ग को अपनी सम्पत्ति व आय से हाथ धोना पड़ा । भूमि अपहरण की नीति के कारण तालुकेदारों में बड़ा असंतोष फैला और क्रांति में इन लोगों ने सक्रिय भाग लिया । किसानों के कल्याण एवं लाभ के नाम पर स्थाई बन्दोबस्त, रैयतवाडी व महलवाडी प्रणाली लागू की गई थी और हर बार किसानों से पहले की अपेक्षा अधिक लगान वसूल किया गया, जिसके कारण किसान लगातार निर्धन होकर साधारण मजदूर बनता गया । अंग्रेजों की लगान-नीति के विरूद्ध इतना प्रबल विरोध था कि अनेक स्थानों पर बिना सेना की सहायता से लगान जमा नहीं किया जा सकता था ।

(5) **शक्तिशाली ब्रिटिश अधिकारी वर्ग का विकास:-** भारत में कम्पनी शासन की सर्वोच्चता स्थापित होने के साथ ही प्रशासन में एक शक्तिशाली ब्रिटिश अधिकारी वर्ग का उदय हुआ । यह वर्ग भारतीयों से मिलना पसन्द नहीं करता था और हर प्रकार से उन्हें अपमानित करता था । अंग्रेजों के इस प्रजाति भेदभाव की नीति से भारतीय क्रुद्ध हो उठे और उनका यह क्रोध 1857 ई. के विप्लव के रूप में व्यक्त हुआ ।

(6) **शिक्षित भारतीयों में ब्रिटिश शासन से असंतोष:-** शिक्षित भारतीयों को यह आशा थी कि शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उन्हें राजनीतिक प्रशासनिक अधिकार प्राप्त हो जायेंगे । लेकिन अंग्रेजों की ऐसी कोई इच्छा नहीं थी । शिक्षित भारतीयों को प्रशासन में कहीं शामिल नहीं किया गया था जिससे उन्हें अंग्रेजी शासन की सद्भावनाओं पर कोई विश्वास नहीं रहा था ।

13.2.3 आर्थिक कारण

भारत में अंग्रेजी शासन का मूल आधार भारत का आर्थिक शोषण था । अंग्रेजों ने भारतीयों का जितना राजनीतिक शोषण किया, उससे भी बढ़कर उन्होंने आर्थिक शोषण किया । चूंकि अंग्रेज भारत में व्यापारी के रूप में आए थे । अतएव शुरू से ही उनका लक्ष्य धन कमाना था । अपने इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए उन्होंने नैतिक और अनैतिक सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग किया । 1857 ई. के विप्लव के आर्थिक कारण निम्नलिखित थे -

(1) **धन का विदेश गमन:-** अंग्रेजों के पूर्व जिन लोगों ने भारत पर आक्रमण किया था और यहां अपना राज्य स्थापित किया था उन्होंने भारत को ही अपना स्थायी निवास बना लिया था । अतएव भारत की सम्पत्ति भारत में ही रह जाती थी लेकिन अंग्रेजों ने कभी भी भारत को अपना स्थायी घर नहीं बनाया । इस प्रकार भारत में अनेक तरीकों से धन कमाकर के अन्त में वे अपने देश ले जाते थे । अपने देश से धन का यह गमन भारतीयों को सहन नहीं था ।

(2) **भारतीय व्यापार एवं उद्योगों का विध्वंस:-** 19वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति हो चुकी थी इसलिए इंग्लैण्ड को भारत से कच्चा माल ले जाने और अपने कारखानों में तैयार माल को बेचने के लिए भारतीय बाजार की आवश्यकता थी । इन दोनों जरूरतों को पूरा करने के लिए इंग्लैण्ड ने भारतीय उद्योग धन्धों को नष्ट कर दिया । एक ग्रामीण उद्योग के बाद दूसरा -ग्रामीण उद्योग नष्ट होता गया और भारत ब्रिटेन का आर्थिक उपकरण बन गया । चूंकि अंग्रेजों ने भारतीय व्यापार, वाणिज्य और कुटीर उद्योग पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था । अत: भारतीयों में गरीबी तेजी से बढ़ने लगी ।

(3) **किसानों की दशा दयनीय होना:-** अंग्रेजों ने किसानों की दशा सुधारने के नाम पर स्थायी बन्दोबस्त रैयतवाडी व माहलवाडी प्रणाली लाग की लेकिन इन सब में किसानों से बहुत ज्यादा भूमिकर वसूल किया गया जो किसान समय पर भूमि कर नहीं चुका पाते थे । उनकी भूमि को नीलाम कर दिया जाता था । इससे किसानों की दशा दयनीय होती गयी । शासन की दमनात्मक नीतियाँ और बार-बार पढ़ने बाले अकालों से उनका जीवन विनाश के कगार पर पहुंच गया । यदि किसान न्याय पाने के लिए न्यायालय की शरण में जाते तो उनकी पूर्ण बरबादी अवश्यभावी थी । जब फसल अच्छी होतो थी तो खेतिहर को पुराना कर्ज चुकाना होता था और जब खराब होती तो कर्ज का बोझ दुगना हो जाता था । अधीनस्थ कर्मचारियों, न्यायालयों तथा महाजनों के बीच गठबन्धन से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई

जिससे किसान का असंतोष बहुत बढ़ गया और वे सत्ता को उखाड़ने के लिए किसी भी अवसर का स्वागत करने के लिए तैयार हो गये ।

(4) **भूमि का अपहरण:-** बैन्टिक ने कर मुक्त भूमि का अपहरण किया, जिसके कारण कुलीन वर्ग के लोगों को अपनी जीविकोपार्जन के लिए दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी । काम ये कर नहीं सकते थे, भीख मांगने में इन्हें शर्म आती थी । उच्च वर्ग की प्रतिष्ठा और मर्यादा को जबरदस्त धक्का लगा । मजबूरी में उन्होंने भी सिपाहियों के विद्रोह का समर्थन किया और उसमें शामिल हो गये ।

(5) **शिल्पकारों और दस्तकारों के दमन से उत्पन्न असंतोष:-** ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन ने भारतीय दस्तकारी और शिल्प के प्रति उपेक्षा का रवैया अपनाया । जो थोड़ी बहुत छूट दी गई बह भी इसलिए कि भारतीय दस्तकार बही बनाएं जो अंग्रेज चाहते हैं । पूरी दुनिया में अपनी कला के लिए मशहूर भारतीय दस्तकार और शिल्पकार भूखे मरने लगे । उन्होंने रोजगार की तलाश की, लेकिन रोजगार उन्हें नहीं मिला । क्योंकि जिस तेजी के साथ दस्तकारी खत हुई उस तेजी के साथ औद्योगिक विकास नहीं हुआ । बेकार कारीगरों ने कृषि पर निर्भर होने का प्रयास किया । किन्तु भूमि सीमित होने के कारण उन्हें कृषि से कोई लाभ नहीं हुआ । इस प्रकार विदेशी प्रतिद्वंदी के फलस्वरूप श्रमिक बेकारी का शिकार बन गया और भूमि पर बेकार का बोझ बन गया और समाज के लिए शाश्वत आर्थिक अभिशाप बन गया ।

(6) **बेकारी की समस्या:-** देशी राज्यो के अंग्रेजी राज्यों में बिलय होने के फलस्वरूप हजारों सैनिक तथा असैनिक बेकार तथा जीविकाहीन हो गये थे । इन बेरोजगारों की संख्या लाखों में थी । बेरोजगारों में अंग्रेजों के खिलाफ असन्तोष उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था । उन्होंने घूम-घूम कर अंग्रेजों के विरूद्ध प्रचार किया तथा जनता को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया ।

13.2.4 सामाजिक कारण

अंग्रेजी शासन ने भारतीय समाज में भी भयानक क्रान्ति उत्पन्न कर दी थी । एकाधिकारवादी ब्रिटिश शासन के प्रोत्साहन पर अंग्रेज अधिकारियों ने जिस तरह सामाजिक परम्पराओं, मान्यताओं पर कुलराघात किया उससे परम्परावादी हिन्दुओं और मुसलमानों को आघात पहुंचा । उन्होंने यह समझा कि सामाजिक परिवर्तन के नाम पर कानून बनाकर अंग्रेज उनके धर्म और संस्कृति को नष्ट करना चाहते हैं । भारतीयों को अंग्रेजी राज्य में मुख्यत: निम्नलिखित सामाजिक असुविधाओं का सामना करना पड़ा

(1) बिदेशी सभ्यता का प्रचार:- अंग्रेज अपने साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ अपनी सभ्यता तथा संस्कृति के सार का प्रयास कर रहे थे । इससे भारतीय जनता अत्यंत नाराज और असन्तुष्ट थी ।

(2) **भारतीयों के सामाजिक क्रियाकलापों में हस्तक्षेप से उत्पन्न असंतोष:-** अंग्रेजों ने भारतीय समाज के दोषों को भी दूर करने का प्रयत्न किया । लार्ड बिलियम बँटिक (1828-35 ई) ने एक कानून बनाकर सती प्रथा को बन्द कर दिया । कन्यावध और बालविवाह का भी निषेध किया गया । लार्ड कैनिंग ने विधवा-विवाह की आज्ञा दे दी । लार्ड डलहौजी ने 1856ई. में पैतृक सम्पत्ति सम्बन्धी कानून बनाया जिसके द्वारा हिन्दू उत्तराधिकार नियम में परिवर्तन कर दिया गया । इस कानून के अनुसार यह निश्चित किया गया कि यदि कोई हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर लेगा, तो उस व्यक्ति को उसकी पैतृक सम्पत्ति से वंचित नहीं किया जाएगा अर्थात् ईसाई बनने वाले हिन्दू व्यक्ति का अपनी पैतृक

सम्पत्ति में भाग बना रहेगा । रूढ़िवादी भारतीयों के लिए अपने परम्परागत सामाजिक नियम में अंग्रेजों का हस्तक्षेप असहनीय था । अत: उन्होंने विद्रोह को शुरू करने में योगदान दिया ।

(3) **वैज्ञानिक आविष्कारों का प्रयोग:-** लार्ड डलहौजी ने रेल, डाक, तार आदि का प्रयोग भारत में शुरू किया था । इन वैज्ञानिक प्रयोगों से भी भारतीय अत्यन्त शंकित हुए । उन्होंने यह समझा कि हमें यूरोपियन बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है ।

(4) **अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार:-** अंग्रेजों ने भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रचार बहुत तेजी से शुरू किया था । मैकाले व अन्य अंग्रेजों ने भारतीय भाषाओं साहित्य तथा विधाओं के विरूद्ध जो भाषण दिया था उससे भारतीय बहुत शंकित हो गये और उन्हें यह विश्वास हो गया था कि अंग्रेज उनकी सभ्यता तथा संस्कृति को नष्ट करना चाहते है तथा भारतीय नवयुवकों को अंग्रेजी की शिक्षा देकर उनका युरोपीयकरण करना चाहते है । नई शिक्षा प्रणाली के अनुसार जो स्कूल खोले गये, उनमें सभी जाति तथा धर्मो केविद्यार्थीएक साथ बेठकर शिक्षा ग्रहण करते थे । यह भारतीय परम्परा के विरूद्ध था । इससे असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई ।

(5) **अंग्रेजों की जातीय विभेद की नीति:-** सामाजिक दृष्टि से अंग्रेज अपने को उच्च नस्त का मानकर भारतीयों को बहुत निम्न दृष्टि से देखते थे । भारतीयों के प्रति उनका व्यवहार और उनके विचार बहुत ही अपमानजनक हुआ करते थे । ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध है, जिनसे इस बात की पुष्टि होती है कि अंग्रेज भारतीयों को बराबरी का दर्जा नहीं देना चाहते थे । ब्रिटिश जज भी अंग्रेजों के प्रति पक्षपात करते थे । इसलिए, अंग्रेजों के अपमानजनक दुर्व्यवहार के विरूद्ध भारतीय न्याय भी नहीं पा सकते थे । समय के साथ-साथ अंग्रेजों के व्यक्तिगत अत्याचार की घटनाएं कम होने के बजाय बढ़ती जा रही थी । ये घटनाएं भारतीयों में असन्तोष का एक मुख्य कारण थी ।

13.2.5 धार्मिक कारण

कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों ने अप्रत्यक्ष रूप से ईसाई धर्म के प्रचार का भागीरथ प्रसार किया । जिससे भारतीय जनता विशेषकर सैनिकों में आतंक छा गया । अंग्रेजों द्वारा भारतीय धर्म में हस्तक्षेप के निम्नलिखित प्रयास किये गए -

(1) **ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्म प्रसार की स्वीकृति देना:-** 1813ई. के चार्टर एक्ट द्वारा अंग्रेजी सरकार ने ईसाई मिशनरियो को भारत में धर्म प्रचार की स्वीकृति प्रदान कर दी थी । उसके बाद ईसाई पादरी बड़ी संख्याओं में भारत आने लगे । उनका एक मात्र लक्ष्य भारत में ईसाई धर्म का प्रसार था । शुरू में अंग्रेज शासकों ने पादरियों को धर्म-प्रचार मे कोई सहायता देना पसन्द नहीं किया । लेकिन बाद में शासक वर्ग द्वारा ईसाई धर्म प्रचारकों को आर्थिक सहायता, राजकीय संरक्षण तथा प्रोत्साहन दिया जाने लगा । इस कारण हिंदू और मुसलमान दोनों को ही अपने-अपने धर्म के लिए खतरा महसूस हुआ ।

(2) **मिशनरियों की उद्दण्डता:-** ईसाई धर्मोपदेशक बडे अहंकारी तथा उद्दण्ड होते थे । वे भारतीयों के सामने खुले रूप से इस्लाम तथा हिन्दू धमों की निन्दा किया करते थे और उनके महापुरूषों, अवतारों और पैगम्बरों को गालियां दिया करते थे । ऐसी स्थिति मे हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों को शंका होने लगी और वे अंग्रेजों से घृणा करने लगे ।

(3) **शिक्षण संस्थाओं द्वारा ईसाई धर्म का प्रचार:-** धर्म के लिए सबसे बड़ा खतरा ईसाई पादरियों द्वारा संचालित स्कूलों से हुआ । इन स्कूलों का उइदेश्य भारतीयों को शिक्षा प्रदान करने के साथ्साथ, ईसाई धर्म का प्रचार करना भी था । इन स्कूलों में हिन्दू बच्चों से ईसाई धर्म के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे जाते थे । इससे उच्च वर्ग के भारतीयों की यह धारणा हो गई कि यदि उनके पुत्र नहीं तो उनके पौत्र तो निश्चय ही ईसाई बन जायेंगे । इसके विपरीत सरकारी स्कूलों में हिन्दू अपने धर्म की शिक्षा नहीं दे सकते थे क्योंकि राज्य अपने को धर्म-निरपेक्ष बतलाता था । राज्य की इस दोहरी नीति से भारतीयों में बड़ा असंतोष फैला ।

(4) **ईसाई बनने वालों को सुविधाएं देना:-** ईसाई धर्म की और आकर्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के प्रलोभन दिए जाते थे । जो हिन्दु अथवा मुसलमान ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते थे उन्हें सरकार अनेक प्रकार से सहायता देती थी और सरकारी नौकरियां देकर अन्य लोगों को भी ईसाई बनाने के लिए प्रोत्साहित करती थी । अपराधियों को अपराध से बरी कर दिया जाता था, यदि वे ईसाई धर्म को स्वीकार कर लेते थे । लार्ड कैनिंग ने तो ईसाई धर्म के प्रचार के लिए लाखों रूपये दिए । इससे लोग स्वेच्छा से ईसाई बनने लगे । फलत: लोगो में असंतोष बढ़ता गया ।

(5) **सम्पत्ति सम्बन्धी उत्तराधिकार के नियम में परिवर्तन:-** 1856ई. में जो पैतृक सम्पत्ति-सम्बन्धी कानून बनाया गया उसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि धर्म परिवर्तन करने पर किसी व्यक्ति को उसकी पैतृक सम्पत्ति से वंचित नही किया जायेगा । उसे भी भारतीयों ने ईसाई धर्म को प्रोत्साहित करने का साधन समझा ।

(6) **गोद-प्रथा का निषेध:-** डलहौजी ने हिन्दुओं को पुत्र गोद लेने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था । लेकिन हिदू धर्म शासन के अनुरमार परलोक में शांति प्राप्त करने के लिए निःसन्तान व्यक्ति के लिए पुत्र को गोद लेना बहुत जरूरी समझा जाता था । अतएवं डलहौजी की इस नीति से भारतीयों में बड़ा असन्तोष फैला ।

(7) **जेलों में ईसाई धर्म का प्रसार:-** अंग्रेजों ने स्कूलों के साथ-साथ जेलों को भी ईसाई धर्म प्रसार का साधन बनाया था । जेल में प्रतिदिन सुबह एक ईसाई अध्यापक ईसाई धर्म की शिक्षा देता था । 1845 ई. मे एक नये नियम के अन्तर्गत जेल में सभी कैदियों का भोजन एक ब्राह्मण अक्ति के द्वारा समूहिक रूप से बनाया जाना शुरू किया गया । उस समय एक प्रत्येक कैदी अपना भोजन स्वयं बनाता था । इस नये नियम से प्रत्येक कैदी को अपनी जाति खो देने का डर लगा क्योंकि अन्तर्जातीय खान-पान को हिन्दू स्वीकार नहीं करते थे । जेल से छूटे हुए व्यक्ति को हिन्दू परिवार में शामिल नहीं करते थे।

13.2.6 सैनिक कारण

भारतीय सैनिकों में भी बड़ा असंतोष फैला हुआ था । 1857 ई के विप्लव निम्नलखित सैनिक कारण थे -

(1) **भारतीय सैनिको की विशाल संख्या:-** ब्रिटिश सेना में अंग्रेजों की तुलना में भारतीयों की संख्या ज्यादा थी 1856ई में भारतीय सेना में 2,33,000 भारतीय और 45,322 अंग्रेज सैनिक थे । भारतीय सैनिकों में यह भावना आने लगी थी कि यदि वे ठीक समय से आक्रमण करें तो वे अंग्रेजों को पराजित करके देश से बाहर निकाल सकते हैं । यह विश्वास सैनिकों में विद्रोह को प्रोत्साहन देने वाला था ।

(2) **सेना का असमान वितरण:-** भारत के विभिन्न भागों में सेना का वितरण असमान था । बंगाल की सेना में 1,51, 361 सैनिक थे । लगभग 40000 सैनिक पंजाब में थे । कलकत्ता तथा पटना के निकट स्थिएत दीनापुर के अलावा बंगाल तथा बिहार में कोई यूरोपीय सेना नहीं थी । भारतीय सैनिक अनेक स्थानों पर कम्पनी की कमजोरियों से परिचित थे ओर उससे लाम उठाने के लिए उत्सुक थे ।

(3) **वेतन, भत्तों, तरक्की आदि में भेद नीति:-** अंग्रेज सैनिकों को वेतन, भत्ता, तरक्की आदि के सम्बन्ध में भारतीय सैनिकों की अपेक्षा बहुत अधिक सुविधायें प्राप्त थी । भारतीय सैनिकों को बहुत कम वेतन मिलता था । एक सैनिक को 78 रूपये मासिक वेतन मिलता था और घुडसवार को 27 रूपये तक मिलते थे जिसमें से उन्हें अपने भोजन, वर्दी, घोडे का चारा तथा व्यक्तिगत सामानों के लिए भी खर्च करना पडता था । 'पैदल सेना में भारतीय -सूबेदार का उच्चमत वेतन नये यूरोपीय सैनिक के निम्नतम वेतन से भी कम होता था । भारतीय सैनिकों को प्राय: तरक्की नहीं मिलती थी । वे एक रिसालदार के रूप में सेना में प्रवेश करते थे और रिसालदार के रूप में ही सैनिक सेवा से अलग होते थे । जब भारतीय सैनिक अपनी योग्यता तथा प्रतिमा के कारण उच्च पदों के अधिकारी हो जाते थे तब उन्हें इनाम देकर सेना से अलग कर दिया जाता था । क्योंकि उच्च पद यूरोपीय सैनिकों के लिए सुरक्षित रहते थे । पदोन्नति और अधिकार दोनों मामलों में उनके साथ भेदभाव बरता जाता था ।

(4) **विशेष मलों पर प्रतिबन्ध:-** भारतीय सैनिकों को बिना किसी भत्ते के दूर-दूर स्थानों पर युद्ध करने के लिए जाना पडता था । अब उन्हें अपने पहले के शासकों की तरह विजय के बाद भूमि सम्मान और पद मिलने बन्द हो गये थे । 1824 ई. में बैरकपुर के सैनिकों ने बर्मा जाने से इंकार कर दिया था । 1844 ई. मे बंगाल की सेना ने सिन्ध जाने से उस समय तक इंकार कर दिया था जब तक कि उनकी विशेष भतता देने की माँग स्वीकार न कर ली गयी ।

(5) **असंतोषजनक नियमों का निर्माण:-** 1854 ई. में एक कानून बनाकर सैनिकों को प्राप्त मुक्त पत्र-व्यवहार की सुविधा भी समाप्त कर दी गयी । 1856 ई. में कैनिंग ने सामान्य सेना भर्ती अधिनियम बनाया जिसके अन्तर्गत यह निश्चित किया गया कि बंगाल की सेना में जितने नये सैनिक भर्ती किये जायेंगे उन्हें सैनिक सेवा के लिए कहीं भी भेजा जा सकता था । इस नियम के अनुसार भारतीय सैनिक को समुद्र पार भी जाना पड़ सकता था जबकि भारतीय सैनिक समुद्र पार जाने के लिए तैयार नहीं थे, क्योंकि इसे वे धर्म विरूद्ध समझते थे । भारतीय समाज में उस समय तक विदेश जाने वालों को जाति से बाहर कर दिया जाता था । यद्यपि इस नियम का प्रभाव पुराने सैनिकों पर नहीं पड़ता था । लेकिन क्योंकि बंगाल की सेना में अधिकांश सैनिकों की भर्ती पैतृक आधार पर होती थी, अतएव अपने बच्चों की चिन्ता में सभी सैनिकों में असंतोष बढ़ा ।

(6) **अवध का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय:-** अवध को अंग्रेजी राज्य में मिलाये जाने के कारण सैनिक असंतुष्ट थे क्योंकि उनमें से ज्यादातर, मुख्यत: बंगाल सेना के सैनिक उसी राज्य के निवासी थे । उन्होंने यह अनुभव किया कि कम्पनी ने जो शक्ति उनकी सेबाओं और त्याग से प्राप्त की थी उसका उपयोग उनके राजा को समाप्त करने के लिये किया गया था ।

(7) **सेना में पारस्परिक सदभावना का अभाव:-** ब्रिटिश सेना में अंग्रेजों और हिन्दुस्तानियों के बीच भाईचारे की नादना की कमी थी । कम्पनी के शुरुआती दिनों में एक-दूसरे पर जैसा भरोसा था, वह अब समाप्त हो चुका था ।

(8) **बंगाल के उच्च वर्गीय सैनिकों में असंतोष:-** बंगाल की सेना अंग्रेजों की मुख्य सेना समझी जाती थी । इसमें अवध तथा उत्तर पश्चिम प्रान्तों के उच्च वर्ग के लोगों का बाहुल्य था जो अपनी जाति-भावना तथा प्रथाओं के सम्बन्ध में बहुत अधिक ध्यान देते थे । अब उसमें अंग्रेजों ने निम्न जातियों के व्यक्तियों की भी भर्ती करना शुरू कर दिया था । पहले उसमें केवल राजपूत और ब्राह्मण होते थे किन्तु बाद में जब निम्न जाति के व्यक्ति भी उसमें आये तो दे उसे पसन्द न कर सके ।

13.2.7 तात्कालिक कारण

उपरोक्त विवरण से प्रकट होता है कि भारतीय सैनिक न केवल उन सभी बातों से असन्तुष्ट थे जिनसे भारतीय नागरिक असन्तुष्ट थे बल्कि उनके असन्तोष के कुछ अलग कारण भी थे । अंग्रेजों के विरूद्ध विद्रोह की भावना सैनिकों में आ चुकी थी (उसे केवल एक चिंगारी कीजरूरत थी और वह चिंगारी चर्बी लगे हुए कारतूसों नेप्रदान कर दी ।

1856ई में भारत सरकार ने पुरानी बन्दूकों को हटाकर नयी 'एनफील्ड राइफल' को सेना में प्रयोग करना चाहा । उसके लिए जो कारतूस बनाये गये थे उन्हें बन्दूक में मरने से पहले मुंह से खोलना पड़ता था । इन राइफलों के कारतूसों को चिकना बनाने में गाय और सूअर की चर्बी का प्रयोग होता था । यद्यपि अंग्रेज अधिकारियों ने इस बात को नही माना लेकिन सैनिकों को उन पर विश्वास नहीं हुआ । यह भारतीय सैन्किों की धार्मिक भावनाओं की सूर अवहेलना थी । उन्हें यह विश्वास हो गया कि अंग्रेज हिन्दू और मुसलमान दोनों का ही धर्म भ्रष्ट करना चाहते है । अत: उन्होंने धर्म भ्रष्ट होने के बजाय ऐसे दूषित शासन का अन्त कर देना ही उचित समझा । इस प्रकार, कारतूसों की घटना 1857 ई. के विप्लव का मुख्य कारण बनी । सैनिकों की सफलता ने भारतीय नागरिकों को भी विद्रोह करने के लिए तैयार कर दिया ।

13.3 बोध प्रश्न -

1. 1857 ई. के विप्लव का तात्कालिक कारण क्या था?
   (अ) सामान्य सेना भर्ती अधिनियम
   (ब) पैतृक सम्पति सम्बन्धी कानून
   (स) चर्बी वाले कारतूस
   (द) सती प्रथा पर रोक
2. डलहौजी द्वारा गोद निषेध नीति के अन्तर्गत हड़पे गये चार राज्यों के नाम बताइये ?
3. 1657 ई. के विप्लव कें लिए उत्तरदायी कोई दो आर्थिक कारण बताइये ?
4. अंग्रेजों ने मुगल सम्राट बहादुरशाह के प्रति दुर्व्यवहार कैसे किया ?

13.4 विप्लव का प्रारम्भ एवं प्रसार

सर्वप्रथम क्रांति की शुरुआत कलकत्ता के पास बैरकपुर छावनी में हुई । यहां के सैनिकों ने नए कारतूसों का प्रयोग करने से इंकार कर विद्रोह का झण्डा खडा कर दिया । 29 मार्च, 1857 ई. को एक ब्राह्मण सैनिक मंगल पाण्डे ने चर्बी वाले कारतूसों के प्रयोग की आज्ञा से नाराज होकर अपने अन्य साथियों के साथ मिलकर कुछ अंग्रेज सैनिक अधिकारियों को मार डाला । परिणामस्परूप मंगल पाण्डे तथा उसके सहयोगियों को फांसी की सजा दे दी गई । उसके बाद 19 तथा 34 नवंबर की देशी

पलने समाप्त कर दी गई । बैरकपुर की छावनी की घटना के बाद मेरठ में भी विद्रोह शुरू हो गया । सैनिकों ने कारागह से बन्दी सैनिकों को मुक्त करा लिया तथा कई अंग्रेजों का वध कर दिया गया । मेरठ से यह क्रांतिकारी दिल्ली की ओर रहाना हुए ।

13.4.1 दिल्ली

11 मई 1857 ई. को मेरठ के विद्रोही सैनिक दिल्ली पहुंचे उस समय दिल्ली में कोई अंग्रेज पलटन यही थी । विद्रोहियों का दिल्ली के भारतीय सैनिकों ने स्वागत किया और वे भीड़ के साथ शामिल हो गये । जन ही उन्होंने अपने सभी अंग्रेज अधिकारियों की हत्या कर दी । विद्रोहियों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया और बहादुरशाह द्वितीय को नेतृत्व स्वीकार करने की अपील की । मुगल बादशाह ने संकोच किया तथा मेरठ के विद्रोह और विद्रोहियों के दिल्ली पहुंचने की सूचना आगरा में लेफ्टिनेंट गवर्नर को भिजवाई । लेकिन अंत मे विवश होकर उन्होंने क्रांतिकारियों का नेतृत्व करना स्वीकार कर लिया । अंग्रेज दिल्ली से भाग गये और दिल्ली पर मुगल सम्राट बहादुरशाह की पताका फहराने लगी । मुगल शहजादों मिर्जा मुगल, मिर्जा खिजिर, सुल्तान और मिर्जा अबू बकर ने संयोग से प्राप्त इस अवसर से पूरा-पूरा लाभ उठाया । उन्हें लगा कि यह उनके वंश के पुराने गौरव को पुन: प्रतिष्ठित करने का मौका है । मेरठ में विद्रोह और दिल्ली पर अधिकार की खबर पूरे देश में फैल गई और कुछ ही दिनों में उजर भारत के अधिकांश भागों में क्रांति का प्रसार हो गया।

13.4.2 अवध

मेरठ की घटनाओं की सूचना 14 मई को और दिल्ली पर क्रांतिकारियों के अधिकार की खबर 15 मई को लखनऊ पहुंची । उस समय सर हेनरी लारेंस वहां का चीफ कमिश्नर था । उसने विद्रोह के संकट से बचने के लिए आवश्यक प्रयास किये लेकिन लखनऊ में भी विद्रोह को लम्बे समय तक टाला नहीं जा सका । 30 मई को लखनऊ से कुछ मील दूर मुरिआव छावनी में देशी सिपाहियों ने यूरोपीय फौज पर सशस्त्र हमला कर दिया । इसमें कुछ लोगों की जान गई । विद्रोह लखनऊ तक ही सीमित नहीं रहा । जल्द ही यह सीतापुर, फैजाबाद, बनारस, इलाहाबाद, आजमगढ़, मथुरा, मैनपुरी, अलीगढ़, बुलन्दशहर, आगरा, बरेली, फर्रूखाबाद, बिन्नौर, शाहजापुर, मुज्जफरनगर, बदायँ, दानापुर आदि क्षेत्र में, जहां भारतीय सैनिक तैनात थे, वहाँ फैल गया । सेना के विद्रोह करने से पुलिस तथा स्थानीय प्रशासन भी तितर-बितर हो गया । जहां भी विद्रोह भड़का सरकारी खजाने को लूट लिया गया और गोले-बारूद पर कब्जा कर लिया गया । बैरकों, थानो राजस्व कार्यालयों को जला दिया गया, कारागार के दरवाजे खोल दिये गये । गाद के किसानों तथा बेदखल किये गये जमींदारों ने साहूकारों एवं नये जमींदारों, जिन्होंने उन्हे बेदखल किया था हमला कर दिया । उन्होंने सरकारी दस्तावेजों तथा साहूकारों के बहीखातों को नष्ट कर दिया अथवा लूट लिया । इस प्रकार क्रांतिकारियों ने औपनिवेशिक शासन के सभी चिन्हों को मिटाने का प्रयास किया । जिन क्षेत्रों के लोगों ने विप्लव में भाग नहीं लिया उनकी सहानुभूति भी विद्रोहियों के साथ थी ।

13.4.3 कानपुर

5 जून 1857 ई. को कानपुर में विद्रोह हुआ । कानपुर में क्रांति का नेतृत्व नाना साहब ने किया । उन्होंने 26 जून को कानपुर पर अधिकार स्थापित कर लिया और स्वयं को पेशवा घोषित कर

दिया । बहादुर शाह को नाना ने भी भारत का बादशाह मान लिया था । कानपुर के अंग्रेज सेनापति कीलर को नाना साहब ने आत्म-समर्पण करने पर बाध्य कर दिया ।

जुलाई 1857 में हैवलाक ने कानपुर पर आक्रमण कर दिया और बार दिन के घोर संघर्ष के बाद कानपुर पर अधिकार कर लिया । नवम्बर 1857 में ग्वालियर के 20,000 क्रांतिकारी सैनिकों ने तात्या टोपे के नेतृत्व में कानपुर पर आक्रमण कर दिया और वहाँ पर सेनापति विडहम को पराजित करके 28 नवम्बर को कानपुर पर पुन: प्रभुत्व स्थापित कर लिया । दुर्भाग्यश दिसम्बर 1857 को कैम्पबैल ने क्रांतिकारियों को बुरी तरह पराजित किया और कानपुर पुन: अंग्रेजों केर हाथ में आ गया । नाना साहब वहां से नेपाल चले गये ।

13.4.4 झांसी

झांसी में विप्लव का प्रारम्भ 5 जून 1857 को हुआ। रानी लक्ष्मीबाई के नेतृत्व में क्रांतिकारियों ने बुन्देलखण्ड तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया । बुन्देलखण्ड में विद्रोह के दमन का कार्य झुरोज नामक सेनापति को सोपा गया था । उसने 23 मार्च 1857 को झांसी का घेरा डाल दिया । एक सप्ताह तक युद्ध चलता रहा लक्ष्मीबाई के मोर्चा सभालने बालों में सिर्फ ब्राहमण एवं क्षत्रिय ही नहीं थे कोली, काछी और तेली भी थे ये महाराष्ट्रीय और बुन्देलखण्डी थे ये पठान तथा अन्य मुसलमान थे । पुरूषों के साथ हर मोर्चे पर महिलाएं भी थी । झांसी की सुरक्षा असंभव समझकर लक्ष्मीबाई 4 अप्रैल 1858 को अपने दत्तक पुत्र दामोदर को पीठ से बांधकर एक रक्षक दल के साथ शत्रु सेना को चीरती हुई कालपी पहुंची। तात्या टोपे, बांदा के नबाव बाणपुर तथा शाहगढ़ के राजा व अन्य क्रांतिकारी नेता भी कालपी विद्यमान थे । यहां झुरोज के साथ भयंकर युद्ध हुआ जिसमें विजय अंग्रेजों को मिली । मई 1858 को रानी ग्वालियर पहुंची। सिंधिया अंग्रेजों का सर्स्थक था किन्तु उसकी सेना विद्रोहियों के साथ हो गई । जिसकी सहायता से रानी ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया और ग्वालियर की रक्षा करते हुए वीरगति को प्राप्त हुई ।

13.4.5 बिहार

बिहार में जगदीशपुर के जमींदार कुंवरसिंह ने विद्रोह का नेतृत्व किया था । उस समय उनकी आयु 70 साल थी । कुंवरसिंह को अंग्रेजों ने दिवालिएपन के कगार पर पहुंचा दिया था । यद्यपि उन्होंने खुद किसी विद्रोह की योजना नहीं बनाई थी । लेकिन विद्रोही सैनिकों की टुकड़ी दीनापुर से आरा पहुंचने पर कुंवरसिंह उनके साथ मिल गये । जुलाई 1857 में उन्होंने आरा पर अधिकार कर लिया । मार्च 1858 में उन्होंने आजमगढ़ पर अधिकार जमाया । यह उनकी सबसे बड़ी सफलता थी । 22 अप्रेल 1858 ई को उन्होंने अपने जागीर जगदीशपुर पर पुन: अधिकार कर लिया । अन्त में उनकी जागीर में ही अंग्रेजों ने उन्हें चारों तरफ से घेर लिया और वह संघर्ष करते हुए मारे गये । उनकी मृत्यु के समय जगदीशपुर पर आजादी का झण्डा फहरा रहा था । सम्पूर्ण भारत के विप्लव में कुंवरसिंह ही एक ऐसे वीर थे जिन्होंने अंग्रेजों को अनेक बार हराया ।

13.4.6 राजपूताना

राजपूताना में 28 मई 1857 को नसीराबाद छावनी में तथा 3 जून 1857 को नीमच में विप्लव हुआ लेकिन विद्रोह का मुख्य केन्द्र कोटा और आउवा थे । कोटा मे विद्रोह का नेतृत्व मेहराब खां और

लाला जयदयाल ने किया । कोटा में क्रांति का महत्व अपेक्षाकृत ज्यादा माना जाता है. क्योंकि लगभग छः महीनों तक कोटा पर क्रांतिकारियों का अधिकार रहा । समस्त जनता क्रांति की समर्थक बन गई थी । विद्रोहियों का लक्ष्य मुख्यतः सरकारी सम्पत्ति और सरकारी बंगले को नुकसान पहुंचाना था । मेहराब खाँ और जयदयाल के नेतृत्व में छः महीने तक फौज ने इच्छानुसार शासन चलाया । अंग्रेजों के अनेक समर्थकों को तोपों के मुंह पर बांधकर उडा दिया गया । अंग्रेजों को इस विद्रोह को कुचलने के लिए विशेष सेना भेजनी पडी । महाराव की स्वामी भक्त सेना करौली की सेना, गोटेपुर की फौज ने भी इस ब्रिटिश सेना का सहयोग किया । लंबे संघर्ष के बाद 30 मार्च 1858 को कोटा पर पुनः अंग्रेजों का अधिकार हो गया । मेहराव खां और लाला जयदयाल पर मुकदमा चलाने का दिखावा कर उन्हें फांसी पर लटका दिया गया ।

जोधपुर के एरनपुरा में हुए विद्रोह में आऊवा के ठाकुर कुशलीसंह चम्पावत तथा मेवाड़ एवं मारवाड के कुछ जागीरदार शामिल हुए । जोधपुर के शासक द्वारा किलेदार अनाडसिंह के नेतृत्व में भेजी गई सेना को क्रांतिकारियों ने पराजित कर दिया । 18 सितम्बर 1857 को क्रांतिकारियों व जोधपुर के पोलिटिकल एजेन्ट कैप्टन मैसन एवं ए.जी.जी लारेंस के नेतृत्व वाली ब्रिटिश सेना में युद्ध हुआ । जिसमें ए. जी.जी. की सेना बुरी तरह परास्त हुई । आऊवा के क्रांतिकारी नेताओं का सघर्क दिल्ली से था और मारवाड की जनता की सद्भावना उनके साथ थी । 10 अक्टूबर 1857 को जोधपुर लीजियन के फौजी तथा कुशलीसंह के कई सहयोगी ठाकुर दिल्ली की और रवाना हुए । दिल्ली जाने का उद्देश्य यह था कि वे बहादुरशाह जफर का फरमान प्राप्त कर उसकी सैनिक सहायता से मारवाड़ तथा मेवाड को अंग्रेजी आधिपत्य से मुक्त कराना चाहते थे ।

13.4.7 पंजाब

पंजाब के सिख राजाओं के विप्लव में शामिल न होने के बारे में विद्वानो में एक मत नहीं है । वैसे ज्यादातर सिख राजाओं ने क्रांतिकारियों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं दिखाई थी । पंजाब के इस विद्रोह में भाग न लेने का एक मुख्य कारण पंजाबी सैनिकों की सहायता से नई सेनाओं का गठन होना था । इस भर्ती में पठानों एवं उत्तर पश्चिमी सीमा के लोगों को ज्यादा मौका दिया गया । इससे पंजाब में भंग किये गये देशी सैनिकों के सामने अंग्रेजी सेना में भर्ती का आकर्षण भी उत्पन्न हो गया था ।

पंजाब को 1848 में ही अंग्रेजी राज्य में मिलाया गया था और यह युद्ध प्रिय लोगों का घर था । किन्तु यहां के लोग आपस में बंटे हुए थे और उनकी ईषाभरी प्रतिद्वंद्विता के कारण शासकों ने स्वयं को सुरक्षित समझा । अंग्रेजी प्रशासन का उद्देश्य था - दो वर्गो का एक-दूसरे के द्वारा नियंत्रण में रखना, एक जाति को दूसरी जाति के साथ और एक मत को दूसरे मत के विपरीत संतुलित करते रहना ।

पंजाब के पेशावर, सियालकोट, फिरोजपुर इत्यादि स्थानों पर सैनिकों ने विद्रोह किया था । लेकिन पंजाब के गवर्नर जॉन लारेंस ने प्राप्त को ब्रिटिश नियंत्रण में रखने के विद्रोह की शंका होने पर भी बर्बरतापूर्ण दण्ड देने की नीति अपनाई । कहीं-कहीं सैनिकों की पूरी रेजीमेंटों को तोप से उडवा दिया गया । गअं के गांब जलबा दिये गये और कुछ स्थानों पर पाद के सभी पुरूषों को कत्स करवा दिया गया ।

उपर्युक्त विवरण से यह प्रकट होता है कि उत्तर के लोगों ने जिस उत्साह से भारत के स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया वह उत्साह दक्षिण में नहीं देखा गया । इसका कारण सम्भवत: यह था कि अब तक दक्षिण की जनता अंग्रेजों के क्रूरतापूर्ण व्यवहार को भूल नहीं पाई थी । अत: दक्षिण में विद्रोह को अधिक समर्थन नहीं मिल पाया । मराठा सरदार भी सामान्यत: अंग्रेजों के समर्थक बने रहे । ग्वालियर के दिनकर राव और हैदराबाद के नवाब सालारजंग ने अंग्रेजों से मित्रता निभाते हुए क्रांतिकारियों को कुचलने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की । गुरखों ने भी विद्रोह को दबाने में अंग्रजों की सहायता की । कश्मीर के शासक गुलाबसिंह और राजपूताना के अधिकांश राजा भी अंग्रेज भक्त रहे । परिणाम स्वरूप क्रांति का प्रसार व्यापक रूप से नहीं हुआ ।

13.5 1857 ई के विप्लव के परिणाम

यद्यपि 1857 ई. का विप्लव असफल रहा परन्तु उसके परिणाम अत्यन्त व्यापक और स्थायी सिद्ध हुए । कहा गया कि सन् 1857 के महान् विस्फोट से भारतीय शासन के स्वरूप और सेना के माही विकास में मौलिक परिवर्तन आया । विप्लव के प्रमुख परिणाम निम्नलिखित थे -

(1) **ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन का अन्त एवं सम्राट को सत्ता का हस्तान्तरण:-** 1857 के विप्लव ने कम्पनी के शासन के दोष और दुर्बलताएं स्पष्ट कर दी । अत: 1858 ई. में ब्रिटिश संसद ने जुला हस्तान्तरण और भारत के श्रेष्ठतर शासन हेतु कानून' पारित किया गया । जिसके अनुसार कम्पनी को समाप्त कर दिया गया और भारत पर सम्राट तथा पार्लियामेंट की राज सज्ञा स्थापित कर दी गई । यह विद्रोह का सबसे प्रमुख और प्रत्यक्ष प्रभाव था, जिससे भारत मे एक नये युग का सूत्रपात हुआ ।

(2) **महारानी विक्टोरिया का घोषणापत्र-सुधारों तथा परिवर्तनों की घोषणा:-** 1857 के विप्लव के बाद भारतीयों के मन में उत्पन्न अविश्वास की भावना को दूर करने के उद्देश्य से इलाहाबाद में एक पक दरबार का आयोजन किया गया, जिसमें लार्ड कैनिंग ने एक नवम्बर 1658 ई. को महारानी विक्टोरिया का घोषणा-पत्र पढ़कर सुनाया । इस घोषणा-पत्र की प्रमुख बातें निम्नलिखित थी:

भारत में जितना राज्य अंग्रेजो का है, उसके विस्तार की अब कोई इच्छा नहीं है । भारतीयों को यह विश्वास दिलाया गया कि भविष्य में राज्य विस्तार नहीं किया जाएगा ।

भारतीय राजाओं तथा नवाबों के साथ कम्पनी ने जो सन्धियां की हैं उन्हें इंग्लैण्ड की सरकार हमेशा आदर की दृष्टि से देखेगी ।

- **(क)** धार्मिक सहिष्णुता एवं स्वतंत्रता की नीति का पालन किया जाएगा ।
- **(ख)** भारतीयों के साथ समानता का व्यवहार किया जाएगा और उनके कल्याण की योजनाएं लागू की जायेगी।
- **(ग)** प्राचीन रीति-रिवाजों एवं सम्पत्ति का संरक्षण किया जाएगा ।
- **(घ)** भारतीयों को आश्वासन दिया गया कि उनको निष्पक्ष रूप से कानून का संरक्षण प्राप्त होगा ।
- **(ङ)** बिना किसी पक्षपात के शिक्षा, सच्चरित्रता और योग्यतानुसार सरकारी नौकरियां दी जागी ।

(च) भविष्य में इस प्रकार शासन किया जायेगा जिससे देश का वैभव बढ़े और वह उन्नति के पथ पर अग्रसर हो ।

(छ) उन सभी विद्रोहिथां को क्षमादान मिलेगा जिन्होंने किसी अंग्रेज की हत्या नहीं की है ।

महारानी की इस घोषणा को भारतीय स्वतंत्रता का मैग्नाकार्टा कहा गया । यद्यपि इस घोषणा की बहुत सी बातें कभी लागू नहीं की गई तथापि यह घोषणा 1919 ई. तक भारतीय शासन की आधारशिला बनी रही ।

(3) **देशी राज्यों के प्रति नीति में परिवर्तन:-** 1857 ई. की क्रांति ने ब्रिटिश सरकार तथा देशी राज्यों के सम्बन्ध में बहुत बडा पखिर्तन कर दिया । अभी तक देशी राज्यों को अंग्रेजी राज्य में शामिल करने की नीति का अनुसरण किया गया था लेकिन अब यह नीति त्याग दी गई और महारानी विक्टोरिया ने अपनी घोषणा में इस बात को स्पष्ट कर दिया कि किसी भी देशी राज्य को अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलाया जायेगा । विप्लव के समय देशी राजाओं ने अपनी राजभक्ति का पूरा परिचय दिया था । अंग्रेजी सरकार को भी यह अच्छी तरह समझ में आ गया था कि भविष्य में भारतीय जनता में से उनको मित्र नहीं मिल सकेंगे । केवल देशी रियासतों के राजाओं को सन्तुष्ट रखकर उन्हें मित्र बनाया जा सकता है और उनकी सहायता से भारत में लोकप्रिय शासन की भावनाओं का विरोध किया जा सकता है । अत: ब्रिटिश सरकार ने देशी राज्यों के अस्तित्व को समाज करने के साथ पर उनके स्थान सहयोग करना शुरू किया । देशी राजाओं को पुत्र गोद लेने तथा उत्तराधिकार के अधिकार को सुरक्षित रखने का विश्वास दिलाया गया । उन्हें सनद तथा प्रमाण पत्र दिये गये और जागीरें वापस दी गई । इस प्रकार देशी राजाओं को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए आज्ञाकारी एवं वफादार बना दिया गया ।

(4) **शासन में भारतीयों का सहयोग लेना:-** 1861 ई. के भारतीय परिषद् अधिनियम द्वारा भारतीयों से प्रशासन में सहयोग लेने की नीति को अपनाया गया । इसका उद्देश्य ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों की राय तथा प्रशासन के सम्बन्ध में उनके विचार मालूम करना था ताकि शासन व्यवस्था के संचालन में जनमत का ध्यान रखा जा सके । इस प्रकार विप्लव के बाद संवैधानिक विकास की प्रक्रिया शुरू हुई, जिससे भारतीयों को लाभ पहुंचा ।

(5) **गह सरकार के नियंत्रण में दृढ़ता आना:-** विप्लव से पूर्व इंग्लैण्ड की सरकार का भारतीय सरकार के ऊपर नियंत्रण ढीला रहता था, परन्तु कान्ति के बाद यह नियंत्रण बहुत मजबूत हो गया । अब भारत की विदेश नीति का यूरोप की राजनीति से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गया ।

(6) **सेना का पुनर्गठन :-** 1857ई. के विप्लव की शुरुआत सैनिक क्रांति के रूप में हुई थी, अत: ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह को दबाने के पश्चात सेना के पुनर्गठन के लिए 1858 ई. में 'पोल कमीशन' की नियुक्ती की थी । उसकी सिफारिश पर भारतीय सेना का पुनर्गठन किया गया । इस पुनर्गठन में अंग्रेज सैनिकों की संख्या में वृद्धि की गयी तथा भारतीय सैनिकों की संख्या में कमी की गयी । भारतीय सेना के जाति के आधार पर अलग-अलग सैनिक दस्ते बनाये गये और उन्हें एक दूसरे से अलग रखा गया, जिससे वे अंग्रेजी शासन के विरूद्ध मोर्चा बनाने मे असमर्थ हो जाए । सेना में भारतीय पक्ष को कमजोर करने के लिए तोपखाना ब्रिटिश सैनिकों के अधीन रखा गया । बंगाल की सेना का स्थान वस्तुत: पंजाब की सेना ने ग्रहण कर लिया । अब कम्पनी तथा सम्राट की सेना का हिभेद समाप्त कर दिया गया और सम्पूर्ण सेना सम्राट की सेना हो गई ।

(7) **भारतीयो के प्रति सन्देह और अविश्वास:-** 1857 ई. के विप्लव के बाद अंग्रेज शासकों का भारतीयों पर विश्वास पूरी तरह समाप्त हो गया । अब ब्रिटिश शासक भारतीयों को सन्देह की दृष्टि से देखने लगे थे । साम्राज्ञी विक्टोरिया की 1858 की प्रसिद्ध घोषणा में भारतीयों को रंग तथा जातीय भेदभाव के बगैर योग्यता के आधार पर पद देने का वचन दिया गया था । लेकिन इसको व्यवहार में लागू नही किया गया, क्योंकि ब्रिटिश शासकों को अब भारतीयों पर कोई विश्वास नहीं रहा था ।

(8) **जातीय कटुता:-** विद्रोह के बाद जातीय कदुता की भावनाएं बहुत उग्र हो गयी। अंग्रेज भारतीयों को अपना शत्रु समझने लगे । अंग्रेज घृणा के भाव से भारतीयों को 'काले भारतीय' कहकर पुकारने लगे । दोनों जातियों के बीच फिर कभी सदभावना का संचार न हो सका ।

(9) **भारतीयों के समाजिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति:-** ब्रिटिश शासन ने यह अनुभव किया कि विद्रोह का एक कारण डलहौजी द्वारा हिन्दू समाज में सुधार हेतु बनाए गये कानून भी थे । अत: अब शासन द्वारा भारतीयों के सामाजिक जीवन -और धार्मिक क्षेत्र में हस्क्षेप करने के स्थान पर परम्परागत व्यवस्था को बनाए रखने की नीति अपना ली गई ।

(10) **पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार:-** अंग्रेज भारत पर राजनीतिक आधिपत्य बनाए रखने के साथ-साथ बौद्धिक और मानसिक विजय भी पाना चाहते थे । अपने इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने निम्न तरीके अपनाएं - (1) 1858 ई. में भारत में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए, ताकि यहां पश्चिमी शिक्षा का ज्यादा प्रसार हो सके । (2) 1881 ई. में 'हाइकोर्ट अधिनियम' पारित किया गया, ताकि अंग्रेजी न्याय व्यवस्था भारत में लोकप्रिय हो सके । (3) 1881 ई. में परिषदों का भी निर्माण किया गया, ताकि भारतीय जनता ब्रिटिश शासन पद्धति से परिचित हो सके ।

(11) **हिन्दुओं तथा मुसलमानों में अविश्वास की भावना का बीजारोपण**:- 1857 ई. विप्लव में हिन्दुओं और मुसलमानों ने मिलजुलकर भाग लिया था । अत: क्रांति के दमन के बाद ब्रिटिश सरकार ने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालने की नीति अपनाई । इसके अन्तर्गत अंग्रेजों ने हिन्दुओं की अपेक्षा मुसलमानों का दमन अधिक नृशंसता व पाशविकता के साथ किया । इससे मुसलमान हिन्दुओं के प्रति शिकायत रखने लगे । दोनों जातियों में वैमनस्य की उत्पत्ति हुई । जो भावी राष्ट्रीय आन्दोलन के मार्ग में बाधक सिद्ध हुई और जिसका अन्तिम परिणाम देश विभाजन के रूप में सामने आया ।

(12) **मुसलमानों की सांस्कृतिक जागृति पर प्रहार:-** विप्लव मे पहले दिल्ली में मुस्लिम साहित्य तथा संस्कृति का तेजी से विकास हो रहा था लेकिन क्रांति ने उसकी उन्नति और जागीत पर घातक प्रहार किया ।

(13) **अंग्रेजो की प्रतिष्ठा की स्थापना:-** 1857 ई. के विद्रोह के सफलतापूर्वक दमन ने अंग्रेजो की उस प्रतिष्ठा को पुन: स्थापित कर दिया जो क्रीमिया के युद्ध मे खोचुकी थी । उनकी सैनिक शक्ति की प्रतिष्ठा भी पहले की तरह बन गई।

(14) **आर्थिक प्रभाव:-** 1 857 ई. के विद्रोह के परिणाम भारतीय आर्थिक क्षेत्र के लिए भी नकारात्मक रहे । ब्रिटिश सरकार ने अंग्रेज पूंजीपतियों को भारत में कारखाने खोलने हेतु प्रोत्साहित किया तथा उनकी सुरक्षा का भी प्रबन्ध किया गया । तम्बाकू जूट, काफी, कपास एबं चाय आदि का व्यापार ब्रिटिश सरकार ने अपने नियंत्रण में ले लिया । भारत से कना माल इंग्लैण्ड भेजा जाता था और बहा से मशीनों से निर्मित माल भारत में आता था, जो कुटीर उद्योग-

धन्धों के निर्मित माल से सस्ता होता था । इसके परिणामस्वरूप भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धो का पतन हो गया ।

इस प्रकार भारतीय इतिहास में 1857 ई. के विप्लव का बहुत बडा महल है । यह विदेशी शासन से राष्ट्र को मुक्त कराने की देश भक्तिपूर्ण कोशिश और प्रगतिशील कार्यवाही थी । विफल होने के बावजूद यह राष्ट्रीय स्वतंत्रता आदोलन का प्रेरणास्रोत बन गया, जिसने भारत को स्वतंत्रता दिलाई ।

13.6 सारांश

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का इतिहास निरन्तर साम्राज्य-विस्तार और आर्थिक लाभ-प्राप्त करने का इतिहास है । जैसे-जैसे अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती गई, उनकी आकांक्षाएं भी बढ़ती गयी । 1857 ई. के विद्रोह के पहले अंग्रेजों ने बहुत तेजी से साम्राज्य का विस्तार किया था इससे भारतीय शासकों में यह भय हो गया कि अंग्रेज उनकी सत्ता को भी समाप्त कर देंगे । इसके अलावा कम्पनी के द्वारा भारतीय जनता का अधिकाधिक आर्थिक और राजनीतिक शोषण किया जा रहा था, भारतीयों के सामाजिक जीवन में हस्तक्षेप किया जा रहा था तथा सैनिकों व अन्य भारतीयों की धार्मिक भावनाओं को आघात पहुंचाया जा रहा था । इन सब कार्यो के परिणामस्वरूप भारतीय व्यक्तियों में कम्पनी की संज्ञा के प्रति असन्तोष बढ़ता ही जा रहा था और इस निरन्तर बढ़ते हुए असन्तोष के फलस्वरूप एक व्यापक विप्लव द्वार जिसे भारत का ध्यय स्वतंत्रता संग्राम कहा जाता है ।

1857 ई. विप्लव के प्रमुख केन्द्र दिल्ली, मेरठ, लखनऊ, कानपुर, झांसी, जगदीशपुर, बनारस. आगरा रूहेलखण्ड, इलाहाबाद, नसीराबाद, नीमच, आउवा, कोटा इत्यादि थे । विद्रोह के प्रमुख नेता नाना साहब, बहादुरशाह, तात्या टोपे, रानी लक्ष्मीबाई, कुवरसिंह मौलवी अहमदशाह, खान बहादुर खां, मेहराब खां लाला जयदयाल, कुशलसिह चांपावत आदि थे । इस क्रांति में हिन्दुओं और मुसलमानों ने एकजुट होकर ब्रिटिश शासन को उखाडने का प्रयास किया था ।

1857 ई. के विप्लव के परिणाम काफी महत्वपूर्ण रहे । ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन समाप्त हो गया और भारत का शासन ब्रिटिश सम्राट के अधीन हो गया । परतन्त्रता से स्वयं को मुक्त कराने का यह अन्तिम सशस्त्र प्रयास था । असफल रहने के बाबजूद इसने गुलामी से आजाद होने के प्रेरणास्रोत के रूप में काम किया ।

13.7 बोध प्रश्न

1. 1857 ई. के विप्लव के कारणों की व्याख्या कीजिए ।
2. 1857 ई. की क्रांति के क्या परिणाम रहे?

13.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. अठारह सौ सत्तावन, 2005 द्वितीय संस्करण – सुरेन्द्रनाथ सेन
2. भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष, दिल्ली, 1996 – विपिनचन्द्र
3. प्रथम स्वतंत्रता संग्राम की झलकियाँ, इलाहबाद, 1985 – डॉमोतीलाल भार्गव .
4. आधुनिक भारत का इतिहास)1757-1857), इलाहबाद,1985 – श्री नेत्र पांडे
5. राजस्थान का स्वाधीनता संग्राम, जयपुर 1985 – प्रकाश व्यास

इकाई-14

राजस्थान में किसान आन्दोलन (बिजौलिया एवं शेखावटी) (Peasant Movements in Rajasthan- Bijolia and Shekhawati)

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 राजस्थान में कृषक असन्तोष के कारण

14.2.1 जागीदारो एवं सामन्तों का पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की ओर झुकाव बढ़ना

14.2.2 कृषि पर आधारित लोगो की संख्या में बढोतरी

14.2.3 जागीदारो के अमानवीय व्यवहार

14.2.4 कृषि उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में अस्थिरता

14.3 बिजौलिया किसान आन्दोलन

14.4 बिजौलिया किसान आन्दोलन का चरणबद्ध विकास

14.4.1 आन्दोलन का प्रथम चरण (1897-1951 ई.)

14.4.2 आन्दोलन का द्‌वितीय चरण (1938-1947 ई.)

14.4.3 आन्दोलन का तृतीय चरण (1923-1941 ई.)

14.5 अनुभागीय सारांश

14.6 शेखावटी किसान आन्दोलन

14.7 शेखावटी किसान आन्दोलन का विकास (1930-1938ई.)

14.8 शेखावटी किसान आन्दोलन का चरमोत्कर्ष (1938-1947ई.)

14.9 सारांश

14.10 बोध प्रश्न

14.11 संदर्भ ग्रन्थ

14.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि -

- राजस्थान में किसान आन्दोलन के मुख्य कारण क्या थे?
- एवं शेखावटी के किसान आन्दोलनों में जागीरदारों एवं शासक वर्ग की क्या भूमिका रही ?
- राजस्थान के किसान आन्दोलनों का राजनीतिक जनजागरण में क्या योगदान रहा ?

14.1 प्रस्तावना

राजस्थान, भारत के अन्य प्रदेशों की भांति कृषि प्रधान प्राप्त है, जिसमें कृषकों का सीधा सम्बन्ध राज्य से या जागीरदार से रहा है । परम्परा के अनुसार कृषकों और राज्य या जागीरदार के सम्बन्ध मधुर थे । वे अपनी उपज का कुछ भाग अपने स्वामी को उपहार के रूप में देते थे और आवश्यकता पड़ने पर अपनी सेवाएं संघर्ष समर्पित करने में अपना गौरव समझते थे । राज्य या जागीरदार उन्हे अपना वात्सल्य प्रेम देकर प्रसन्न रखते थे और युद्ध के अवसर पर उनकी हर प्रकार की सुरक्षा की अवस्था कर उनकी सहायता करते थे ।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से राज्यों का ईस्ट इण्डिया कम्पनी से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात स्थिति में एक नयापीरवर्तन आया । इधर राजा-महाराजा तो अंग्रेजों की छत्रछाया में मौज शौक का जीवन बिताने लगे और उधर उनके सामन्त या जागीरदार भी अपने स्वामियों का अनुसरण करने में पीछे न रहे । जब अंग्रेजों को एक निश्चित खिराज राज्यों से प्राप्त होने लगा तो राज्यों ने भी अपने जागीरदारों से सेवा के बदले एक निश्चित कर लेना आरम्भ कर दिया । जागीरदार राज्यों को अपनी निश्चित कर देने के बाद पूर्णत: निश्चित हो गये और बे अपनी जागीर में स्वच्छन्द हो गये । शनै: शनै: ये मच्छन्दता निरंकुशता में परिणित होती गई । क्रमश: यही से कृषकों का शोषण आरम्भ हो गया।

ज्यों-ज्यों जागीरदारों के खर्च और निरंकुशता बढ़ती गई त्यों-त्यों कृषकों पर आर्थिक मार बढ़ता गया । लगान के अतिरिक्त कई लागतें ली जाने लगी जिनकी संख्या 100 से अधिक तक जा पहुंची । यदि -जागीरदार के यहां विवाह, जन्म-मृत्यु, त्यौहार आदि का अवसर आता तो किसानों को विशेष लागतों की अदायगी करनी पडती थी । ठिकानेदार या कामदार लोग-बागों अमानवीय ढंग से वसूल करते थे । फसल की बुवाई हो या कटाई, शादी हो या मरण, दुष्काल हो या महामारी, ठिकाना बिना विवेक के कर वसूली करता था । इसके अतिरिक्त बेगार प्रथा से किसान इतना ग्रसित था कि उसके न करने पर उसे कठोर यातनाएं भोगनी पडती थी । न्याय प्राप्त करने की किसान कल्पना भी नही कर सकता था ।

14.2 राजस्थान में कृषक असन्तोष के कारण

प्राचीन काल से मध्य काल तक शासक तथा सामन्तों या जागीरदार के बीच सम्बन्ध मधुर थे । इसी प्रकार समिन्त, जागीरदार तथा उनकी रैरयत के मध्य भी सम्बन्धों में सदभावना तथा सहयोग देखने को मिलता हैं रैयत अपनी आर्थिक स्थिति तथा इच्छानुसार उदार होता था । खालसा तथा जागीर दोनों ही क्षेत्रों के किसान अपने स्वामी को सम्मान देते थे । इधर शासक तथा सामन्त भी अपने किसानों को सन्तुष्ट रखने के लिए प्रयास में रहते थे, क्योंकि वे जानते थे कि राज्य तथा जागीरों की समृद्धि केवल किसानों पर निर्भर थी । किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के मध्य से इस व्यवस्था में बदलाव आने लगा । और बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में कृषक असन्तोष का स्वरूप अत्यन्त विस्तृत हो गया । कृषक असन्तोष के मुख्य कारण निम्नलिखित थे :-

14.2.1 जागीरदारों एवं सामन्तों का पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति की ओर झुकाव बढ़ना

उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ में देशी राज्यों तथा ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच सन्धियां स्थापित हो गयी थी, जिससे इन राज्यों को अपनी सुरक्षा व्यवस्था की चिन्ता से मुक्ति मिल गयी थी । इन सन्धियों को ब्रिटिश सरकार ने यथावत मान लिया था । इससे शासन वर्ग, जागीरदार वर्ग, अपनी रेययत के प्रति उदासीन हो गया । ऐसी स्थिति में राजा तथा सामन्त दोनों ही वर्ग विलासप्रिय हो गये । अंग्रेज अधिकारियों से सम्बन्ध स्थापित हो जाने के बाद उन पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव बढ्ने लगा, जिससे उनके रहन-सहन में भारी परिवर्तन आ गया । मेयो कॉलेज (अजमेर) में पढ्ने वाली शासकीय पीढ़ियाँ पश्चिमी शैली की वेशभूषा खान-पान, दावतें तथा अंग्रेजी शराब के प्रति अत्यधिक आकृष्ट हो गई । यह नई जीवन शैली ठिकानों में उत्पादित वस्तुओं से पूरी हो सकती थी जिन्हे केवल धातु-मुद्रा से ही प्राप्त किया जा सकता था । इसी तरह इन जागीरदारों के पुत्रों का मन अब जागीरों में नहीं लगता था । अत: राज्यों की राजधानियों में आधुनिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न हवेलियो का निर्माण आरम्भ हुआ । जिसके लिए नकद धन की आवश्यकता महसूस की जाने लगी । अत: जागीरदारों ने किसानों पर नई लागतें थोप दी । ज्यों-ज्यों इन जागीरदारों की आवश्यकताए बढ़ती गई, किसानों का शोषण भी बढ़ता गया । इससे कृषकों में असंतोष फैलना स्वाभाविक ही था ।

14.2.2 कृषि पर आधारित लोगों की संख्या में बढ़ोतरी

कृषक असंतोष का दूसरा मुख्य कारण जनसंख्या के एक बडे भाग का कृषि पर निर्भर होना था । अठारहवीं सदी में कृषि भूमि की कमी नहीं थी और सामन्तों को यह भय बना रहता था कि यदि किसान जागीर छोड़कर अन्यत्र चले गये अथवा कृषि कार्य के स्थान पर अन्य व्यवसाय अपनाने लगे तो उन्हे भारी आर्थिक हानि हो सकती थी । अत: सामान्यत: कृषकों के साथ उन्होंने उदार व्यवहार किया था, किन्तु अब परिस्थितियां बदल चुकी थी । अंगेजो के आगमन से राजस्थान के कुटीर एवं लघु उद्योगों को क्षति पहुंची थी । अब अधिक लोग कृषिव्यवसाय की ओर आकर्षित होने लगे । 1891 ई. में राजस्थान में 54 प्रतिशत जनसंख्या ही कृषि पर आधारित थी जबकि 1931 ई. में कृषि पर आधारित लोगों की संख्या बढ़कर 73 प्रतिशत हो गई । इस काल में जनसंख्या में भी बडा परिवर्तन नहीं आया । इस समय में कृषि भूमि की मांग बढ़ती जा रही थी । श्रमिक अपेक्षाकृत कम मजदूरी पर काम करने को तैयार थे । अत: समानतों को अब किसानों के असंतोष का भय नहीं रहा । ऐसी स्थिति में सामन्त अपनी इच्छानुसार लागतों की संख्या वृद्धि करते रहे ।

14.2.3 जागीरदारों का अमानवीय व्यवहार

किसानों के असंतोष का सर्वाधिक उल्लेखनीय कारण यह था कि जागीरदार अपने किसानों के साथ अमानहीय व्यवहार करते थे । छोटी-छोटी बात पर किसानों को बेरहमी से पीटा जाता था । जागीरदार अपने अधिकारों का दुरूपयोग करते थे और किसानों पर झूठा मुकदमा चलाते थे, जिससे भारी जुर्माना वसूला जा सके । किसानों को अपने परिहार सहित बेगार करनी पडती थी क्योंकि बेगार से इन्कार करने पर उनको और अधिक कठिनाइयों का सामना कला पड सकता था । इनके अतिरिक्त किसानों की बहू-बेटियों की इज्जत भी सदैव खतरे में खती थी । लगान न चुकाने पर किसानों को अपनी पुश्तैनी जमीन से बेदखल कर दिया जाता था । कीमती सामान पर कच्छा व मवेशियों को ले जाना,

फसल काट लेना तो सामान्य सी घटना होती थी । जागीर में न्याय व कानून कुछ भी नहीं थे । जागीरदार ही कानून था और जागीरदार के अन्याय करने पर कृषक कहीं भी शिकायत नहीं कर सकता था । ऐसी स्थिति में किसानों के लिए आन्दोलन के मार्ग पर जाने के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था । अत: किसानों ने संगठित होकर जागीरदारों के अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाना आरम्भ कर दिया ।

14.2.4 कृषि उत्पादित वस्तुओं की कीमतों में अस्थिरता

राजस्थान में कृषक आन्दोलनों के लिए एक अन्य कारण उन समसामयिक परिस्थितियों का है जिनमें कृषि उत्पादन की वस्तुओं का मूल गिरता एवं बढ़ता गया । कृषक दोनों ही स्थितियों मे घाटे में रहते थे । गिरते मूल्यों में उनकी बचत का मूल्य बहुतकम रहता था और बढ़ते मूल्यों का उन्हे लाभ नहीं मिलता था, क्योंकि जागीरदार लगान जिन्स में लेता था । प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद तथा विश्वद्यापी आर्थिक मन्दी की अवधि में कृषि उत्पादनों का मूल्य बहुत कम रहा । इसके अतिरिक्त 1916 के पश्चात अफीम की खेती कम होती गई और कृषकों को धातु मुद्रा की उपलब्धि भी उसी मात्रा में कम होती गई । 1913 से पहले मालवा अफीम की खेती 5,62,000 एकड भूमि में होती थी जो 1930 तक केवल 36,476 एकड़ भूमि रह गयी और 1937 तक 20 हजार एकड भूमि ही रह गई । इस नकद जिन्स की खेती कम होने से कृषकों की धातु मुद्रा की अवश्यकता पूरी नहीं हो सकी । बेंगू की कृषकों की मुख्य शिकायत अफीम की खेती का कम होना ही था ।

उपर्युक्त कारणों से यह स्पष्ट था कि किसानों की दयनीय स्थिति ही उनको आन्दोलन करने के लिए मजबूर कर रही थी । कृषकों का असंतोष मुख्यत: जागीरदार के विरूद्ध होता था, क्योंकि वही सब प्रकार के अधिकार अपने पास केन्द्रित किये हुए था ।

14.3 बिजौलीय किसान आंदोलन

राजस्थान के किसान आन्दोलन के इतिहास में पहला संगठित किसान आन्दोलन उदयपुर राज्य की रिजौलिया जागीर में हुआ, जिससे प्रभावित होकर राजस्थान के अन्य राज्यों के किसानों ने भी आन्दोलन आरम्भ किये । बिजौलिया जो वर्तमान भीलवाडा जिले में स्थित है, मेवाड राज्य में प्रथम श्रेणी की जागीर थी । इसका क्षेत्रफल लगभग एक सौ वर्ग मील था । इसके अन्तर्गत 40 गाँव थे । 1891 में बिजौलिया कस्बे की जनसंख्या 4000 तथा सम्पूर्ण जागीर की जनसंख्या 12000 थी । धाकड जाति के किसानों का यहां बाहुल्य था । वे अपने परिश्रम तथा दक्षता के लिए प्रसिद्ध थे और जातिगत आधार पर संगठित थे तथा पंचायत व्यवस्था में उनकी दृढ़ निष्ठा थी । रिजौलिया जागीर क्षेत्र के पूर्ति में कोटा बूंदी के राज्य थे, दक्षिण ग्वालियर राज्य की सीमा थी और उत्तर-पश्चिम में मेवाड राज्य के क्षेत्र थे । इस जागीर की भौगोलिक बनावट इस प्रकार थी कि यहां के कृषक आन्दोलन के समय बडी आसानी से पड़ौसी सीमावर्ती राज्यों में पलायन कर सकते थे । यहां के अधिकांश लोगों का जीवन-निर्वाह कृषि पर आधारित था ।

14.4 बिजौलिया किसान आन्दोलन का चरणबद्ध विकास

बिजौलीय किसान आंदोलन को तीन प्रमुख चरणों में बांटा जा सकता हैं । पहला चरण 1897-1915, जिसे स्वत: स्फूर्त आन्दोलन की संज्ञा दी जा सकती है, जिसे स्थानीय नेतृत्व ने आगे बढ़ाया । दूसरा चरण 1915-1923 तक रहा जिसे किसानों की नई चेतना का काल कहा जा सकता है, जिसका

नेतृत्व राष्ट्रीय स्तर के प्रशिक्षित एवं परिपक्व नेताओं ने किया, जिससे यह आन्दोलन राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड गया । तीसरा चरण 1923-1941 तक चला । इस आन्दोलन के मुख्य मुद्दे भूराजस्व प्रणाली, लाग-बाग, किसानों की कर्जदारी, निर्धनता, बेगार, शिक्षा व्यवस्थाओं की सुविधाओं से संबन्धित थे । कुल मिलाकर सामन्ती शोषण से किसानों की मुक्ति प्राप्त करने की उत्कंठा इस आन्दोलन के मुख्य कारण थे ।

14.4.1 आन्दोलन का प्रथम चरण (1897-1915 ई.)

वर्ष 1987 में बिजौलिया ठिकाने के हजारों धाकड जाति के किसान एक मृत्यु-भोज के अवसर पर गिरधरपुरा गाँव में एकत्रित हुए । शोषित एवं उत्पीडित किसानों ने अपने-अपने कष्टों एवं दुर्दशा के बारे में एक-दूसरें से चर्चा की और निर्णय लिया कि उनके प्रतिनिधि उदयपुर जाकर महाराणा फतेहसिंह से नेट कर न्याय की मांग करेंगे । इस निर्णय के अनुसार उन्होने बैरीवाल पाद के निवासी नानजी पटेल और गोपाल निवास के ठाकरी पटेल को महाराणा से मिलने के लिए उदयपुर भेजा । इस प्रतिनिधि मण्डल की शिकायत पर महाराणा ने जांच करवायी और यह पाया कि किसानों की शिकायत सही थी । महाराणा ने बिजौलिया के जागीरदार को किसानों के प्रति अपने व्यवहार एवं प्रशासन में परिवर्तन करने की सलाह दी । जागीरदार ने इस सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया तथा प्रतिनिधि मण्डल के सदस्यों को जागीर क्षेत्र से निष्कासित कर दिया ।

वर्ष 1899-1900 के अकाल के दौरान किसानों की आर्थिक स्थिति अत्यधिक दयनीय हो गयी थी । 1903 की एक घटना से किसानों को खुले आम जागीरदार की सज्ञा को चुनौती देने के लिए मजबूर होना पडा । इस वर्ष 'चंवरी' नामक एक नई लाग किसानों पर थोंप दी गयी थी, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी पुत्री की शादी के समय 13 रूपये चंवरी लाग देना निर्धारित किया गया था । इस नई लगान का विरोध करने हेतु लगभग 200 विवाह योग्य कुंवारी लडकियों के साथ भारी संख्या में किसान जागीरदार के समक्ष प्रस्तुत हुए । जागीरदार ने किसानों के साथ अपमानजनक व्यवहार किया और यहां तक कह दिया कि इन लड़कियों को बाजार में बेच दो तथा चंवरी लाग जमा करा दो । इस बात पर किसानों ने निर्णय लिया कि वे ऐसे स्थान पर नहीं रहेंगे जहां जागीरदार हमारी लडकियों को बिकवाना चाहता है । उसी रात को अनेक गांवों के किसान सीमावर्ती ग्वालियर राज्य के लिए प्रस्थान कर गये । किसानों के निष्ठमण से जागीरदार का चिन्तित होना स्वाभाविक था । अत: जागीरदार ने निष्ठमण करने वाले किसानों को 1904 में वापस बुलवाकर 'चंवरी लाग' को समाप्त करने के साथ-साथ भू-राजस्व लाग-बाग एवं बेगार सम्बन्धी कई रियायतें देने की घोषणा की । इन रियायतों का किसानों को अधिक समय तक लाभ नहीं मिल पाया, क्योंकि 1906 में इन रियायतों को समाप्त कर दिया गया था । 1906 में बिजौलिया के जागीरदार कृष्णीसंह की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकारी पृथीसिंह ने न केवल उपर्युक्त रियायतों को समाप्त कर दिया बल्कि एक नई लाग 'तलवार बंधाई (उत्तराधिकारी लाग) किसानों पर थोंप दी थी । नये जागीरदार ने निर्दयतापूर्वक अवैध करों की वसूली करना आरम्भ कर दिया था । इसके परिणामस्वरूप किसानों का असंतोष बढ़ता रहा । इस असंतोष को कम करने का कोई प्रयास नहीं किया गया ।

वर्ष 1913 में बिजौलिया के किसानों ने पुन: आन्दोलन का रास्ता अपनाया, जिसका नेतृत्व सीतारामदास नामक साधु ने किया । अभी तक किसान स्वयं अपना नेतृत्व कर रहे थे, किन्तु अब

एक धार्मिक व्यक्ति उसका नेतृत्व कर रहा था, इससे किसानों में नई शक्ति एवं साहस का संचार हुआ । मार्च 1913 में साधु सीतारामदास के नेतृत्व में लगभग एक हजार किसान जागीरदार के महल में सामने अपनी शिकायतें प्रस्तुत करने के लिए एकत्रित हुए । जागीरदार ने इनसे मिलने से इन्कार कर दिया । जागीरदार के इस अशिष्ट व्यवहार से किसान नाराज हो गये । किसानों ने 1913-1914 में खेत न जोतने का निर्णय लिया । इससे जागीरदार को बडी हानि उठानी पडी । किसानों ने ग्वालियर, बूंदी एवं उदयपुर की खालसा भूमि पर खेती करके गुजारा किया । जागीरदार ने किसान आन्दोलन से जुडे व्यक्तियों के विरूद्ध दमनकारी नीति अपनाई । इसी बीच दिसम्बर, 1913 में जागीरदार पृथ्वीसिंह की मृत्यु हो गयी तथा उसका अल्प वयस्क पुत्र केसरीसिंह जागीरदार बना । जागीरदार की अल्पवयस्कता के कारण जागीर का नियन्त्रण सीधे उदयपुर राज्य के अन्तर्गत आ गया था । उदयपुर राज्य ने स्थिति से निपटने के लिए जनश्री, 1914 में बिजौलिया के किसानों की समस्याओं की जांच करके 24जून, 1914 को किसानों के लिए कुछ रियायते देने की घोषणा की । किन्तु इन रियायतों का वास्तविक लाभ किसानों तक नहीं पहुंचा ।

किसान आन्दोलन के पहले चरण का मूल्यांकन करते हुए निष्कर्षत यह कहा जा सकता है कि इस चरण में किसानों में नई चेतना एवं साहस का संचार हुआ । इसने ऐसी पृष्ठभूमि तैयार की जिस पर सामन्त विरोधी भावनाओं को प्रकाश में लाया जा सका ।

14.4.2 आन्दोलन का द्वितीय चरण (1915-1923)

बिजौलिया किसान आन्दोलन के दूसरे चरण का मुख्य नायक विजयसिंह पथिक था । 1915 में साधु सीतारामदास ने विजय सिंह पथिक को इस किसान आन्दोलन का नेतृत्व सम्भालने के लिए आमन्त्रित किया था । विजयसिंह पथिक, रासबिहारी तथा शचीन्द्रनाथ सान्याल के क्रान्तिकारी संगठन का सदस्य था । उसका वास्तविक नाम भूपसिंह था तथा वह उत्तरप्रदेश के बुलन्दशहर जिले के गांव गुढावली का रहने वाला था । उन्हे राजस्थान में क्रान्तिकारी गतिविधियों का संगठित करने हेतु भेजा गया था । उनके दल के साथियों ने 23 दिसम्बर, 1912 को दिल्ली में गवर्नर जनरल हॉर्डिग पर बम फेंका था । इस घटना से क्रान्तिकारी गतिविधियों में गतिरोध पैदा हो गया । रासबिहारी बोस जापान चले गये तथा शचीन्द्रनाथ सान्याल को सजा हो गयी थी । राजस्थान में विजयीसंह पथिक को भी इन घटनाओं से जुड़े होने के संदेह में गिरफ्तार कर लिया गया तथा टाडगढ की जैल में रखा गया । कुछ समय पश्चात ही दे जैल से भाग गये तथा अपना नाम विजयीसंह पथिक रखकर राजस्थान में ही सामाजिक कार्य करने लगे ।

विजयीसंह पथिक ने चित्तौड़गढ़ के समीप ओछरी नामक गांव में किसानों के बीच विद्या प्रचारणी सभा स्थापित की । 1 जनवरी, 1915 में इस सभा का एक समारोह आयोजित किया गया जिसमें साधु सीतारामदास भी सम्मिलित हुए । साधु सीतारामदास विजयीसिंह पथिक के कार्यो से बहुत प्रभावित हुए तथा उन्होने पथिक से बिजौलिया किसान आन्दोलन का नेतृत्व संभालने के लिए कहा । पथिक 1916 में बिजौलिया पहुंचे तथा आन्दोलन का नेतृत्व सम्भाला । उन्होने वही पर विद्या प्रचारणी सभा स्थापित की जिसके अनतर्गत एक स्कूल, एक पुस्तकालय एवं एक अखाड़ा स्थापित किया । वे संस्थान किसान आन्दोलन के केन्द्र बन गये । इस समय माणिक्यलाल वर्मा जो जागीर के कर्मचारी थे, वे अपनी जागीर सेवा से त्याग पत्र देकर विजयसिंह पथिक के साथ कार्य करने लगे । अब तक

बिजौलिया का किसान आन्दोलन सामाजिक आधार पर धाकड जाति के किसानों की जाति पंचायत द्वारा चलाया जा रहा था । 1916 में विजयसिंह पथिक ने बिजौलिया किसान पंचायत की स्थापना की तथा प्रत्येक गांव में इसकी शाखाएं खोली । एक केन्द्रीय पंचायत कोष भी स्थापित किया गया था, जिसमें पंचायत के सदस्यों से धनराशि एकत्रित की गयी थी । मन्नालाल पटेल को बिजौलिया किसान पंचायत का अध्यक्ष (सरपंच) बनाया गया तथा उसके अधीन आन्दोलन संचालन हेतु 13 सदस्यीय समिति गठित की गयी । 1918 में जागीरदार द्वारा किसानों पर थोंपे गये युद्धकर (बोल्ड) ने किसान पंचायत को आन्दोलन के लिए प्रेरित किया । पंचायत ने गांब-गांब जाकर सभाएं आयोजित की एवं किसानों से उनकी शिकायतों के बारे में मांग पत्र एकत्रित किये । 1917 में हजारों किसानों के हस्ताक्षरों से युक्त शिकायते एवं निवेदन पत्र जागीरदार एवं उदयपुर के महाराणा के पास भिजवाये । राज्य एवं जागीरदार की अनदेखी पर किसान पंचायत ने अगस्त, 1918 में असहयोग आन्दोलन के साथ-साथ बन्दी आन्दोलन की घोषणा कर दी । पंचायत के निर्णयानुसार किसानों ने भू-राजस्व अदा न करने, ठिकाने के आदेश कौन मानने तथा ठिकाने की पुलिस एवं न्यायालयों के बहिष्कार का निर्णय लिया । इन सब बातों के अतिरिक्त किसानों ने अपने दूसरे शोषक महाजनों का भी बहिष्कार किया, जिसमें किसानों ने कस्वे में खरीददारी के लिए नहीं जाने तथा विवाह एवं मृत्युभोज न करने का निर्णय लिया ।

उदयपुर के महाराणा इस आन्दोलन को कुचलने के पक्ष में थे, क्योंकि यदि इस प्रकार के किसान आन्दोलन सम्पूर्ण मेवाड़ राज्य में फैलते तो इससे राज्य में अशान्ति फैल सकती थी अत: जागीरदार की मदद से किसान आन्दोलन के नेता माणिक्यलाल वर्मा एवं साधु सीतारमदास सहित पचास लोगों थे गिरफ्तार कर लिया गया । विजयसिंह पथिक इसी बीच भूमिगत होकर आन्दोलन का संचालन करने लगे । किसानों ने सत्याग्रह आरम्भ करते हुए जैल भरना आरम्भ किया । मजदूर होकर उदयपुर राज्य ने एक जांच आयोग गठित किया । यह आयोग अप्रैल 1919 में बिजौलिया पहुंचा । इस जांच आयोग ने सबसे पहले माणिक्यलाल वर्मा तथा साधु सीतारामदास को जैल से मुक्त किया तथा 51 अन्य बन्दियों को छोड़ दिया गया । इस आयोग ने पाया कि वास्तव में किसानों की हालत दयनीय हैं और औसतन 13 या 14 रूपयों की बारिक आय साधारण किसान की हैं इस आयोग ने सिफारिश की, कि रिजौलिया के किसानों की शिकायते न्याय संगत है, किन्तु इस आयोग की सिफारिशों का ठिकानों पर कोई असर नहीं हुआ ।

बिजौलिया का किसान आन्दोलन अपने दूसरे चरण में जाति एवं क्षेत्र की संकीर्णताओं को लांघकर राष्ट्रीय धारा के साथ जुड़ने की प्रकिया में था । विजयीसंह पथिक ने 1919 में "राजस्थान सेवा संघ नामक संस्था स्थापित की, जिसका मुख्यालय अजमेर में स्थापित किया गया । पथिक अब अजमेर से बिजौलिया आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे थे । पथिक राष्ट्रीय नेता गणेश शंकर विद्यार्थी के अत्यधिक समीप थे । अत: पथिक विद्यार्थी के कानपुर से निकलने वाले समाचार पत्र "प्रताप" के माध्यम से बिजौलिया किसान आन्दोलन को राष्ट्रीय स्तर पर प्रचारित करके जनसमर्थन जुटाने का प्रयास कर रहे थे । बिजौलिया के किसानों ने अपनी मांगे न माने जाने तक अपनी भूमि न जीतने का निर्णय लिया । इस आन्दोलन के नेताओं ने अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन प्राप्त करने का प्रयास किया, किन्तु उसे कोई सफलता नहीं मिली, क्योंकि कांग्रेस इस समय तक देशी राज्यों में आन्दोलन, फैलाने के पक्ष में नहीं थी क्योंकि इससे कांग्रेस को स्थानीय राजाओ से भी संघर्ष में उलझना पड सकता था ।

बिजौलिया किसान आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव एवं लोकप्रियता के कारण मजबूर होकर फरवरी, 1920 में उदयपुर राज्य ने दूसरा जांच आयोग नियुक्त किया । किसानों ने इस आयोग का स्वागत करते हुए घोषणा की, कि दें तब तक आन्दोलन जारी रखेंगे जव तक कि उनकी मांगें स्वीकार नहीं कर ली जाती । इस आयोग के समक्ष किसानों की मांगों को प्रस्तुत करने के लिए एक 15 सदस्यीय प्रतिनिधि मण्डल माणिक्यलाल वर्मा के गेल में उदयपुर गया जांच आयोग ने सम्पूर्ण जांच पडताल के उपरान्त आन्दोलन के कारणों को सही मानते हुए अनुशंसा की कि किसानों की समस्याओं का समाधान किया चाय किन्तु राज्य की अनुशंसा पर भी जागीरदार ने कोई कार्यवाही नहीं की । जून, 1920 तक किसानों व जागीरदारो के मध्य समझौते के प्रयास असफल हो गये । अत: किसानों को मजबूर होकर इस आदोलन को तेज करना पडा । किसानों ने असहयोग द्वारा जागीर प्रशासन को अव्यवस्थित कर दिया एवं किसान पंचायत की समानान्तर सरकार स्थापित हो गयी थी । दिसम्बर, 1920 में अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर असहयोग आन्दोलन के आरम्भ हो जाने से बिजौलिया के किसान आन्दोलन को बल मिला ।

वर्ष 1920 में नागपुर कांग्रेस अधिवेशन में विजयीसंह पथिक, साधु सीतारामदास, रामनारायण चौधरी, माणिक्य लाल वर्मा, हरिभाई किंकर एवं कई किसान नेता बिजौलिया आन्दोलन के समन्द में महात्मा गांधी से मिले और उनसे असहयोग आन्दोलन के समन्द में आशीर्वाद प्राप्त किया । नागपुर अधिवेशन से लौटकर बिजौलिया आने पर माणिक्यलाल वर्मा एवं अन्य साथियों ने किसान आन्दोलन को और तेज कर दिया । किसानों के लगान, लागते और बेगार बन्द कर देने से ठिकाने की आय के सब स्रोत बन्द हो गये । इससे ठिकानों की आर्थिक स्थिति कमजोर हो गयी ।

अब बिजौलिया के आन्दोलन का असर मेवाड के अन्य किसानों तथा सीमावर्ती राज्यों पर पड़ने लगा । वर्ष 1921 में यह आन्दोलन पारसौली, भिण्डर, भँसरोडूगढ बस्ती, बेंगू को आदि ठिकानों में भी फैल गया । इससे बिजौलिया किसान आन्दोलन के क्षेत्र में काफी विस्तार हुआ । ब्रिटिश सरकार इस आन्दोलन से काफी भयभीत थी, क्योंकि इस समय बिजौलिया जैसा किसान आन्दोलन सम्पूर्ण उदयपुर में फैल चुका था । इसी समय मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में मेवाड़, सिरोही, मारवाड़, पालनपुर, दांता एदं सूथरामपुर में भी विद्रोही हो गये थे । ब्रिटिश सरकार ने बिजौलीया आन्दोलन को समाज करने के उद्धेश्य से एक 'उच्च क्षमता समिति' गठित की जिसमें एजेन्ट टू गवर्नर जनरल इन राजपूताना रॉबर्ट हालैण्ड, उसका सचिव कर्नल आगाल्वी, उदयपुर का रैजीडेन्ट विल्किनसन, उदयपुर का दीवान प्रभातचन्द्र चटर्जी एवं उदयपुर का सीमा शुल्क हाकिम बिहारी लाल कौशिक सदस्य थे । यह समिति 4 फरवरी, 1922 को बिजौलिया पहुंची तथा 5 फरवरी को बार्ता आरम्भ हुई । इसमें बिजौलिया किसान पंचायत की ओर से पंत्रायत का सरपंच मोतीचन्द्र तथा मन्त्री नारायण पटेल तथा राम नारायण चौधरी एवं माणिक्यलाल वर्मा सम्मिलित हुए । 11 जून, 1922 को एक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत किसानों की अनेक मांगे स्वीकार कर ली गयी । 35 लागते माफ कर दी गई । ठिकाने के जुली कामदार हटा दिये गये । किसानों पर चलने वाले मुकदमे उठा लिये गये । जिन किसानों की जमीन दूसरों के कस्बे में थी, वह उन्हे पुन: सौंप दी गयी । तीन साल के अन्दर बिजौलिया जागीर में जमीन का बन्दोबस्त कर लगान जिन्स की बजाय नकदी में परिणत करने का आश्वासन दिया गया । किसान पंचायत को मान्यता प्रदान की गयी । यह समझौता बिजौलिया के किसानों की भारी सफलता थी । पहली बार किसान

प्रतिनिधियों ने राज्य के बडे अधिकारियों के साथ सीधा सम्पर्क किया । 1897 में आरम्भ हुआ किसान आन्दोलन 25 वर्षा की अवधि के बाद सम्मानजनक शर्तो पर समाप्त हुआ ।

14.4.3 आन्दोलन का तीसरा चरण (1923-1941)

वर्ष 1922 का समझौता किसानों की बड़ी सफलता तो थी किन्तु दुर्भाग्य से ठिकाने की बदनीयति के कारण यह समझौता मात्र छलावा बनकर रह गया था । सर्वप्रथम तो इस समझौते को पूरी तरह से लाग नहीं किया गया था तथा समझौते के बाद जागीरदार एवं उसके अधिकारियों को किसानों के साथ व्यवहार अधिक कठोर हो गया था । फरवरी, 1922 में गांधीजी द्वारा असहयोग आन्दोलन वापस लेने के बाद समपूर्ण भारत में किसान आन्दोलनों के प्रति ब्रिटिश सरकार की नीति में परिवर्तन आ गया । 1923 के अन्त तक भारत के सभी भागों में किसान आन्दोलनों को दमनात्मक साधनों से कुचल दिया गया था । इसी बीच बेंगू किसान आन्दोलन के सिलसिले में विजयसिंह पथिक को गिरफ्तार कर लिया गया और उन्हे पांच वर्ष की सजा दी गयी । साधु सीतारामदास खादी कार्यकम में लग गये और मध्यप्रदेश में रहने लगे । अब बिजौलिया के किसान आन्दोलन की सारी जिम्मेदारी माणिक्यलाल वर्मा के हाथ में थी ।

वर्ष 1923 से 1926 के मध्य बिजौलिया के किसानों की कठिनाइयों और अधिक बढ़ गयी थी । इन वर्षा में निरन्तर अतिवर्षा अथवा कम वर्षा के फलस्वरूप बिजौलिया में अकाल की स्थिति बनी रही । फसलें प्राय: नष्ट हो गयी । किसानों ने अकाल के कारण लगान में छूट व माफी के लिए बिजौलिया के जागीरदार एवं उदयपुर के महकमा खास में अपने आवेदन पत्र भेजे, किन्तु उनकी कोई सुनवाई नहीं हुई । 1926 में 1922 के समझौते के अनुसार बिजौलिया ठिकाने में भूमि का बन्दोबस्त किया गया । बन्दोबस्त में जो लगान निर्धारित किया गया बह बहुत अधिक था । बारानी क्षेत्र (माल भूमि) की लगान दरे बहुत बढ़ा दी गयी और सिंचित क्षेत्र के लिए लगान अपेक्षाकृत कुछ कम रखा गया अत: किसानों में इस भेदभाव के कारण असंतोष था । मार्च, 1927 में किसान पंचायत की बैठक हुई, इस बैठक में रामनारायण चौधरी और माणिक्य लाल वर्मा भी उपस्थित थे । इस बैठक में माल भूमि छोडने का प्रश्न उठा अन्तिम निर्णय विजयसिंह पथिक पर छोड दिया जो जैल से मुक्त होने शले थे । जैल से छूटने पर विजय सिंह पथिक को मेवाड़ से निर्वासित कर दिया गया, अत: वे ग्वालियर राज्य में चले गये और वही से बिजौलिया किसान आन्दोलन का नेतृत्व करने लगे । विजयसिंह पथिक का मानना था कि किसानों को माल भूमि तभी छोड़नी चाहिए जबकि उन्हे यह पक्का विश्वास हो जाय कि उनके द्वारा छोड़ी गयी भूमि को और कोई लेने को तैयार नहीं होगा । मई 1927 में किसानों ने अपनी-अपनी माल भूमि से इस्तीफे दे दिये । ठिकाने ने इस भूमि को नीलाम किया । किसानों के दुर्भाग्य से इन जमीनों के अन्य खरीददार मिल गये । इस निर्णय पर किसान मात जा गये । इस निर्णय को लेकर विजयसिंह पथिक तथा माणिक्यलाल वर्मा के सम्बन्ध बिगड़ गये । अत: विजयसिंह पथिक इस आन्दोलन से अलग हो गया । किसान अपनी-अपनी इस्तीफा शुदा जमीनों को वापस प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो गये ।

अब किसान आन्दोलन का नेतृत्व माणिक्यलाल वर्मा तथा हरिभाऊ उपाध्याय को सौंपा गया । इन नेताओं ने सेटलमेन्ट कमिश्नर ट्रेंच से मिलकर एक समझौता करवाया जिसमें किसानों को भूमि लौटाने का आश्वासन दिया गया । किन्तु वास्तव में कोई ठोस कार्यवाही नहीं हो सकी । माणिक्यलाल वर्मा ने इस कार्य हेतु सत्याग्रह करने का निर्णय लिया । अक्षय तृतीय वर्ष 1931 को प्रातःकाल 4000

किसानों ने अपनी इस्तीफा शुदा जमीनों पर हल चलाना आरम्भ किया । ठिकानों के कर्मचारियों सहित सेना, पुलिस के सिपाही तथा जमीनों के नये मालिकों के मध्य संघर्ष आरम्भ हो गया । ठिकाने ने सत्याग्रह को कुचलने के लिए दमनकारी नीति अपनायी । माणिक्यलाल वर्मा तथा अन किसानों को गिरफ्तार कर लिया गया । इस समय तक हरिभाउ उपाध्याय के मेवाड प्रदेश पर रोक लग चुकी थी । उपाध्याय ने मेवाड राज्य के अधिकारियों को किसानों की जमीन वापस लौटाने के समथ में कई पत्र लिखे, किन्तु उनके प्रयत्न सफल न हुए । अब यह मामला अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद ने अपने हाथ में लिया । महात्मा गांधी को भी बिजौलिया आन्दोलन में किसानों पर होने वाले अत्याचार के समन्ध में बताया गया । महात्मा गांधी की सलाह पर मदनमोहन मालदीव ने मेवाड के प्रधानमंत्री को इस समय में पत्र लिखा । इस पर जमनालाल बजाज को वार्ता के लिए उदयपुर बुलाया गया । जमनालाल बजाज ने उदयपुर के महाराणा एवं उनके प्रधानमंत्री सुखदेव प्रसाद से वार्ता कर एक समझौते पर हस्ताक्षर किये । इस समझौते के अनुसार मेवाड सरकार ने आश्वासन दिया कि माल की जमीन धीरे-धीरे पुराने कपीदारों को लौटा दी जायेगी, सत्याग्रह में गिरफ्तार लोगों को रिहा कर दिया जायेगा, और 1922 के समझौते का पालन होगा । इस समझौते के अनुसार सत्याग्रही तो जेल से मुक्त हो गये, किन्तु माल भूमि के समज में कोई ठोस कार्यवाही नही हो सकी । अत: माणिक्यलाल वर्मा पुन: किसानों का एक प्रतिनिधि मण्डल लेकर मेवाड राज्य के प्रधानमंत्री सुखदेव प्रसाद से मिलने उदयपुर गये । वहां माणिक्यलाल वर्मा को गिरफ्तार करके कुम्भलगढ के किले में नजरबन्द कर दिया । नवंबर, 1933 को माणिक्यलाल वर्मा को नजरबन्दी से मुक्त कर दिया गया तथा मेवाड छोडने को मजबूर कर दिया ।

बिजौलिया किसान आन्दोलन का पटापेक्ष वर्ष 1941 में हुआ, जबकि मेवाड में सर टी.विजय राघवाचार्य प्रधानमंत्री बने । उस समय मेवाड प्रजामण्डल से पाबन्दी उठायी जा चुकी थी और माणिक्यलाल वर्मा आदि प्रजामण्डल के नेता मुक्त किये जा चुके थे । प्रधानमंत्री राघवाचार्य के आदेश से तत्कालीन राजस्व मंत्री मोहनसिंह मेहता बिजौलिया गये और माणिक्यलाल वर्मा तथा अन्य किसान नेताओं से बातचीत की । एक समझौता जिसके अनुसार किसानों को अपनी जमीने वापस मिल गयी । माणिक्यलाल वर्मा के जीवन की यह प्रथम बड़ी सफलता थी । भारत के इतिहास में यह अपने ढंग का अनूठा किसान आन्दोलन था जो राज्य की सीमाएं लांघकर पडौसी राज्यों में भी फैला । इस आन्दोलन ने राजस्थान की रियासतों में एक नयी जागति पैदा की । वर्ष 1938 में मेवाड, शाहपुरा, बूंदी आदि रियासतों में प्रजामण्डलों की स्थापना हुई, उनकी पृष्ठ भूमि में यही किसान आन्दोलन था । इस आन्दोलन ने माणिक्यलाल वर्मा जैसे तेजस्वी नेता को जन्म दिया जो आगे चलकर राजस्थान के राजनीतिक आन्दोलन के एक प्रमुख कर्णधार बने ।

14.5 अनुभागीय सारांश

भारतवर्ष के अन्य राज्यों की तरह राजस्थान में भी शासक तथा सामनतों के तथा सामन्तों तथा उनकी रैययत के मध्य मधुर सबन्ध बने हुए थे । किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी में ईस्ट इण्डिया कम्पनी के द्वारा राज्यों की रक्षा का भार उठाने के कारण राजा तथा सामन्त अपनी प्रजा के प्रति अमानवीय दृष्टिकोण अपनाने लगे । साधारण जनता तथा किसानों से गौर ली जाती थी, तथा उन्हे कई अन्य प्रकार के कर (लाग-बाग) चुकाने पड़ते थे । इस कारण विशेष रूप से कृषकों की बागडोर सम्भाली तथा

आन्दोलन उग्र होने पर प्रदेश के ही अन्य नेताओं ने आन्दोलन का नेतृत्व किया, परिणाम सरूप किसानों के साथ सम्मानजनक समझौता करना पड़ा और बेगार तथा अन्य करों को समाप्त करना पडा ।

14.6 शेखावटी किसान आन्दोलन

बिजौलिया किसान आन्दोलन के बाद राजस्थान में दूसरा महत्वपूर्ण किसान आन्दोलन जयपुर राज्य के शेखावटी क्षेत्र में हुआ जो अन्य सभी आन्दोलनों की तुलना में अधिक तीव्र था । शेखावटी का भू-भाग वर्तमान में मुख्य रूप से राजस्थान के सीकर एवं झुंझुनू जिलों में विभाजित है । पूर्व में यह क्षेत्र तत्कालीन जयपुर राज्य का अंग था । शेखावटी का सम्पूर्ण भू-भाग विभिन्न ठिकानों एय जागीरों के अन्तर्गत था । इनमें सीकर एवं खेतड़ी के बडे ठिकाने थे, मध्यम स्तर के ठिकानों में मण्डाया डुंडलोद, बिसाऊ, सूरजगढ़, नवलगढ़, खण्डेला, पाटन, मलसीसर, इस्माइलपुर, हिरवा आदि थे तथा छोटी जागीरों में उदयपुरवाटी एवं अन्य क्षेत्रों के भौमिया जागीरदार थे । शेखावटी के किसान प्रशासन के तिहरे भार क्रमश: अंग्रेजी राज, जयपुर राज्य एवं जागीरदार से दबे हुए थे । जहां एक ओर तिहरे प्रशासन के दम एवं शोषण से कृषक वर्ग दबा हुआ था वही दूसरी और भौगोलिक तथा प्राकृतिक स्थितियों भी उनके अनुकूल नहीं थी । शेखावटी के किसानों को भू-स्वामित्व सचन्दी कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे तथा राजस्व का निर्धारण जागीरदारों की इच्छानुसार दोषपूर्ण 'लाटा' एवं 'कूता' पद्धति द्वारा किया जाता था । संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस क्षेत्र के किसान अत्यधिक शोषण, दमनकारी औपनिवेशिक एवं सामन्ती व्यवस्था के तहत अभाव स्प कष्टपूर्ण जीवन-यापन कर रहे थे । यही कारण है कि शेखावटी के किसानों में भारी असन्तोष बाज था ।

शेखावटी के किसान आनदोलन के सन्दर्भ में एक बात महत्वपूर्ण थी कि यहां के आन्दोलन के पीछे पूंजीपतियों की शक्ति एक महत्वपूर्ण कारण थी । इस समय तक शेखावटी के मूल निवासी पूंजीपति घराने बजाज, बिडला, डालमिया, पोद्दार, कानोडिया, मोदी, तोदी, चमडिया, सिंघानिया आदि ब्रिटिश भारत में अपनी पूंजी एवं शक्ति का बहुत विकास कर चुके थे । इनमें से अधिकांश पूंजीपति घराने अपने मूल स्थानों से सकिय रूप से जुडे हुए थे । इन लोगों के पास अपार धन था, किन्तु शेखावटी में इनको कोई विशेष सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे । यह वर्ग सामन्तवाद विरोधी वर्ग का अगुआ था क्योंकि सामन्तवाद एवं पूंजीवाद में मौलिक अन्तविरोध होता है । पूंजीपति वर्ग सामन्त विरोधी शक्ति के रूप में किसानों का उपयोग करना चाहते थे । अत: शेखावटी के किसान आन्दोलन को पूंजीपति वर्ग का नैतिक एवं आर्थिक समर्थन प्राप्त था ।

शेखावटी किसान आन्दोलन का उदय (1922-1930)

शेखावटी के किसान आन्दोलन का आरम्भ सीकर ठिकाने से हुआ था । 28जून, 1922 को रावराजा माधोसिंह की मृत्यु के उपरान्त उनका भतीजा कल्याणसिंह सीकर के रावराजा पद पर आसीन हुआ । नये राजा ने मृत रावराजा के मृत्यु संस्कार एवं अपनी गद्दी नशीनी के समारोहों में अधिक राशि के खर्च होने के वहाने प्रचलित भू-राजस्व दर से 25 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक अधिक भू-राजस्व वसूल करना आरम्भ कर दिया था । किसानों ने इस बस्ती के विरोध में जयपुर के महाराजा के समुख अपनी शिकायतें पेश की । महाराजा के कहने पर सीकर के रावराजा ने अगले वर्ष छूट देने का आश्वासन दे दिया लेकिन 1924 में पुन: अपने आशवासन को नही माना और कृषकों से 25 प्रतिशत अधिक लगान मांगा गया, इससे सीकर के किसानों में असंतोष बढ़ता गया ।

राजस्थान सेवा संघ जिसकी स्थापना 1920 में अजमेर में हुई थी, ने सम्पूर्ण राजस्थान की शोषित एवं उत्पीडित जनता को उपनिवेशवाद तथा सामन्तवाद के विरूद्ध संगठित करना आरम्भ कर दिया था । 1922 में बिजौलिया किसान आन्दोलन में समझौता हो जाने के कारण रामनारायण चौधरी ने अब सीकर को अपना कार्य क्षेत्र वनाया । रामनारायण चौधरी ने तरूण राजस्थान समाचार पत्र के माध्यम से सीकर के किसानों की समस्याओं को प्रचारित करना आरम्भ किया । उन्होने इंग्लैण्ड से प्रकाशित होने वाले 'डेली हैराल्ड' समाचार पत्र में भी सीकर के किसानों की समस्याओं के सन्दर्भ में लेख लिखे तथा इंग्लैण्ड में भी सीकर के किसानों के समर्थन में वातावरण तैयार करने का महत्वपूर्ण कार्य किया । रामनारायण चौधरी के प्रयासों से मई, 1925 में इंग्लैण्ड के 'हाउस ऑफ कामन्स' के सदस्य पथिक लारेन्स ने सीकर के किसानों की समस्याओं के सन्दर्भ में प्रश्न पूछे । लन्दन स्थित भारत सचिव ने मजबूर होकर भारत सरकार के राजनीतिक सचिब को सीकर के किसानों की समस्याओं के सन्दर्भ में जांच पडताल के आदेश दिये । भारत सरकार ने इस प्रश्न के जवाब में यह आश्वासन दिया था कि सीकर में भू-राजस्व की गैर सैद्धान्तिक वृद्धि नहीं होगी एवं नियमित भूमि की पैमाइश एवं बन्दोबस्त होता रहेगा । यह निर्णय किसानों के पक्ष में था । सीकर के रावराजा ने 1925 में एक जांच आयोग गठित किया इस आयोग ने लगान की मात्रा उत्पादन पर निर्धारित कर दी । इस आयोग की सिफारिश पर सीकर में भूमि बन्दोबस्त आरम्भ हुआ जो 1928 तक चलता रहा ।

सीकर के रावराजा को यह विश्वास था कि एक स्थायी बन्दोबस्त हो जाने पर कृषक असंतोष कम हो जायेगा । उसने बड़ी चालाकी से पहले सर्वेक्षण करवाया और जरीब को छोटा करवा दिया, ताकि बीघों की संख्या बढ़ जाए । ऐसी स्थिति में स्थायी लगान निश्चित हो जाना ठिकाने के लिए लाभदायक रहेगा । 1928 तक यह व्यापक रूप से मालूम हो गया कि जरीब में बेईमानी की गई थी । किसानों ने जयपुर महाराजा तथा अंग्रेज रेजिडेन्ट से सर्वेक्षण के खिलाफ विरोध प्रकट किया और अनुरोध किया कि जरीब निर्धारित लम्बाई की होनी चाहिए । सीकर ठिकाने ने 1929 में पुन: बढ़ा हुआ लगान वसूलना आरम्भ कर दिया । जब कृषि उत्पादनों का मूल्य विश्व भर में गिर रहा था, अंग्रेज रेजीडेन्ट और जयपुर के राजस्व मंत्री के परामर्श पर भी सीकर ठिकाने को कृषकों की कठिनाई समझ में नहीं आयी । जयपुर महाराजा का परामर्श व्यर्थ हो गया । अब कृषकों के समक्ष संगठित होकर कुछ करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रहा । शेखावटी किसान आन्दोलन के प्रथम चरण में किसानों की उपलखियां विशेष नहीं थी किन्तु किसान चेतना की दृष्टि से यह काल महत्वपूर्ण था । इस दौरान किसानों के स्वत: स्फूर्त आन्दोलन ने संगठन का रूप धारण कर लिया था । राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर शेखावटी के किसानों की समस्याओं का प्रचारित होना एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी ।

14.7 शेखावटी किसान आन्दोलन का विकास (1930-1938)

वर्ष 1928-1930 के मध्य भारतीय राजनीति में क्रान्तिकारी एवं समाजवादी विचारधाराएं एक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आ रही थी । कांग्रेस ने भी इन नये सन्दभों में मार्च, 1930 में सश्निय अवज्ञा आन्दोलन आरम्भ किया था, जो 1920-22 के असहयोग आन्दोलन के बाद दूसरा बड़ा राष्ट्रष्पापी जन आन्दोलन था । शेखावटी के किसानों पर इन स्थितियों का प्रभाव पडना स्वाभाविक ही था । दिसम्बर, 1930 में सीकर के किसानों ने जयपुर के महाराजा को सीकर के ठिकाने की दमनात्मक नीति के एक ज्ञापन प्रस्तुत किया और अपनी मांगे नहीं मानने तक वहां सत्याग्रह आरम्भ कर दिया

। अप्रैल 1931 में जयपुर राज्य कौंसिल के राजस्व सदस्य सी.एल. अलेस्वेण्डर जिसे सीकर के किसानों की समस्याएं सुलझाने का कार्य सौंपा था, उन्होंने अपनी राय प्रकट की कि सीकर का रावराजा प्रतिवर्ष राजस्व निर्धारित करने का एक मनमाना ढंग अपनाता हैं । यह स्पष्ट दिखाई देता हैं कि 287 गांबवों में से 220 गांवों में रावराजा ने पिछले वर्षा के सामान्य राजस्व से अधिक राजस्व वसूला । यह कार्य ऐसे दर्श में किया गया जब कम वर्षा हुई तथा कृषि मूल्यों में गिरावट आयी थी । जयपुर राज्य एवं अन्य सभी राज्य सामान्य राजस्व वसूल करने में कठिनाई अनुभव कर रहे है । 16 अप्रैल 1931 को सीकर के रावराजा डी जयपुर के महाराणा के साथ बैठक हुई और यह निर्णय हुआ कि किसानों के राजस्व में रुपयें में दो आना की छूट दी जाय । इस छूट की घोषणा सीकर के रावराजा ने जून, 1931 में कर दी थी, किन्तु इसकी कार्यायति नहीं की गई अत: कृषक असंतोष पुन: बढ़ने लगा ।

शेखावटी के जाट किसानों की मांग पर अखिल भारतीय जाट महासभा एवं राजस्थान जाट सभा के प्रतिनिधि मण्डल ने अक्टूबर 1931 में शेखावटी के गांवों का दौरा किया । इसने किसानों की समस्याओं की जांच की एवं विभिन्न सभाओं के द्वारा किसानों को अपना संघर्ष तेज करने की सलाह दी । इस प्रकार शेखावटी के जाट किसानों ने जातीय आधार पर संगठित होना आरम किया । इसी क्रम में 11 फरवरी से 13 फरवरी 1932 के बीच बसन्त पंचमी के अवसर पर झुंझुनू में अखिल भारतीय जाट महासभा का 23वां अधिवेशन आयोजित हुआ था । इसमें लगभग 60 हजार स्त्री-पुरूषों ने भाग लिया । इस सम्मेलन में जाटों की एकता, बच्चों की शिक्षा, बाल-विवाह पर रोक एवं सामाजिक उत्सवों पर धन के अपव्यय को रोकने सम्बन्धी प्रस्ताव पास किये गये थे । इसके अतिरिक्त एक आर्थिक प्रस्ताव पास करके जयपुर के महाराजा के पास भेजा जिसमें निम्न प्रस्ताव थे:

1. सभा महाराज द्वारा राजस्व में दी गयी छूट के लिए महाराजा को धन्यवाद ज्ञापित करती है ।
2. सभा महाराज से निवेदन करती है कि वह अपने जमीदारों को आदेश दे कि वे भू-राजस्व पुरानी दरों के आधार पर ही ले ।
3. समा सभी ठिकानेदारों से आग्रह करती है कि हे प्रतिवर्ष अपने राजस्व की 5 प्रतिशत राशि शिक्षा एवं स्वास्थ्य पर खर्च करें।
4. सभा जयपुर महाराज से प्रार्थना करती है कि पिछले दो वर्षा से अकाल की मार एवं अनाज के मूल्यों में गिरावट को ध्यान में रखते हुए सभी दीवानी मुकदमों की कुर्की समाप्त करें ।
5. सभा जयपुर महाराज से सहकारी बैंकों की स्थापना का नियेदन करती है, जिससे किसान ब्याज की भारी दरों से बच सकें ।

जाट महासभा के उपर्युक्त सम्मेलन से शेखावटी के किसानों में नई चेतना का संचार हुआ । इस सम्मेलन से प्रेरणा प्राप्त कर सीकर के किसानों ने सितम्बर, 1993 में पलथाना में जाट सभा का आयोजन किया । इस सभा ने 20 जनवरी से 26 जनवरी 1934 तक सीकर में जाट महायज्ञ का आयोजन किया । महायज्ञ के आयोजकों ने ठिकाने के प्रति कटुता दिखाते हुए उत्तेजनापूर्ण भाषण दिये । समाज सुथार के जयघोष में वर्ग कटुता एवं वर्ग घृणा को बढ़ावा मिला जिससे किसान आन्दोलन अधिक तीव्र हो गया । किसानों की बढ़ती हुई शक्ति को कुचलने के उद्धेश्य से ठिकानें ने महायज्ञ समिति के सचिव मास्टर चन्द्रभानसिंह को गिरफ्तार कर लिया तथा छ: सप्ताह की साधारण कैद एवं 51 रूपये जुर्माना लगाया गया । जाट किसानों ने सीकर ठिकाने की इस कार्यवाही के विरोध में करबन्दी, अभियान

आरम्भ कर दिया । सैकडों की संख्या में किसानों ने भाग लिया । 18 फरवरी, 1934 ले जयपुर राज्य कौन्सिल के उपाध्यक्ष ने सीकर रावराजा से इन मांगों पर विचार करके किसानों की समस्याओं के समाधान हेतु एक अधिकारी नियुक्त किया । सीकर ठिकाने ने अगस्त, 1934 के किसानों की मांगों को स्वीकार करते हुए लाग-बागों की समाप्ति, आन्तरिक चुंगी समाप्ति, भू-राजस्व कम करने एवं भूमि का वर्गीकरण करने, सीकर जाट पंचायत को मान्यता देने, लैगर समाप्त करने, गोचर भूमि का निःशुल्क उपयोग करने तथा शिक्षा एवं स्वास्थ सुविधाएं प्रदान करने समबंधी घोषणा की । किसानों ने इस घोषणा के आधार पर समझौता कर लिया था, किन्तु ठिकाने एवं जाट किसानों के बीच तनाव समाप्त नहीं हुआ ।

अगस्त, 1934 में सीकर के किसानों की सफलता से प्रेरित होकर शेखावटी के अन्य ठिकानों विशेषकर खेतडी, डूंडलोद, नवलगढ, बिसाउ सूरजगढ़ खण्डेला, मलसीसर आदि के किसानों ने भी अपने आन्दोलन तेज कर दिये । 15 सितम्बर, 1934 को इन किसानों ने भू-राजस्व एवं अन्य लाग-बागों के भुगतान न करने का निर्णय लिया एवं धमकी दी गयी कि यदि कोई किसान भुगतान करेगा तो उसे जाति से बाहर कर दिया जायेगा । जयपुर राज्य कौन्सिल ने किसानों एवं ठिकानों के मध्य विवादों को निपटाने हेतु सीकर के सीनियर अधिकारी कैप्टन वेब, जिसने अगस्त, 1934 में सीकर ठिकाने का समझौता करवाया था, को नियुक्त किया । दिसम्बर, 1934 में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार ठिकानों ने रूपयों में चार आना भू-राजस्व में कमी करने पर अपनी सहमति दी । जनवरी, 1935 में किसानों ने इस घटी हुई दर पर भूराजस्व की अदायगी स्वीकार कर ली । किन्तु वास्तव में भू-राजस्व की बस्ती का कार्य पुरानी दरों पर ही किया जा रहा था । अत: किसानों ने ठिकानों का विरोध आरम्भ कर दिया । जयपुर राज्य कौन्सिल के पुन: प्रयासों से 14 मार्च, 1935 को एक समझौता हुआ जिसके अनुसार राजस्व निर्धारण का कार्य ठिकानों के स्थान पर राज्य के अधिकारियों द्वारा किये जाने पर सहमति हुई । दिसम्बर, 1935 में भू-राजस्व की दर कुल उत्पादन के 1/2 भाग के स्थान पर 2/5 भाग निर्धारित की गयी । 1936 में ठिकानों में भूमि सर्वेक्षण और भूमि बन्दोबस्त की प्रकिया आरम्भ हो गयी ।

14.8 शेखावटी किसान आन्दोलन का चरमोत्कर्ष (1938- 1947ई.)

वर्ष 1938 तक शेखावटी के किसानों में शान्ति बनी रही । शेखावटी जाट सभा ने कोई व्यापक रूप से जन आन्दोलन नहीं चलाया । किन्तु स्मरण-पत्रों, पंचायत पत्रिका आदि के माध्यम से वह ठिकानों व सरकार का ध्यान किसानों की मांगों के प्रति निरन्तर आकर्षित करती रही । किसान नेताओं को भी विश्वास हो गया कि उनकी शिकायतों का समाधान उत्तरदायी सरकार की स्थापना के बाद ही सम्भव हो सकेगा । 1938 में 'राज्य प्रजा मण्डल' के तत्वावधान में उत्तरदायी सरकार की स्थापना के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । प्रजा मण्डल ने किसानों की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रयास किये । 1939 में हिंडोन और तोरावाटी निजामत के खालसा क्षेत्र में प्रजा मण्डल के नेतृत्व में किसानों को अकाल से राहत दिलाने के लिए आन्दोलन हुआ । उनियारा ठिकाने में बैरवा जाति के लोगों ने जातीय भेदभाव के विरोध में आन्दोलन किया किन्तु इनके कोई विशेष परिणाम नहीं निकले । जयपुर राज्य प्रजा मण्डल ने अपना दायरा विगत करने के उद्धेश्य से ही किसानों को समर्थन करना आरम्भ किया

था । जयपुर राज्य प्रजा मण्डल ने 8 मार्च, 1938 को अपने प्रथम सम्मेलन में ठिकानों के सफल में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किये :

"जयपुर रियासत के अधिकांश ठिकानों में बसने वाली जनता के प्रति ठिकानेदारों का जो व्यवहार है वह, अधिकांश में गैर-कानूनी कष्टदायक और विकास कार्यो के विरूद्ध हैं । इससे न केवल जनता को बल्कि ठिकानों और ठिकानेदारों को भी बहुत हानि हैं जयपुर राज्य प्रजा मण्डल की यह निश्चित राय है कि ठिकानों की जनता को भी वही कानूनी, आर्थिक, सामाजिक और व्यक्तिगत अधिकार व सुविधाएं प्राप्त होनी चाहिए जो राज्य की जनता के लिए आकांक्षित है ।"

इन बदलती परिस्थितियों में सीकर के किसानों में अपनी शक्ति को संगठित करना आरम्भ कर दिया था । इसके लिए 11-12 सितम्बर, 1938 को सीकर के गोढरा नामक गांव में जाट-क्षत्रिय किसान पंचायत का आयोजन किया गया । इस सम्मेलन में दस से ग्यारह हजार लोगों ने भाग लिया । इस सम्मेलन में पारित प्रस्तावों का ज्ञापन 15 सितम्बर, 1938 को किसानों ने जयपुर राज्य के प्रधानमंत्री समक्ष प्रस्तुत किया गया । प्रधानमंत्री ने किसानों को उनकी समस्याओं के शीघ्र समाधान का आश्वासन देते हुए सूचित किया कि मिस्टर ब्राउन को बन्दोबस्त आयुक्त नियुक्त किया गया है । यह नया अधिकारी लखे समय से चले आ रहे विवादों को सुलझा देगा । जयपुर राज्य सभी प्रकार के राजनीतिक एवं जन आन्दोलनों का समाधान भूमि बन्दोबस्त में देख रहा था । दिसचर, 1939 तक सीकर के खालसा क्षेत्रों का बन्दोबस्त पूरा हो गया था जिससे किसानों को कुछ भूमि अधिकार प्रदान कर दिये गये थे । अब सीकर के जागीर क्षेत्रों का मुद्दा किसान आन्दोलन का आधार रह गया था ।

शेखावटी के अन्य ठिकानों के किसानों ने प्रजामण्डल के सहयोग से जुलाई, 1939 में सत्याग्रह आरम्भ किया था । अक्टूबर, 1939 तक हजारों किसान गिरफ्तारी के लिए पहुंचे। आन्दोलनों को बढ़ता हुआ देख जन्वरी, 1940 में शेखावटी किसान जाट पंचायत के गिरफ्तार नेताओं एवं कार्यकर्ताओं को जेल से रिहा कर दिया गया था किन्तु इसके बावजूद भी किसान आन्दोलन समाज नहीं हुआ । जागीरदारों द्वारा किसानों को निरन्तर उत्पीडित किया जा रहा था । 10 जनवरी, 1941 को जयपुर पुलिस महानिरीक्षक ने जयपुर के प्रधानमंत्री को एक पत्र लिखकर सूचित किया कि "ठिकानों और उनके कर्मचारियों के किसानों पर अत्याचार के कई उदाहरण देखने को मिल रहे है । हत्याएं भी हो रही है । मैं सरकार से प्रार्थना करता हूए कि ठिकानेदारों एवं उनके लोगों के उपयुक्त व्यवहार हेतु समझाने के लिए ठोस कदम उठाये जावे ।" जयपुर राज्य प्रजा मण्डल अभी तक अपनी मान्यता के लिए संघर्षरत था । सरकार जयपुर पब्लिक सोसयटीज रजिस्ट्रेशन एक्ट के तहत प्रजा मण्डल का पंजीकरण करने में आना-कानी कर रही थी । अप्रैल 15- 16, 1941 को जयपुर राज्य प्रजामण्डल का तीसरा वार्षिक अधिवेशन झुंझुनू में आयोजित हुआ । इसमें एक ही प्रस्तावपास झा था कि अब धैर्य की सीमा टूट गयी है एवं प्रजामण्डल को मजबूर होकर अपनी मांगों के समर्थन में सत्याग्रह की योजना बनानी पड रही है । प्रजा मण्डल के इस निर्णय के दबाव में जयपुर भूमि बन्दोबस्त के कार्यो को अन्तिम रूप देने के लिए 12 अप्रैल, 1941 को जयपुर राज्य कौन्सिल ने एक समिति का गठन किया जिसमें 7 व्यक्तियों में से दो राजस्व विभाग के उच्चाधिकारी एवं 5 ठिकानेदारों को सदस्य बनाया गया । यह समिति कोई विशेष कार्य नहीं कर सकी क्योंकि इसके अधिकांश ठिकानेदार सदस्य किसानों को किसी भी प्रकार के अधिकार देने के पक्ष में नही थे । अगस्त,1942 में अखिल भारतीय कांग्रेस के भारत

छोड़ो आन्दोलन प्रस्ताव के साथ जयपुर राज्य में भी इस आन्दोलन के आरम्भ होने की सम्भावना थी । शेखावटी के किसानों को इससे अलग रखने के उद्देश्य से जयपुर सरकार ने जल्दबाजी में लम्बे समय से चले आ रहे शेखावटी भूमि बन्दोबस्त को पूर्ण कर लेने की घोषणा कर दी । 15 अगस्त, 1942 को भूमि बन्दोबस्त के प्रावधानों को भी घोषित कर दिया गया । किन्तु 1942 में बन्दोबस्त की घोषणा केवल एक घोषणा ही बनकर रही गयी थी ।

12 फरवरी, 1943 को किसान नेता हरलाल सिंह ने इस समथ में जयपुर के प्रधानमंत्री से शिकायत भी की थी । जयपुर राज्य ने 3 दिसम्बर, 1943 को विशेष भूमि बन्दोबस्त आयुका को यह कार्य सौंपा किन्तु कोई ठोस कार्यवाही नहीं हुई।

जयपुर राज्य की शेखावटी के किसानों के प्रति कठोर नीति अपनाने के दो प्रमुख कारण थे, किसानो का प्रजामण्डल के साथ सहयोग तथा शेखावटी के जागीरदारों द्वारा किसानों का संगठित विरोध । वास्तविकता यह थी कि किसानों की बढ़ती हुई शक्ति से सामन्त तथा शासक वर्ग एकजुट हो गये । जयपुर सरकार ने एक आदेश जारी किया जिसके अनुसार बिना अनुमति के शेखावटी में जुलुस निकालने, सभा करने तथा एकत्रित होने पर पाबन्दी लगा दी गई । 1945 के अन्त तक सीकर तथा शेखावटी का किसान आन्दोलन पुन: शक्तिशाली रूप से आरम्भ हो गया था । इस समय आन्दोलन का नेतृत्व पूर्णत: प्रजामण्डल के हाथों में था । 20 नवम्बर, 1945 से 10 दिसम्बर, 1945 तक जयपुर राज्य प्रजामण्डल के नेता हीरालाल शास्त्री, लादूराम जोशी, नरोत्तमदास वकील, हरलाल सिंह जाट एवं लादूराम जाट ने झुंझुनू में रहकर किसान आन्दोलन का नेतृत्व किया । किसानों ने करबन्दी आन्दोलन को सफल बनाने के उद्धेश्य से ठिकानों के राजस्व अधिकारियों को भू-राजस्व वसूल करने से रोकना आरम्भ कर दिया । किसानों और ठिकाना कर्मचारियों के बीच जबरदस्त हिंसक वारदातें हुई । किसान जागीरदारी यदस्था को समूल नष्ट कर सदैव के लिए सामन्ती शोषण से मुक्ति प्राप्त करने के लिए लालायित थे । 23 दिसम्बर, 1946 को जयपुर राज्य महकमाखास परिसर में प्रजाण्डल एवं किसाम नेताओं ने शेखावटी के किसानों की सभा का आयोजन किया । इस सभा में जागीरदारी व्यवस्था की पूर्ण समाप्ति की मांग की गयी । अन्तत: जयपुर महाराजा ने 30 दिसम्बर, 1946 को प्रजामण्डल के नेताओं के साथ समझौता किया । जनवरी, 1947 को जयपुर राज्य प्रजामण्डल ने महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी सरकार गठित की । इससे किसानों को जागीरदारों के अत्याचारों से मुक्ति एवं भूमि बन्दोबस्त की व्यवस्था स्थापित होने की आशा बंधी ।

14.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात हम देखते है कि वर्ष 1920 से 1947 के मध्य राजस्थान का कोई भी ऐसा राज्य शेष नहीं था जहां किसान आन्दोलन नहीं हुए हो । 1938 के बाद प्रजामण्डलों का समर्थन इन किसान आन्दोलनों को मिला था । अत: किसान आन्दोलन राजस्थान के महत्वपूर्ण राजनीतिक सूत्रधार थे । शुद्ध किसान आन्दोलन जो आर्थिक, सामाजिक मुद्दों पर आरम्भ हुए थे वे धीरे-धीरे राजनीतिक आन्दोलन के रूप में विकसित हो गये थे । राजस्थान के सभी जन आन्दोलनों में किसान की भूमिका निर्णायक रही थी । बीसवीं सदी के आरम्भ में शुरू हुए किसान आन्दोलन वर्ष 1947 तक निरन्तर चलते रहे तथा एक सीमा तक सामन्तवाद एवं साम्राज्यवाद को पराजित करने में सफल रहे ।

14.10 प्रश्न निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

1. राजस्थान में कृषक आन्दोलनों के मुख्य कारण क्या थे? (100 शब्द)
2. बिजौलिया किसान आन्दोलन में विजयसिंह पथिक एवं माणिक्यलाल वर्मा की क्या भूमिका रही । (150 शब्द)
3. शेखावटी के किसान आन्दोलन के मुख्य कारण क्या थे?
4. शेखावटी किसान आन्दोलन में जयपुर राज्य प्रजामण्डल की क्या भूमिका रही थी?

14.11 संदर्भ ग्रन्थ

1. बिजौलिया किसान आन्दोलन का इतिहास -शंकर सहाय सक्सेना तथा पद्मजा शर्मा
2. आधुनिक राजस्थान -रामनारायण चौधरी
3. राजस्थान का मतन्त्रता संग्राम का इतिहास -गोपीनाथ शर्मा
4. आधुनिक राजस्थान का इतिहास -जैन, एमएस.
5. एग्रेरियन वमेन्ट्स इन राजस्थान -पैमाराम

इकाई-15

गोविन्द गिरि एवं मोती लाल तेजावत के नेतृत्व में राजस्थान में आदिवासी आन्दोलन

(Tribal movements in Rajasthan under Govindgiri and Motilal Tejawat)

इकाई की रूप रेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 भील की उत्पत्ति

15.3 भील जाति की प्रकृति

15.4 भील आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

15.5 भील विद्रोह

15.5.1 1818 ई. के बाद मेवाड में प्रथम विद्रोह का कारण

15.5.2 1826 के विद्रोह का कारण

15.5.3 महाराणा सरदार सिंह (1838-42) के काल में भील विद्रोह

15.6 विद्रोह के कारण

15.7 गुरू गोविन्द गिरि का भीलों में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार आन्दोलन

15.8 गुरु गोविन्द गिरि की शिक्षाएं

15.8.1 भीलों का विद्रोह

15.8.2 मानगढ़ हत्याकांड 1913 ई.

15.9 मोतीलाल तेजावत व भील आन्दोलन

15.10 मोत्तिलाल तेजावत का जीवन परिचय व भीलों से सम्पर्क

15.10.1 आन्दोलन का नेतृत्व व संचालन

15.10.2 आन्दोलन का प्रसार एवं हत्या काण्ड

15.11 सारांश

15.12 संदर्भ ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेगें कि-

- भील कौन थे? इस जाति की प्रकृति कैसी थी एवं इनके आन्दोलन की ऐतिहासिक भूमि क्या थी?
- इस विद्रोह के कारण क्या थे?
- गोविंद गिरि ने किस प्रकार इनके समाज सुधार का प्रयास किया?

– मोतीलाल तेजावत कौन थे उन्होने भीलो के आन्दोलन को किस प्रकार नेतृत्व प्रदान किया

15.1 प्रस्तावना

'भील' भारत की प्राचीनतम जाति है जिसका उल्लेख पुराणों, रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी मिलता है 'भील' भारत की आदिवासी जातियों में से एक प्रमुख जाति है । भील देश के चार राज्यों में पाए जाते हैं - महाराष्ट्र, गुजरात, मध्यप्रदेश और राजस्थान । राजस्थान में मीलों का फैलाव व्यापक है, ये प्रदेश के सभी जिलों में पाये जाते हैं, परंतु इनका बाहुल्य राज्य के दक्षिणी जिलों उदयपुर, डूँगरपुर, बाँसवाड़ा, चित्तौड़गढ़ एवं सिरोही में है । राजस्थान के दक्षिणी भाग को जहाँ भील जाति निवास करती थी, बह क्षेत्र 'भोमट' के नाम से जाना जाता था, जिसे मेवाड़ भी कहते हैं । जनसंख्या की दृष्टि से भील राजस्थान राजा की दूसरी बहुसंख्यक जनजाति है, जो मूलत: जंगलों एवं पहाडी अंचलों में निवास करती है । भील जाति मेवाड़ में शहरों से दूर पहाड़ी अंचलों में, पहाड की चोटियों पर या घने जंगलों में एक दूसरे से दूर छोटे-छोटे झोंपडे बना कर रहते हँ । झोपड़ो के समूह को भील बोली मे पाल कहा जाता है । पाल का मुखिया पालवी अथवा गमेती कहलाता है ।

15.2 भील की उत्पत्ति मिथक

भीलों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत हैं, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि ये इस देश के मूल निवासी हैं एवं प्राचीन समय से ही निर्जन वनों एवं दूरस्थ स्थानों में निवास करते आ रहे हैं । भील संस्कृत भाषा के 'भिल्ल' शब्द का तदभव रूप है, जो संस्कृत के भिल-बिल-भेदने' धातु से मूलबद्ध है । संस्कृत में 'भिल्ल' शब्द मलेच्छ देश और जाति दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है । मलेछ शब्द असित रंग के आर्यात्तरों के लिए शताब्दियों तक प्रयुक्त होता रहा । बाद में इस शब्द का प्रयोग अवहेलना और तिरस्कार के रूप में हुआ ।

मिल शब्द का प्रयोग भेदने की प्रक्रिया से भी है । महाभारत काल में यह शब्द 'निषाद' के लिए प्रयुक्त किया जाता था । राबर्ट शेफर ने निषादों को भीलों का पूर्वज प्रतिपादित किया है । मेजर केडी अर्सीकन ने मेवाड गजेटियर (1908 ई) में एक पूरा भाग मीलों के विवरण पर दिया है । इनका मत है कि ये भारत के मूल निवासियों में से हैं । कर्नल टॉड ने इन्हें 'वनपुत्र' कहा है । गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के अनुसार यह निश्चित है कि ये आदिवासी अनार्य है, किन्तु जिन अनार्य समूह से इनकी उत्पत्ति हुई उसके शारीरिक गठन एवं रंगरूप के करे में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है।

वास्तव में भीलों की मानवशास्त्रीय उत्पति की खोज एक दुष्कर कार्य है । किन्तु भील जाति का इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण रहा है । इतिहास के पृष्ठों पर यह जनजाति अपने कृत्यों के कारण सदैव याद की जाती रही है । भीलों ने हमेशा राजपूत राजाओं को सहयोग प्रदान किया । राजपूत मीलों को इस क्षेत्र का सबसे पुराना निवासी मानते हैं एवं राजपूतों का राज्याभिषेक तब तक सम्पन्न नहीं होता जब तब कि भील सरदार अपनी अंगुली काटकर उसके रक्त से उनका राजतिलक नहीं करता । उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि राजपूत शासक अपने राज्य में मीलों को काफी महत्व देते थे । अनेक राजपूत शासकों ने अपने राज्य के कुछ हिस्से मीलों को राज्याभिषेक के पट्टेदारों के रूप में उपहारस्वरूप दिये और उन्हें सत्ता में भागीदार बनाकर अपने राज्य को सुरक्षित रखने का प्रयास किया ।

15.3 भील जाति की प्रकृति

प्रकृति से मील एक स्वतन्त्र, नियमों में न बंधने वाली युद्धप्रिय जाति है इनके मुख्य हथियार तीर व कमान है । आर्थिक रूप से यह कमजोर व पिछड़ा वर्ग है और इनके आर्थिक संसाधन भी बहुत कम है । आरम्भ में वे भोजन की तलाश मे इधर-उधर नटका करते थे, किन्तु बाद मे वे 'झिमतो' विधि से जंगल जलाकर खेती करनाड खेती करने लगे । खेती के अतिरिक्त लकडी काटना, घासफूस, फल, जडी-बूटी, शहद, गोंद एकत्रित करना, मछली पकड़ना जंगली जानवरों का शिकार करना भी उनके अन्य व्यवसाय थे । वे अपने क्षेत्र में सुरक्षित यात्रा के बदले यात्रियों से बोलाई नामक कर तथा गाँव वालों की सुरक्षा के बदले उनसे रखवाली कर लेते थे । अकाल के दिनों में उन्होंने चोरी और डकैती का पेशा भी अपना लिया था । 1838 ई. में मेवाड सरकार और ईस्ट इण्डिया कम्पनी के बीच एक सन्धि हुई थी, जिसके अनुसार इस भोमट क्षेत्र के कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने का उत्तरदायित्य कम्पनी ने अपने ऊपर ले लिया था ।

भील बहुत अन्धविश्वासी होते हैं भूत-प्रेतों से बचने के लिए अपने हाथों मे गोदना गुदवाते हैं तथा गंडे ताबीज भी पहनते हैं । चुड़ैल या डाकन के जादू टोने में विश्वास करते हैं । यदि किसी स्त्री पर चुडैल होने का सन्देह हो तो उसे अनेक प्रकार की सत्य परीक्षा से गुजरना पडता था । यदि वह अपराध स्वीकार कर लेती है, तो उसे मार दिया जाता है अथवा पाल से बाहर निकाल दिया जाता है ।

भील पूर्णतया अशिक्षित थे इसलिए रूढिवादी भी अधिक थे । भीलों को अपनी परम्परागत जीवन पद्धति से इतना नगद था कि अपने मुखिया की अनुमति के बिना उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं चाहते थे । 1881 ई. में जब मेवाड सरकार ने इस क्षेत्र में प्रशासनिक एवं सामाजिक सुधार लाग करने चाहे तब भीलों ने उन्हें अपनी आजादी पर नियंत्रण समझकर विद्रोह कर दिया क्योंकि आधुनिक सुधार उनकी परम्परागत जीवन पद्धति को बदलने वाले होते थे, जो भीलों की प्रकृति के विपरीत थे, इसलिए उनके मन में विद्रोह की भावना का जागत होना स्वभाविक था ।

15.4 भील आन्दोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

गुहिल शासक शिलादित्य द्वारा मेवाड क्षेत्र के भीलों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के बाद से भील मेवाड राज्य की सुरक्षा एवं विस्तार में पर्याप्त सहयोग दे रहे थे । वे पहाड़ी मार्गो व सुरक्षित स्थानों के जानकार थे । जब-कभी मेवाड पर संकट आया, भीलों ने मेवाड राजपरिवार को जंगलों में रखकर न केवल उसकी सुरक्षा की बल्कि सैनिक मदद भी की उन्होंने शत्रु पक्ष को पहाडी अंचलों में घुसने नहीं दिया । अपनी गुप्तचर व्यवस्था के द्वारा समय-समय पर महाराणाओं तक शत्रु पक्ष की खबर पहुँचायी । मेवाड़ राजवंश के प्रति मीलों के समर्पण भाव को भुलाया नहीं जा सकता है ।

मेवाड के शासकों के अधीन रहते हुए भी भील अपनी स्वतन्त्र प्रकृति को नहीं भूल पाये । जब-कभी इनकी स्वतंत्रता, परम्परा, रीति-रिवाज या विश्वास इत्यादि में मेवाड के शासकों और उनके प्रतिनिधियों ने हस्तक्षेप करने का प्रयास किया तब-तब भीलों ने विद्रोह कर दिया । भील विद्रोह तभी शान्त होता जब इन्हें अपना हक प्राप्त हो जाता था । महाराणा प्रताप सिंह द्वितीय से हमीर सिंह 2 का अल्पकालीन, महाराणा भीमसिंह का कमजोर शासन व 19वीं सदी के आरम्भ में मराठों एवं पिण्डारियों के मेवाड में प्रदेश ने भीलों को प्रभावित किया । मेवाड की राजसत्ता के कमजोर होने पर

मराठों व पिण्डारियों ने भीलों पर काफी अत्याचार किए । भीलों के कई गाँव नष्ट कर दिये गये, उनके साथ अमानविय व्यवहार किया गया । मेवाड की सत्ता कमजोर होने से भील अपना सुरक्षा एवं बचाव भी नहीं कर पासे । भीलों पर इसका गहरा प्रभाव पडा । यह पहला अवसर था जब भील जाति अपने आपको असहाय अनुभव करने लगी थी और उनके अन्दर ही अन्दर विद्रोह की आग धधकने लगी थी।

15.5 भील विद्रोह

मराठों एवं पिण्डारियों के आक्रमणों से मेवाड की स्थिति बिगड़ने लगी ऐसे समय में 13 जनवरी, 1818 ई. में मेवाड ब्रिटिश संधि के तहत पुन: स्थायित्व एवं शान्ति का सूत्रपात हुआ परन्तुभीलों को यह सन्धि रास नहीं आई । सन्धि को भीलों ने अपनी स्वतन्त्रता का हनन समझा । अंग्रेज सरकार की ओर से मेवाड में नियुक्त कर्नल टॉड ने मेवाड राज्य की आय को बढ़ाने का प्रयास किया । भील मुखियओं ने समझा कि बोलाई व रखवाली कर की आय उनके हाथ से निकल रही है ।

15.5.1 1818 ई. के बाद मेवाड में प्रथम विद्रोह का कारण

1. 1818 ई. की संधि के तहत स्थानीय सेना भंग किए जाने के कारण, सेना में कार्यरत भील बेरोजगार हो गये।
2. संधि के तुरन्त बाद मेवाड का आन्तरिक प्रशासन ब्रिटिश रेजीडेंट कर्नल जेम्स टॉड ने संभाल लिया, जिसने भीलों को नियंत्रण में रखने का प्रयास किया ।
3. कर्नल टॉड ने भीलों का बोलाई व रखवाली कर वसूलने का अधिकार समाप्त कर दिया जो विद्रोह का तात्कालिक कारण बना ।

भीलों ने अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा में विद्रोह का बिगुल बजा दिया । भीलों को दबाने के लिए कर्नल लूँबे के नेतृत्व में एक सेना भेजी गई । अन्तत: भीलों के समर्पण करने पर अंग्रेजों की मध्यस्थता से 12 मई 1825 ई. को भील मुखिया व मेवाड़ के मध्य समझौता हो गया जिसके अनुसार -

1. प्रत्येक भील पाल का गमेती महाराणा की सर्वोच्चता स्वीकार करेगा ।
2. महाराणा पहाडी क्षेत्रों में थाने स्थापित कर सकेंगे ।
3. भील अपने सभी हथियार महाराणा को सौंप देंगे और भविष्य में भी किसी प्रकार के हथियार अपने पास नहीं रखेंगे।
4. भील अपनी कृषि उपज का 1/4 भाग राजस्व देंगे ।
5. भील रखवली कर वसूल नहीं करेंगे ।
6. भील लूटपाट व चोरी न करें, ऐसा करने वालों को गमेती उचित दंड हेतु प्रस्तुत करें ।
7. सभी मामलों में महाराणा एवं पोलिटिकल एजेण्ट का निर्णय स्वीकार करेंगे ।
8. भील गो एवं कन्या वध नहीं करेंगे ।
9. यदि कोई भील उपर्यक्त शर्तो का उल्लंघन करेगा तो अपराधी माना जायेगा व राज्य कानून के अनुसार कार्यवाही की जाएगी ।

उपर्युक्त समझौते से भीलों के विद्रोह को शान्त करने की कोशिश की गई परन्तु भीलों की समस्याओं का समाधान नहीं हुआ ।

दौलत सिंह व गोविन्दा के नेतृत्व में 1826 का विद्रोह

1825 ई. का समझौता स्थायी न हो सका, क्योंकि समझौते के प्रावधान भीलों की परम्परा, सामाजिक रीति-रिवाजों तथा अर्थव्यवस्था पर आघात करने वाले थे । भीलों का विद्रोह जारी रहा, अब वे लूट खसोट करने लगे ।

15.5.2 1826 के विद्रोह का कारण

ब्रिटिश अधिकारियों के अनुसार अव्यवस्था को कारण निम्नलिखित थे -

1. स्थानीय अधिकारियों का दुर्व्यवहार ।
2. थाने में सिपाहियों की अनियमित नियुक्तियाँ ।

विद्रोह

1826 ई. में दौलत सिंह व गोविन्दा के नेतृत्व में भीलों ने महाराणा द्वारा बैठाये गये थानों (जवास व जूड़ा) को नष्ट कर दिया व विभिन्न स्थानों पर 250 व्यक्तियों को मार दिया । खेरवाडा के थाने को घेर लिया चूंकि महाराणा इस आन्दोलन को दबाने में असमर्थ रहा, इसलिए उसकी प्रार्थना से ब्रिटिश कप्तान कोब व बांयट सेना के साथ भील विद्रोह को दबाने गये परन्तु ब्रिटिश अधिकारी भील आन्दोलन को पूर्णतया दबाने में असफल रहे क्योंकि एक तो दौलतसिंह व गोविन्दा को स्थानीय जनता का समर्थन प्राप्त था दूसरा ब्रिटिश सेना उस क्षेत्र से अपरिचित थी ।

ब्रिटिश अभियान की असफलता के पश्चात् अंग्रेज अधिकारियों ने एक पैदल सेना व कुछ घुडसवार सैनिक कप्तान ब्लैक के नेतृत्व में मेवाड़ की सहायता के लिए भेजे । डूँगरपुर व बाँसवाड़ा में फैली हुई अव्यवस्था व अशान्ति के कारणों का पता लगाकर अन्त में मीलों को बोलाई एकत्रित करने का अधिकार दे दिया था, जिससे इस क्षेत्र में कुछ शान्ति स्थापित हुई ।

15.5.3 महाराणा सरदार सिंह (1838-42 ई) के काल में भील विद्रोह

सरदार सिंह ने मार्च 1839 ई. में भोमट क्षेत्र से भू-लगान वसूल कर अपनी आमदनी बढ़ानी चाही, इसे भोमट के भीलों ने फिर अपनी स्वतंन्त्रता पर कुठाराघात समझा और थे विद्रोह कर उठे । भीलों ने दो थानों पर आक्रमण कर उन्हें नष्ट कर दिया व 150 लोगों को मौत के घाट उतार दिया । महाराणा द्वारा सहायता मांगने पर ब्रिटिश पोलिटिकल एजेंट कर्नल राबिंसन ने मेवाड का आन्तरिक मामला बताकर सहायता से इनकार कर दिया । इधर भोमट में भीलों का उपद्रव दिन प्रतिदिन बढ़ रहा शा ।

महाराणा नहीं चाहता था कि मुसीबत के समय में पूर्वजों का साथ देने वाली भील जाति और ज्यादा विद्रोह करें । अत: माहाराणा की ओर से 16 जनवरी 11840 ई. में मेहतारामसिंह ने पोलिटिकल एजेन्ट को पत्र लिखा कि -भीलों के बार-बार विद्रोह से मेवाड में अव्यवस्था फैल रही है, इसलिए किसी तरह मेवाड मील कोर की स्थापना कर दी जाए । इससे मीलों की आजीविका के साधन का भी हल होगा व भीलों में आत्म विश्वास भी बढ़ेगा ।

मेवाड भील कोर की स्थापना

दक्षिणी राजस्थान में निरन्तर भील विद्रोह हो रहे थे । माहीकांठा क्षेत्र में भीलों द्वारा उत्पात मचाया जा रहा था । अत: आउद्रम ने महाराणा को एक अंग्रेज अधिकारी के नेतृत्व में मेवाड भील कोर की स्थापना का सुझाव दिया । सन् 1838 ई. में मेवाड़ महाराणा ने मेवाड भील कोर की स्थापना की

व 1841 ई. में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी ने मेवाड भील कोर की स्थापना को मंजूरी प्रदान की । विलियम हंटर को उसका कमाण्डेंट बनाया गया तथा उसे खेरवाडा से अच्छे चरित्र वाले भीलों की भर्ती के ओदश दिये गये ।

इस प्रकार मेवाड भील कोर की स्थापना के बाद भीलों का विद्रोह शान्त हो गया । लेकिन विद्रोहों की घटनाओं एवं एम.बी.सी. की स्थापना ने महाराणा एवं ब्रिटिश सरकार को यह पक्का अहसास करा दिया कि मेवाड राज्य की शासन व्यवस्था को सुचारू रूप से संचालित करने के लिए भीलों का सहयोग एएवं विश्वास प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है।

6 दिसम्बर 1871 को मेवाड महाराणा शंभूसिंह को ब्रिटिश सरकार की ओर से उदयपुर में दरबार आयोजित कर जी.सी.एस.आई. (ग्रैंड कमान्डर ऑफ द स्टार ऑफ इंडिया) जो उस समय का सबसे बड़ा खिताब था, से सम्मानित किया गया तथा उसके साथ महाराणा को राजचिन्ह सहित एक झंडा दिया गया । इस राज चिन्ह पर अपनी वेशभूषा में धनुष बाण लिए भील अंकित है ।

अत: भील जाति को यह सम्मान व महल तथा क्षत्रियों के बराबर स्थान देने से स्पष्ट है कि भील जाति का मेवाड की स्वतन्त्रता को कायम रखने में कितना महत्वपूर्ण स्थान है । आदिवासी भीलों को ऐसी इज्जत देना भारत के इतिहास की एक स्मरणीय एवं उल्लेखनीय घटना है ।

महाराणा सज्जन सिंह के समय (1847-1884 ई) भील विद्रोह

मेवाड भील कोर (एम.बी.सी.) की स्थापना का भीलों पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पडा । वह जितनी ईमानदार एवं वफादार जाति थी, उतनी ही वह अपने पर होने वाले अत्याचारों के खिलाफ विद्रोह करने वाली थी । वह अपनी परम्परागत स्वतंत्रता में हस्तक्षेप व अत्याचार बर्दाश्त नहीं कर सकती । अत: 1887 से 1883 ई. के बीच मेवाड के भीलों ने ब्रिटिश सरकार एवं महाराणा की प्रभुसत्ता को चुनौती दी ।

15.6 विद्रोह के कारण

इस समय भीलों द्वारा किये गये विद्रोह के निम्नलिखित कारण थे-

1. भारतीय राज्यों में ब्रिटिश पद्धति के नवीन सुधारों ने भीलों के अनेक अधिकारों पर रोक लगा दी।
2. नागरिक अधिकारी भीलों से क्रूरतापूर्ण व अमानवीय घवहार करते व जबरन धन वसूली करते थे।
3. हकीम रघुनाथसिंह व उसके मातहत मोतीसिंह भीलों से क्रूरतापूर्ण व अन्यायपूर्ण व्यवहार करते थे । ये अधिकांश भीलों से दुगना कर व भारी जुर्माना जबरदस्ती वसूल करते थे ।
4. नवीन प्रशासनिक सुधारों ने मीलों पर नए-नए कर लगा दिये । तम्बाकू अफीम व नमक पर नए कर लगा दिये।
5. विलायती पठान भीलों को थोडे से रुपये उधार देकर उनसे कई गुना धन वसूलने लगे । कभी-कभी वे मीलों के बच्चों को छीनकर दास बना लेते थे । अत: इन अत्याचारों से तंग आकर भीलों ने विद्रोह किया ।
6. महाराणा सज्जनसिंह द्वारा सुधार लागू करना जिसके तहत निम्नलिखित सुधार कार्य किए गये-
   (i) भीलों की जनगणना कराना ।
   (ii) भील क्षेत्र में पुलिस, चुंगी चौकी की स्थापना ।
   (iii) अन्धविश्वास पर नियंत्रण ।

(iv) मद्यपान पर रोक लगाना ।

इन सुधारों को भीलों ने अपनी स्वतन्त्रता एवं परम्परागत रीति-रिवाजो में हस्तक्षेप समझा । यह भी अफवाह फैल गई कि जनगणना के तहत मोटे पुरूष मोटी स्त्रियों को तथा छोटे पुरूष छोटी स्त्रियों को दिये जायेंगे, जिससे भीलों में उत्तेजना फैली ।

तात्कालिक कारण

पुलिस अत्याचार - बारापाल के थानेदार ने किसी भूमि विवाद सम्बन्धी मामले में गवाही देने के लिए पढना गाद के दो गमेतियों को बुलाने के लिए सवार भेजा था । गमेती के इनकार करने पर सवार ने उसे जबरदस्ती ले जाना चाहा तो भीलों ने उसे मार दिया । इस पर थानेदार सिपाहियों के साथ गाँव जाकर गमेती को गिरफ्तार कर थाने ले आया, जहाँ अमानवीय यातनाओं से गमेती की मृत्यु हो गई । इस घटना से भील उत्तेजित होने लगे ।

विद्रोह:

उपर्युक्त कारणों से भीलों ने विद्रोह आरम्भ कर दिया । जब थाने में हुई गमेती की मृत्यु की खबर खेरवाडा पहुँची तो वहाँ के भील भी उत्तेजित हो गये । श्यामलदास ने लिखा है कि दो चार हजार भीलों ने बारहपाल के जावद की माता गाँव के मंदिर पर इकट्ठे होकर हलफ के साथ इकरार किया कि सब इकट्ठे होकर सरकारी आदमियों का सामना करें । अत: भीलों ने बारहपाल पहुँचकर थानेदार, शराब के ठेकेदार तथा कुछ और लोगों को मारकर थाना, चौकी व दुकानों में आग लगा दी । महाराणा सज्जनसिंह ने विद्रोह को दबाने के लिए सैनिक टुकड़ी भेजी किन्तु भीलों की छापामार पद्धति के आगे सैनिक टुकडी असफल रही । उसी समय अलसीगढ व पई कोटडा के भील विद्रोह कर उठे । कुछ ही समय में यह विद्रोह मेवाड भर में फैल गया ।

समझौता

मेवाड में शान्ति स्थापित करने के लिए महाराणा ने भीलों से समझौता करने का निर्णय किया व मीलों के प्रतिनिधियों को सुरक्षा का आश्वासन दिया । महाराणा ने श्यामलदास को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया तथा भीलों के साथ उदार शर्त लागू करने को कहा । समझौते की वार्ता ऋभषदेव मन्दिर के पुजारी 'खेमराज भण्डारी' की मध्यस्थता में 18 अप्रेल 1882 ई. को प्रारम्भ हुई । लगभग 6-7 हजार मील ऋषभदेव मन्दिर में एकत्रित हुए । अन्ततः मेवाड राज्य व भीलों के मध्य 19 अप्रेल, 1881 एक समझौता हो गया जिसमें 21 धाराएँ थी । मुख्य शर्त निम्नलिखत हैं -

1. भीलों के गाँव में जनगणना का कार्य नहीं किया जायेगा ।
2. भील पुरुषों व स्त्रियों का वजन नहीं लिया जायेगा ।
3. बडे पाल व वधुना हत्याकाण्ड के लिए उन्हें क्षमादान दिया जायेगा ।
4. भील क्षेत्र में थानों की बढ़ोत्तरी नहीं की जायेगी ।
5. भीलों की भूमि का मापन नहीं किया जायेगा ।
6. बिना मूल्य दिये उनसे घास व लकड़ी नहीं ली जायेगी ।
7. अफीम, तम्बाकू व नमक का ठेका नहीं दिया जायेगा ।
8. उन तीर्थ यात्रियों से जो ऋषभदेव व श्रीनाथजी के दर्शन के लिए जा रहे हैं, पुरानी प्रथा के अनुसार भीलों को बोलाई कर लेने का अधिकार होगा ।
9. राज्य के पहाडी क्षेत्र में घास व लकडी ठेके पर नहीं दी जायेगी ।

10. उन भीलों को जो पिछले तीन बर्षो से जेलों में बंद है, जुर्माना देने पर छोड़ दिया जायेगा ।
11. भीलों से आम व महुआ की पत्तियाँ एकत्रित करने पर किसी मी प्रकार का कर नहीं लिया जायेगा।
12. भीलों की पाल पर लगने वाला वार्षिक कर 'आधाबराड टेक्स' माफ कर दिया गया ।

इस तरह भीलों का व्यापक विद्रोह शान्त हुआ । यह पहला मौका था जब भीलों ने सामूहिक रूप से संगठित होकर एक साथ विद्रोह किया एवं महाराणा से सुविधाए प्राप्त की ।

15.7 गोविन्द गिरि का भीलों में सामाजिक एवं धार्मिक सुधार व भील आन्दोलन

भीलो में समाज सुधार का कार्य गुरु गोविन्द गिरि ने आरम्भ किया था उन्होंने मीलों के नैतिक एवं भौतिक जीवन को सामाजिक एवं धार्मिक शिक्षाओं के आधार पर सुधारने का प्रयास किया । गिरि की शिक्षाओं ने भीलों में नविन जागृति उत्पन्न की और धार्मिक व समाजिक सुधार आन्दोलन राजनीतिक व आर्थिक विद्रोह में परिणत हो गया ।

जीवन परिचय

गोविन्द गिरि का जन्म 1858 ई. में डूँगरपुर के बेदसा ग्राम में एक बनजारे के घर मे हुआ । गाँव में मन्दिर के पुजारी से अक्षर ज्ञान प्राप्त किया । स्वामी दयानन्द सरस्वती की प्रेरणा से युवावस्था में जनजातियों की सेवा में जुट गये । गिरि ने बासिया गाँव में धूनी व निशान स्थापित किये व आसपास के भीलों को आध्यात्मिक शिक्षा देने लगे ।

गिरि का आरम्भिक जीवन अपने पैतृक व्यवसाय बन्जारे के रूप में बैलों पर सामान ढोकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में बीता । इस वजह से मेवाड क्षेत्र, सिरोही, आबू पालनपुर, सन्तरामपुर, दाहोद आदि विभिन्न क्षेंत्रों के सम्पर्क में आये । उन्होंने सभी जगह आदिवासियों में व्याप्त बुराइयों तथा उन पर होने वाले शोषण को देखा और उन्हें सत मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया व इसी उद्देश्य की पूर्ति में उन्होंने अपना जीवन लगाने का निश्चय किया ।

15.8 गुरू गोविन्द गिरि की शिक्षाएँ

भीलों के सम्बन्ध में उनकी मुख्य शिक्षा उन्ही के शब्दो में इस प्रकार थी-

"मैंने जब भीलों के मध्य रहना आरम्भ किया तब उन्हे सृष्टिकर्ता का कोई ज्ञान नहीं था । जो भील मेरे पास आए, मैंने उन्हें धर्म और सत्य के मार्ग पर चलने तथा ईश्वर की आराधना करने को कहा । मैंने उनसे कहा कि वे नफरत की भावना न रखे, सभी को एक ही परमात्मा की संतान समझें व दूसरों के साथ शान्ति से रहने का प्रयास करें । वे भूत प्रेत चुड़ैल में विश्वास न करें । बल्कि उनको भागाने के लिए 'धूनी व 'निशान' की पूजा करें । गोविन्द गिरि ने भीलों से आहान किया कि वे मांस एवं मदिरा सेवन न करे ।

गुरू गोविन्द गिरि एक कुशल एवं योग्य नेता थे । वे ज्ञानी एवं सन्त पुरूष भी थे । अपनी शिक्षा एवं लोककल्याणकारी कार्यो से शीघ्र ही भीलों में लोकप्रिय हो गये । सम्पूर्ण भील समाज उनका पर्याप्त आदर करता था और उनके द्वारा निर्देशित दिशा-निर्देश पर कार्य करता था । भीलों में एकता स्थापित करने के उद्देश्य से उन्होंने 1905 ई. में सम्प सभा की स्थापना की । उन्होंने भीलों को हिन्दू धर्म के दायरे में रखने के लिए 'भगत पंथ' की स्थापना की । गोविन्द गिरि ने सम्प सभा के माध्यम

से मेवाड, डूँगरपुर, ईडर, गुजरात, विजयनगर, और मालवा के भीलों को संगठित किया । उनमें व्यापत सामाजिक बुराईयों और कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न किया तथा उन्हें उनके मूलभूत अधिकारों का एवंसास कराया । गोविन्द के प्रयास से आदिवासी लोग चोरी करना, मांस खाना तथा शराब पीना छोड़ रहे थे । भीलों में बढ़ती हुई जागृति से आस-पास की रियासतों में शासक सशंकित हो उठे । राज्य अधिकारी अपने क्षेत्र से गोविन्द गिरि तथा उसके पंथ को उखाड़ने का प्रयास करने लगे । भीलों के साथ बहुत बुरा व्यवहार किया जाने लगा तथा भीलों को 'भगतपंथ' छोड़ने को विवश किया जाने लगा । राज्याधिकारियों के इस व्यवहार से भीलों के मन में घृणा उत्पन्न हो गई और दे राज्याधिकारियों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ करने को विवश हो गये । भीलों के आदोलन के कुछ अन्य कारण भी थे । प्राचीनकाल से भील जंगल से एकत्रित वस्तुओं पर निर्वाह करते थे, किन्तु अब उन्हें कृषि कार्य के लिए विवश किया गया । अब वे सीधे अंग्रेजों, देशी राज्यों और जागीरदारों के नियंत्रण में आ गये । चूंकि भील स्वभाव से स्वतंत्रताप्रिय थे, अत: उन्होंने किसी के नियन्त्रण में रहना पसंद नहीं किया ।

राज्य व जागीदार उनसे भारी कर ले रहे थे । बटाई प्रथा के अन्तर्गत वे उनसे भारी लगान वसूलते थे । यदि वे लगान नहीं दे पाते थे तो राज्याधिकारी उनके साथ क्रूर व निर्मम व्यवहार करते थे । कृषि भूमि पर उनका कोई अधिकार नहीं था । वे सिर्फ खेती करने वाले दास थे । वे जंगली वास्तुएँ बिना कर दिए नहीं ले जा सकते थे । बैठ-बेगार प्रथा सामान्य थी । वे बिना वेतन के जागीरदार की जमीन में खेती करने, उसके मकान बनाने के लिए विवश थे । ऐसे समय में गोविन्द गिरि की शिक्षाओं ने भीलों में जागीत उत्पन्न करने व सामाजिक अन्याय के विरूद्ध उठ खड़े होने को तैयार किया ।

राज्य की दोषपूर्ण आबकारी नीति ने भीलों को उद्वेलित कर दिया । मेवाड़ क्षेत्र के भील बहुसंख्यक भाग में राजस्व का मुख्य स्रोत शराब की बिक्री थी । मीलों को देशी शराब बनाने का अधिकार लम्बे समय से प्राप्त था । वे महुआ के फूलों से शराब बनाते थे, जिसे राज्य ने अब प्रीतबन्धित कर दिया । भीलों में इससे रोष बढ़ गया दूसरी ओर सुधार आन्दोलन के प्रचार से भीलों ने शराब पीना बन्द कर दिया जिससे राज्य व ठेकेदारों को भारी नुकसान होने लगा । ऐसे समय में राज्य के ठेकेदारों द्वारा भीलों को जबरदस्ती शराब पिलाने का प्रयास किया ।

1913 ई. के भील आन्दोलन का तात्कालिक कारण गोविन्द गिरि के नेतृत्व में धार्मिक आन्दोलन एवं भगत पंथ की स्थापना था । उन्हीं के प्रयासों से राजस्थान के मेवाड़ी क्षेत्र के भील पूरी तरह संगठित हुए ।

15.8.1 भीलों का विद्रोह

गोविन्द गिरि के नेतृत्व में भील राज्य के दमन, शोषण और अत्याचार का मुकाबला करने के लिए हर प्रकार से तैयार हो रहे थे । सिरोही, बाँसवाडा, डूँगरपुर तथा उदयपुर के शासक इससे चिंतित हो उठे । उन्होंने भीलों के विद्रोह को कुचलने व शक्ति को छिन्न-भिन्न करने के हर संभव प्रयास किये, परन्तु असफल रहे । अप्रेल 1913 में डूँगरपुर राज्य ने गोविन्द गिरि को गिरफ्तार कर लिया, परन्तु तीन दिन बाद रिहा कर दिया, व डूँगरपुर राज्य से बाहर चले जाने को कहा । वे गुजरात के ईडर राज्य में चले गये ।

राज्य द्वारा किये गये अमानविय व्यवहार ने गोविन्द गिरि को भील राज्य बनाने तथा सामन्तवाद के पंजो से मुक्त होने को विवश कर दिया । वे अपने साथियों व शिष्यों के साथ मानगढ़

की पहाड़ी पर चले गये । यह स्थान बाँसवाडा में पहाडियों से घिरा हुआ एवं प्राकृतिक रूप से सुरक्षित था । 1903 ई. से प्रतिवर्ष इस पहाड़ी पर भीलों का वार्षिक धार्मिक सम्मेलन हुआ करता था । अत 1913 को भीलों को मानगढ़ में एकत्रित होने के लिए चारों ओर संदेश भेजा गया । भील अपने साथ रसद एवं हथियार काफी मात्रा में ले आये । मानगढ़ के लिए चलते वक्त भील पालों को अधिकारियों के विरूद्ध सैनिक कार्यवाही के लिए तैयार रहने को कह गये ।

15.8.2 मानगढ़ हत्याकांड 1913 ई.

नवंबर 1913 ई में मानगढ़ पहाडी पर भीलों का वार्षिक धार्मिक सम्मेलन शुरू हुआ । हजारो की संख्या में मील एकत्रित हुए । गिरि व उनके अनुयायी पहाडी पर बने चबूतरे की पूनी में हवन कर रहे थे । उसी दौरान अंग्रेजी सेना मानगढ़ पहाड़ी पर भीलों को तितर बितर करने के लिए पहुँची, जिन्होंने मानगढ़ की पहाडी पर अन्धाधुन्ध गोलियों की बौछार शुरू कर दी । पहाडी को चारो ओर से घेर लिया गया । लगभग 1500 मील मारे गये तथा गिरि को गिरफ्तार कर लिया गया । उन्हें अहमदाबाद जेल में भेज दिया व भील आन्दोलन को निर्दयता ईक कुचल दिया गया ।

गोविन्द गिरि पर मुकदमा चलाया गया तथा उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई । परन्तु बाद में फांसी की सजा को 20 वर्ष के कठोर कारावास में परिवर्तित कर दिया गया । किन्तु 1930 ई में इस शर्त पर रिहा कर दिया गया कि वे सूंथ, ईडर, डूँगरपुर, बाँसवाडा, कुशलगढ़ राज्य की सीमाओं में प्रवेश नहीं करेंगे

भीलों का गुरु गोविन्द गिरि के नेतृत्व में आन्दोलन सफल नहीं हो सका किन्तु इसके दूरगामी परिणाम सिद्ध हुए । वैसे मूलत: यह धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक आन्दोलन था । लेकिन राजा, सामन्तों एंव अधिकारियों के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने में इसने राजनीतिक रूप ले लिया । अत: यह उच्चवर्ग, जागीदार तथा अधिकारी वर्ग के विरूद्ध किया गया संघर्ष भी था । गिरि द्वारा मीलों को आत्मनिर्भरता की प्रेरणा देना, बैठ-बेगार के विरुद्ध आवाज उठाना, सामन्तों तथा अधिकारियों के विरूद्ध शोषण के विरोध में चेतना उत्पन्न करना तथा मद्यपान निषेध इत्यादि ने शासकों को विचलित कर दिया ।

इस आन्दोलन ने भीलो में चेतना जाग्रत कर दी अपने अधिकारो के प्रति सजग किया । इससे न केवल भीलो में अपितु दक्षिण राजस्थान के दूसरे समाज के लोगों में भी चेतना उत्पन्न हुई । कृषक आन्दोलन एवं स्वतंत्रता आन्दोलन को काफी प्रोत्साहन मिला ।

भील आन्दोलन से चिन्तित होकर अग्रेंज अधिकारियों ने राजस्थान, मध्यप्रदेश व गुजरात के भीलों की समस्याओं की जाँच की । भीलों के जंगल के अधिकारों को बहुत हद तक स्वीकार किया गया । भीलों के भू-राजस्व व बेगार में भी कमी की गई । इस प्रकार यह आन्दोलन भीलों की मुक्ति का प्रतीक बन गया ।

15.9 मोतीलाल तेजावत व मील आन्दोलन

1917 ई. में मेवाड के बिजोलिया आन्दोलन से प्रेरित होकर भीलों ने पुन: आन्दोलन आरम्भ कर दिया जिसमें गरासियों ने भी भीलों का साथ दिया । दोनों ने जागीरदार द्वारा बेगार, अत्यधिक लगान, अवैध "लाग-बाग" एवं दमनकारी साधनों का विरोध किया । महाराणा ने स्थिति की जांच करने

एवं करों की अधिकता को समझते हुए 16 नवम्बर, 1918 को कुछ रियायतें दी जिन्हें भीलों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया । धीरे-धीरे यह आन्दोलन मेवाड़ के समस्त भील क्षेत्र में फैल गया ।

मई, 1921 ई. में भील मेवाड राज्य के कृषको के साथ मिल गये व अपने दुःख-दर्द, बेगार, भारी कर, करों में भेदभाव, जागीरदारों का तानाशाही रवैया इत्यादि को लेकर महाराणा से मिले किन्तु उचित उत्तर न मिलने पर खालसा भूमि पर रहने वाले भीलों ने झाडोल कोलियारी मगरा व मेवाड के अन्य मील गांवों में भू-राजस, लागें व बेगार न देने के लिए सन्देश भेजें । अतः 8 जुलाई, 1921 ई. को मेवाड की खालसा क्षेत्र के भीलों की प्रेरणा से मादडी पट्टा के भीलों ने कर व लागबाग देने से इनकार कर दिया । ऐसे समय में भीलों को मोतीलाल तेजावत का नेतृत्व प्राप्त हुआ जिसने भीलों को किसी भी प्रकार का कर न देने का आहान किया । यही आहान एकी आन्दोलन के नाम से विख्यात हुआ क्योंकि उन्होंने सभी भील व अन्य जातियों को संगठित (एकी) करने का प्रयास किया था ।

यह प्रथम अवसर था जब समस्त भील मोतीलाल तेजावत के नेतृत्व में राज्य और ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध उठ खड़े हुए । भील उन्हें अपना मसीहा सम्झने लगे जो उनकी मुक्ति के लिए अवतरित हुआ है ।

15.10 मोतीलाल तेजावत का जीवन परिचय व भीलों से सम्पर्क

तेजावत का जन्म 1887 ई. के कालियारी गाँव, जिला उदयपुर में ओसवाल परिवार में हुआ । झाडोल ठिकाने में स्थानीय जागीरदार के यहाँ कामदार का कार्य करने लगे । नौकरी के दौरान उन्हें मेवाड महाराणा फतह सिंह जी के दौरे में जहाजपुर, नाहरमगरा जयसमन्द आदि स्थानों पर जाने का मौका मिला जिसमें उन्होंने प्रत्यक्ष देखा कि जहां महाराणा का मुकाम होता, वहां कई कोस चलकर उनका सामान घोडो, ऊँटों, बैलों पर लाद कर लोग ले जाते थे किन्तु मजदूरी में न के बराबर पैसे चुकाये जाते थे । इसी प्रकार भीलों गरासियों को कई दिन पहले पकडा जाता उनसे बेगार में काम लिया जाता किन्तु मजदूरी के नाम पर एक पाई भी नहीं चुकाई जाती थी यदि कार्य में कोई कमी रह जाती थी तो बुरी तरह पीटा जाता ।

इस प्रकार भीलों पर होने वाले जुर्म 'मोतीलाल तेजावत' से देखे नहीं गये फलस्वरूप ठिकाने की नौकरी छोड दी और चित्तौड जिले में सर्वप्रथम मेवाड राज्य के जुल्मों के खिलाफ एकी आन्दोलन का श्रीगणेश किया ।

15.10.1 आन्दोलन का नेतृत्व व संचालन

मोतीलाल तेजावत ने झाडोल, कोटडा मावडी के भीलों को जगीरदार द्वारा ली जाने बाली लाग न देने को प्रेरित किया । धीरे-धीरे यह आदोलन पालनपुर, दांता, ईडर, विजयनगर, आदि स्थानों में भी फैल गया । मोतीलाल तेजावत की सलाह पर भीलों ने कर देने से इनकार कर दिया । डूँगरपुर के महारावल ने यह सोचकर कि कहीं आन्दोलन उनके राज्य में भी न भडक जाए जुलाई, 1921 तक सभी प्रकार की बेगार को हटा दिया । जुलाई, 1921 के प्रथम सप्ताह में मेवाड महराणा ने भीलों व खालसा भूमि के अन्य कृषकों के लिए कुछ रियायतें घोषित की, लेकिन जागीरदारों ने किसी प्रकार की रियायत नहीं दी इसलिए आन्दोलन फैलने लगा ।

1921 ई. को मातृकुण्डिया में तेजावत के नेतृत्व में भील व किसानों का सम्मेलन हुआ जिसमें लाग-बाग, बैठ-बेगार तथा विभिन्न करों के विरूद्ध चर्चा हुई व अन्त में महाराणा को इस शोषण से अगात कराने का निश्चय किया जिसके पर्चे गाँव-गाँव पहुँचाये गये ।इसका भारी असर हुआ । फलासिया गाँव में एक बैठक हुई जिसमें तेजावत ने सारी स्थिति समझाई व भीलों एवं मैदानी कृषकों में एकी की गई जिसे एकी आन्दोलन कहा जाता है । तत्सम्बन्धी सूचना आस पास के अन्य गाँवों में भेजी । इसी वर्ष जेठ में एक दूसरी बैठक बादराणा गाँव में हुई । जिसमें 700 भील व काश्तकार शामिल हुए।

तेजावत एकी आन्दोलन के प्रचार हेतु चित्तौड गये व पाण्डोली के पास बैठक हुई जिसमें आषढ वि. सं. 1979 को उदयपुर में एकत्रित होने का निर्णय हुआ । अत: आषाढ़ बदी एकम को भील, कास्तकार, कृषक तेजावत के नेतृत्व में उदयपुर पहुँचे । लगभग आठ हजार भील काश्तकार पिछोला झील की पाल पर एकत्रित हुए । बैठक शुरू हुई । सभी के कष्टों को एक पुस्तक मेंलिखा गया जिसे मोतीलाल ने मेवाड की पुकार शीर्षक से तैयार की ।

मोतीलाल ने ब्रिटिश रेजीडेन्ट से मिलकर सारी शिकायतें महाराणा को बताई । महाराणा ने तीन मांगों- जंगल में बेरोक-टोक लकडी काटना, बीडों से घास काटने ब सूअरों को मारने आदि को छोड़ कर सभी माँगों को मान लिया ।

किन्तु असन्तुष्ट भील तेजावत के साथ जगदीश चौक में एकत्रित हुए जहाँ तेजावत व अन्य पंचों ने मिलकर यह घोषणा की कि महाराणा ने 21 मांगों में से 18 को मान लिया है शेष तीन माँगे -जंगल से लकडी काटना, बीड से घास काटना व सूअर मारना महाराणा ने नहीं माना है अत: मेवाड के पंच इन माँगों को मान रहे हैं । मेवाड पंचों का स्तर महाराणा से कम नहीं है । इसके बाद सभी वहाँ से वापस अपने अपने घरों में लौट गये । तेजावत ने गाँव-गाँव घूमकर एकी आन्दोलन एवं उसकी सफलता के बारे में बताया जिससे लोगों में उत्साह बढ़ा ।

वैसे अब तक यह आन्दोलन भील एवं मेवाड के मैदानी भागों के किसानों का संयुक्त रूप से था, महाराणा फतहसिंह द्वारा मांगे स्वीकारने पर मैदानी क्षेत्र के किसान सन्तुष्ट हो गये किन्तु भील लोग इससे सन्तुष्ट नहीं हुए क्योंकि यह एक स्वतंत्रताप्रिय जाति थी । उनकी मुख्य मांगे - जंगल से लकड़ी काटना, बीड़ से घास काटना, सूअर मारना महाराणा द्वारा मंजूर नहीं हुई परन्तु मेवाड पंचों ने इन माँगों को मान लिया फिर भी महाराणा के कर्मचारियों ने मेवाड़ पंचों के निर्णय को नहीं स्वीकारा व इस निर्णय के विरूद्ध भीलों का शोषण एवं अत्याचार बढ़ने लगा । अत: मोतीलाल तेजावत ने भीलों में पुन: साहस पैदा करने की नीति अपनाई इसलिए आस-पास के ठिकानेदार तेजावत से नाराज हुए । झाडोल के राजराणा ने कमाल खां सिपाही के सहयोग से तेजावत की हत्या करने का प्रयास किया परन्तु भीलों द्वारा उन्हें बचा लिया गया । हत्या के प्रयास के समाचार आग की तरह फैल गये व करीब 15 हजार भील सशस्त्र झाबोल पर बढ़ आये । उनके विरूद्ध भेजी गयी मेवाड की सेना भी कुछ नहीं कर पायी ।

इस घटना से तेजावत की लोकप्रियता बहुत बढ़ गई । भीलों को लगा कि उनको अपना नेता, धणी और मसीहा मिल गया । अपने नेता की सुरक्षा का सारा भार भीलों ने स्वयं संभाल लिया । अत: तेजावत भीलों के साथ उनकी पालों-फलों व झोपडों में ही रहने लगे और उनके साथ रहते हुए भीलों

की बुरी आदतों को छोडने, जागीरदारों, महाराणा एवं सेठ साहूकारों द्वारा शोषण के विरूद्ध विद्रोह करने का मानस बनाने लगे ।

15.10.2 आन्दोलन का प्रसार एवं हत्या काण्ड

तेजावत का आन्दोलन मेवाड़ तक ही सीमित नही रहा अपितु राजस्थान के अन्य भागों सिरोही, डूँगरपुर, बाँसवाडा व गुजरात आदि पडोसी राज्यों में भी इसकी ध्वनि सुनाई पढ़ने लगी और वहाँ भी भीलों ने तेजावत को अपना नेता मान लिया । तेजावत द्वारा नीली को संगठित करने व 'एकी आन्दोलन' को चलाने का जो कार्य हाथ में लिया इससे मेवाड ही नहीं पड़ोसी राज्य के शासक भी सतर्क हो गये । ब्रिटिश सरकार ने भी इसका दमन करने का निश्चय किया । 7 अप्रेल, 1922 को जब तेजावत अपने 2000 अनुयायिंयों के साथ ईडर राज्य में पाल नामक स्थान पर ठहरा हुआ था । मेजर सटन के अधीन मेवाड मील कोर ने उन्हें घेरकर गोलियों से भूनना आरम्भ कर दिया जिससे अनेक भील मारे गये तथा अनेक घायल हुए । मई 1922 ई. में जूरा ठिकाने के तीन गांवों को जलाकर राज कर दिया गया । सिरोही व ईडर राज्यों में मोतीलाल तेजावत को पकडने के लिए इनामों की घोषणा कर दी । सिरोही में इस दमन कार्यवाही का विभत्स रूप नजर आया जहाँ 8 मई, 1922 ई. को भीलों के दो गाँवों में आग लगा दी गई व साथ ही रोहिडा तहसील में भी आदिवासियों को भून डाला । इस नृशंस हत्याकाण्ड में लगभग 1800 आदिवासी मौत के घाट सुला दिये गये । इस घटना के बाद तेजावत का आन्दोलन ठण्डा अवश्य पड गया लेकिन भीलों का महाराणा को असहयोग अवश्य जारी रहा । गुजरात में भी आदोलन का प्रमाव होने लगा । पालनपुर, दांता, बनासकांठा, रेवाकांठा आदि में भी आदिवासियों को संगठित किया जाने लगा । विजयनगर तहसील में स्थित पालतितीरया के कांड में 1200 आदिवासी शहीद हो गये ।

इस पर ब्रिटिश सरकार एवं राज्य सरकार भील आन्दोलन को कुचलने के लिए सक्रिय हुई व अन्ततः 4 जून, 1929 में तेजावत को गिरफ्तार करने का वारंट जारी हुआ अगले महीने गिरफ्तार कर मेवाड सरकार को सौंप दिया । जहाँ से उन्हें केन्द्रीय कारागार में बन्द कर दिया गया । मणीलाल कोठारी के प्रयत्नों से 23 अप्रैल, 1936 को रिहा हो गये । उसके बाद मारत छोडो आन्दोलन के दौरान गिरफ्तार कर लिया गया व आजाद होने से छः माह पूर्व रिहा कर दिया गया ।

वास्तव में तेजावत आजादी के ऐसे दीवाने थे जिन्होंने अपना सर्वस्व बलिदान कर दिया । दिल दहला देने वाले सामंती अत्याचार का जिस प्रकार लोहा लिया आज भी कल्पना कर मन सिहर जाता है । यह कर्मठ भील नेता तो आदिवासी समाज का मोती बावजी हो गया । उन्होंने अन्याय एवं अत्याचार के विरूद्ध संघर्ष का मार्ग ही नहीं बताया अपितु उनके नेतृत्व में भीलों में एक नई चेतना आई और उन्होंने अपनी स्वातन्त्रय भावना को बनाये रखा व अंग्रेजों से भील कभी प्रसन्न नहीं रहे वे उन्हें चमडी से गोरे किन्तु धोखेबाज मानते थे ।

15.11 सारांश

भील स्वतन्त्रताप्रिय जाति रही है । इनकी स्वतन्त्रता का जब भी हनन हुआ, इन्होंने विद्रोह कर उस स्वतन्त्रता की रक्षा की । यहाँ कहना होगा कि भीलों में जो चेतना गोविन्द गिरि एवं मोतीलाल तेजावत ने जगाई उससे वे अपने अधिकारों के लिए बराबर संघर्ष करते रहे । भीलों की सम्पत्ति लूटी

व नष्ट की गई, उनकी निर्मम हत्याएं की गई, अनेक कष्ट, शोषण, अमानविय व्यवहार किया गया फिर भी वे घबराये नहीं और 1818 ई से आजादी तक निरन्तर आदोलन को जारी रखा । यदि भीलों में शिक्षा का प्रसार होता और समय समय पर गिरि व तेजावत जैसे सुधारवादी व्यक्तियों का नेतृत्व मिलता तो भील जाति की स्थिति आज बहुत सुदृढ़ होती । फिर भी भीलों ने अपने तरीके से देश की आजादी की लड़ाई, शोषण, अन्याय, अमानवीयता व उनकी स्वतन्त्रता पर नियंत्रण लगाने वाले जागीरदार, महाराणा, ब्रिटिश सरकार के विरूद्ध जो संघर्ष किया वह सदैव स्मरणीय रहेगा । साथ ही तेजावत व गिरि जैसे व्यक्तित्व की इस आन्दोलन में जो अहम् भुमिका रही उसे भुलाया नहीं जा सकता है ।

15.12 संदर्भ ग्रन्थ

1. वीर विनोद मेवाड का इतिहास, खण्ड3-. कविराज श्यामलदास

2. डूँगरपुर राज्य का इतिहास – गौरीशंकर हीराचंद ओझा

3. बाँसवाडा राज्य का इतिहास – गौरीशंकर हीराचंद ओझा

4. उदयपुर राज्य का इतिहास – गौरीशंकर हीराचंद ओझा

5. सिरोही राज्य का इतिहास – गौरीशंकर हीराचंद ओझा

6. Study of Cultural Transformation Of the bhils of Southern Rajasthan Prof. Vijay Kumar Vashistha

7. Protest Movement of Bhils Under the British Raj. Dr. L.P Mathur

8. राजस्थान में स्वतंत्रता संघर्ष – जहूर खाँ मेहर(.सं)

9. स्वतन्त्रता आदोलन में मेवाड का योगदान – डॉदे .वकोठारी, डॉललित . (.सं) पाण्डेय

10. मालवा और राजस्थान के दक्षिणी अंचल में स्वतन्त्रता संग्राम – डॉ मनोहर सिंह राणावत .)सं(.

इकाई - 16

राजस्थान के स्वतंत्रता आन्दोलन में प्रजामण्डलों का योगदान-मेवाड,जोधपुर और भरतपुर के विशेष संदर्भ में (Contribution of Prajamandals in the freedom movement of Rajasthan with reference to Mewar, Jodhpur and Bharatpur)

इकाई की रूप रेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 मेवाड में प्रजामण्डल आन्दोलन

16.2.1 मेवाड प्रजामण्डल का प्रथम सत्याग्रह

16.2.2 मेवाड प्रजामण्डल का प्रथम अधिवेशन

16.2.3 भारत छोडो आन्दोलन और मेवाड

16.2.4 के.एम.मुंशी संविधान

16.3 जोधपुर राज्य में मारवाड लोक परिषद् आन्दोलन

16.3.1 मारवाड लोक परिषद् का प्रथम सत्याग्रह

16.3.2 मारवाड लोक परिषद् का दूसरा सत्यग्रह

16.3.3 भारत छोड़ो आन्दोलन और मारवाड़

16.3.4 सुधालकर रिपोर्ट

16.4 बोध प्रश्न-1

16.5 भरतपुर में प्रजा परिषद् आन्दोलन

16.5.1 भरतपुर राज्य प्रजा संघ की स्थापना

16.5.2 भरतपुर प्रजामण्डल का प्रथम सत्यग्रह

16.5.3 भारत छोड़ो आन्दोलन और भरतपुर

16.5.4 ब्रज जय प्रतिनिधि सभा

16.6 अन्य राज्यों में प्रजा मण्डल आन्दोलन

16.6.1 जयपुर

16.6.2 अलवर

16.6.3 बीकानेर

16.6.4 कोटा

16.6.5 बूँदी

16.6.6 जैसलमेर

16.6.7 धौलपुर
16.6.8 करौली
16.6.9 बाँसवाड़ा
16.6.10 डूँगरपुर
16.6.11 प्रतापगढ
16.6.12 शाहपुर
16.6.13 सिरोही
16.6.14 किशनगढ़, झालावाड, टोंक
16.7 सारांश
16.8 बोध प्रश्न-2
16.9 संदर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

प्रस्तुत ईकाई का उद्देश्य राजस्थान की विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डलों के नेतृत्व में हुए जन आन्दोलनों का राजस्थान के स्वतन्त्रता आन्दोलन में योगदान पर प्रकाश डालना है । इसके साथ ही आप जान सकेगें कि प्रजामण्डल क्या थे इनका निर्माण क्यों किया गया ? राष्ट्रीय आन्दोलन का इन पर क्या प्रभाव था ?

16.1 प्रस्तावना

स्वतन्त्रता पूर्व राजस्थान में 19 रियासतें थीं । ये रियासतें थीं, जयपुर, जोधपुर (मारवाड), उदयपुर (मेवाड), बीकानेर, कोटा, बूंदी, झालावाड़ा, टोंक, भरतपुर, अलवर, करौली, धौलपुर, किशनगढ़, डूंगरपुर, बांसवाडा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, सिरोही और जैसलमेर । अजमेर-मेरवाड़ा का क्षेत्र अंग्रेजों के प्रत्यक्ष शासन में एक कमिशनरी के रूप में था । रियासतों में राजशाही और सामन्तवाद का बोलबाला था । दमन, शोषण और अत्याचार का सर्वत्र बोलचाल था । राजस्थान का राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक ढांचा, बीसवीं शती के पूर्वार्द्ध में मध्ययुगीन कृषक सामन्ती स्तर का बना हुआ था । अंग्रेजों की सर्वोच्चता स्वीकार करने के साथ ही यहाँ स्वतन्त्र जीविकोपार्जन के पुराने सभी स्रोत अवरूद्ध होने लगे । राजस्थान में राजनीतिक जागृति ब्रिटिश भारतीय प्राप्तों की तुलना में अपेक्षाकृत देरी से हुई । इसका प्रमुख कारण यह था कि यहाँ की जनता को ब्रिटिश शासन, राजा और जागीरदारों की तिहरी दासता सहनी पडती थी । बीसवीं सदी के आरम्भ में राजपूताना में राष्ट्रीयता का विकास हो चुका था।

1927 में अखिल भारतीय देशी राज्य लोकपरिषद् की स्थापना ने रियासती आदोलन को नेतृत्व प्रदान किया । 1938 ई. के पूर्व भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भारतीय रियासतों से केवल सहानुभूति रखती थी । वह रियासतों के अन्य सभी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी । कांग्रेस ने हरिपुरा अधिवेशन (1938) में रियासतों के जन आन्दोलन को कांग्रेस का जन-आन्दोलन बताया । इतनी ही नहीं कांग्रेस ने देशी रियासतों में कार्यकर्त्ताओं को सलाह दी कि वे अपने-अपने राज्यों में प्रजामण्डल संगठन बनाकर उत्तरदायी शासन की माँग करें । तदनुसार राजस्थान की विभिन्न रियासतों में प्रजामण्डलों की स्थापना

हुई । कुछ रियासतों में जहाँ प्रजामण्डलों की स्थापना इससे पहले ही हो चुकी थी, उन्हें पुनर्सगठित किया गया । कहीं इन्हें प्रजामण्डल, कहीं प्रजा परिषद् और कहीं लोक परिषद् के नाम से पुकारा जाता था ।

आइए हम विभिन्न रियासतों में हो रहे प्रजामण्डल आन्दोलन का अध्ययन करें । सर्वप्रथम हम मेवाड में हो रहे प्रजा मण्डल आन्दोलन का सर्वेक्षण करेंगे ।

16.2 मेवाड़ में प्रजामण्डल आन्दोलन

मेवाड को इसकी राजधानी के नाम से उदयपुर राज्य भी कहा जाता है । मेवाड में जनजागृति का कार्य बिजोलिया बेगू व अन्य किसान और भील आन्दोलनों ने किया । हरिपुरा कांग्रेस के बाद माणिक्य लाल वर्मा ने बलवन्त सिंह मेहता की अध्यक्षता में 24 अप्रेल 1938 ई. को मेवाड़ प्रजा-मण्डल की स्थापना की । मेवाड के प्रधमण्डल के सचिव वर्मा को प्रजामण्डल की स्थापना की अनुमति राज्य सरकार से लेने का आदेश दिया, जबकि उस समय मेवाड में पब्लिक सोसायटी पंजीकरण अधिनियम लाग था ही नहीं । जब वर्मा जी ने उनके आदेश का पालन नहीं किया तो उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया गया ।

16.2.1 मेवाड प्रजामण्डल का प्रथम सत्याग्रह

प्रजामण्डल की बढ़ती हुई लोकप्रियता से घबराकर राज्य ने 11 मई 1938 ई. को सभाओं, भाषणों, जुलूसों और समाचार पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा दिये । 24 सितम्बर 1938 ई. मे प्रजामण्डल को अवैध घोषित कर दिया गया । प्रजामण्डल ने सरकार को यह अल्टिमेटम दिया कि अक्टूबर 1938 ई. तक यदि प्रतिबन्ध नहीं हटाये गये तो सत्याग्रह आरम्भ किया जायेगा । माणिक्यलाल वर्मा को डिक्टेटर बनाया गया । उन्होंने अजमेर में प्रजामण्डल का अस्थाई कार्यालय खोला । अल्टीमेटम समाप्त होने से पहले ही प्रजामण्डल कार्यकारिणी सदस्य प्रो. प्रेमनारायण माथुर और उपाध्यक्ष भूरेलाल बया को गिरफ्तार कर लिया गया । वर्माजी ने अजमेर से 'मेवाड का वर्तमान शासन' नामक लघु पुस्तिका प्रकाशित की । इसमें मेवाड सरकार की नीतियों की कटु आलोचना की गई और साथ ही उत्तरदायी शासन की मांग की गई । सरकार पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा ।

मेवाड प्रजामण्डल ने 1939 विजयदशमी के दिन सत्याग्रह आरम्भ कर दिया । सरकारी दमन चक्र भी जारी हो गया और रमेश चन्द्र व्यास, बलवन्त मेहता आदि गिरफ्तार कर लिये गये । महिलाओं ने भी आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया । आन्दोलन धीर-धीरे चल रहा था । पुलिस ने 02 फरवरी 1939 को देवली के निकट उँजा गाँव में माणिक्य लाल वर्मा को धोखे से गिरफ्तार कर लिया । उन्हें अत्यधिक यातनाएँ दी गयी जिसकी गाँधीजी ने 'हरिजन' में भर्त्सना की । 1 मार्च 1939 ई. में गाँधीजी के निर्देश पर सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया । वर्माजी पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाकर दो वर्ष की सजा सुनाई गई लेकिन बीमारी के कारण उन्हें 08 जनवरी 1940 ई. को रिहा कर दिया गया ।

प्रजामण्डल ने अब रचनात्मक कार्य जैसे खादी प्रचार, गाँधी जयन्ती और राष्ट्रीय पर्वो का आयोजन कर जनता में राष्ट्रीय विचारों का प्रचार करना शुरू किया । 1940 ई. में जीलयाँवाला राग काण्ड की जयन्ती के अक्सर पर राष्ट्रीय सप्ताह मनाया गया ।

प्रजामण्डल निरन्तर प्रतिबन्ध हटाने की माँग कर रहा था । वर्ष 1940 के मध्य में धर्मनारायण के स्थान पर टी. विजय राघवाचार्य को दीवान नियुक्त किया गया जो प्रगतिशील विचारों के थे । मेवाड सरकार ने अन्ततः 22 फरवरी 1941 ई. को प्रजामण्डल से प्रतिबन्ध हटा दिया ।

16.2.2 मेवाड प्रजामण्डल का प्रथम अधिवेशन

25-26 नवम्बर 1941 को प्रजामण्डल का पहला अधिवेशन माणिक्य लाल वर्मा की अध्यक्षता में उदयपुर में हुआ । अधिवेशन का उद्घाटन आचार्य कृपलानी ने किया । इस अवसर पर लगाई गई प्रदर्शनी का उद्घाटन श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित ने किया । प्रजा मण्डल समस्त मेवाड़ में लोकप्रिय हो गया । मेवाड सरकार ने विवश होकर व्यवस्थापिका सभा की स्थापना की घोषणा की जिसमे जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों का बहुमत रखने की व्यवस्था थी ।

16.2.3 भारत छोड़ो आन्दोलन और मेवाड

माणिक्यलाल वर्मा ने अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के ऐतिहासिक सम्मेलन में मेवाड प्रजामण्डल के प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया । गाँधीजी के निर्देशानुसार उदयपुर पहुँचते ही उन्होंने 20 अगस्त 1942 को एक पत्र भेजा, जिसमें यह चेतावनी दी गयी कि यदि 24 घन्टे के भीतर महाराणा ब्रिटिश सरकार से सम्बन्ध विच्छेद नहीं करते हैं तो जन आन्दोलन आरम्भ किया जाएगा । साथ ही उत्तरदायी शासन की भी मांग की गयी । उसी दिन शाम को जनता को इस चेतावनी से अवगत कराने के उद्देश्य से एक आमसभा का आयोजन किया गया । इस सभा में हजारों की संख्या में जनता ने माप लिया । रात को सभा समाप्त होते ही मेवाड़ प्रजामण्डल की कार्यकारिणी के सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया गया । मेवाड प्रजामण्डल कार्यकारिणी के जो सदस्य, उदयपुर से बाहर थे, उनको भी गिरफ्तार कर लिया गया । कुछ छात्रों को भी जेल भेज दिया गया ।

कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी ने मेवाड़ प्रजामण्डल और राज़ सरकार के बीच संघर्ष का श्रीगणेश किया । गिरफ्तारी के समाचार न केवल उदयपुर में बल्कि सम्पूर्ण मेवाड़ मे बिजली की तरह फैल गये । गिरफ्तारियों के विरोध स्वरूप उदयपुर मैं उदयपुर के इतिहास का सबसे बड़ा जुलूस निकाला गया । जुलूस में विद्यार्थी और प्रजामण्डल के कुछ कार्यकर्त्ता 'अंग्रेजों भारत छोड़ो का नारा लगा रहे थे । मेवाड सरकार ने 23 अगस्त 1942 को जुलूस इत्यादि पर प्रतिबन्ध लगा दिया ।

सरकारी दमनचक्र आरम्भ हो गया । अगले ही दिन उदयपुर में सार्वजनिक हडताल हुई । न केवल दुकानदार, बल्कि ठेले और खोमचे वाले भी हडताल में शामिल हुए । यहां तक कि तांगेवालो ने भी तांगे नहीं चलाये । सर्वत्र, 'अंग्रेजों भारत छोडो 'भारत माता की जय' महात्मा गांधी की जय' मेवाड प्रजामण्डल की जय' वर्मा जी की जय' के नारे गूँज रहे थे । बहुत बड़ी संख्या में सत्याग्रही गिरफ्तार कर लिये गये । स्त्रियां भी पीछे नहीं रहीं । माणिक्यलाल वर्मा की पत्नी नारायणी देवी, अपने छह माह के पुत्र दीनबन्धु को अपने साथ लेकर जेल गई । उनकी ज्येष्ठ पुत्री सुशीला और प्यारचन्द विश्नोई की पत्नी भगवती ने भी गिरफ्तारी दी । छात्र वर्ग भी अपना उत्तरदायित्व जानता था । महाराणा कॉलेज के छात्रों ने उदयपुर की सभी शिक्षण संस्थाओं को बन्द करा दिया । मेवाड़ सरकार ने छात्रों को आन्दोलन से अलग करने का हर सम्भव प्रयास किया । लगभग 600-700 छात्रों ने सत्याग्रह में भाग लिया ।

मेवाड प्रजामण्डल को गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया । जेल में कैदियों की संख्या दिन-ब-दिन बढ़ती गई । 02 सितम्बर 1942 को कानोड निवासी वीरभद्र जोशी और रोशनलाल ने, उदयपुर उच्च

न्यायालय की बालकोनी मे कांग्रेस का तिरंगा फहराया । सत्याग्रहियों की भावनाओं को ठेस पंहुचाने के उद्देश्य से अंग्रेज अधिकारी कर्नल डान्ट ने राष्ट्रीय झण्डे को अपने पाँवों के तले कुचला । उदयपुर के अलावा नाथद्वारा में भी आन्दोलन सक्रिय रूप से चला । मोहनलाल सुखाडिया और माणिक्यलाल वर्मा की गिरफ्तारी के बाद नाथद्वारा में भी हडताल हुई । वहाँ के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया । 25 जनवरी 1943 ई. को दो उत्साही नवयुवक राजेन्द्र सिंह चौधरी और नरोत्तम चौधरी साइकिल द्वारा रात को नाथद्वारा से उदयपुर के लिए निकले । उन्होंने गुलाब बाग स्थित महारानी विक्टोरिया के चेहरे को काला कर दिया और उसकी छाती पर क्यू. आई. (क्विट इंडिया) लिख दिया और सुबह साइकिल द्वारा नाथद्वारा पहुंच गये । भारत छोडो आन्दोलन मेवाड़ के अन्य जिलों में भी फैला । भीलवाड़ा जिले में बनेड़ा, जहाजपुर और हमीरगढ़, चित्तौड़ जिले में को कपासन और छोटी सादड़ी में कई व्यक्तियों को जेल में डाला गया ।

मेवाड सरकार येन-केन प्रकारेण आन्दोलन को कुचल देना चाहती थी । ग्वालियर के महाराजा ने कुछ समय पहले ही उत्तरदायी शासन की स्थापना का आश्वासन देकर अपने राज्य में आन्दोलन को शान्त कर दिया था । मेवाड के चतुर और अनुभवी दीवान सर टी. विजयराघवाचार्य इसी युक्ति से मेवाड प्रजामण्डल को पंगु और निष्क्रिय बना देना चाहते थे । महाराणा के संकेत पर ग्वालियर के प्रमुख राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को उदयपुर आमंत्रित किया गया । इन कार्यकर्त्ताओं ने जेल जाकर माणिक्यलाल वर्मा को समझाने का प्रयत्न किया, किन्तु इसमें वे असफल रहे ।

उदयपुर के दीवान इस असफलता से विचलित नहीं हुए । उन्होंने कांग्रेस के वरिष्ठ नेता चक्रवर्ती राजगोपालाचारी को, जो 'भारत छोड़ो आन्दोलन' के विरोधी थे, 07 मार्च 1944 ई. को वर्मा के पास भेजा । राजगोपालाचारी ने पहले तो वर्मा को समझाया, फिर उनके समक्ष यह शर्त रखी कि यदि दे महाराणा को दिया हुआ अल्टीमेटम वापिस ले लें, तो मेवाड़ सरकार उत्तरदायी शासन की स्थापना करेगी । परन्तु वर्मा ने इसे स्वीकार नहीं किया । इस असफलता से भी टी. विजयराघवाचार्य ने हार नहीं मानी । अब उन्होंने प्रजामण्डल के अन्य कार्यकर्ताओं को समझाकर वर्मा को अकेला करने का प्रयास किया । मेवाड के दीवान की यह युक्ति भी बेकार गई ।

जब भारत के अन्य भागों में 'भारत छोड़ो' आन्दोलन समाप्त हो गया तो मेवाड सरकार ने धीरे-धीरे प्रजामण्डल के कार्यकर्त्ताओं को रिहा कर दिया । आखिरी जत्था फरवरी 1944 ई. में छोडा गया ।

16.2.4 के.एम. मुंशी संविधान

भारत में तेजी से हो रहे परिवर्तनों को ध्यान में रखकर महाराणा ने 1946 ई. में एक संविधान निर्मात्री परिषद् का गठन किया, जिसमें प्रजामण्डल. के कुछ सदस्य लिये गये । इस परिषद् की रिपोर्ट पर महाराणा ने 02 मार्च 1947 ई. को मेवाड में नवीन संविधान की घोषणा की । जनता की आकांक्षाओं के अनुरूप न होने के कारण प्रजामण्डल ने इसे अस्वीकार कर दिया । तत्पश्चात् महाराणा ने के.एम. मुंशी को अप्रेल 1947 में अपना संवैधानिक सलाहकार नियुक्त किया । उन्होंने शीघ्र ही मेवाड के संविधान की रचना कर दी । मुंशी संविधान 23 मई 1947 को प्रताप जयन्ती के अवसर पर लागू किया गया । प्रजामण्डल ने इसका भी विरोध किया क्योंकि इसमें जागीरदारों को अपेक्षाकृत अधिक अधिकार दिये गये थे । दबाव में आकर महाराणा ने अन्तरिम काल के लिए प्रजामण्डल के दो प्रतिनिधि और क्षत्रिय परिषद् (प्रजामण्डल की विरोधी संस्था) का एक प्रतिनिधि मंत्रिमण्डल में लेने की घोषणा की । दोनो

दलों ने महाराणा का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया । प्रजामण्डल का विरोध जारी था, अत: महाराणा ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए 11 अक्टूबर 1947 को संविधान में अनेक संशोधनों की घोषणा की । किन्तु अभी भी प्रजामण्डल की मुख्य मांग कि कार्यकारिणी, व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी हो, पूरी नहीं हुई । अत: इस संविधान को दोषपूर्ण मानते हुए भी प्रजामण्डल ने निर्वाचन में भाग लेने का निश्चय किया । फरवरी 1948 ई. में चुनाव हुए जिसमें प्रजामण्डल के 08 उम्मीदवार निर्विरोध निर्वाचित हुए । 06 मार्च 1948 को महाराणा ने अपने जन्मदिन के अवसर पर कुछ और सुधारों की घोषणा की जिसमें महाराणा ने दीवान (प्रधानमंत्री) पद को छोड़ शेष मंत्रीमण्डल को विधानसभा के प्रति उत्तरदायी बनाना स्वीकार कर लिया । महाराणा ने बिना किसी हिचकिचाहट के भारतीय संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया ।

अब हम जोधपुर राज्य में मारवाड में होने वाले लोक परिषद् आन्दोलन का अवलोकन करेंगे।

16.3 जोधपुर राज्य मेन मारवाड़ लोक परिषद आंदोलन

1934 ई. में मारवाड राज्य को जोधपुर राज्य के नाम से जाना जाने लगा । मारवाड सेवा संघ(1920), मारवाड़ हितकारिणी सभा (1921), मारवाड यूथ लीग(1931), बाल भारत सभा सिविल लिबर्टीज, यूनियन (1931), जोधपुर प्रजा मण्डल (1934), आदि मारवाड की आरम्भिक राजनीतिक संस्थाऐं थीं, जिनके माध्यम से बीसवीं शताब्दी के दूसरे और तीसरे दशक में मारवाड़ की स्थानीय समस्याओं को लेकर छोटे-मोटे जन आन्दोलनों का आयोजन कर, लोगों में राजनीतिक चेतना को जीवन्त रखा गया ।

फरवरी 1938 के हरिपुरा अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार 16 मई 1938 ई. को जोधपुर में "मारवाड लोक परिषद् की स्थापना की गई । इसका मूल उद्देश्य महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करना था ।

राज्य में प्रवेश पर प्रतिबन्ध समाप्त होते ही जयनारायण व्यास ने मारवाड़ में जन-आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ले ली । लोक परिषद् ने राज्य की दमनकारी नीतियों के विरूद्ध आवाज उठानी आरम्भ कर दी ।

02 फरवरी 1939 को मारवाड़ राज्य सरकार ने जोधपुर में केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड और प्रत्येक हुकूमत में एक सलाहकार बोर्ड की स्थापना की । जयनारायण व्यास को केन्द्रीय सलाहकार बोर्ड में गैर सरकारी प्रतिनिधि के रूप में मनोनीत किया गया । इसी वर्ष मारवाड मे भयंकर अकाल पड़ा । लोक परिषद् ने अकाल राहत कार्यो में उल्लेखनीय योगदान देकर लोकप्रियता प्राप्त की ।

सितम्बर 1939 ई. में द्वितीय विश्व युद्ध के आरम्भ होते ही मारवाड़ राज्य सरकार ने ब्रिटिश सरकार को युद्ध में सभी प्रकार की सहायता देनी आरम्भ कर दी । लोक परिषद् ने राज्य सरकार का विरोध किया और व्यास जी ने सलाहकार बोर्ड से इस्तीफा दे दिया ।

इसी बीच 14 जनवरी 1940 ई. को लोक परिषद् ने अपनी बैठक में घोषणा की कि 'अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् ' का प्रथम अधिवेशन मई 1940 ई. में जोधपुर में होगा । क्रुद्ध राज्य सरकार ने दमन चक्र और तीव्र कर दिया । अचानक 08 मार्च 1940 ई. को लोक परिषद् को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया । जयनारायण व्यास और उनके सहयोगी अचलेश्वर प्रसाद शर्मा, किशोरी लाल मेहता, अभयमल जैन आदि को गिरफ्तार कर लिया गया ।

16.3.1 मारवाड लोक परिषद् का प्रथम सत्याग्रह

नेताओं की गिरफ्तारी के साथ ही मारवाड में लोक परिषद् के पंजीकरण के लिए जन-आन्दोलन आरम्भ हो गया । लोक परिषद् ने अपना संविधान स्थगित कर मथुरादास माथुर को अपना पहला डिक्टेटर बनाया । माथुर के नेतृत्व में एक जुलूस निकाला गया । पुलिस द्वारा मधुरादास माथुर को गिरफ्तार कर लिया गया । पुलिस ने जुलूस पर लाठी चार्ज किया । शीघ्र ही अन्य तीन डिक्टेटर एक के बाद एक गिरफ्तार कर लिए गये । राज्य की दमनकारी नीति की महात्मा गांधी ने 'हरिजन' में कटु आलोचना की । अखिल भारतीय देशी राज्य लोक परिषद् ने पण्डित द्वारकानाथ कचरू को मारवाड की स्थिति का अध्ययन के लिए जोधपुर भेजा, लेकिन उन्हें प्रधानमंत्री से मिलने की अनुमति नहीं मिली । अत: आन्दोलन जारी रहा । अन्तत: 26 जून 1940 ई. को मारवाड़ लोक परिषद् और राज्य सरकार के बीच समझौता हो गया, जिसके परिणामस्वरूप मारवाड़ लोक परिषद् का पंजीयन स्वीकार कर लिया गया । सरकार ने नेताओं को रिहा कर दिया और आन्दोलन समाप्त कर दिया गया ।

07-08 जून 1941 को जोधपुर में प्रथम बार नगर पालिका के चुनाव हुए । इन चुनावों में लोक परिषद् ने कुल 22 सीटों में से 18 सीटों पर विजय प्राप्त की । जयनारायण व्यास जोधपुर नगर पालिका के प्रथम निर्वाचित अध्यक्ष चुने गए ।

लोक परिषद् ने अब गाँवों को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । गाँवों में किसानों से बेगार और अवैध लागे ली जाती थीं । अब जागीरदार भी महाराजा और राज्य सरकार की तरह लोकपरिषद् के कट्टर विरोधी हो गये ।

जोधपुर महाराजा ने मई 1941 ई. में प्रतिनिधि सलाहकार सभा के गठन की घोषणा की, जिसमें जागीरदारों का बहुमत सुनिश्चित था । अत: लोक परिषद् ने चुनावों का बहिष्कार किया ।

जोधपुर राज्य के जागीरदार भी सरकार का समर्थन पाकर उच्छृंखल हो गये थे । 28 मार्च 1942 ई. को जब चंडादल, रोडू और गुन्दोज ठिकानों में 'उत्तरदायी दिवस' मनाया जाने लगा, तो लोक परिषद् के कार्यकर्ताओं पर लाठियां बरसाई गई । सरकार ने लोक परिषद् की शिकायतों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया ।

16.3.2 मारवाड लोक परिषद् का दूसरा सत्याग्रह

सरकार और लोक परिषद् के बीच निरन्तर कटुता बढ़ रही थी । विरोध स्वरूप जयनारायण व्यास ने नगर पालिका अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया । 11 मई 1942 को लोक परिषद् ने व्यास जी के नेतृत्व में दूसरा सत्याग्रह आरम्भ करने का निश्चय किया । उन्होंने एक विज्ञप्ति, "मारवाड में उत्तरदायी शासन का आन्दोलन" प्रकाशित कर आन्दोलन की आवश्यकता को स्पष्ट किया । सरकार के समक्ष दो मांग रखी गयी -

1. सर डोनाल्ड फील्ड को प्रधानमंत्री पद से हटाया जाये
2. उत्तरदायी शासन की स्थापना

आन्दोलन आरम्भ होते ही व्यास जी को गिरफ्तार कर लिया गया । एक के बाद एक अन्य डिक्टेटर भी कैद कर लिये गये । लेकिन आन्दोलन चलता रहा । जोधपुर की महिलाओं ने भी इस आन्दोलन में सहर्ष भाग लिया । 11 जून 1942 ई. को जेल में सत्याग्रहियों की भूख-हडताल के बाद

लाठी चार्ज किया गया । घायल और बीमार बालमुकुन्द बिस्सा को अस्पताल में भर्ती किया गया, जहां 19 जून 1942 ई. को उनकी मृत्यु हो गई;

16.3.3 भारत छोड़ो आन्दोलन और मारवाड़

अगस्त 08, 1942 को महात्मा गांधी ने भारत छोड़ो आन्दोलन आरम्भ किया । लोक परिषद् के कार्यकर्त्ताओं ने, जो जेल में नही थे, गांधी जी द्वारा दिखाये गये मार्ग पर चलने का निश्चय किया । आन्दोलन पहले ही चल रहा था, उसमें और तेजी आ गई । नवयुवकों ने संगठित होकर छोटी फेरियां और सभाएं करनी आरम्भ कर दी । इन सभाओं में छात्रों और राजकीय कर्मचारियों से हडताल पर जाने, राज्य को अनुत्तरदायी सरकार को समाप्त करने और अखिल भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का समर्थन करने की अपील की गयी । कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी के विरोध में कॉलेज और स्कूल के छात्रों ने 10 अगस्त 1942 ई. को हडताल की और जुलूस निकाला । 02 अक्टूबर 1942 ई. से 09 अक्टूबर 1942 ई. तक गांधी जयन्ती सप्ताह मनाया गया । आन्दोलनकारी स्कूल और कॉलेज में हड़ताल करवाते । स्कूल, कॉलेज और सरकारी कार्यालयों तथा म्यूनिसीपल भवनों पर तिरंगा फहराने का कार्य करते।

छात्रों ने इस आन्दोलन में सक्रिय भाग लिया । मारवाड की स्त्रियों ने भी आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान किया है । 18 अगस्त 1942 को पाँच स्त्रियों ने कुछ स्कूली छात्रों के साथ मिलकर ब्रिटिश विरोधी नारे लगाते हुए प्रभात फेरी निकाली । शीघ्र की भीड इकट्ठी हो गई । घुड़सवार पुलिस को रोकने के उद्देश्य से स्त्रियां सड़क पर लेट गई । क्रुद्ध जनता ने पुलिस को बुरा-भला कहा और उस पर पत्थर फेंके । रमादेवी जयनारायण व्यास की पुत्री थी । कुछ स्त्रियों ने 22 सितम्बर 1942ई को एक सभा में उत्तरदायी शासन सम्बन्धी गीत गाये ।

मारवाड के नवयुवको ने हिंसा, तोड-फोड़ और अन्य कई क्रान्तिकारी कार्य किये । युवकों ने यूरोपीय अधिकारियों को भारत छोड़ने की सलाह देते हुए पत्र लिखे और भारतीय अधिकारियों से इस कार्य में सहायता मांगी । 18 अगस्त 1942 को आन्दोलनकारियों ने पुलिस की एक लॉरी को जलाने का असफल प्रयास किया । जोधपुर-फलौदी मार्ग में तार काटने की घटना हुई । ऐसी स्थिति में राज्य सेना को भी पुलिस सहायता के लिए बुलाया गया ।

क्रान्तिकारी गतिविधियाँ 17 अक्टूबर 1942 ई. को अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी, जब स्टेडियम सिनेमा में बम विस्फोट किया गया । उस दिन दशहरा था और शनिवार होने के कारण अंग्रेजी फिल्म '50 गौरवमयी वर्ष का प्रदर्शन हो रहा था । क्रान्तिकारी गतिविधियां अभी बन्द नहीं हुई थीं । 13 अप्रेल 1943 को सिवांची गेट के निकट एक बम विस्फोट हुआ जिसमें सीताराम और सूरजप्रकाश को गिरफ्तार किया गया । इसी सप्ताह तीन और बम विस्फोट हुए । प्रथम रेजीडेन्सी कार्यालय में, दूसरा म्यूनिसिपल बोर्ड में और तीसरा खांडा फलसा पुलिस चौकी में ।

मारवाड में जोधपुर शहर के अतिरिक्त फलौदी में भी 'भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रभाव पड़ा । आन्दोलन मन्द गीत से दो वर्षा तक चला । अन्ततोगत्वा एक समझौते के बाद सभी राजनैतिक बन्दियों को 27 मई 1944 ई. को रिहा किया गया ।

नवम्बर 1944 ई. में हुए जोधपुर नगरपालिका । चुनावों में लोक परिषद् को पुन: बहुमत प्राप्त हुआ । जून 1945 ई में पण्डित जवाहर लाल नेहरू जोधपुर आये और उनकी सलाह पर महाराज उम्मेद सिंह ने डोनाल्ड फील्ड के स्थान पर सी.एस वेंकटचारी को मुख्यमंत्री के पद पर नियुक्त किया ।

16.3.4 सुधालकर रिपोर्ट

संवैधानिक सुधारों पर अपने सुझाव देने के लिए महाराजा द्वारा नियुक्त सुधालकर कमेटी की रिपोर्ट जुताई 1945 में प्रकाशित की गयी । इसमें व्यवस्थापिका सभा का गठन इस प्रकार किया गया कि वास्तविक सत्ता महाराजा, मुख्यमंत्री और महाराजा के नामजद मंत्रियों के हाथ में रहे । इतना ही नही दो वर्ष का कारावास भोग चुके व्यक्ति सभा के लिए चुनाव नहीं लड़ सकते थे । अत: लोक परिषद् ने रिपोर्ट का विरोध किया । राज्य सरकार तथा जागीरदार परिषद् का दमन करने के लिए कटिबद्ध थे । 13 मार्च 1947 ई. को डीडवाना जिले के डाबड़ा गांव में जागीरदारों ने एक हजार राजपूतों से लोक परिषद् कार्यकर्त्ताओं पर अमानवीय अत्याचार करवाये । राष्ट्रीय समाचार पत्रों में इस काण्ड की तीव्र आलोचना की गयी, लेकिन महाराजा पर इसका कोई असर नहीं पड़ा ।

इसी बीच महाराजा उम्मेद सिंह के देहान्त के बाद उनके नवयुवक पुत्र महाराजा हनुमना सिंह 21 जून 1947 ई. को सिंहासन पर बैठे । उन्होंने अक्टूबर 1947 को वेंकटचारी के स्थान पर अपने चाचा अजीत सिंह को नया मुख्यमंत्री बनाया । लोक परिषद् ने इसका अत्यधिक विरोध किया ।

28 फरवरी 1948 को भारत सरकार द्वारा भेजे गए वी.पी.मेनन के समझाने पर महाराजा ने व्यास जी के नेतृत्व में मिला-जुला मंत्रिमण्डल बनाया । लेकिन यह मंत्रिमण्डल सुचारू रूप से न चल सका । इसमें कई फेर-बदल किये गये । अन्त में सितम्बर 1948 में जयनारायण व्यास का नया मंत्रिमण्डल बना, जिसमें पहली बार मारवाड लोक परिषद् का बहुमत था । दिसम्बर 1948 में वी.पी मेनन और महाराजा के बीच जोधपुर के राजस्थान में शामिल होने के सम्बन्ध में वार्ता हुई जिसके फलस्वरूप महाराजा ने जोधपुर को वृहद राजस्थान में शामिल करने की सहमति दी ।

जोधपुर प्रजामण्डल आन्दोलन के अवलोकन के बाद आइए हम भरतपुर प्रजा परिषद् आन्दोलन की जानकारी प्राप्त करें ।

16.4 बोध प्रश्न-1

1. राजस्थान के राज्यों में प्रजामण्डलों के क्या मुख्य उद्देश्य थे?
2. मेवाड प्रजामण्डल के प्रथम सत्याग्रह पर प्रकाश डालिये ।
3. भारत छोडो आन्दोलन में मेवाड प्रजामण्डल की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए ।
4. के.एम.मुंशी संविधान की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।
5. जोधपुर में 1942 ई. के आन्दोलन का संक्षिप्त विवेचन कीजिए ।
6. सुधालकर रिपोर्ट पर एक संक्षिप्त टिपणी लिखिये ।

16.5 भरतपुर

बीसवीं सदी के तृतीय दशक में भरतपुर राज्य में भू-राजस्व नीति के प्रति किसानों में अत्यधिक रोष था । अप्रेल 1927 में किसानों ने इस नीति के खिलाफ कई सभाएँ की । इसी वर्ष भरतपुर में "हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ' के अवसर पर राष्ट्रीय नेताओं की उपस्थिति ने किसान आन्दोलन में नई शक्ति का संचार किया । वह भरतपुर में उत्तरदायी शासन की मांग करने लगा । महाराजा किशन सिंह ने 15 सितम्बर 1927 की घोषणा में उत्तरदायी शासन की स्थापना का आश्वासन दे दिया । लेकिन ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गद्दी से हटाकर, राज्य से निर्वासित कर दिया । प्रशासन के समस्त अधिकार ब्रिटिश

दीवान मैकेन्जी को सौंप दिये गये । मैकेन्जी ने सार्वजनिक सभाओं और प्रकाशन पर रोक लगा दी तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ता जगन्नाथ दास अधिकारी को राज्य से निर्वासित कर दिया ।

16.5.1 भरतपुर राज्य प्रजा संघ की स्थापना

दीवान की दमनकारी नीति और पुलिस अत्याचार के विरोध में 06 जनवरी 1929 को भरतपुर राज्य प्रजा संध की स्थापना की थी । प्रतिक्रियावादी दीवान ने शीघ्र की संघ के अध्यक्ष गोपीलाल यादव और सचिव देशराज को बन्दी बना लिया । 1930-31 के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में भाग लेने के लिए भरतपुर से एक जत्था अजमेर गया ।

हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के बाद भरतपुर के प्रमुख राजनीतिक, कार्यकताओं ने राज्य से बाहर रेवाड़ी में दिसम्बर 1938 में 'भरतपुर राज्य प्रजा मण्डल' की स्थापना की । गोपीलाल यादव को इसका अध्यक्ष, देशराज व युगल किशोर चतुर्वेदी को उपाध्यक्ष और मास्टर आदित्येन्द्र को कोषाध्यक्ष बनाया गया ।

16.5.2 भरतपुर प्रजामण्डल का प्रथम सत्याग्रह

राज्य सरकार ने शीघ्र ही प्रजामण्डल के गैर कानूनी घोषित कर दिया । विरोधस्वरूप प्रजामण्डल ने 21 अप्रेल 1939 को सत्याग्रह आरम्भ कर दिया । इस दौरान जुलूस निकाले गये और आम सभाएं हुई । सरकार ने दमनचक्र जारी कर दिया । आन्दोलन में महिलाओं ने भी भाग लिया । अन्ततः 23 दिसम्बर 1939 को महाराजा बृजेन्द्रसिंह के सिंहासनारोहण के शीघ्र बाद प्रजामण्डल और राज्य सरकार के बीच समझैता हो गया । 'भरतपुर प्रजामण्डल का पंजीकरण 'भरतपुर प्रजा परिषद् ' के नाम से कर दिया गया । सभी नेताओं को रिहा कर दिया गया । प्रजा परिषद् के उद्देश्य प्रशासनिक सुधारों पर बल देना, सार्वजनिक समस्याओं को प्रस्तुत करना और जनमत को शिक्षित करना रखे गये ।

प्रजा परिषद् ने 27 अगस्त -02 सितम्बर 1940 के मध्य राष्ट्रीय सप्ताह मनाया । 30 दिसम्बर 1940 को परिषद् का प्रथम अधिवेशन जयनारायण व्यास की अध्यक्षता में हुआ । दोनो अवसर पर उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की गई । लेकिन सरकार ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

16.5.3 भारत छोडो आन्दोलन और भरतपुर

भारत छोड़ो आन्दोलन की गूँज भरतपुर में भी सुनाई दी । राष्ट्रीय नेताओं की गिरफ्तारी का समाचार फैलते ही 10 अगस्त 1942 को समस्त भरतपुर शहर कस्बों और बहुत से गाँवों में हडताल रखी गई । उसी दिन सरकार ने परिषद् के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया । 'भारत छोड़ो ' आन्दोलन आरम्भ होते ही नगरपालिका में प्रजापरिषद्, के तीनों सदस्यों नें इस्तीफा दे दिया । भरतपुर शहर में प्रतिदिन जुलूस निकाले जाते, जिनमें स्त्रियां भी सरस्वती बोहरा के नेतृत्व में भाग लेती ।

पडौसी शहर आगरा और मथुरा की गतिविधियों का प्रभाव भरतपुर के छात्रों पर भी पड़ा । उन्होंने कॉलेज के अधिकारियों से अखिल भारतीय छात्रसंघ से सम्बद्धता तथा एक छात्रसंघ की स्थापना की अनुमति केवल चौबीस घंटे के भीतर-भीतर मांगी । 14 अगस्त 1942 ई. को भरतपुर में प्रदर्शन अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया । पूरे भरतपुर शहर में आम हडताल रखी गई । मुसलमानों ने भी अपनी दुकानें बन्द रखी । कॉलेज के छात्रों ने स्कूलों में जाकर छात्रों को स्कूल से बाहर निकाल दिया । दोपहर को जुम्मे की नमाज के दौरान प्रजापीरषद्, कार्यकर्त्ता प्रभुराम और रामभरोसे जामा मस्जिद

गये, जहां उन्होंने मुसलमानों को आन्दोलन में कूद पडने का आहवान किया । शाम को एक नकली शवयात्रा पंडित रेवतीशरण के घर से आरम्भ की गई । कॉफिन के चारों दिशाओं में निम्नलिखित नारे लिखे थे - जनाजा गैर उत्तरदायी हुकूमत का, बत्राशाही मुर्दाबाद, नमक कानून मुर्दाबाद, मौजूदा अनाज व्यवस्था हाय हाय । उपर्युक्त नारे प्रजापीरषद् की मांगों के सूचक थे । शवयात्रा शहर में घूमकर लक्ष्मण जी के मन्दिर पहुंची । नकली शव को बाकायदा अग्नि दी गई।

आन्दोलनकारियों ने 28-29 अगस्त 1942 की रात को भरतपुर-कुम्हेर मार्ग पर टेलीफोन के तार काट दिये । भरतपुर शहर के अलावा अन्य कस्बों, कुम्हेर, बयाना, डीग आदि में भी भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रभाव पड़ा । बाढ़ और मलेरिया के प्रकोप के कारण प्रजा परिषद् ने 23 सितम्बर 1942 को आन्दोलन पूर्णत: समाप्त कर दिया । सरकार से समझौता वार्ता के बाद राजनीतिक बंदी रिहा कर दिये गये ।

16.5.4 ब्रज जय प्रतिनिधि सभा

अक्टूबर 1942 में सरकार ने केन्द्रीय सलाहकार परिषद् के स्थान पर बृज जय प्रतिनिधि सभा के गठन की घोषणा की । अगस्त 1943 ई. में हुए चुनावों में 37 प्रस्तावित निर्वाचित सदस्यों में से 27 सीटें प्रजा परिषद् को प्राप्त हुई । सरकार की असहयोग की नीति के कारण, प्रजा परिषद् ने अप्रेल 1945 ई. में 'बृज जय प्रतिनिधि सभा' का बहिष्कार कर दिया ।

23-14 मई 1945 को भरतपुर प्रजा परिषद् का दूसरा अधिवेशन जयनारायण व्यास की अधयक्षता में हुआ । इसमें पुन: उत्तरदायी शासन की माँग की गई । जब प्रजापरिषद् ने राज्य की अन्न नीति की तीव्र आलोचना की तो उसके प्रमुख कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया । अन्तत: महाराजा के हस्तक्षेप से प्रजामण्डल के सभी कार्यकर्ता रिहा कर दिये गये ।

25 नवम्बर 1945 ई. को भरतपुर प्रजा परिषद् का दूसरा अधिवेशन जयनारायण व्यास की अध्यक्षता में हुआ । इसमें पुन: उत्तरदायी शासन की मांग की और चेतावनी दी कि यदि इस मांग को स्वीकार नहीं किया गया तो प्रजा परिषद् 12 दिसम्बर 1945 से सत्याग्रह आरम्भ कर देगी । लेकिन महाराजा से वार्ता के बाद सत्याग्रह टाल दिया गया।

राज्य सरकार ने संवैधानिक सुधारों के लिए एक समिति नियुक्त की, जिसमें प्रजा परिषद् के सदस्यों का बहुमत रखा गया । किन्तु महाराजा ने धीरेधीरे परिषद् के सदस्यों की संख्या कम कर दी । 17-18 दिसम्बर 1948 को प्रजा परिषद् ने अपने तीसरे अधिवेशन में पुन: उत्तरदायी शासन की स्थापना की और बेगार समाप्त करने की मांग दोहरायी।

04 जनवरी 1947 को जब महाराजा के जन्मदिन के अवसर पर भारत के तत्कालीन बायसराय लार्ड वेवल और बीकानेर महाराजा सादुल सिंह जल मुर्गियों का शिकार करने भरतपुर पहुँचे तो राज्य प्रशासन के विरूद्ध व्यापक प्रदर्शन हुए । पुलिस ने प्रदर्शनकारियों पर बर्बर अत्याचार किये । इसके विरूद्ध भरतपुर में 17 दिन तक हड़ताल रही । पुलिस दमन -जारी रहा । विभिन्न स्थानों पर उपद्रव हुए जो शीघ्र ही साम्प्रदायिक झगडों में बदल गए । जाट और भेदों के पारस्परिक संघर्ष को राज्य सरकार नियन्त्रित न कर सकी । अत: विवश होकर जनवरी 1948 में 04 लोकप्रिय मंत्रियों को नियुक्त किया गया । 18 मार्च 1948 को मत्स्य संघ के बन जाने से भरतपुर राज्य का पृथक अस्तित्व समाप्त हो गया ।

आइए अब हम राजस्थान की अन्य रियासतों के प्रजामण्डल आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण प्राप्त करें।

16.6 अन्य राज्यों में प्रजा मण्डल आन्दोलन

16.6.1 जयपुर

जयपुर राज्य में राजनीतिक जागरण का श्रेय अर्जुनलाल सेठी को जाता है । कपूरचन्द पाटनी ने 1931 ई. में ही जयपुर में प्रजामण्डल की स्थापना कर दी थी, लेकिन यह संस्था प्रभावशाली न हो सकी । हरिपुरा प्रस्ताव के बाद जमनालाल बजाज और हीरालाल शास्त्री ने जयपुर प्रजामण्डल का पुनर्गठन किया । 09 मई 1938 ई. में अपने प्रथम अधिवेशन में उसने उत्तरदायी शासन की मांग की । प्रजामण्डल को पंजीकरण के लिए 11 फरवरी 1939 ई. को सत्याग्रह करना पड़ा । गांधी जी के दबाव के कारण सरकार और प्रजामण्डल में समझौता हो गया । मार्च 1940 में जयपुर प्रजामण्डल का पंजीकरण हो गया । 1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में प्रजामण्डल की भूमि का विवादस्पद रही । प्रजामण्डल अध्यक्ष हीरा लाल शास्त्री ने प्रधानमंत्री के मिर्जा इस्माइल के साथ जेन्टलमेन्स समझौता कर लिया । दूसरी ओर बाबा हरीशचन्द्र ने आजाद मोर्चे की स्थापना कर आन्दोलन आरम्भ किया । 27 मार्च 1947 को जयपुर महाराजा ने कुछ और सुधारों की घोषणा की तत्पश्चात् हीरालाल मुख्य सचिव बने । जुलाई 1947 की नरेन्द्र मण्डल की सभा में जयपुर नरेश ने भारतीय संघ में मिलने की घोषणा की

16.6.2 अलवर

अलवर राज्य में जन जागृति के अग्रदूत पण्डित हरि नारायण शर्मा थे । शर्मा और कुंज बिहारी लाल मोदी ने 1938 ई. में अलवर राज्य प्रजामण्डल की स्थापना की । संघर्ष के बाद सरकार ने मार्च 1940 ई. को इसका पंजीकरण किया । 1940 में जब सरकार ने द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए चन्दा वसूल करना आरम किया, तो विरोध करने वाले प्रजामण्डल के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया । अगस्त 1946 में प्रजामण्डल ने उत्तरदायी शासन की मांग की । संवैधानिक सुधार समिति (अक्टूबर 1946) की रिपोर्ट का प्रजामण्डल ने विरोध किया । मार्च 1948 ई. में अलवर का मत्सय संघ में विलय हो गया ।

16.6.3 बीकानेर

बीकानेर के शासक महाराजा गंगासिंह यद्यपि प्रगतिशील विचारों के थे, परन्तु जब मघाराम वैध ने अक्टूबर 1934 ई. में बीकानेर प्रजामण्डल की स्थापना की, तो उसे राज्य से निष्कासित कर दिया गया । इसी प्रकार 22 जुलाई 1942 ई. को रघुवर दयाल गोयल ने बीकानेर प्रजा प्ररिषद का गठन किया, तो उसे भी राज्य से निष्कासित कर दिया गया । प्रजा मण्डल को भी अवैध घोषित कर दिया गया । इसके विरूद्ध हुए आन्दोलन का सरकार ने सख्ती से दमन कर दिया । अन्ततः 1942 में बीकानेर नरेश संवैधानिक सुधारों के लिए राजी हो गये । बहुत बादविवाद के बाद बीकानेर नरेश ने 30 मार्च 1949 को वृहद राजस्थान में मिलना स्वीकार कर लिया ।

16.6.4 कोटा

कोटा राज्य में जनजागृति के जनक पण्डित नयनूराम शर्मा 1934 में ही हाड़ौती प्रजामण्डल की स्थापना कर चुके थे । परन्तु यह विशेष कार्य न कर सकी । 1939 ई. में शर्मा और अभिन्न हरि ने कोटा राज्य प्रजामण्डल की स्थापना की । भारत छोडो आन्दोलन से पूर्व रियासती कार्यकर्त्ताओं की बैठक के बाद, अभिन्न हरि को कोटा पहुँचते ही गिरफ्तार कर लिया गया । जैसे ही प्रजामण्डल अध्यक्ष मोती लाल जैन ने महाराज को अंग्रजो से सम्बन्ध विच्छेद करने को कहा, प्रजामण्डल कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी आरम्भ कर दी गयी । इसी दौरान नाथूलाल जैन के नेतृत्व में युवकों ने शहर कोतवाली पर अधिकार कर तिरंगा फहरा दिया । जनता ने 15 दिन तक नगर प्रशासन पर अपना कब्जा रखा । कोटा महाराज ने 1948 के आरम्भ में अभिन्न हीर के नेतृत्व में लोकप्रिय सरकार बनाने का निर्णय लिया ।

16.6.5 बूँदी

बूँदी में 1931 ई. में ही कान्तिलाल की अध्यक्षता में प्रजामण्डल की स्थापना हो चुकी थी, परन्तु सरकार ने राज्य में सारे प्रतिबन्ध लगा दिये । काँग्रेस अधिवेशन में भाग लेने के बाद ऋषि दत्त मेहता ने बूँदी लौटते ही जन आन्दोलन आरम्भ कर दिया । रिहा होते ही उन्होंने 1944 में बूँदी राज्य लोक परिषद् का गठन कर उत्तरदायी शासन की माँग की । इससे पहले कि संविधान निर्मात्री सभा द्वारा पारित विधान स्वीकृत हो, बूँदी ने राजस्थान संघ में विलीन होना स्वीकार कर लिया ।

16.6.6 जैसलमेर

जैसलमेर में 1920 में ही राष्ट्रीय भावना अंकुरित हो चुकी थी । 1937 ई. में सागरमल गोपा और उनके साथियों ने जब लोक परिषद् की स्थापना की तो उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया गया । 1940 में गोपा ने 'जैसलमेर में गुंडा राज्य'' नामक पुस्तक प्रकाशित कर जन साधारण में वितरित करता दी । जब पिता की मृत्यु पर 1941 ई. में वे जैसलमेर आए तो उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया । जेल में ही थानेदार ने 03 अप्रेल 1946 को उन्हें अग्नि की भेंट चढ़ा दिया । जनता ने जांच की माँग की । जाँच में इस काण्ड को आत्महत्या करार दिया गया । मीठा लाल व्यास 1945 में ही प्रजामण्डल की स्थापना कर चुके थे । स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी महारावल का रूख कठोर रहा । 30 मार्च 1948 को जैसलमेर का राजस्थान में विलय हुआ ।

16.6.7 धौलपुर

धौलपुर में आर्य समाज के स्वामी श्रद्धानन्द ने 1918 ई. में निरंकुश राजतंत्र के विरूद्ध अभियान चलाया । 1936 में कृष्णदत्त पालीवाल ने धौलपुर राज्य प्रजामण्डल का गठन किया । अप्रेल 1940 में भंदई गाँव में पूर्वी राजस्थान के राज्यों के राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं के सम्मेलन में उत्तरदायी शासन की मांग की गई । नवम्बर 1946 में प्रजामण्डल के तासीमों गाँव के अधिवेशन में पुलिस ने गोली चलाई । नवम्बर 1947 में स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी राज्य से अनुमति न मिलने के बावजूद भी अपना अधिवेशन आयोजित किया । अन्ततः 04 मार्च 1948 को राज्य ने संवैधानिक सुधार कर उत्तरदायी शासन स्थापित करना स्वीकार किया । किन्तु इसी माह मत्स्य संघ स्थापित हो गया ।

16.6.8 करौली

करौली में राजनीतिक जागृति 1938 ई. में मुंशी त्रिलोकचन्द माथुर द्वारा प्रजामण्डल की स्थापना से हुई । प्रजामण्डल ने प्रारम्भ में उत्तरदायी शासन की माँग नहीं की, फिर भी राज्य ने दमन-नीति अपनायी । नवम्बर 1946 में पहली बार उत्तरदायी शासन की मांग की गयी । जुलाई 1947 में महाराजा ने संवैधानिक सुधारों के दौरान प्रजामण्डल के सुझाव स्वीकार नहीं किये । 16 मार्च 1948 को करौली का मत्सय संघ में विलय हो गया ।

16.6.9 बाँसवाड़ा

बाँसवाड़ा में भूपेन्द्रनाथ त्रिवेदी ने अपने साथियों के साथ 1943 ई. में प्रजामण्डल की स्थापना की । सरकार आरम्भ से ही इसकी विरोधी थी । 1948 ई. ने प्रजामण्डल ने अपने अधिवेशन में उत्तरदायी शासन की माँग की । अन्त में 1948 ई. के आरम्भ में त्रिवेदी ने लोकप्रिय मन्त्रिमण्डल बनाया । 16 अप्रेल 1948 को राज्य का संयुक्त राजस्थान में विलय हुआ ।

16.6.10 डूँगरपुर

डूँगरपुर में भोगीलाल पण्डया ने भीलों में जागृति उत्पन्न करने के लिए एक सेवा संघ की स्थापना कीं । भारत छोडो आन्दोलन के समय सेवा संघ के तत्वावधान में जुलूस, सभाएँ और हड़तालों हुई । अगस्त 1944 ई. में पंडाल, हरिदेव जोशी आदि ने डूँगरपुर प्रजामण्डल की स्थापना की । अप्रेल 1946 गे पहले अधिवेशन में प्रजामण्डल की उत्तदायी शासन की माँग के साथ ही सरकार ने जोशी को राज्य से निष्कासित और पंड्या को कैद कर लिया । 19 जून 1947 को ग्राम रास्तापाल मे पुलिस का अत्याचार उस समय चरम सीमा पर पहुँच गया तब 12वर्षीय भील कन्या काली बाई पुलिस की गोली से शहीद हुई । 16 अप्रेल 1948 के पूर्व डूँगरपुर का संयुक्त राजस्थान में विलय हो गया ।

16.6.11 प्रतापगढ़

प्रतापगढ़ राज्य में अमृतलाल पाठक और चुन्नीलाल प्रभाकर ने 1945 में प्रजामण्डल की स्थापना की । 1947 में प्रतापगढ़ राज्य भारतीय संघ में शामिल हो गया । 16 अप्रेल को प्रतापगढ़ का संयुक्त राजस्थान में विलय हो गया।

16.6.12 शाहपुरा

शाहपुरा में प्रो. गोकुल लाल असावा समिति द्वारा निर्मित संविधान को स्वीकार कर, 14 अगस्त 1947 को असावा के ही नेतृत्व में उत्तरदायी मंत्रिमण्डल का गठन किया गया, 18 अप्रेल 1948 को शाहपुरा का संयुक्त राजस्थान में विलय हुआ ।

16.6.13 सिरोही

कुछ युवकों ने बम्बई में 1934 ई. में सिरोही प्रजामण्डल की स्थापना की जिसका उद्देश्य महाराज की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना था । लेकिन यह संस्था अधिक सक्रिय नहीं हो सकी । फिर 23 जनवरी 1939 ई. को गोकुल भाई भट्ट ने सिरोही में प्रजामण्डल की स्थापना की । अन्य राज्यों की तरह राज्य ने यहाँ में राजनीतिक कार्यकर्ताओं पर अत्याचार किये । जिसके फलस्वरूप

जन आन्दोलन हुआ । अन्ततः महाराज ने प्रजामण्डल का अस्तित्व स्वीकार कर लिया । 'भारत छोडो आन्दोलन' की प्रतिध्वनि सिरोही में भी सुनाई दी । संयुक्त राजस्थान के निर्माण के समय मार्च 1948 में सिरोही को बम्बई राज्य में मिला दिया गया । लेकिन गोकुल भाई भट्ट और हीरालाल शास्त्री के अथक प्रयासों से नवम्बर 1956 ई. में सिरोही को राजस्थान में मिलाया गया ।

16.6.14 किशनगढ़

किशनगढ़ में 1939 में प्रजामण्डल की स्थापना की गई । 13 अप्रेल 1948 को राज्य का संयुक्त राजस्थान में विलय हुआ । झालावाड़ में 1947 में प्रजामण्डल की प्रथम सभा में सुधारों की माँग, की गयी । इस माँग को तुरन्त स्वीकार कर लिया गया । 18 अप्रेल 1948 को राज्य का संयुक्त राजस्थान में विलय कर लिया गया । टोंक में प्रजामण्डल की स्थापना नहीं हुई ।

16.7 सारांश

प्रजामण्डलों को 1938-39 में स्थापना के शीघ्र बाद ही राजस्थान के सभी बड़े राज्य जैसे जोधपुर, मेवाड, जयपुर, कोटा, बूंदी और बीकानेर में मान्यता हेतु सत्याग्रह करने पडे । राज्यों में प्रजामण्डल आन्दोलनों के दो समानान्तर उद्देश्य थे - (1) राज्य में उत्तरदायी शासन की स्थापना (2) साम्राज्यवादी शक्तियों के खिलाफ भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के विस्तार के रूप में, जिसका लक्ष्य रियासतों की स्वतन्त्रता प्राप्ति था ।

प्रजामण्डलों के मार्ग दर्शन में ही ब्रिटिश भारत में होने वाले राष्ट्रीय आन्दोलन का संचालन राजस्थान की विभिन्न रियासतों में हुआ । समय-समय पर प्रजामण्डल को राष्ट्रीय नेताओं के सुझाव और प्रोत्साहन प्राप्त होते रहे । द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब रियायतों के शासकों ने अंग्रेजों को सहायता प्रदान की तो प्रजामण्डलों ने इसका विरोध किया।

1942 के भारत छोड़ो आन्दोलन में प्रजामण्डलों ने उत्साह से भाग लिया । यह पहला अवसर था जब भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में देशी रियासतों की प्रजा सम्मिलित हुई । भारतीय आजादी के संघर्ष की दो प्रमुख धाराएँ - कांग्रेस और प्रजामण्डल, अब मिलकर एक हो गयी । जन आन्दोलन के दौरान लोगों को भीषण यातनाएं सहनी पडी । रियासतों की जनता को तीन शक्तियों-राजा, ठिकानेदार और ब्रिटिश सरकार का सामना करना पड़ा । ये तीनों शक्तियाँ मिलकर जन आन्दोलन का दमन करती रहीं । किन्तु जनता निर्भीकता से संघर्ष करती रही ।

अन्ततः प्रजामण्डल ने अपने दोनों उद्देश्य प्राप्त कर लिये । राजस्थान के राज्यों में होने वाले आन्दोलनों ने यह प्रमाणित कर दिया कि देशी रियासतों की जनता भी, ब्रिटिश भारत की जनता के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर भारत को स्वतन्त्र करवाना चाहती थी ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अधिकांश शासकों ने प्रजामण्डल आन्दोलनों से भयभीत होकर ही अखिल भारतीय संघ में मिलना स्वीकार किया । इस दृष्टि से प्रजामण्डल देश को राजनीतिक एकता के सूत्र में बांधने की दिशा में भी महत्वपूर्ण सिद्ध हुए । निष्कर्षत हम यह कह सकते हैं कि प्रजामण्डल आन्दोलन भारतीय रियासतों में भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का विस्तृत रूप था, जिससे स्वाधीनता संग्राम को और अधिक दृढ़ता मिली ।

16.8 बोध प्रश्न

1. मारवाड में जयनारायण व्यास द्वारा उत्तरदायी शासन के लिए किए गये प्रयासो की विवेचना कीजिए ।
2. मेवाड प्रजामण्डल द्वारा संचालित आन्दोलन की व्याख्या कीजिए ।
3. भरतपुर प्रजा परिषद् द्वारा चलाये गये आन्दोलन की समीक्षा कीजिए ।
4. प्रजा मण्डलों ने राजस्थान में राजनैतिक चेतना विकसित करने में महत्वपूर्ण भूमिका
5. की इस कथन की पुष्टि कीजिए ।
6. राजस्थान में हुए स्वाधीनता संघर्ष का संक्षिप्त मूल्यांकन कीजिए ।
7. भरतपुर प्रजामण्डल के प्रथम सत्याग्रह के क्या उद्देश्य थे?
8. भारत छोड़ो आन्दोलन में भरतपुर प्रजा परिषद् की भूमिका की समीक्षा कीजिए ।
9. 'ब्रज जय प्रतिनिधि सभा' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये ।
10. भारत छोड़ो आन्दोलन का जयपुर राज्य पर क्या प्रभाव पड़ा?
11. भारत छोडो आन्दोलन में कोटा राज्य की भूमिका का विश्लेषण कीजिए ।

16.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. The Political Movement And Awakening in Rajasthan –Saxena K.S
2. States People conference Publication Scheme, Jaipur, 1987 –Mathur V.D
3. राजस्थान के स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी, जयपुर, 1976 –जोशी सुमनेश
4. आधुनिक राजस्थान का वृहद इतिहास(खण्ड-2), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1995 –व्यास आरपी.
5. राजस्थान में स्वतन्त्रता संग्राम, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 1988 –पनगड़िया बी.एल
6. राजस्थान में उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर 2002 –परिहार विनीता

इकाई - 17

राजपूतानों की रियासतों का विलय तथा राजस्थान राज्य का निर्माण (1948-1956)

(Integration of Princely States of Rajputana and formation of Rajasthan State (1948-1956)

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 एकीकरण से जुड़ी समस्याएं

17.2.1 सर्वोच्चता की समस्या

17.2.2 शासकों का मत

17.2.3 सामती वर्ग का विरोध

17.2.4 अन्य प्रतिक्रियाएं

17.3 एकीकरण की प्रमुख योजनाएं

17.4 एकीकरण की दिशा में प्रारंभिक प्रयास

17.4.1 अंगीकार पत्र यथास्थिति समझौता

17.4.2 राजपूताना एजेन्सी का विघटन

17.5 एकीकरण के विभिन्न चरण

17.5.1 प्रथम चरण (17 मार्च 1948)

17.5.2 द्वितीय चरण (25 मार्च 1948)

17.5.3 तृतीय चरण (18 अप्रेल 1948)

17.5.4 चतुर्थ चरण (30 मार्च 1949)

17.5.5 पंचम चरण (15 मई 1949)

17.5.6 षष्टम चरण (1950)

17.5.7 सप्तम चरण (1956)

17.6 राजधानी का प्रश्न

17.7 सारांश

17.8 बोध प्रश्न

17.9 संदर्भ ग्रन्थ

17.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप जान सकेंगे कि -

- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद राजस्थान राज्य के विलय व एकीकरण की क्या समस्याएं थी ?
- राजस्थान का एकीकरण किस प्रकार विभिन्न चरणों में सम्पन्न हुआ ?
- सन् 1956 में राज्य पुनर्गठन आयोग ने किस प्रकार राजस्थान के एकीकरण को पूर्ण किया ?

17.1 प्रस्तावना

भारत को जब स्वतंत्रता प्राप्त हुई तो राजपूताना अथवा राजस्थान नामक भौगोलिक क्षेत्र में कुल 19 राज्य व 3 ठिकाने थे । ये राज्य थे - अलवर, बांसवड़ा, भरतपुर, बीकानेर, बून्दी, धौलपुर, डूंगरपुर, जयपुर, जैसलमेर, झालावाड़, जोधपुर, करौली, किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा, सिरोही, टोंक व उदयपुर । ठिकानों में लावा, कुशलगढ़ व नीमराणा सम्मिलित थे । सभी राज्य उस अखिल भारतीय प्रश्न के अंग थे जिसके तहत स्वतंत्रता के पश्चात् देशी राज्यों का भविष्य तय किया जाना था । कहा जा सकता है कि सन् 1947 में भारत मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित था - ब्रिटिश भारत व देशी राज्यों का भारत । देशी राज्यों के शासक ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता के साथ संधियों से बंधे थे जिसकी पुष्टि व क्रियान्विति का आश्वासन सन् 1958 के भारत सरकार के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश साम्राज्ञी द्वारा की गई थी । इसी आधार पर ये राज्य स्वयं को स्वतंत्र मानते थे और स्वतंत्रता के पश्चात् ब्रिटिश सरकार का स्थान लेने वाली सत्ता के आधीन रहने की मन: स्थिति में नहीं थे ।

दूसरी तरफ भारत सरकार इस राज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार करके भारत की भौगोलिक व सामरिक स्थिति के साथ खतरा मोल नहीं ले सकती थी । इन राज्यों की विशिष्ट संवैधानिक व कानूनी स्थिति ने भारत सरकार को असमंजस में डाल रखा था ।

17.2 एकीकरण से जुड़ी समस्याएं

भारत के देशी राज्यों के एकीकरण का कार्य महती था व इसके लिये भागीरथी प्रयासों की आवश्यकता थी । एकीकरण में प्रमुख समस्याएं निम्न थी -

17.2.1 सर्वोच्चता की समस्या

एक सर्वोच्च शक्ति के रूप में ब्रिटिश सजा का भारत में अंत होने वाला था । उसका स्थान ग्रहण करने वाली भारत सरकार के सामने देशी राज्यों का प्रश्न समस्या बन कर खड़ा था । इन राज्यों का यह तर्क था कि वे सदा से ही सार्वभौम शक्तियाँ हैं क्यों कि उनकी संधियाँ सीधे ब्रिटिश सम्राट के साथ है । अत: उनकी यह संवैधानिक स्थिति उनकी इच्छा के विरूद्ध किसी भी अन्य सत्ता को हस्तान्तरित नहीं की जा सकती है । यह बात अलग है कि अब तक अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर उन्हें कभी भी स्वतंत्र इकाई का दर्जा नहीं दिया गया था और उन्हें सदैव "हर मैजस्टीस एम्पायर' के नाम से ही संबोधित किया गया था । इस समस्या पर स्वतंत्रता प्राशि से पूर्व ही विचार विमर्श आरंभ हो गया था । केबिनट मिशन ने 1946 में 'मैमोरेंडम ऑफ स्टेट्स ट्रीटीज़ एण्ड पैरामाउंटसी प्रकाशित कर स्पष्ट कर दिया था कि आगामी सरकार पर ब्रिटिश सरकार का इतना प्रभाव नहीं होगा कि वह उसे सर्वोच्च सत्ता के कर्तव्य का निर्वहन करने के लिये बाध्य कर सके । इससे स्पष्ट हो गया कि स्वतंत्रता मिलने पर देशी राज्यों व ब्रिटिश सरकार के बीच राजनीतिक सत्य समाज हो जायेंगे और इससे उत्पन्न शून्यता को भरने के लिये राज्यों व आगामी सरकार के बीच नये सिरे से संधि करनी होगी । ऐसी स्थिति का सभी पक्षों ने स्वागत किया । केन्द्र सरकार जहाँ इससे पूर्ववर्ती संधि व समझौतों के पालन की बाध्यता

से पुजा हो गई वहीं देशी राज्यों ने भी संतोष की सांस ली कि सर्वोच्चता व उससे जुड़े मुद्दे हस्तान्तरित नहीं होंगे । उनके लिये विलय होने या स्वतंत्र रहने का मार्ग खुला था ।

17.2.2 शासकों का मत

एकीकरण की योजना की सफलता निःसंदेह उन बडे राज्यों के रूख पर टिकी थी जो संवैधानिक परिभाषा के अनुसार स्वयं समर्थ (Viable) राज्य होते हुए भी एकीकरण के लिये तैयार थे । राजपूताना के छोटे राज्य इन्हीं का अनुकरण करने के लिये तैयार थे । इसलिये इन बड़े राज्यों को एकीकरण के लिये प्रेरित करना भारत सरकार के लिये बडी चुनौती था । ये राज्य केन्द्र सरकार द्वारा घोषित स्वयं समर्थ (Viable) राज्य के अन्तर्गत आते थे । इनमें जयपुर, बीकानेर जोधपुर व उदयपुर राज्य आते थे । शेष राज्यों का विलय व समूहीकरण अनिवार्य सा हो गया ।

जयपुर -जयपुर के महाराजा ने अपनी राजनीतिक दूरदर्शिता प्रदर्शित करते हुए राजस्थान संघ में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया ।

बीकानेर -पाकिस्तान से सीमा लगने के कारण बीकानेर का सामरिक महत्व बढ़ गया । यही के शासक ने संविधान निर्मात्री सभा में सक्रिय भागीदारी का निश्चय किया जिससे देशी राज्यों को अधिक से अधिक विशेषाधिकार मिल सकें ।

जोधपुर -बीकानेर की भांति ही जोधपुर भी पाकिस्तान के साथ सीमा से जुड़ा था । कायदे आजम जिन्ना ने जोधपुर के महाराजा को काफी आकर्षक प्रलोभनों वला प्रस्ताव पेश किया । इसके तहत जोधपुर को थारपारकर, उमरकोट क्षेत्र का राजस्थानी भाषा बहुल इलाका व 30 भील का मारवाड सिंध रेलवे लाइन का क्षेत्र दिया जाना था । किन्तु जोधपुर के ही एक वर्ग के विरोध, केन्द्र सरकार की सतर्कता व सरदार वल्लभ भाई पटेल की कूटनीति के फलस्वरूप उनकी यह योजना सफल नहीं हो सकी ।

उदयपुर -यहाँ के शासक को भोपाल के नवाब व नवानगर के जाम साहब से 'जाम संघ' प्रस्ताव मिला जो कि उन्होने अस्वीकार कर दिया और राजस्थान संघ में सम्मिलित होने का निर्णय लिया जो सर्वथा उनकी मर्यादा व गरिमा के अनुरूप ही था ।

17.2.3 सामंती वर्ग का विरोध

स्वतंत्रता के पश्चात् बदली हुई राजनीतिक व्यवस्था का मान होने पर राजस्थान का सामंती वर्ग अपने विशेषाधिकारों व आने वाली स्थिति के प्रति सचेत हो गया । सामंतो के विभिन्न समूहों व संगठनों ने एकीकरण विरोधी स्वर अपना लिये । सामंत वर्ग की शक्ति का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जयपुर,जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर राज्यों का कुल 75 प्रतिशत भाग सामंतों के हाथों में था ।

क्षत्रिय परिषद ने अपने जोधपुर अधिवेशन में जोधपुर के विलय के विरोध में जनमत तैयार किया । पाली, फलौदी, मेड़ता, सोजत आदि स्थानों पर कांग्रेसी विरोधी सामंती प्रथा के समर्थन में नारे लगाये गये । धौलपुर के राणा के साथ कई जागीरदारों ने कांग्रेस के विरूद्ध मोर्चा स्थापित करने का प्रयास किया । कुछ जागीरदारों ने रियासती दिमाग को प्रशासन में अधिकार देने के लिये ज्ञापन प्रस्तुत किया ।

17.2.4 अन्य प्रतिक्रियाएं

किसान सभा व मेवाड के भीलों के संयुक्त तत्ववधान में उदयपुर के गुलाब बाग में एक सभा आयोजित की गई जिसमें उदयपुर के राजस्थान में विलय के विचार का विरोध हुआ । भरतपुर में जाटों ने किसान सभा के तत्ववधान में सभा आयोजित कर भरतपुर की वस्तुस्थिति बनाये रखने की मांग रखी और उसका किसी भी अन्य राज्य में विलय का विरोध किया ।

17.3 एकीकरण की प्रमुख योजनाएँ

भारत की स्वतंत्रता व विभाजन को अवश्यंभावी मान कर स्वतंत्रता से पूर्व ही कुछ राजाओं व संगठनों ने देशी राज्यों के एकीकरण की विभिन्न योजनाओं पर विचार करना आरंभ कर दिया था । इनमें से कुछ प्रमुख योजनाएं इस प्रकार थी -

(अ) नवम्बर 1946 में उदयपुर के महाराणा ने राजस्थान के विभिन्न राज्यों के शासकों की एक बैठक बुलाई, जिसमें उनके मुख्य मंत्रियों की एक समिति गठित की गई जिसका काम प्रस्तावित राजस्थान संघ में इन राज्यों के विलय की सर्वश्रेष्ठ संभावनाओं को तलाशना था ।

(ब) अखिल भारतीय मारवाड़ी फैडरेशन ने एक ऐसे संघ की प्रस्तावना तैयार की जिसमें सम्पूर्ण राजस्थान (तत्कालीन राजपूताना) के अतिरिक्त मालवा, ग्वालियर, हिसार, लोहारू, रोहतक, नाभा, पटियाला, गुड़गांव, पंजाब के कुछ हिस्से व दिल्ली भी सम्मिलित थी ।

(स) श्री के.एम. मुंशी ने वृहत्तर राजस्थान की परिकल्पना की जिसमें राजपूताना, गुजरात व मालवा को शामिल करने का प्रस्ताव किया गया ।

(द) भोपाल के नवाब व नवानगर के जाम साहब ने मिल कर ' 'जाम संघ'' योजना बनाई जिसमें राजस्थान (मालवा सहित) और गुजरात काठियावाड़ को मिला कर शेष भारत से एक पृथक संघ स्थापित करने की योजना थी । उदयपुर के महाराणा पर इस योजना का नेतृत्व ग्रहण करने के लिये जोर डाला गया किन्तु उन्होने बीकानेर के महाराजा की सलाह मानते हुए भारत की संविधान निर्मात्री सभा का सदस्य बनने का निर्णय लिया । जाम साहब ने फिर मारवाड राज्य को इस योजना को स्वीकार करने के लिये प्रेरित किया किन्तु उनका यह प्रयास भी असफल रहा । राजस्थान के राजनीतिक संगठनों व लोकप्रिय नेतृत्व ने एकीकरण की दिशा में प्रयास तेज कर दिये । उन्हें डर था कि विघटनकारी शक्तियाँ कहीं राजस्थान को स्वतंत्र अस्तित्व अथवा किसी एक रियायत को पाकिस्तान में विलय के लिये राजी न कर लें ।

17.4 एकीकरण की दिशा में प्रारंभिक प्रयास

ब्रिटिश सत्ता का स्थान लेने वाली भारत सरकार विलय संबंधी समस्याओं व जटिलताओं के प्रति अत्यन्त सचेत थी । केन्द्र की नीति सभी देशी राज्यों को भारत में सम्मिलित करने की थी । केन्द्रीय गह मंत्री सरदार पटेल ने पूरे 565 देशी राज्यों के भारत में विलय करने का स्वप्न देखा जो निश्चित रूप से एक कठिन कार्य था । इस स्वपन को पूरा करने के लिये सरदार पटेल व उनके दिमाग के सचिव श्री वी.पी. मेनन ने अद्‌वितीय दृढ़ निश्चय व दूरदर्शिता का परिचय दिया । केन्द्र सरकार के रियासती दिमाग की स्थापना इस ओर उठाया गया पहला कदम था ।

17.4.1 अंगीकार पत्र व यथास्थिति समझौता:- भारत सरकार ने देशी राज्यों के समक्ष यथास्थिति समझौते का प्रस्ताव रखा जिसमें नई व्यवस्था व समझौते होने तक भारत सरकार व राज्यों के बीच

संबंधों की व्यवस्थाएं यथावत रहेंगी जिससे एक शक्ति की सर्वोच्चता समाप्त होने व नई शक्ति की सर्वोच्चता स्थापित होने के बीच कोई शून्यता न आ जाये । राजपूताना समेत सभी देशी राज्यों ने इसे स्वीकार कर लिया ।

भारत सरकार ने अंगीकार पत्र (Instrument of Accession) का भी प्रस्ताव रखा जो सन् 1935 के अधिनियम पर आधारित था । इसके तहत रियासतें तीन विषय केन्द्र को हस्तान्तरित कर देंगी । ये विषय थे - विदेश, रक्षा व दूर संचार । केन्द्र सरकार को इन तीन विषयों पर कानून बनाने का अधिकार प्राप्त हो गया । केन्द्र ने राज्यों की संप्रभुता का सम्मान करने का वचन दिया और साथ ही राज्यों पर से यह बाध्यता समाप्त कर दी कि वे भविष्य में भारतीय संविधान को स्वीकार करेंगे । राज्यों को मुख्य धारा में सम्मिलित करने व उनकी संविधान निर्माण की प्रक्रिया में भागीदारी सुनिश्चित करने के लिये केन्द्र ने यह जोखिम उठाना स्वीकार किया । अगस्त 1947 तक इन दोनों समझौतों से भारत सरकार ने राजनीतिक क्षेत्र में स्थायित्व प्राप्त कर लिया था । स्वतंत्रता व विभाजन के फलस्वरूप आये तूफान में इन समझौतों ने लंगर का कार्य किया जिसने ढीले-ढीले भारतीय संघ को बिखरने नहीं दिया । यह बात ध्यान देने योग्य है कि भारत सरकार ने राज्यों की सम्प्रभुता व शासकों के हितों की रक्षा करने का वचन दिया था ।

17.4.2 राजपूताना ऐजेन्सी का विघटन- देशी राज्यों के साथ अपनी संधियों की क्रियान्विति के लिये ब्रिटिश सरकार ने राज्यों में रेजीडेन्सी की स्थापना की थी । अप्रेल 1947 में रेजिडेन्ट कान्फ्रेन्स में रेजिडेन्ट व पोलिटिकल अफसरों को वापस केन्द्र में बुला लेने का निर्णय ले लिया गया । उनके द्वारा संपादित कार्यो को करने के लिये संयुक्त प्रशासनिक व्यवस्था बनाने का निर्णय लिया गया । राजपूताना में एक क्षेत्रीय आयुक्त का कार्यालय आबू में स्थापित किया गया जिसमें पूर्व में नियुक्त विशेषाधिकारी आयुक्त को कार्यभार संभला दिया । इस कार्यालय द्वारा केन्द्र व राज्यों के बीच राजनीतिक गतिविधियों के बीच समन्वय स्थापित किया गया । इस प्रकार केन्द्र ने किसी भी प्रकार की संवादहीनता से बचने के लिये यह सुनियोजित कदम उठाया ।

17.5 एकीकरण के विभिन्न चरण

केन्द्र सरकार की नीति छोटे राज्यों के समूहीकरण के पश्चात् उन्हें बड़े राज्यों में विलीन कर देने की रही । इनमें से हर समूह व हर राज्य के साथ अंगीकार पत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर किये गये ।

17.5.1 प्रथम चरण (17 मार्च 1948) -

सन् 1948 में महात्मा गांधी हत्याकांड में अलवर राज्य का नाम आने, राज्य में साम्प्रदायिक तनाव होने के कारण एवं भरतपुर राज्य में बिगड़ती हुई कानूनी व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए इन दोनों राज्यों का प्रशासन भारत सरकार द्वारा हस्तगत कर लिया गया । इनके समीपवर्ती राज्य धौलपुर व करौली ने पूर्व में ही अंगीकार पत्र पर हस्ताक्षर कर लिये थे । संघ के राज्यों ने 15 मार्च 1948 से पूर्व अपना प्रशासन राजप्रमुख को सौंप देने का निर्णय लिया । ये चारों राज्य भौगोलिक व सांस्कृतिक रूप से साम्य रखते थे । इसलिये इन्हें एक संघ में गठित करना तय किया गया । भविष्य में इन्हें अपनी आवश्यकतानुसार राजस्थान अथवा संयुक्त प्रान्त में विलय की स्वतंत्रता दी गई । श्री के.एम. मुशी ने ऐतिहासिक परिपेक्ष्य को ध्यान में रखते हुए इस संघ का नाम 'मत्स्य संघ' सुझाया जो कि

स्वीकार कर लिया गया । चारों राज्यों ने 28 फरवरी 1948 को एक प्रसंविदा पर हस्ताक्षर किये । धौलपुर के महाराजा इस संघ के अध्यक्ष व अलवर के शासक इसके उपाध्यक्ष बनाये गये । इस संघ को 'संयुक्त राज्य मत्स्य संघ' कहा गया ब इसके अध्यक्ष को "राज प्रमुख" का पदनाम किया गया । यह संघ 17 मार्च 1948 को अस्तित्व में आया और 18 मार्च को इसका उद्घाटन के केन्द्रीय मंत्री श्री वी.एन. गाडगिल ने किया । संघ के संविधान निर्माण के लिए एक संविधान निर्मात्री सभा का गठन किया गया । इस संघ का क्षेत्र 19,655 वर्ग किमी., जनसंख्या 18,37,994 व राजस्व 163 लाख रूपये वार्षिक था । संघ की सरकार का गठन 20 मार्च 1948 को श्री शोभाराम के नेतृत्व में किया गया । भारत सरकार की ओर से प्रशासनिक सहायता के लिये एक प्रशासक की नियुक्ति की गई । यह उत्तरदायित्व पहले श्री के. बी. एल. सेठ और फिर बाद में श्री के.बी.लाल ने संभाला । मत्स्य संघ के राजप्रमुख ने संघ की ओर से एक नया अंगीकार पत्र भारत सरकार के साथ किया जिसने पूर्व में चारों राज्यों के शासकों द्वारा किये गये अंगीकार पत्र का स्थान ले लिया । मत्स्य संघ 7 अक्टूबर 1948 को भारत संघ में सम्मिलित हो गया । यह स्वीकार किया गया कि भविष्य में भारत के भावी संविधान को मानने व लाग करने के लिये उसे बाध्य नहीं किया जायेगा ।

चारों शासकों को उनके निर्वहन के लिये प्रिवी पर्स का प्रावधान किया गया, जिसके तहत अलवर के शासक को 5,20,000 रूपये, भरतपुर के शासक को 5,02,000 रूपये, धौलपुर के शासक को 2,64,000 रूपये और करौली को 1,05,000 रूपये वार्षिक देना तय किया गया ।

17.5.2 द्वितीय चरण (25 मार्च 1948) -

राजस्थान के कुछ राज्यों ने दूरदर्शिता व व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाते हुए एक संघ अथवा समूह बनाने का निर्णय लिया । ये राज्य थे - बांसवाड़ा, बून्दी, डूंगरपुर, झालावाड किशनगढ़, कोटा, प्रतापगढ़, शाहपुरा व टोंक । किशनगढ़ व टोंक की सीमा संबंधी समस्या को पहले हल किया गया । इस प्रस्तावित संघ के संविधान निर्माण हेतु एक संविधान निर्मात्री सभा के गठन का प्रस्ताव किया गया जिसमें प्रति 1 लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि का चयन करना निश्चित हुआ । जागीरदारों के प्रतिनिधित्व व उनके विशेषाधिकारों पर भी पूरा ध्यान दिया गया ।

इसी बीच उदयपुर के महाराणा ने भी इस संघ में विलय के लिये अपनी रूचि दर्शाई । इस अवस्था में प्रस्तावित संघ का उद्घाटन निरस्त करना उचित नहीं माना गया । अत: 25 मार्च, 1948 को कोटा राज्य में श्री एन.वी. गाडगिल ने इस संघ का उद्घाटन किया । संघ में कोटा के शासक को राजप्रमुख, ली के शासक को वरिष्ठ उपराजप्रमुख व डूंगरपुर के शासक को कनिष्ठ राजप्रमुख बनाया गया । संयुक्त राजस्थान के इस संघ के राजप्रमुख को अपने उत्तरदायित्वों के सम्मानपूर्वक निर्वहन के लिये 5 लाख रूपये सालाना दिये गये । एक राज्य मंत्रीमण्डल का भी गठन किया गया जिसमें श्री गोकुल लाल असावा मुख्यमंत्री बने । सम्मिलित राज्यों की सेना संघ की सेना में विलीन कर दी गई । नये संघ का क्षेत्रफल 43,530 वर्ग किमी., जनसंख्या 23,34,220 व राजस्व 191 लाख रूपये था । नौ राज्यों के इस संघ की राजधानी कोटा को बनाया गया । 1 जून 1948 से पूर्व राजप्रमुख ने भारत सरकार के सत्य अंगीकार पत्र पर हस्ताक्षर करना स्वीकार किया ।

संघ में सम्मिलित विभिन्न राज्यों के शासकों का प्रिवी पर्स इस प्रकार रखा गया -

बांसवाड़ा	–	1,26,000 /-
बून्दी	–	2,81, -/ 000
डूंगरपुर	–	1,98,-/ 000
झालावाड़	–	1,36,-/ 000
किशनगढ़	–	1,36,-/ 000
कोटा	–	7,00,000-/
प्रतापगढ़	–	1,02,000-/
शाहपुरा	–	90,000-/
टोंक	–	2,78,-/ 000

17.5.3 तृतीय चरण (18 अप्रेल 1948) - उदयपुर के शासक ने पूर्व में संयुक्त राजस्थान में सम्मिलित होने की इच्छा व्यक्त की थी । राजस्थान के एक बडे राज्य द्वारा ऐसा कदम एकीकरण व विलय के लिये अत्यन्त शुभ संकेत था । रियासती विभाग ने इसे एक नया अवसर मानते हुए विदेश, दूर संचार व रक्षा विषयक मामलों पर एक नया अंगीकार पत्र तैयार करवाया । एक अन्य प्रसंविदा भी तैयार की गई जिसके तहत राजप्रमुख को अधिकृत किया गया कि वह संघीय व समवर्ती सूची के कुछ विषयों पर कानून बनाने के लिये उन्हें केन्द्रीय कार्यपालिका को समर्पित कर सकता था । यह प्रसंविदा (Covenant) 11 अप्रेल, 1948 को स्वीकृत हुआ । नवनिर्मित संघ का उद्घाटन 18 अप्रेल, 1948 को उदयपुर में पण्डित जवाहर लाल नेहरू ने किया । इस संघ की जनसंख्या 42,60,918 क्षेत्रफल 77,640 वर्ग किमी. व वार्षिक राजस्व 316 लाख रूपये था । उदयपुर इसकी राजधानी थी । वर्ष में विधानसभा का एक सत्र कोटा में आयोजित करना तय किया गया । कोटा के प्रशासनिक अधिकारी व कोटा सेना की इकाईयाँ पूर्ववत् कोटा में रखी गई । इसके अतिरिक्त वन विभाग का स्कूल, पुलिस प्रशिक्षण कालेज व एरोनोटिकल कालेज भी पूर्ववत् कोटा में ही रखे गये । कोटा में एक संभागीय आयुक्त का मुख्यालय खोलने का प्रावधान भी किया गया । संयुक्त राजस्थान के प्रतिनिधियों व स्थाई समिति (Standing committee) के साथ साथ राजपूताना रीजनल कौन्सिल के संसदीय बोर्ड की मीटिंग में यह तय किया गया कि श्री माणिक्यलाल वर्मा, जो भारतीय संविधान निर्मात्री सभा के सदस्य होने के साथ-साथ राजपूताना रीजनल कौन्सिल के महासचिव भी थे, इस नवनिर्मित संघ के मुख्यमंत्री बनेंगे।

इस प्रकार इन सब राज्यों ने भारत के साथ 31 गई, 1948 को एक "कावनेंट फार एसेशन" पर हस्ताक्षर किये जिसे गवर्नर जनरल ने 31 सितम्बर, 1948 को स्वीकृति प्रदान की । इससे पूर्व हस्ताक्षरित प्रसंविदा निष्क्रिय हो गई । इसकी धाराएं मत्स्य संघ द्वारा हस्ताक्षरित प्रसंविदा के समान ही थीं । उदयपुर के महाराणा भूपाल सिंह जी को दस लाख रूपये वर्षिक प्रिवी पर्स के रूप में दिये गये । पाँच लाख रूपये वार्षिक उन्हें राजप्रमुख के रूप में कार्य हेतु अतिरिक्त भले के रूप में दिये गये । संघ के राजस्व से उन्हें पाँच लाख रूपये धर्मार्थ व पुण्यार्थ कार्यो के लिये स्वीकृत हुए ।

इस संघ को भविष्य में निर्मित होने वाले संघों से पृथक पहचान के लिये पूर्व राजस्थान (Former Rajasthan) कहा गया ।

17.5.4 चतुर्थ चरण (30 मार्च 1949) - अब मात्र चार बडे राज्य, जयपुर, बीकानेर, जोधपुर व जैसलमेर ही राजस्थान संघ से बाहर थे । जैसलमेर के अतिरिक्त तीनों राज्य स्वयंसमर्थ (Viable) थे । इनको

स्वतंत्र अस्तित्व में रहने देने का खतरा भारत सरकार नहीं उठा सकती थी । केन्द्र सरकार की कूटनीति व स्थानीय प्रयासों के फलस्वरूप जनवरी 1949 में इन राज्यों ने एकीकरण की स्वीकृति प्रदान कर दी और वृहत्तर राजस्थान का स्वरूप सामने आया ।

मेवाड के महाराणा का इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान व जनमानस में उनके प्रति श्रद्धा को ध्यान में रखते हुए उन्हें आजीवन - महाराजप्रमुख का पद दिया गया । उन्हें 21 तापों की सलामी लेने का भी विशेषाधिकार मिला । जयपुर के शासक को आजीवन राजप्रमुख बनाया गया । वहीं जोधपुर व कोटा के शासकों को वरिष्ठ उपराजप्रमुख और बून्दी व डूंगरपुर के शासकों को कनिष्ठ उपराजप्रमुख पाँच वर्ष के लिये बनाया गया । बार राज्यों के नव सम्मिलित शासकों के प्रिवी पर्स भी निर्धारित किये गये जिसमें बीकानेर को 17 लाख रूपये, जोधपुर को 17.50 लाख रूपये, जयपुर को 18 लाख रूपये व जैसलमेर का 1.80 लाख रूपये वार्षिक स्वीकृत हुए । राजप्रमुख को5.50 लाख रूपये प्रति वर्ष भत्ता भी प्रदान किया गया ।

इस नये संघ का क्षेत्रफल 3,13,100 वर्ग कि.मी. व जनसंख्या 1, 12,00,000 थी । संघ का उद्घाटन जयपुर में सरदार बल्लभ भाई पटेल ने 30 मार्च, 1949 को किया । 7 अप्रेल, 1949 को जयपुर, जोधपुर, बीकानेर व जैसलमेर ने अपनी रियासत के प्रशासन को संघ के राजप्रमुख को हस्तान्तरित कर दिया । पूर्व राजस्थान के महाराज प्रमुख ने भी अपने संघ के प्रशासन को नव निर्मित संघ को हस्तान्तरित कर दिया । केन्द्र सरकार के रियासती विभाग की सलाह से इस संघ के मंत्रीमण्डल का गठन निम्न प्रकार से हुआ -

1. श्री हीरालाल शास्त्री (मुख्यमंत्री) - नियुक्ति, वित्त, सामान्य प्रशासन,राजनीतिक विभाग, राजस्व ।
2. श्री प्रेमनारायण माथुर - राह, शिक्षा, प्रचार, कारखाने जात, भ्रष्टाचार निरोध ।
3. श्री सिद्धराज ढढ्डा - वाणिज्य व उद्योग ।
4. श्री भूरेलाल बया - परिवहन, संचार, सार्वजनिक निर्माण ।
5. श्री रघुबर दयाल गोयल - खाद्य, वन, कृषि ।
6. श्री फूलचन्द बाफना - स्थानीय स्वायत्त स्वशासन ।
7. श्री वेदपाल त्यागी - न्याय व कानून, शरणार्थी पुर्नस्थापन ।
8. रावराजा हणूत सिंह - स्वास्थ्य, चिकित्सा व जेल ।
9. श्री नरसिंह कच्छावा - श्रम, सहकारिता व ग्रामीण पुनुरूत्थान ।
10. श्री शोभाराम - राजस्व, भू प्रबन्ध व भू रिकार्ड

इन 14 राज्यों ने 15 अप्रेल 1949 से पूर्व भारत सरकार में संघ के रूप में विलय होना स्वीकार किया । इसके साथ ही पूर्व में उनके द्वारा हस्ताक्षरित भारत सरकार के साथ प्रसंविदा (Covenant) निरस्त मानी गई ।

यह संघ बृहत्तर राजस्थान के नाम से जाना गया ।

17.5.5 पंचम चरण (15 मई 1949) - इस समय मत्स्य संघ को लेकर एक नया विवाद आरंभ हो गया था । मत्स्य संघ के राजस्थान अथवा संयुक्त प्रान्त में विलय को लेकर मतभेद व असमंजस की

स्थिति बनी हुई थी । जहाँ एक ओर अलवर व करौली राजस्थान में विलय के इच्छुक थे, वहीं धौलपुर व भरतपुर का मंतव्य स्पष्ट नहीं था । इस मुद्दे को सुलझाने के लिये एक समिति का गठन किया गया, जिसमें श्री शंकरराव देव (अध्यक्ष), श्री आर.के. सिंघल व प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका (सदस्य) थे । प्रश्नावली के द्वारा व आमसभा के जरिये लोगों का मत जानने के पश्चात् समिति ने राय दी कि आम राय मत्स्य संघ के राजस्थान में विलय के पक्ष में हैं । इस राय को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया । समिति ने यह भी सिफारिश की कि कुछ समय पश्चात एक नियमित जनमत संग्रह द्वारा जनता की सामान्य इच्छा का निर्धारण किया जाय ।

10 मई, 1949 को बृहत्तर राजस्थान के राजप्रमुख व मत्स्य संघ के बीच एक प्रसंविदा पर हस्ताक्षर हुए जिसमें 15 गई 1949 को तुरन्त प्रभाव से मत्स्य संघ का प्रशासन राजस्थान संघ को हस्तान्तरित कर दिया गया । संयुक्त संघ के राजप्रमुख ने प्रशासकीय सुविधा के लिये एक प्रशासक श्री के.बी. लाल की अस्थाई नियुक्ति की । कुछ समय पश्चात् श्री एन.आर. चंदोरकर प्रशासक बने । 23 नवम्बर, 1948 को एक घोषणा जारी कर राजप्रमुख ने कहा कि राजस्थान राज्य के हितों के लिये, जो कि शेष भारत से आर्थिक, राजनीतिक व अन्य क्षेत्रों से जुड़े हैं, यह उपयुक्त होगा कि भारत का भावी संविधान ही राजस्थान के राज्यों का भी संविधान होगा । यह संविधान लागू होने की तारीख से उन सभी संविधानों को प्रतिस्थापित व निरस्त करेगा जो राजस्थान के राज्यों में लागू थे । इस घोषणा से राजस्थान, देश के संविधान की परिधि में सम्मिलित हो गया ।

17.5.6 षष्टम चरण (1950) - सिरोही राज्य के प्रश्न को लेकर राजनीतिक हलकों में गहरे मतभेद थे । नवम्बर, 1947 में यह सुझाव दिया गया कि सिरोही का विलय गुजरात में कर दिया जाय क्योंकि उसके कुछ क्षेत्रों में गुजराती भाषी लोगों की बहुलता थी । 1 फरवरी 1948 को सिरोही को गुजरात स्टेट्स एजेन्सी के अधीन कर दिया गया । 19 मार्च 1848 को जब गुजरात का विलय बम्बई (मुम्बई) में किया गया तो 8 नवम्बर 1948 को सिरोही की महारानी के साथ समझौते द्वारा सिरोही एक केन्द्र शासित प्रदेश बन गया । 5 जनवरी, 1949 को बम्बई सरकार ने सिरोही का प्रशासन हस्तगत कर लिया जिसकी स्वीकृति भारत सरकार ने दी थी । दूसरी तरफ सिरोही में उत्तराधिकार का प्रश्न छिड चुका था । इस मुद्दे को सुलझाने के लिये एक समिति का गठन किया गया जिसमें जयपुर व कोटा के शासकों के अतिरिक्त सौराष्ट्र के श्री ए.वी. दिवातिया सदस्य थे । समिति ने अभय सिंह के उत्तराधिकार के दावे को वैध ठहराया । उन्हें 2,12,600 रूपये प्रति वर्ष प्रिवी पर्स के रूप में देना तय किया गया ।

शीघ्र ही सिरोही को राजस्थान में मिलाने का आन्दोलन खड़ा हुआ जिसका नेतृत्व श्री गोकुल भाई भट्ट ने किया । राज्य को दो भागों में बांटना प्रस्तावित था - बड़े भाग का विलय राजस्थान में व छोटे भाग का विलय बम्बई में किया जाना तय हुआ । इसकी क्रियान्विति स्टेट्स मर्जर एक्ट (बम्बई) 1950 के अधिनियम द्वारा हुई जो 25 जनवरी 1950 को लाग हुआ । 26 जनवरी 1950 को जोधपुर के कमिश्नर ने राजस्थान में विलय होने वाले भागों को अपने नियंत्रण में ले लिया । राज्य सरकार द्वारा 7 फरवरी 1950 को एक अधिसूचना जारी हुई जिसमें राजस्थान में सम्मिलित भागों का क्षेत्राधिकार विस्तार पूर्वक वर्णित किया गया । इसके अनुसार सिरोही के जो भाग बम्बई में शामिल

नहीं हुए थे, उन्हें राजस्थान का भाग समझा गया । ये क्षेत्र थे - शिवगंज तहसील, पिंडवाड़ा तहसील, सिरोही तहसील, भवरी तहसील के साथ ब्लाक-2 का क्षेत्र व आबू रोड की उत्तर दिशा का क्षेत्र ।

सिरोही शहर को जिले का मुख्यालय बनाया गया ।

17.5.7 सप्तम चरण (1956) - अपनी ऐतिहासिक व भौगोलिक विशिष्टता के कारण अजमेर सारे राजस्थान से पृथक ही रहा । राजपूताना राज्यों के विपरीत 2,417 वर्ग मील का यह क्षेत्र सन् 1818 से देश के स्वतंत्र होने तक सीधे ब्रिटिश सत्ता के अधीन था । एकीकरण की प्रकिया में यही क्षेत्र राजस्थान के बाहर रह गया था ।

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ऐसी चर्चाएं चली कि अजमेर मेरवाड़ा संभवत: संभावित राजस्थान संघ का हिस्सा बन जाये । परन्तु भारत सरकार ने इसे विशेष कारणों से केन्द्र शासित क्षेत्र ही रखा और एक परामर्शदात्री परिषद् की सहायता से यहां का चीफ कमिश्नर भारत सरकार के राह मंत्रालय के अधीन कार्य करता रहा । परन्तु शीघ्र ही परामर्शदात्री परिषद् व चीफ कमिश्नर के बीच वैधानिक एवं प्रशासनिक विवाद ने गंभीर रूप ले लिया और उनके बीच गतिरोध उत्पन्न हो गया जिससे संबंधित प्रश्न संसद में भी उठे । परामर्शदात्री परिषद् ने चीफ कमिश्नरपर गंभीर आरोप लगाये । परन्तु केन्द्र सरकार ने इन आरोपों को सही नहीं माना और यथास्थिति बनाये रखी । भारत सरकार द्वारा सन् 1951 में पार्ट-सी एक्ट पारित हो जाने पर उक्त विवाद का अन्त हो पाया । इस एक्ट के अनुसरण में 1952 में अजमेर राज्य विधान सभा के लिये निर्वाचन हुआ जिसमें 30 निर्वाचित सदस्य थे । श्री एच. वी. उपाध्याय अजमेर राज्य के मुख्यमंत्री बनाये गये । इन्होने 1956 तक यह पदभार संभाला । इसी बीच कई वार अजमेर के राजस्थान राज्य में विलय की चर्चाएँ चलती रही । इससे पहले भी 1948 में कांग्रेस दल की राजपूताना क्षेत्रीय परिषद् ने मार्च 1948 में नई दिल्ली में हुई अपनी बैठक में प्रस्ताव पारित किया कि अजमेर मेरवाड़ा को राजस्थान की अन्य रियासतों के साथ मिलकर एक इकाई बनाई जानी चाहिये । इसी प्रकार अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की सन् 1948 में 'महू' में हुई अजमेर पोलिटिकल कान्फ्रेन्स की बैठक में यही प्रस्ताव पारित किया गया । रियासतों की एकीकरण के समय भी इसे राजस्थान में मिलाकर इसे राजधानी बनाने की संभावना पर विचार किया गया । राजस्थान सरकार मी केन्द्र सरकार पर बराबर दबाव डाल रही थी कि अजमेर का विलय राजस्थान में कर दिया जाये।

29 दिसम्बर 1953 को भारत सरकार ने राज्य पुनर्गठन आयोग की स्थापना की । इस आयोग ने 23 फरवरी 1954 को आम जनता व विभिन्न राज्य सरकारों से 24 अप्रेल 1954 तक सुझाव व दावे पेश करने के लिये कहा । राजस्थान सरकार ने राज्य पुनर्गठन समिति (Fact finding) की नियुक्ति की जिसका कार्य राजस्थान द्वारा अध्यर्थ किये गये क्षेत्रों का पक्ष मजबूती से रखा था । साथ ही अन्य राज्यों द्वारा उन्ही क्षेत्रों का पक्ष मजबूती से रखना था । साथ ही अन्य राज्यों द्वारा उन्हीं क्षेत्रों पर की जाने वली दावेदारी को निरस्त करना था ।

अजमेर के मामले में राजस्थान सरकार ने अपने दावे के पक्ष में तर्क दिये कि भौगोलिक, वंश परम्पराओं व भाषाई दृष्टि से अजमेर सदा ही राजस्थान का भाग रहा है । ब्रिटिश शासन काल में राजनीतिक कारणों से इसे केन्द्र सरकार के अधीन रखा गया ताकि राजस्थान की रियासतों पर कड़ी नजर व नियंत्रण रखा जा सके । स्वतंत्रता के बाद बदले हुए पखिेश में इसको केन्द्र के अधीन रखने का औचित्य नहीं है । यह चारों ओर से राजस्थान के जिलों से घिरा है । यही के निवासियों व राजस्थान के निवासियों के रीति रिवाज, त्यौहार, तरीके. परम्पराएं, भाषा, संस्कृति व आदतें रहन-सहन, खान-पान,

आभूषण आदि एक जैसे हैं । राजस्थान पार्ट-बी राज्य होने के कारण अजमेर जो पार्ट-सी स्टेट है, के मुकाबले में अधिक विकासशील है । अत: अजमेर को इसमें विलय करने से न केवल अजमेर प्रशासन पर होने वाले व्यय में बचत होगी बल्कि अजमेर का विकास भी तेज गीत से होगा । इसके अलावा राजस्थान व अजमेर सीमा में कोई प्राकृतिक व भौगोलिक प्रतिरोध नहीं है । अत: अजमेर का राजस्थान के बीच में स्थित होकर भी अलग रहने का कोई औचित्य नहीं है । राज्य पुनर्गठन आयोग ने इन तर्को के आधार पर अजमेर को राजस्थान में विलय की अनुशंसा की जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया और 1 नवम्बर 1956 को इसका राजस्थान में विलय हो गया ।

इसी समय आबू रोड के कुछ इलाके व सिरोही राज्य की देलवाड़ा तहसील का प्रश्न भी उठ खड़ा हुआ । यद्यपि ये क्षेत्र बम्बई सरकार के अधीन थे व इन्हें गुजरात में मिलाये जाने की योजना थी, फिर भी इन्हें राजस्थान में विलय करने के लिये आन्दोलन आरंभ हो चुका था । सितम्बर 1952 में राज्य सरकार ने मुनि जिनविजय जी की अध्यक्षता में एक समिति गठित की जिसे आबू क्षेत्र की ऐतिहासिकता सामाजिक, सांस्कृतिक, भाषाई, आर्थिक और राजनीतिक परिपेक्ष्य की सामग्री एकत्र करने का कार्य सौंपा । राजस्थान प्रदेश कांग्रेस कमेटी ने भी "आबू कमेटी" का गठन किया । सरकार व जनता दोनों चाहते थे कि आबू का क्षेत्र राजस्थान में आ जाय ।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम 1956 के अनुसार, राजस्थान राज्य का 'पार्ट-बी" का दर्जा समाप्त किया गया । 1 नवम्बर 1956 को राजस्थान राज्य का गठन व एकीकरण पूर्ण हुआ । उसके क्षेत्र में अब निम्नलिखित प्रदेश व भू भाग शामिल थे -

(अ) राजस्थान में स्थित सभी पूर्व रियासतें, सिर्फ कोटा राज्य के सिरीज उपखण्ड को छोड़ कर जो मध्य प्रदेश का भाग बन चुका था ।

(ब) पूर्व अजमेर राज्य का क्षेत्र ।

(स) पूर्व बम्बई राज्य का आबू तालुका ।

(द) पूर्व मध्य भारत का सुनेल टप्पा क्षेत्र ।

अब राजस्थान का क्षेत्रफल 3,42,429 वर्ग किमी था और वह देश का तीसरा सबसे बड़ा राज्य बन गया था ।

17.6 राजधानी का प्रश्न

रियासतों के एकीकरण के फलस्वरूप बनने वाले राजस्थान की राजधानी कही रखी जाये, यह सन् 1948-49 के दौरान एकीकरण के समय एक महत्वपूर्ण प्रश्न था । केन्द्र सरकार के रियासती विभाग ने राजस्थान की राजधानी के चयन के लिये एक समिति गठित की जिसमें चार शहरों की दावेदारी पर विचार किया गया । ये राज्य थे - जयपुर, जोधपुर, अजमेर व उदयपुर । समिति में श्री बी.आर पटेल (मुख्य सचिव पटियाला व ईस्ट पंजाब) अध्यक्ष, ले. कर्नल टी.सी. पुरी व श्री एपी. सिन्हा (सदस्य) थे । इस समिति ने 12 मार्च 1949 से कार्य करना आरंभ किया । समिति के सामने विचारणीय योग्य विभिन्न मुद्दे थे जैसे प्रशासनिक सुविधा, भवनों की उपलब्धता जलवायु पेयजल की सुविधा, बिजली व अन्ध सुविधाएं ।

राज्य के केन्द्र में स्थित होने और भविष्य में राजस्थान में विलय की संभावना के बावजूद अजमेर की दावेदारी, पर्याप्त पेयजल की अनुपलब्धता व आवासीय समस्या के कारण निरस्त कर दी गई ।

उदयपुर अपनी जलवायु व नयनाभिराम प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण एक प्रबल दावेदार था, किन्तु आवासीय समस्याएं, पर्याप्त पेयजल, तार, फोन व सड़क परिवहन की कमी के कारण वह इस दौड में पिछड गया । चुनाव अब जयपुर व जोधपुर के बीच था ।

समिति ने निर्णय लिया कि जयपुर में उपलब्ध विभिन्न सुविधाएं जैसे चौड़ी सड़के, आवास उपलब्धता, भूमिगत जल निकासी व्यवस्था व बेहतर दूर संचार सुविधाएं, उसके राजधानी बनने में सहायक थी और अंततः जयपुर को राजस्थान की राजधानी घोषित कर दिया गया । यद्यपि समिति का निर्णय निर्विरोध व निर्विवाद नहीं था । अजमेर के विलय के बाद राजधानी का प्रश्न फिर उठाया गया क्योंकि अजमेर शासकीय हलकों में यह भावना व्याप्त थी कि जयपुर को राजधानी बनाने का निर्णय अस्थायी था । अजमेर राज्य सरकार द्वारा सशक्त तर्क राजधानी के पक्ष में भारत सरकार के गह मंत्रालय को दिये गये जिसने जुलाई 1957 में पी. सत्यनारायण राव की अध्यक्षता में राजस्थान कैपिटल इन्क्वायरी कमेटी गठित की । परन्तु पहले का निर्णय यथावत रहा ।

7 अप्रेल 1949 को रियासती विभाग के परामर्श के अनुसार श्री हीरालाल शास्त्री के नेतृत्व में सरकार का गठन किया गया । सरकार के संचालन के लिये कई सलाहकार केन्द्र सरकार द्वारा भी नियुक्त किये गये ।

इस प्रकार राजस्थान का एकीकरण पूर्ण हुआ । इस भागीरथी प्रयास के सफल होने में सर्वाधिक श्रेय केन्द्रीय गृहमंत्री सरदार बल्लभ भाई पटेल व उनके विभाग के सचिव श्री बी.पी. मेनन को दिया जा सकता है जिन्होने समय की नब्ज पहचानते हुए कभी नरमी और कभी "रक्त व लौह नीति" (Blood and Iron) का पालन किया ।

श्री वी.पी. मेनन के अनुसार "हमने राज्यों के हित व शेष भारत के हितों के बीच खडे सारे कृत्रिमअवरोध नष्ट कर दिये और एकीकृत प्रशासनिक व वित्तीय प्रशासन की नींव डाली ।"

17.7 सारांश

स्वतंत्रता प्राप्ति के समय भारत दो भागों में विभाजित था - ब्रिटिश भारत व देशी राज्यों का भारत । भारत सरकार की सबसे बडी चुनौती यह थी कि किस प्रकार देशी राज्यों का विलय व एकीकरण किया जाये । इसके लिये उन्होने सबसे पहले अंगीकार पत्र व यथास्थिति समझौते का सहारा लिया । राजस्थान में छोटे राज्यों का समूहीकरण करके उन्हें एक संघ में एकीकृत किया गया । साथ ही विघटनकारी शक्तियों को यह भी स्पष्ट कर दिया कि उनके स्वतंत्र अस्तित्व अथवा पाकिस्तान के साथ विलय की कोई संभावना नहीं है । इस प्रकार छोटे राज्यों के समूहीकरण के बाद बनाये गये संघो को एकीकृत कर दिया । राजस्थान के कुछ भाग जो एकीकरण की प्रक्रिया से बाहर रह गये थे, उन्हें 1956 में राज्य पुनर्गठन अधिनियम के तहत राजस्थान में लाया गया ।

17.8 बोध प्रश्न

1. राजस्थान के एकीकरण में क्या बाधाएं थी? (150 शब्द)
2. राजस्थान के एकीकरण के विभिन्न चरणों को सविस्तार समझाइये । (150 शब्द)

3. सन् 1958 में किन क्षेत्रों का राजस्थान में विलय हुआ? (150 शब्द)

4. अजमेर - मेरवाड़ा के राजस्थान में विलय पर संक्षिप्त टिपणी लिखिए । (150 शब्द)

17.9 संदर्भ ग्रन्थ

1. 'वर्तमान राजस्थान' (1948) -चौधरी, रामनारायण
2. 'सरदार पटेल्स कारस्पोंडेन्स' -दुर्गा दास (संपादित)
3. 'हमारा राजस्थान' (1950) -मेहता, पृथ्वीसिंह विद्यालंकार
4. 'द स्टोरी आफ द एंटीग्रेशन आफ द इंडियन स्टेट्स'(1961) -मेनन, वी.पी
5. 'पीपल, प्रिस एण्ड पैरा माउंट पावर' (1978) (संपादित) -रोबिन जेफरी
6. 'स्केचस आफ रिलेशंस सबसिस्टिंग बिटवीन ब्रिटिश गवर्नमेन्ट इन इण्डिया एण्ड डिफरेंट नेटिव स्टेट्स (1988) -सदरलैंड जे.
7. 'द कांग्रेस पार्टी इन राजस्थान एण्ड इंस्टीट्यूशनल बिल्डिंग इन एन इण्डियन स्टेट (1970) -पोलिटिकल इंटीग्रेशन -सिसन रिचर्ड
8. "पोलिटिकल अवेकनिंग एण्ड इण्डियन फीडम मूवमेंट. विद स्पेशल रेफरेन्स दू राजस्थान'(1993) -शर्मा, गोपीनाथ व वशिष्ठ, वी.के
9. "द किंग्स एलाइस - द राजास एण्ड देवर इण्डिया(1016) -संत निहाल सिंह
10. 'ट्रांसिशनफ्राम फ्यूडीलजस्म दू डेमोकेसी (2000) -शर्मा, निधि
11. व्यूजस एण्ड सजेशन्स ऑफ राजस्थान गर्वरमेन्ट दू द स्टेट्स रीआरगनाइजेशन कमेटी (1954)

इकाई - 18

राजस्थान में महिलाओं की स्थिति तथा उनके उत्थान के प्रयास (Position of Women in Rajasthan and measures for the amelioration of their condition)

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 राजस्थान की सामाजिक संरचना में स्त्री

- 18.2.1 पितृसत्तात्मक एवं संयुक्त परिवार में स्त्री
- 18.2.2 वर्ण एवं जाति व्यवस्था में स्त्री
- 18.2.3 संस्कार और स्त्री
- 18.2.4 शिक्षा व्यवस्था और स्त्री
- 18.2.5 सामन्तवादी ढाँचे में स्त्री
- 18.2.6 अर्थव्यवस्था और स्त्री

18.3 राजस्थान में स्त्रियों से जुडी कुप्रथायें

- 18.3.1 कन्यावध
- 18.3.2 बालविवाह
- 18.3.3 बहु विवाह
- 18.3.4 पर्दाप्रथा
- 18.3.5 विधवादहन एवं जौहर
- 18.3.6 विधवा जीवन
- 18.3.7 डाकन, दासी एवं अन्य प्रथायें

18.4 मध्यकाल, भक्ति आन्दोलन और स्त्री

18.5 अनुभागीय सारांश

18.6 बोध प्रश्न-1

18.7 राजस्थान में सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता

18.8 स्त्री उत्थान के प्रयास

- 18.8.1 विधवादहन पर प्रतिबन्ध
- 18.8.2 कन्यावध पर प्रतिबन्ध
- 18.8.3 त्यागप्रथा का नियमन
- 18.8.4 डाकन प्रथा पर रोक
- 18.8.5 मानव व्यापार पर प्रतिबंध

18.8.6 विवाह सम्बन्धी नियम
18.8.7 विधवा विवाह
18.8.8 आर्यसमाज के प्रयास
18.8.9 स्त्री शिक्षा
18.8.10 आजादी के आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी
18.9 सारांश
18.10 बोध प्रश्न-2
18.11 संदर्भ ग्रन्थ

18.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि -

- सामाजिक संरचना ने राजस्थान की महिलाओं की स्थिति को कैसे प्रभावित किया?
- राजस्थान में महिलाओं से जुड़ी कुप्रथायें कौन-कौन सी थी?
- किन कारणों से राजस्थान में सामाजिक परिवर्तन व गतिशीलता आई?
- महिलाओं के उत्थान के लिये कौन-कौन से प्रयास हुये?

18.1 प्रस्तावना

भारत के समान ही राजस्थान का पारिवारिक तथा सामाजिक ढाँचा भी वर्णाश्रम, पितृसत्तात्मक संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ण-जाति, संस्कार आदि के आधार पर विकसित हुआ था । वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति तुलनात्मक रूप से अच्छी थी लेकिन धीरे-धीरे इसमें लगातार गिरावट आती गई । इसके लिये सामाजिक संरचना में विद्यमान पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण तो जिम्मेदार था ही, समय के साथ विकसित हुयी कुप्रथाओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । इनमें कन्यावध, बालविवाह, बहुपत्नी प्रथा, पर्दा, विधवादहन तथा जौहर, विधवा जीवन, डाकन, दासी एवं अन्य कई प्रथायें उल्लेखनीय हैं । राजस्थान के संदर्भ में महत्वपूर्ण बात यह है कि सामन्तवादी व्यवस्था ने स्त्रियों के जीवन को चार दीवारी में समेट दिया जबकि निम्न तथा आदिवासी वर्ग की स्त्रियों को अधिक स्वतंत्रता प्राप्त थी ।

मध्यकाल में भक्ति आन्दोलन समता का संदेश लेकर आया । राजस्थान में भी मीरा, सहजोबाई जैसी कई संत महिलायें हुयी लेकिन यह संदेश आध्यामिक जगत तक सिमट कर रह गया । 19वीं सदी में राजस्थान की रियासतों द्वारा ब्रिटिश सर्वोच्चता स्वीकार कर लेने के बाद परिवर्तन व गतिशीलता आई । राष्ट्रीय आन्दोलन का भी असर आया जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं के उत्थान के लिये प्रयास आरम्भ हुये । आर्य समाज ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । ब्रिटिश सरकार की पहल पर विधवादहन, कन्यावध, बालविवाह, डाकन आदि प्रथाओं को कानून द्वारा रोका गया । स्त्री शिक्षा के लिये विद्यालय खोले गये । राजस्थान की महिलाओं ने बड़े पैमाने पर राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लिया । इस इकाई में हम इन सब मुद्दों पर विस्तार से चर्चा करेगें ।

18.2 राजस्थान की सामाजिक संरचना में स्त्री

राजस्थान में महिलाओं की स्थिति को जानने के लिये हमें राजस्थान की सामाजिक संरचना और सामाजिक जीवन को समझना होगा । मोटे तौर पर सारे देश की सामाजिक संरचना वैदिककाल से ही जिन अवस्थाओं के आधार पर विकसित हुयी उनमें वर्णाश्रम, संयुक्त परिवार प्रणाली, वर्ण जाति, संस्कार आदि प्रमुख है । इन अवस्थाओं को समय समय पर धर्म शास्त्रों द्वारा वैधता प्रदान की गई । राजस्थान के पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का मूल ढाँचा भी इसी आधार पर विकसित हुआ था, जिसके मध्यकाल तक आते-आते हमें कई प्रमाण मिलने लगते हैं ।

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्री का दर्जा बहुत ऊँचा था । ऐसी मान्यताओं को यथार्थ की कसौटी पर कसने की आवश्यकता है । वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति अपेक्षाकृत अच्छी थी । इस काल में स्त्रियों को प्राप्त शिक्षा के अधिकार विवाह की आयु गृहस्थ जीवन में प्राप्त सम्मानजनक उत्थान, नियोग प्रथा, सार्वजनिक जीवन तथा धार्मिक क्रियाकलापों में उनकी भागीदारी आदि बातों से उनकी बेहतर स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है लेकिन वैदिककालीन समाज में दिखाई पड़ने वाली सामाजिक गति आगे आने वाले काल में धीमी पड़ती गई । धर्मसूत्र, स्मृति एवं महाकाव्य व पुराण काल के लम्बे दौर में कई ऐसे बदलाव हुये जिनसे स्त्रियों की स्थिति गिरती चली गई । इस काल का विशेष महत्त्व इस कारण है कि स्मृतिकार मनु ने इसीकाल में हिन्दू समाज के लिये ऐसा लौह ढाँचा बनाकर स्थापित कर दिया जो अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक अटल रहा ।

मध्यकालीन राजस्थान में एक ओर सामन्तवादी संरचना मजबूत हुयी दूसरी ओर मुस्लिम आक्रमण हुये और दोनों तत्वों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से महिलाओं को गिरती स्थिति की ओर गीत प्रदान की ।

सर्वप्रथम हम राजस्थान की सामाजिक तथा पारिवारिक संरचना में महिलाओं की स्थिति का अध्ययन करेगें ।

18.2.1 पितृसत्तात्मक एवं संयुक्त परिवार में स्त्री

समाज की मूल इकाई के रूप में परिवार का विकास हुआ है। आहड और कालीबंगा सभ्यता के अवशेषों से प्राप्त जानकारी के आधार पर विद्वानों का अनुमान है कि उस युग में राजस्थान में सम्भवत: मातृसत्तात्मक परिवार प्रथा रही होगी । लेकिन कालान्तर में कृषि युग की प्रधानता के साथ ही पितृसत्तात्मक परिवार की प्रथा होती गई । कृषिजीनत आवश्यकता ने ही, भारत के अन्य भागों की तरह राजस्थान में संयुक्त परिवार प्रणाली के विकास का आधार तैयार किया । इस प्रणाली में पिता परिवार का मुखिया होता था और पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ, पौत्र, भाई, भतीजा, चाचा-चाची सब एक छत के नीचे रहते थे ।

पितृसत्ता तथा संयुक्त परिवार ने महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया । पितृसत्ता में आरम्भ से ही कन्या का जन्म उल्लास का प्रसंग नही माना जाता था लेकिन कन्या जन्म होने पर उसके विकास की उपेक्षा भी नही की जाती थी । कालान्तर में कन्या जन्म एक आपत्ति समझा जाने लगा । संयुक्त परिवार निःसन्देह परस्पर सहयोग, उत्तरदायित्व तथा आर्थिक सम्पन्नता की दृष्टि से लाभकारी सिद्ध हुये किन्तु इन परिवारों में स्त्रियों की स्थिति बड़ी हीन होती थी । वहाँ उनके विचारों तथा स्वतंत्रता के लिये कोई स्थान नही होता था, यद्यपि उनकी मूलभूत भौतिक आवश्यकतायें पूरी

की जाती थी । परिहार के मुखिया की सत्ता तथा छत्रछाया में जीवन बिताने वाली इन स्त्रियों को ही उसका कटु अनुभव होता था । एक ओर सास-बहू देवरानी-जिठानी, ननद-भोजाई के आपसी कलह और संघर्ष थे तो दूसरी ओर बाल्यावस्था से ही लड़कियों को सब कुछ सहन करने का प्रशिक्षण । परिणामस्वरूप संयुक्त परिवारों में स्त्रियों का जीवन अवरूद्ध तथा कुंठित हो जाता था । ऐसे परिवेश में स्त्रियों के व्यक्तित्व के स्वतंत्र तथा यथायोग्य विकास के अवसर नहीं थे । पितृसत्ता तथा जटिल संयुक्त परिवार प्रणाली में स्त्री समानता के लिए कोई स्थान नहीं था ।

18.2.2 वर्ण एवं जाति अवस्था में स्त्री

वैदिककाल काल से ही हमारी सामाजिक संरचना चार भागों में विभाजित थी जिसे वर्ण व्यवस्था कहा जाता है । श्रेणीक्रम पर आधारित इस वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणों का दायित्व ज्ञान का सृजन व यज्ञों का सम्पादन करना था । क्षत्रिय प्रशासन व युद्ध का दायित्व सँभालते थे । व्यापार, कृषि व पशुपालन का काम वैश्यों का था और शूद्र का मुख्य दायित्व उपर्युक्त तीनों वर्णो की सेवा करना था । यही वर्ण व्यवस्था आगे चल कर जन्म पर आधारित असंख्य जातियों और उपजातियों में विभाजित हो गयी । इस बात के प्रमाण हम हमारे जीवन में ही नहीं, तत्कालीन पुरालेखों तथा साहित्यिक दस्तावेजों में प्रचुर मात्रा में पाते हैं । वर्ण एवं जाति पर आधारित राजस्थान की सामाजिक संरचना ने स्त्री की स्थिति को निर्णायक रूप से प्रभावित किया है इसलिये महिलाओं की स्थिति को जानने के लिये हमें जाति अवस्था की प्रकृति को समझना आवश्यक है ।

वर्ण जाति श्रेणी क्रम में सर्वोच्च स्थान ब्राह्मणों का था और निम्नतर स्थान शूद्रों का । कसाई, चमार, बलाई, रेगर, भंगी, भाँभी आदि जातियाँ अछूत समझी जाती थी । इन जातियों एवं उपजातियों में अपनी उच्चता स्थापित करने के लिए आंतरिक होड मची रहती थी । खान-पान तथा आचार सम्बन्धी नियम भी जाति की स्थिति के अनुसार होते थे । धार्मिक तथा नागरिक अधिकारों का उपभोग तथा प्रतिबन्ध जाति के अनुसार था । जन्म पर आधारित होने के कारण जातियों के धंधे तथा व्यवसाय वंशानुगत होते थे जिसमें व्यक्ति की निजी इच्छा और योग्यता के लिये स्थान नहीं था । विवाह के सम्बन्ध में भी जातिगत कठोर नियम थे । एक जाति ही नहीं उपजाति के सदस्य का विवाह दूसरी उपजाति के सदस्य से नहीं हो 'सकता था । खान-पान तथा विवाह सम्बन्धी इन नियम निषेधों को आंचलिक भाषा में 'रोटी तथा बेटी का व्यवहार' कहा जात। था । ऊपर के तीन वर्ण और उनसे सम्बन्धित जातियों को सवर्ण तथा शूद्र जातियों को सवर्ण कहा जाता था।

वर्ण तथा जाति के नियमों का प्रावधान हमारे धर्मशास्त्रों में किया; गया था जिसने राजस्थान में भी स्त्रियों का जातिगत आधार पर स्थान निर्धारित किया था । जैसे यदि कोई शूद्र उच्च वर्णो की किसी नारी के साथ व्यभिचार करता था तो उसका अंग काटने तथा सम्पत्ति जज करने का प्रावधान था किन्तु ब्राह्मण नारी के साथ सहमति या असहमति से सहगमन करने पर प्राणदण्ड का प्रावधान था । दूसरी और उच्च वर्ण के सदस्य द्वारा निम्न वर्ण की स्त्री के साथ सहगमन को गंभीर नहीं माना जाता था ।

जाति के कठोर साँचे में बन्द समाज में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए कोई स्थान नहीं था । जातिगत नियम- निषेधों के पालन के लिए जातिगत पंचायतें होती थी जो खान-पान, विवाह, व्यभिचार आदि के

सम्बन्ध में धर्मशास्त्रों द्वारा निर्धारित मानदंडों के अनुसार फैसला करती थी । यही कारण हैं कि राजस्थान में भी देश के अना भागों की तरह, स्त्रियों का स्थान गौण था । बल्कि दलित वर्ग की स्त्री दोहरे दमन का शिकार थी -एक स्त्री के रूप में वंचना दूसरे शूद्र के रूप में । जाति व्यवस्था में बँटी स्त्री की सामाजिक-सांस्कृतिक स्थिति भी उसी के अनुसार अलग-अलग थी । सभ्य, भद्र तथा ऊँचे माने जाने वाले ब्राह्मण तथा राजपूत वर्ग की स्त्रियों की अपेक्षा अन्य वर्गों की स्त्रियाँ अपेक्षाकृत स्वंतत्र थी क्योंकि कृषि तथा व्यवसाय गत उत्पादन की प्रक्रिया में उनकी सीधी भागीदारी होती थी।

लेकिन सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से दलित महिलाओं की स्थिति 'दासियों और रखैलों' जैसी थी । निम्न वर्ग की नारी का शोषण उस वर्ग तक हो सीमित नहीं था । निम्न वर्ग की स्त्री के साथ उच्च वर्ग के पुरूष द्वारा विवाह कर लेने या अपने घर में रख लेने पर उसे जाति द्वारा बहिष्कृत कर दिया जाता था किन्तु बिना घर में रखे, सहगमन के लिए दलित महिलायें सस्ती और सुलभ समझी जाती थी । वस्तुत: निम्न और दलित वर्ग की महिला राजस्थान में मर्दवाद तथा वर्णवाद दोनों की शिकार रही ।

18.2.3 संस्कार और स्त्री

संस्कार वह है जिसके होने से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के लिये योग्य हो जाता है अर्थात् संस्कार दे क्रियायें और रीतियाँ हैं जौ योग्यता प्रदान करती है । पी.वी. काणे के अनुसार, प्राचीन काल से ही व्यक्ति के विकास तथा सुषुप्त शक्तियों के आविर्भाव के लिए संस्कारों को अनिवार्य माना गया है । मनुष्य जीवन गर्भाधान से शुरू होता है और श्मशान में समाप्त होता है । ये प्रमुख 16 संस्कार हैं जिनको केवल द्विज जातियाँ ही कर सकती थी, शूद्रों को संस्कार सम्पन करने का अधिकार नहीं था । ये 16 संस्कार थे - गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकर्म, कर्णबेध, विद्यारम्भ, उपनयन, वेदारम्भ, केशान्त समावर्तन, विवाह एवं अन्त में मृतक संस्कार ।

धर्मशास्त्रों द्वारा इन विभिन्न संस्कारों के जो उद्देश्य निर्धारित किये गये, यदि संक्षेप में हम उन पर प्रकाश डालेगे तो स्पष्ट होगा कि किस ये संस्कार पितृसत्ता के वाहक एवं संरक्षक थे, जैसे गर्भाधान संस्कार का उद्देश्य स्वस्थ भ्रूण का निर्माण करना था किन्तु पुंसवन संस्कार का तो उद्देश्य ही पुत्र शिशु की प्राप्ति था और सीमन्तोन्नयन : संस्कार स्वस्थ, दृष्ट-पुष्ट त था वीर बालक की प्राप्ति के लिये किया जाता था । इसी प्रकार चूड़ाकर्म संस्कार जिसमें सिर मुण्डवा कर एक चोटी छोड़ दी जाती थी, का सम्बन्ध भी बालक से था, बालिका से नहीं । जीवन के बौद्धिक विकास से सम्बन्धित ज्ञान तथा प्रकाश प्रदान करने वाले शिक्षा से जुड़े सभी संस्कारों जैसे विद्यारम्भ, उपनयन, वेदाध्ययन तथा समावर्तन के वैदिक मंत्रों के साथ संस्कार सम्पादन के सारे अधिकारों से स्त्रियों को वंचित कर दिया गया । स्त्रियों के विवाह तथा अंत्येष्टि संस्कार अवश्य होते थे किन्तु विवाह संस्कार के प्रमुख उद्देश्यों में से एक पुत्र प्राप्त करना ही था और अंत्येष्टि कर्म तो पुत्र के हाथों से ही सम्पन्न होता था ।

इस प्रकार व्यक्ति के विकास, स्वास्थ्य, उन्नति तथा सुसंस्कृत बनाने वाले संस्कारों का मुख्य सम्बन्ध पुरुषों से था और पुरूषों में भी शूद्रों को इनसे वंचित कर दिया गया था । धर्मशास्त्रों में संस्कारों के जो पुरूष प्रधान प्रावधान किये गये थे, राजस्थान का समाज भी उसका अपवाद नहीं था । राजस्थानी साहित्य में सीमन्तोन्नयन, नामकरण, उपनयन विवाह तथा अंत्येष्टि संस्कारों का उल्लेख प्रचुर मात्रा

में मिलता है । पुत्र के लिये विशेष रूप से किये जाने वाले संस्कारों के अलावा जो शेष संस्कार पुत्रियों के लिये किये भी जाते थे तो वे गौण ही थे । हाँ, इन तमाम संस्कारों के आयोजन के समय राजस्थान की स्त्रियाँ गीत गाकर इन्हें रोचक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका अवश्य निभाती थी ।

हमारे यहाँ मोक्ष प्राप्ति का मार्ग पुत्र प्राप्ति की अनिवार्यता से होकर गुजरता है । मोक्ष के लिये जिन तीन ऋणों को चुकाना आवश्यक है, उनमें पितृऋण से मुक्ति पुत्र प्राप्ति के बाद ही सम्भव है । वस्तुत: भारतीय संस्कृति की बनावट तथा बुनावट जिन प्रमुख व्यवस्थाओं मान्यताओं, संस्कारों तथा सामाजिक व्यवहार पर आधारित है, राजस्थान की समाज एवं संस्कृति उसी का महत्वपूर्ण हिस्सा है । अत: राजस्थान में महिलाओं की स्थिति का निर्धारण भी जाति, वर्ण, संस्कार, पुरूषार्थ ऋण आदि की उपर्युक्त पितृसत्तात्मक अवधारणाओं के आधार पर ही हुआ था । इस संरचना में स्त्री कई वर्गो में बँटी हुयी थी । जाति धर्म जनजाति एवं आर्थिक स्थिति के अनुसार स्त्रियों की स्थिति में भिन्नतायें थी । स्त्री को कतिपय रूपों में उसे सम्मान तो मिल सकता था किन्तु समानता नहीं । उल्लेखनीय है कि दलित महिलायें इस व्यवस्था में सर्वाधिक हीन अवस्था में थीं ।

18.2.4 शिक्षा व्यवस्था और स्त्री

विश्वसनीयता और व्यवस्थित आकड़ों के अभाव में प्राचीन राजस्थान में शिक्षा व्यवस्था का आकलन करना मुश्किल है । 'मुधमालती' में शिक्षा को अनन्त ज्ञान और आजीविका का स्रोत बताया गया है । राजस्थान की कई रियासतों में प्राथमिक शिक्षा के विद्यालय थे जिन्हें उपासरा मठ, पटशाला, पोसाल पाठशाला मदरसा, मकतब आदि कहते थे । पितृसत्तात्मक परिवार की संरचना में पिता भी वंशानुगत रूप से अपने बेटों को शिक्षा देता था । वंशानुगत व्यवसायों का तो आधार ही पारिवारिक शिक्षा थी ।

प्राथमिक शिक्षा के मुख्य विषय थे - लिखना, पढ़ना. गणना आदि । आगे की शिक्षा में पुराण तर्कशास्त्र,ज्योतिष, खगोलशास्त्र, नीतिशास्त्र, चाकरण, गणित, औषधि विज्ञान आदि पढाये जाते थे । लेकिन ज्ञान तथा पाण्डित्य की भाषा संस्कृत होने के कारण कुछ बनिया ओर ब्राह्मण को छोड़कर, बाकी राजस्थानी पढ्ने लिखने में असमर्थ थे ।

जहाँ तक स्त्री शिक्षा का सकल है, हम जानते हैं कि वैदिक काल में उपनयन संस्कार के साथ स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का समान अधिकार था लेकिन इसके बाद धीरे-2 उन्हें इससे वंचित किया जाने लगा । मध्यकाल तक आते-2 राजस्थान में महिलाओं से सम्बन्धित कई ऐसी प्रथाएँ प्रचलन में आयी जिनसे वे शिक्षा प्राप्त करने के अवसर खोती चली गई । वस्तुत: सामान्य व्यक्ति अपनी बेटी को शिक्षा के लिये नहीं भेजता था । अत: बहुसंख्यक महिला वर्ग शिक्षा से वंचित रह गया । राजस्थान में लडकियों के लिए अलग पाठशालायें न ही थी । हाँ, मध्यमवर्ग तथा शाही परिवार की स्त्रियों के पढ्ने के लिये घर पर शिक्षक बुलाकर पढ़ाने की व्यवस्था की जाती थी लेकिन उन वर्ग की इन महिलाओं की शिक्षा के विषय भिन्न थे । इन्हें खास तौर पर नृत्य, संगीत, चित्रकला जैसे अपेक्षाकृत कोमल विषयों की शिक्षा दी जाती थी । बाल विवाह के आग प्रचलन ने भी राजस्थान लें स्त्री शिक्षा में बडी बाधा डाली।

18.2.5 सामन्तवादी ढाँचे में स्त्री

राजस्थान के सभी राज्यों में सामन्तवादी व्यवस्था थी जिसने स्त्रियों की स्थिति को निर्णायक रूप से प्रभावित किया । सामन्तवाद राजपूत प्रशासनिक ढाँचे की रीढ़ था जिसमें वंश का प्रमुख राजा होता था और उसके वंशज या अन्य राजपूत वर्ग के वंशज उसके सहयोगी होते थे जिन्हें जागीरें दी जाती थीं । इन जागीरदार अथवा सामन्तों का अपनी जागीर में रहने वाली जनता पर सीधा प्रभावी अंकुश था ।

सामन्त अपने अधीन रहने वाली जनता से कई प्रकार के कर वसूल करते थे तथा कई प्रकार की बेगार करवाते थे । किन्तु जनता इसका विरोध नहीं कर सकती थी । मूलत: कृषि व्यवस्था के अर्थतंत्र पर टिकी यह व्यवस्था अनुदार, गतिहीन तथा निरंकुश थी । ऐसी निरंकुश व्यवस्था में स्त्रियों की स्थिति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सामन्ती नैतिकता नारी और भूमि को एक दृष्टि से देखती थी । इसमें 'पृथ्वी माँ और मै इसकी संतान' का सिद्धान्त 'वीरभोग्या वसुंधरा' में बदल गया । भूमि दान की जाती थी तो स्त्री भी दान की जाती थी । सामन्ती व्यवस्था में नारी का रूप बहुत कुछ धन की तरह भोगने योग्य वस्तु का हो गया । राजा व सामन्त की कई पत्नियाँ व रखेलें होती थीं और इसी सामन्तवाद में से कन्यावध, सती प्रथा और विधवा की विकराल समस्यायें पैदा हु यी जिन्होनें स्त्री को चारदीवारी में बंद कर पूर्ण रूप से पुरूषों पर आश्रित बना दिया । इन सब समस्याओं पर हम आगे विस्तार से प्रकाश डालेगे । यहाँ केवल इतना समझना आवश्यक है कि सामन्तवादी व्यवस्था स्त्री की स्वतंत्रता, समानता तथा अधिकारों के विरूद्ध लोहआवरण की तरह खड़ी थी ।

18.2.6 अर्थव्यवस्था और स्त्री

यदि हम सम्पत्ति के अधिकार की बात करें तो यहाँ भी हमें पितृसत्ता दिखाई देती है । यास्क ने स्पष्ट उलेख किया है कि पुत्र न होने पर पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी पुत्री को ही माना जाये । कालान्तर में स्त्री को पितृपक्ष की ओर से तथा पिता-पीत से भेंट स्वरूप प्राप्त होने वाले धन को स्त्री धन कहा है और इस पर स्त्री का अधिकार स्वीकार किया गया लेकिन पिता अथवा पति की सम्पत्ति में उसे समान हक नहीं दिया गया । उत्तराधिकार में उसका क्रम अंत में था । पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र के बाद पत्नी तथा बेटी का हक था ।

धर्मशास्त्रों द्वारा तय किये गये सम्पत्ति के अधिकार के मानदण्ड राजस्थान में स्पष्ट दिखाई देते हैं । हम जानते हैं कि राजस्थान में संयुक्त परिवार प्रणाली की सफलता एवं क्षमता महिलाओं के श्रम और सामंजस्य पर आधारित थी लेकिन संयुक्त परिवार की सम्पति में बेटा, पोता, पड़पोता का अधिकार था, किसी स्त्री का नहीं । राजस्थान की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार कृषि व्यवस्था थी और महिलायें पुरूषों के साथ हमेशा कृषि कार्य में पूर्ण श्रम से हाथ बँटाती थी । पशुपालन, खेतों में बुआई, जुताई, सिंचाई, कटाई से लेकर फसल के घर आने तक महिलायें कठोर परिश्रम करती थीं । ऐसे सैकडों प्रमाणों से इतिहास भरा पड़ा है । यही नहीं, घरेलू उद्योगों - जैसे सूत कातना, मिट्टी के बर्तन बनाना, महु आ से शराब बनाना आदि में महिलायें सक्रिय रूप से हाथ बँटाती थी । उत्पादन प्रकिया मे इस प्रकार की सीधी भागीदारी के कारण ही कृषक, शिल्पी तथा आदिवासी समाजों में स्त्रियाँ अपेक्षाकृत

स्वतंत्र रही हैं जबकि अभिजन तथा सभ्य कहे जाने वाले वर्गो जैसे शाही, राजपूत, ब्रहामण आदि की महिलायें आमतौर पर चाहर दीवारी में ही बन्द रही हैं ।

18.3 राजस्थान में स्त्रियों से जुडी कुप्रथायें

ऊपर हमने देखा कि राजस्थान की पारिवारिक तथा सामाजिक संरचना में महिलाओं की क्या स्थिति थी? पितृसत्तात्मक ढाँचें में इंसान के रूप में महिलायें दोयम दर्ज की थी । धर्मशास्त्रों के विधान के अनुसार महिलाओं का स्थान निर्धारित किया गया था । वर्ण और जाति में विभाजित महिलाओं में इस विभाजन के अनुसार अन्तर भी देखा जा सकता था । सामाजिक एवं पारिवारिक संगठन के अलावा मध्यकाल तक आते-आते ऐसी कई प्रथायें प्रचलित हो गयी जिन्होनें महिलाओं की स्थिति को गिराने में योगदान दिया । इसी काल में एक भिन्न धर्म एवं संस्कृति के वाहक इस्लाम के आक्रमण हुये । इन आक्रमणों से अपनी संस्कृति, धर्म एवं समाज को बचाने के लिये राजस्थान सहित देश के सभी भागों में जाति प्रथा तथा स्त्रियों से संबन्धित प्रथाओं को और कठोर बनाने का प्रयास किया गया । इस तरह के प्रयासों का राजस्थान की महिलाओं की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा । इसी समय भक्ति आन्दोलन भी चला, जिसकी हम आगे चर्चा करेगें । सर्वप्रथम हम उन प्रथाओं पर विचार करेगें जिनके कारण राजस्थान की महिलाओं की स्थिति अमानवीय एवं अत्यन्त पीड़ादायक हो गयी । इन्हें समझे बिना हम राजस्थान में स्त्रियों की वास्तविक स्थिति की कल्पना नहीं कर सकते ।

18.3.1 कन्यावध

हम जानते हैं कि वैदिक काल के बाद से ही आमतौर पर समाज में लड़की के जन्म का अभिनन्दन नहीं किया जाता था लेकिन राजस्थान की राजपूत जाति में कन्या का जन्म इतना दुःखदायी माना जाता था कि जन्म लेते ही उसे अफीम देकर या गला दबाकर मार दिया जाता था । कन्या वध जैसी इस क्रूर प्रथा के प्रचलन के कई कारण थे । सर्वप्रथम कन्या के विवाह की समस्या थी । कठोर जाति व्यवस्था के कारण दूसरी जाति में तो विवाह किया ही नहीं जा सकता था, अपने ही कुल और खाँप में भी विवाह नही होता था । इससे विवाह सम्बन्ध के चयन का क्षेत्र बहुत सीमित हो गया । दूसरा, प्रत्येक राजपूत अपनी बेटी का विवाह अपने से ऊँचे घराने, शाही अथवा सामन्ती घराने में करने को अपनी प्रतिष्ठा समझता था, लेकिन ऐसे घर में विवाह के लिए उतना ही अधिक दहेज भी जुटाना पडता था । झूठी शान के प्रतीक ऐसे विवाह में कन्या के पिता को चारण, भाट तथा ढोली को मुंह माँगा नेग भी देना पडता था । इस प्रकार कन्या के विवाह को अपनी हैसियत से बड़ी आन - बान से जोड देने के कारण उत्पन्न हुई समस्याओं से निजात पाने का आसान तरीका यह खोजा गया कि पैदा होते ही लड़कियों को चुपचाप मार दिया जाए । कन्यावध सती से भी ज्यादा प्रचलित था । लेकिन चुपचाप किये जाने के कारण लोगों का ध्यान उतना नहीं जाता था । राजपूतों के अलावा, जाट, मेर तथा अन्य जातियों में भी यह प्रथा प्रचलित थी । इस कुप्रथा की खास बात यह है कि मध्यकालीन समाज में सामाजिक समस्याऐं इतनी हावी हो गई थीं कि स्वयं जन्म देने वाली माँ भी कन्या वध का विरोध नहीं कर सकती थी । बाहरी दिखावे में संवेदनाओं के स्रोत सूख गये थे ।

18.3.2 बाल विवाह:

वैदिक साहित्य में इस बात के प्रयाप्त प्रमाण हैं कि उस युग में युवावस्था में ही विवाह होते थे परिणामस्वरूप लडकियों को पढ़ने तथा दर चुनने का पर्याप्त अवसर मिलता था । लेकिन स्मृतिकाल तक आते-आते यह माना जाने लगा कि कन्या का विवाह बाल्यावस्था में ही कर देना चाहिए । विवाह सामाजिक एवं धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण था किन्तु स्त्री के लिए गृहस्थ आश्रम को ही एक आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया गया । कम उम्र में विवाह को पवित्रता से जोड दिया गया । विदेशी आक्रमणों के दौर में स्त्रियों की सुरक्षा के प्रश्न ने भी बाल विवाह को बढ़ावा दिया होगा । संयुक्त परिवार प्रणाली एवं अपनी ही जाति में विवाह की प्रथा ने भी बाल विवाह की प्रथा में योगदान दिया । राजस्थान में बाल विवाह का इतना अधिक प्रचलन था कि आखा तीज का दिन बाल विवाह का प्रतीक बन गया । बाल विवाह सभी जातियों में प्रचलित था किन्तु पिछडी तथा निभ जातियों में अधिक था । यह भी रिवाज था कि परिवार की सभी लडकियों का विवाह एक साथ कर दिया जाता था जो आर्थिक दृष्टि से लाभदायक होता था । पिछडी जातियों की लड़कियाँ घर से बाहर काम करती थीं अत: बाल विवाह के बाद उनके माता-पिता आश्वस्त रहते थे कि उनके अवांछित सबन्ध स्थापित नहीं होगे । बाल विवाह की परम्परा कई पीढ़ियों से चली आ रही थी, अत: यदि बच्चा बड़ा हो जाए तो उसके लिए जीवन साथी मिलना मुश्किल हो जाता था । उपर्युक्त परिस्थितियों में बाल विवाह का अत्यधिक प्रचलन तो हो गया लेकिन इसने स्त्री के ही नहीं, सारे समाज के विकास को अवरूद्ध कर दिया । बाल विवाह का सबसे घातक दुष्परिणाम तो यह था कि इससे स्त्रियों की शिक्षा प्राप्ति का दरवाजा बन्द हो गया जो उन्हें मुक्ति का मार्ग दिखा सकता था । उनका शारीरिक तथा मानसिक विकास अवरूद्ध हो गया । कम उम्र में माँ बनने के कारण न वे स्वस्थ रह सकती थी और न ही उनकी सन्तान ही हष्ट-पुष्ट हो सकती थी । बाल विवाह का एक और अनिष्टकारी प्रभाव बाल विधवाओं की समस्या के रूप में सामने आया, जिसने स्त्री से संबंधित कई विसंगतियों तथा कष्टों को जन्म दिया ।

18.3.3 बहुविवाह

स्त्रियों के गृहस्थ जीवन की यातनाओं में वृद्धि का एक और कारण था - बहुपत्नी या बहुविवाह प्रथा । आरम्भ में सामान्य तौर पर एक पत्नी की ही क्या प्रचलित थी लेकिन विवाह का एक प्रमुख उद्देश्य पुत्र प्राप्ति को माना गया था अत: यदि प्रथम पत्नी निःसन्तान होती या उसके केवल लड़कियाँ होती तो ऐसे पति को दूसरा विवाह करने की स्वीकृति दी गई थी । बिना किसी औचित्य के दूसरे विवाह की स्वीकृति धर्म शास्त्र नहीं देते लेकिन मध्यकाल तक आते-आते बहुविवाह का प्रचलन आम हो गया । राजस्थान मध्य काल में लगातार युद्धों में उलझा रहा और युद्ध के कारण जीवन की अनिश्चितता में जीने वाला व्यक्ति अधिकाधिक सुख भोगना चाहता था और इसका तरीका था एक से अधिक पत्नियों का होना । वस्तुत: मध्यकाल तक आते-आते स्त्री उपभोग की वस्तु हो गई थी । यही कारण है कि राजस्थान के शाही तथा सम्पन्न परिवारों में बहुविवाह सर्वाधिक प्रचलित था । हम पढ़ चुके है कि किस तरह राजपूत अपने से ऊँचे कुल में बेटी का विवाह करना अपनी शान समझते थे । ऐसे में ऊँचे और कुलीन व्यक्ति की अनगिनत पत्नियाँ हो जाती थी। पत्नियों की इस भीड़ में विवाह के पश्चात् कुलीन पति के साथ सहवास के इन्तजार में जीवन गुजर जाता था । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से एक पति के लिए अपनी सारी पत्नियों के साथ समान बर्ताव करना संभव नहीं था ऐसे में इन पत्नियों में परस्पर द्वेष

स्वाभाविक था । बहुपत्नी प्रथा के कारण स्त्रियों का जीवन तो नारकीय था ही, परिवार में सदैव तनाव, क्लेष और ईर्ष्या इस हद तक बढ़ जाती थी कि परस्पर षड्यन्त्र और विषपान आम बात थी । एक पति के मरने पर अनगिनत विधवाओं का अनाथ हो जाना समाज में अन्य समस्याओं को जन्म देता था ।

18.3.4 पर्दा प्रथा

इसमें कोई संदेह नहीं कि वैदिक काल में पर्दा जैसी कोई प्रथा नहीं थी और स्त्रियाँ सार्वजनिक जीवन में भाग लेती थीं । महाकाव्य एवं पाणिनी के साहित्य से ज्ञात होता है कि शाही परिवारों में पर्दा प्रथा का प्रचलन था । मध्यकाल तक आते-आते राजपूताना के शासकपीरशरों में पर्दा का प्रचलन आम था । पर्दा समान, प्रतिष्ठा तथा कुलीनता का प्रतीक था । राजपूतों मे पर्दा प्रथा अत्यन्त कठोर थी । राजमहलों तथा ठाकुरों की हवेलियों में स्त्रियों के लिए अलग से जनानी ड्योढ़ी होती थी जहां पर पुरूषों का जाना निषिद्ध होता था । यदि महिलाओं को बाहर जाना होता तो उन्हें बन्द पालकी में बिठाकर ले जाया जाता था । कालान्तर में पर्दा स्त्री के सतीत्व, सामाजिक समान तथा प्रतिक्षा का प्रतीक बन गया । संस्कृतीकरण की प्रकिया के तहत निम्न वर्ग की महिलाओं में भी पर्दा प्रथा को अपना लिया गया, जिसे घूंघट कहा जाता है । इस प्रथा में जिस व्यक्ति का घूंघट किया जाता है उससे वह स्त्री बात नहीं कर सकती । पर्दा प्रथा ने राजस्थान की महिलाओं के लिए न केवल शिक्षा प्राप्ति का मार्ग बन्द कर दिया बल्कि उनका जीवन घर की बाहर दीवारी मे सिमट कर रह गया । ऐसे में उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व के विकास की कल्पना नहीं की जा सकती थी ।

18.3.5 विधवादहन एवं जौहर

राजस्थान स्त्रियों से संबंधित एक और जिस क्रूर एवं अमानवीय प्रथा के लिए जाना जाता है, वह है विधवा दहन एवं जौहर प्रथा । इस प्रथा के अन्तर्गत निष्ठावान पत्नी अपने मृत पति के शव के साथ जिन्दा जल जाती थी । प्राचीन काल में इस प्रथा के बहु त कम उदाहरण मिलते हैं किन्तु मध्यकाल में यह आम प्रचलन हो गया था । राजस्थान में प्राप्त मध्यकालीन शिलालेखों, महलों तथा हवेलियों के बाहर सतियों के हाथों के निशानों से ज्ञात होता है कि विशेष रूप से राजपूतों में तथा सामान्यत: हर वर्ग में विधवा दहन प्रथा का प्रचलन था । हर लडकी को उसकी माँ यही शिक्षा देती थी कि यह वन्दनीय एवं प्रशंसनीय प्रथा है । रानी से लेकर आम औरत तक विधवा का दहन धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से इतना प्रतिष्ठित था कि 18वीं सदी में तो 'सती पुराण' की ही रचना कर दी गई । ऐसा कहा जाता था कि पति के साथ सती होने से पत्नी स्वर्ग की ओर गमन करती है । इसलिए सती होने को सहगमन भी कहा जाता था । इस प्रथा को मध्यकालीन असुरक्षित वातावरण धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक कारणों ने स्थायित्व प्रदान किया । विधवा दहन का धार्मिक महिमा मण्डन, सामाजिक प्रतिष्ठा तथा विधवा के रूप में कष्टमय और अपमानजनक जीवन जीने के स्थान पर स्त्री सम्मानजनक मृत्यु को ज्यादा उचित समझती थी । समय के साथ-साथ इस प्रथा ने संस्था का रूप धारण कर लिया और अब सती होने के लिए स्त्री पर सामाजिक तथा धार्मिक दबाव रहने लगा । यह स्थिति हो गई कि स्त्री की इच्छा के विपरीत, परिवार की प्रतिष्ठा और मर्यादा बनाए रखने के लिए उसे जलती चिता में धकेल

दिया जाता था और इस दौरान जोर-जोर से बजने वाले ढोल - नगाडों के बीच उसकी चीख को सुनने वाला कोई नहीं था ।

सती से भी आगे राजस्थान में स्त्रियों से जुडी एक और भयावह प्रथा थी, जिसे स्त्री के शौर्य से जोड़कर गौरव गान किया जाता रहा है । यह प्रथा थी जौहर की । यह प्रथा राजपूतों में प्रचलित थी । मध्यकालीन राजस्थान निरन्तर युद्धरत था और जब युद्ध में राजपूतों की जीत की आशा समाप्त हो जाती थी, तब राजपूत योद्धा जौहर का आदेश देते थे और स्त्रियाँ अपने पति की मृत्यु का इन्तजार किये बिना ही सामूहिक रूप से अग्नि में कूद कर जान दे देती थीं ताकि वे शत्रुओं के हाथ लगकर अपनी पवित्रता को नष्ट करने को बाध्य न हो । मुस्लिम आक्रमण के समय रणथम्भौर, जालोर तथा चित्तौड़ का जौहर इतिहास में चर्चित है । सती तथा जौहर जैसी प्रथाओं से स्पष्ट है कि राजस्थान के समाज में अत्यन्त भयावह, क्रूर तथा अमानवीय प्रथाओं को धर्म, शौर्य एवं प्रतिबद्धताओं से जोड़कर किस प्रकार इन्हें समाज की सहज घटनाएँ ही नहीं, प्रथा और संस्था बना दिया गया था । स्त्रियाँ आत्मदाह की ऐसी प्रथाओं का विरोध करने के बजाए इनका वरण करने में गौरव ही नही, जीवन की सार्थकता समझती थीं ।

18.3.6 विधवा जीवन.

समय के साथ - साथ जैसे - जैसे स्त्री के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण होता गया, वैसे ही पुरूष पर उसकी निर्भरता बढ़ती गई अत: यदि किसी स्त्री का पति मर जाए तो समाज में उसकी स्थिति बहुत दयनीय हो जाती थी । राजस्थान की दिघवा (चाहे वह बाल विधवा हो) के सामने सर्वाधिक आदर्श विकल्प था - पति के साथ सती हो जाना और यदि सती न हो तो दूसरा विकल्प था आजीवन विधवा रहना । तत्कालीन साहित्य किसी भी स्थिति में प्रतिष्ठित विधवा को पुनर्विवाह की स्वीकृति नहीं देता । उच्च जाति की विधवाओं का जीवन बहुत ही कष्टसाध्य था । पति की मृत्यु के साथ ही उसके भाग्य की भी इतिश्री हो जाती थी । अत: उसे न केवल सौभाग्य के सब प्रतीकों का त्याग करना पडता था बल्कि शरीर को अधिकाधिक विकृत और कुरूप बनाना पडता था । विद्रूप दिखने और शरीर को अत्यधिक कष्ट देने में ही उसके वैधव्य जीवन की सार्थकता थी । फटे पुराने कपड़े पहनना, जमीन पर सोना, जिन्दा रहने भर के लिए रूखा-सूखा खाना, किसी भी प्रकार के फार निषेध के साथ बाल मुडवाना एक विधवा के लिए आवश्यक था । सामाजिक संवेदनहीनता और पितृसत्ता की पराकाष्ठा यह थी कि किसी उत्सव, त्यौहार अथवा शुभ कार्य में विधवा की उपस्थिति को अपशकुन माना जाता था । उसे पति की सम्पत्ति में भी अधिकार नहीं मिलता था, बस वह गुजारा ले सकती थी ।

समाज में निम्न तथा पिछडी मानी जाने वाली जातियों में विधवा का जीवन इतना कष्टसाध्य नहीं था यद्यपि इन जातियों में भी विधवा का फेरे के साथ पुनर्विवाह तो नहीं हो सकता था लेकिन नाता प्रथा के द्वारा मृत पति के परिजनों की स्वीकृति से उसे दूसरा पति चुनने का अवसर मिलता था । नाते की यह प्रथा पति के जीवित होने पर भी प्रचलित थी और आज भी है । लेकिन इस प्रथा को ऊँची जातियों में हेय समझा जाता था । बाल विवाह तथा बहुविवाह के कारण राजस्थान में विधवाओं की बडी संख्या थी और स्त्री जीवन के लिए एक बडी विडम्बना ।

18.3.7 डाकन, दासी एवं अन्य प्रथाएँ

उपर्युक्त वर्णित प्रथाओं के अलावा भी राजस्थान में और कई ऐसी प्रथाऐं थी जिन्होंने स्त्री जीवन को अभिशाप बना दिया था । इनमें से कतिपय कुप्रथाओं के विवेचन के बिना स्त्रियों की स्थिति का दृश्य हमारे सामने अधूरा रहेगा । राजस्थान के ग्रामीण इलाकों में भील मीणा तथा निम्न जातियों में स्त्रियों पर डाकन होने का आरोप लगाकर उन्हें मार दिया जाता अथवा पेड से लटकाकर जिन्दा जला दिया जाता था । यदि गांव में कोई महिला या बच्चा बीमार होता तो भोपा से पूछ होने पर डाकन स्त्री के झपेट में आने का अंदेशा होता था और फिर उसे इसके लिए यातनाऐं देकर मार दिया जाता था । स्वयं उसके रिश्तेदार भी इस दण्ड का अनुमोदन करते थे । अंधविश्वास पर आधारित यह क्रूर प्रथा आज भी राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में यदा-कदा समाचार पत्रों की खबर बन जाती है ।

राजस्थान में दास प्रथा का प्रचलन, सामन्त एवं सम्पन्न परिवारों में था । युद्ध बन्दियों को दास तथा दासी बना लिया जाता था । कुछ लोग गरीबी के कारण ही सम्पन्न लोगों की दासता स्वीकार करते थे । इन्हे बाई, दासी, डावरी, गोली आदि नामों से पुकारा जाता था । ये दासियाँ न केवल घरेलू काम करती बल्कि स्वामी इन्हें अपनी बेटी के विवाह में दहेज मे भी देता था । गलती करने पर इन्हें कोडे मारे जाते थे । दास तथा गोला की लड़कियाँ जब विवाह योग्य होती तो उन्हें शासक के सम्मुख उपस्थित किया जाता था, जिसे पसन्द आने पर वह अपने अन्तःपुर में भी रख सकता था, मानो वह इन्सान नहीं उपभोग की सामग्री हो ।

ऐतिहासिक राजस्थान में एक और घृणित वृति वैश्यावृत्ति रही है, जिसे प्रोत्साहन देने वाला राज दरबार और दरबारी वर्ग रहा है । ये वैश्याऐं राजदरबारों, उत्सवों तथा धार्मिक अवसरों पर नाचने गाने का काम भी करती थी, लेकिन इससे समाज में अनियंत्रित तथा अनैतिक आचरण में वृद्धि हुई।

18.4 मध्यकाल, भक्ति आदोलन और स्त्री

मध्यकाल में राजस्थान सहित उत्तर भारत पर लगातार मुसलमानों के आक्रमण हुए उस समय एक ओर विधर्मियों के आक्रमण के रूप में तथा दूसरी ओर इस्लाम धर्म में निहित समानता की भावना के कारण हिन्दू धर्म पर संकट मंडराने लगा अत: एक ओर हिन्दू समाज की संकीर्णता बढ़ी तो दूसरी ओर रूढ़ियों पर प्रहार करने वाला भक्ति सम्प्रदाय भी लोकप्रिय हुआ । भक्ति आदोलन की इस परम्परा में राजस्थान में भी कई सन्त हुये जिनमें सन्त रैदास, धन्ना, पीपा, जांभोजी, रामचरण दादू आदि प्रमुख थे । लेकिन स्त्रियों की स्थिति को समझने की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय उपस्थिति थी महिला सन्तों की, जिनका प्रतिनिधित्व मीरा करती है । मध्यकालीन स्त्री का जीवन घर की चारदीवारी में कैद था जिसे आदर्श जीवन माना जाता था । लेकिन जब मीरा ने चारदीवारी लांघकर सन्तों और भक्तों की संगति की तो इससे उनके कुल की मर्यादा नष्ट होती हुई दिखाई दी । मीरा के काव्य में लोक लाज, कुल की मर्यादा को लाँघने की बात बार-बार कही गई है । यहाँ आध्यात्मिक समानता पर आधारित भक्ति का आचरण के आधार पर नारी पराधीनता से सीधा टकराव स्पष्ट है । आज भी चित्तौड़ जायें तो रानी पदमिनी की कहानी आपको गर्व से सुनाई जाएगी, किन्तु मीरा को उतना नहीं माना जाता । मीरा को सबसे पहले दलित वर्गो छोटे - छोटे गाँवों एवं निम्न वर्गो में स्वीकृति मिली, उच्च वर्ग में नहीं । राजस्थान में आज भी लोग अपनी बेटियों का नाम मीरा रखना पसन्द नहीं करते क्योंकि वह सामन्ती ढांचे को तोड़ने वाली, कुल की मर्यादा को तोड़ने वाली स्त्री का नाम है ।

18.5 अनुभागीय सारांश

पितृसत्ता पर आधारित राजस्थान की परिवार और समाज व्यवस्था में स्त्रियों को उतना महत्व नहीं दिया जाता था, जितना पुरूष को स्त्रियों की दोयम दर्जे की स्थिति के कारण ही धीरे-धीरे ऐसी प्रथाऐं विकसित हुई जिनमें जिन्दा स्त्री का मृत पति के साथ जल जाना भी पुनीत कार्य माना जाने लगा । मध्यकाल में विदेशी आक्रमणों से सामाजिक व्यवस्था को बचाने के लिए जाति अवस्था में और कठोरता आई जिसने महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया । भक्ति आदोलन भी उनकी स्थिति को सुधारने में नाकाम रहा । निसन्देह भक्ति आंदोलन ने समाज को नई दृष्टि दी और हिन्दू समाज में व्यापत रूढ़ियों व असमानता पर प्रहार किये लेकिन इस आंदोलन की भी अपनी सीमाऐं थी, यह ज्ञान के ऐतिहासिक विकास की सीमा थी । यही कारण है कि सब भक्तों ने स्त्रियों के भक्ति के अधिकार को अवश्य स्वीकार किया लेकिन स्त्रियों के प्रति उनका दृष्टिकोण तत्कालीन व्याप्त दृष्टिकोण से भिन्न नही था । इस प्रकार भक्ति आदोलन भी राजस्थान में स्त्रियों की स्थिति में व्यापक परिवर्तन नहीं ला सका । हाँ, मीरा का जीवन और काव्य अवश्य राजस्थानी स्त्रियों की पराधीनता तथा उसके विरूद्ध विद्रोह की आवाज बन कर गूंजता रहा ।

18.6 बोध प्रश्न-1

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर 10 पंक्तियों में दीजिए -

1. राजस्थान की सामाजिक संरचना में महिलाओं की स्थिति पर प्रकाश डालिए ।
2. राजस्थान में ऐसी कौन-कौन सी कुप्रथाएँ थी जिन्होनें महिलाओं की स्थिति को प्रभावित किया ।

18.7 राजस्थान में सामाजिक परिवर्तन और गतिशीलता

हम जानते है कि वर्तमान राजस्थान ब्रिटिश काल में अनेक राज्यों में विभाजित था । अजमेर और मेरवाड़ा का छोटा सा क्षेत्र ही सीधा ब्रिटिश शासन के अधीन था । 19वीं सदी के शुरू में इन राज्यों ने अलग-अलग 7 सचिवों द्वारा ब्रिटिश प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था लेकिन राजस्थान में अग्रेंजी प्रभाव अपेक्षाकृत देर से आरम्भ हुआ। यद्यपि ब्रिटिश सत्ता ने अपने हितों के अनुरूप रियासतों की आंतरिक व्यवस्था में हस्तक्षेप एवं बदलाव किये लेकिन अंततः इन बदलावों ने राजस्थान की परम्परागत सामन्ती सामाजिक संरचना को बदला । इन राज्यों में अंग्रेजी न्यायालयों की स्थापना ने सामान्तों के अधिकारों को बहुत सीमित कर दिया! इसके अलावा अन्य कारकों ने भी बदलाव को बढ़ावा दिया, जिसके परिणामस्वरूप जागृति आयी और महिलाओं की स्थिति के झार के लिए प्रयास किये गये ।

राजस्थान में सामन्ती व्यवस्था व शोषण के विरुद्ध ने अलग-अलग क्षेत्रों में आदोलन किये जिससे प्रचलित सामाजिक - राजनीतिक अवस्था की आलोचना का मार्ग प्रशस्त हुआ। राजस्थान में आर्य समाज का आगमन भी परम्परागत सामाजिक ढांचे के लिए चुनौतीदायक सिद्ध हुआ । अब तक परिवर्तन विरोधी माने जाने वाले राजाओं तथा सामन्तों को उन्होने परिवर्तन का नेतृत्व करने के लिए घूम-घूम कर प्रेरित किया । उन्होने शिक्षा पर विशेष बल देते हुए कई विद्यालय खोलकर परिवर्तन को साकार करने का प्रयास किया ।

अंग्रेजी शिक्षा ने भी राजस्थान में जागृति लाने में योगदान दिया । राजस्थान के शासकों से यह उम्मीद नहीं की जा सकती थी कि वे शिक्षा के प्रसार को प्रोत्साहन देकर समाज में आमूल परिवर्तन लाएंगे । वे स्वयं उस मध्यकालीन सामन्ती ढांचे का अंग थे जिसे कमजोर करने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी । लेकिन ब्रिटिश सरकार राजस्थान में पाश्चात्य शिक्षा को आवश्यक मानती थी । क्योंकि राजस्थान के शासकों और ब्रिटिश सरकार के मध्य संवाद का माध्यम फारसी होने के कारण अंग्रेज अधिकारियों को असुविधा होती थी अत: ब्रिटिश सरकार की पहल से राजस्थान के विभिन्न राज्यों में अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत हुई । ईसाई मिशनरियों ने राजस्थान में और विशेष रूप से अजमेर मेरवाड़ा क्षेत्र में अंग्रेजी शिक्षा को प्रचार प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई । अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार धीमी गति से हुआ। लेकिन इससे समाज में जागृति आई और महिला शिक्षा के क्षेत्र में हुए प्रयासों में प्रगति हुई, जिसका हम आगे उल्लेख करेंगे।

20वीं सदी तक आते-आते राजस्थान में भी राष्ट्रीय आदोलन का प्रभाव दिखाई देने लगा । वैसे राजस्थान में एक केन्द्रीय संगठन तो नहीं बन पाया लेकिन अलग-अलग भागों में कई स्वयंसेवी संस्थाऐं बनी और उन्हीं से प्रजा मण्डल या परिषदों की स्थापना हुई । अजमेर में राजस्थान सेवा संघ, रिजन सेवा संघ, देशी राज्य परिषद, मारवाड की मरूधर हित कारिणी सभा आदि स्वयं सेवी संस्थाओं तथा राजस्थान केसरी, आजाद, सैनिक मारवाड़ी गौरव, दीन-बन्धु राजस्थान पत्रिका, नवज्यौति, रूण राजस्थान आदि पत्र - पत्रिकाओं ने राजनीतिक जागृति के साथ-साथ सामाजिक जागृति लाने भी काम किया । गाँधीजी के नेतृत्व में ब्रिटिश भारत में राष्ट्रीय आदोलन में भाग ले रही महिलाओं गे प्रेरणा से भी राजस्थान में महिलाओं की भागीदारी तथा उनके उत्थान के प्रयासों में तेजी आई ।

राजस्थान के व्यापारियों ने बडे पैमाने पर ब्रिटिश भारत में प्रवास कर व्यापार किया अत: वे देश में हो रहे परिवर्तन के सम्पर्क में आये और इन्होंने लौटकर सामन्ती ढांचे को चुनौती दी जिससे समाजिक गतिशीलता को प्रोत्साहन मिला । भारतीय समाज सुधारकों तथा ब्रिटिश सरकार की मदद से ब्रिटिश भारत में महिलाओं की स्थिति में सुधार हेतु विभिन्न कानून बने । धीरे-धीरे राजस्थान के विभिन्न राज्यों में भी इसी प्रकार के कानून बनाऐ गए तथा स्त्री शिक्षा के लिए प्रयास किये जिन्हें समाज सुधारकों द्वारा आगे बढ़ाया गया ।

18.8 स्त्री-उत्थान के प्रयास

जिस प्रकार 19वीं सदी में भारत में समाज सुधार मुख्यत: स्त्रियों की स्थिति से संबंधित था उसी प्रकार राजस्थान में भी यह स्त्रियों की स्थिति में सुधार से ही जुड़ा हुआ है, हालाँकि राजस्थान में सुधार के ये प्रयास देर से आरम्भ हुए । ब्रिटिश पॉलिटिकल अधिकारियों, राजस्थान के समाज सुधारकों आर्य समाज तथा अन्य संस्थाओं द्वारा किये गये प्रयासों के परिणामस्वरूप विभिन्न राज्यों में कानून द्वारा उन कुप्रथाओं को रोकने का प्रयास किया गया जो स्त्री को मध्यकालीन कैद में जकड़े हुए थी । यहाँ हम कुछ प्रमुख कानूनी तथा अन्य प्रयासों की चर्चा करेगें ।

18.8.1 विधवा दहन पर प्रतिबन्ध

ब्रिटिश अधिकारियों ने इस अमानवीय प्रथा को समाप्त करने के लिए राजस्थान के शासकों पर दबाव डाला तो उदयपुर, जोधपुर के शासकों के आरम्भिक विरोध के बावजूद धीरे-धीरे राजस्थान के शासक तैयार होते गये । सर्वप्रथम 1822 मे बूंदी में विधवा दहन को गैर कानूनी घोषित किया गया

। उसके बाद 1830 में अलवर में, 1844 में जयपुर में, 1846 में डूंगरपुर, बांसवाड़ा और प्रतापगढ़ में. 1848 में जौधपुर तथा कोटा में तथा 1860 में उदयपुर राज्य में विधवा दहन को गैर कानूनी घोषित कर दिया गया ।

प्रतिबन्ध संबंधी आदेशों के बावजूद राज्यों के ठिकानों में साधारण परिवारों मे विधवा दहन की घटनाऐं होती रही क्योंकि प्रारम्भ में सती होने पर किसी कठोर दण्ड का प्रावधान नही था और न ही राज्यों को पूरे तौर पर उसे लागू करने को बाध्य किया गया था । विधवा दहन को धर्म, पवित्रता एवं मोक्ष से जोड़े जाने के कारण यह प्रथा एक सशक्त विचारधारा के रूप में जनमानस में बैठ गई । यही कारण है कि आजादी के कई वर्षो के बाद भी रूप कवर जैसी विधवा दहन की घटना राजस्थान में हुई ।

18.8.2 कन्यावध पर प्रतिबन्ध

हम जानते हैं कि वैवाहिक, सामाजिक, आर्थिक कारणों से राजस्थान के उच्च एवं सामान्य परिवारों में लडकियों को पैदा होते ही मार दिया जाता था । बांकीदास की ख्यात के अनुसार 1836 में महाराणा रतन सिंह ने गया में अपने सभी सामन्तों की सभा आयोजित कर शपथ दिलाई थी कि वे अपनी बेटियों का वध नहीं करेंगे । बाद में अंग्रेज अधिकारियों ने इसे हत्या बताते हुए इस प्रथा को बन्द करने के प्रयास किये जिसके परिणामस्वरूप 1834 में कोटा राज्य, 1837 में बीकानेर, 1839-44 के बीच जोधपुर, जयपुर, तथा 1657 में उदयुपर राज्य ने इसे गैर कानूनी घोषित कर दिया । यह बात और है कि गैर कानूनी होने के बावजूद आज भी राजस्थान में लिंग अनुपात लगातार घट रहा है जिसका कारण कन्यावध का परिवर्तित रूप है ।

18.8.3 त्याग प्रथा का नियमन

विवाह के समय मुंह मांगी दान दक्षिणा के रूप में चारणों व भाटों को दी जाने वाली त्याग की अपार राशि को सीमित करने के लिये भी नियम बनाऐ गये । सर्वप्रथम 1944 में जोधपुर राज्य के ब्रिटिश अधिकारियों के सहयोग से नियम बनाए गये । 1844 में अन्य राज्यों में भी इस प्रकार के नियम प्रसारित करने के लिए ब्रिटिश सरकार ने पत्र लिखे । 1844 में बीकानेर तथा जयपुर राज्य ने भी इसी प्रकार के नियम बनाकर आय के अनुपात में त्याग की राशि तय कर दी । उदयपुर के शासकों ने तो 1844, 1850 और 1860 में विभिन्न आदेशों द्वारा न केवल त्याग की राशि को सीमित किया बल्कि दूसरे राज्य से चारणों, भाटों के आने तथा उदयुपर राज्य के चारणों व भाटों को त्याग मांगने के लिए अन्य राज्यों में जाने से रोक दिया । इससे त्याग की समस्या काफी अंशो तक हल हो गई।

18.8.4 डाकन प्रथा पर रोक

ब्रिटिश सरकार ने डाकन प्रथा को समाप्त करने हेतु भी शासकों को पत्र लिखे अत: 1853 में उदयुपर राज्य ने इस प्रथा को गैर कानूनी घोषित कर दिया तथा कारावास के दण्ड की घोषणा की । इसी प्रकार कोटा, जयपुर आदि राज्यों ने भी इसे गैर कानूनी घोषित कर दिया । शिक्षा तथा जागृति के कारण यह प्रथा कम अवश्य हुई लेकिन डाकन घोषित कर प्रताडित करने की घटनाऐं राजस्थान में आज भी होती है ।

18.8.5 मानव व्यापार पर प्रतिबन्ध

लड़के - लड़कियों का क्रय-विक्रय एक व्यवसाय बन गया था । उच्च वर्गों में घरेलू दास-दासियाँ, रखेलें रखने तथा विवाह के समय दासियों को दहेज के रूप में देने का प्रचलन था । इस अनैतिक प्रथा को बन्द करने के लिए राज्यों में समय-समय पर आदेश प्रसारित किये गये । सर्वप्रथम 1831 में कोटा ने तथा 1847 में जोधपुर व जयपुर में तथा 1863 में उदयुपर में इस प्रकार के क्रय-विक्रय पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये और उल्लंघन पर कारावास का प्रावधान भी किया गया । इस प्रकार कानूनी रूप से अवैध घोषित किये जाने के बावजूद गरीबी तथा बेरोजगारी के कारण इसका समूल नाश असम्भव था ।

18.8.6 विवाह संबंधी नियम

सन् 1877 में उदयुपर महाराणा सज्जन सिंह की अध्यक्षता में 32 प्रमुख सामन्तों एवं राज्याधिकारियों की एक सभा में विवाह संबंधी नियम बनाने पर विचार हुआ तथा 'देश हितैषिणी सभा' की स्थापना की गई । यह एक मात्र ऐसी संस्था थी जिसके जरिये शासक और सामन्तों ने पहली बार सुधारात्मक कार्यो के लिए कदम उठाए और विवाह संबंधी नियम बनाए गए । जब वाल्टर ए.जी.जी बना तो उसने अपने ही नाम पर 1887 में 'वाल्टर कृत राजपूत हितकारिणी सभा' का गठन कर राज्य प्रतिनिधियों के अधिवेशन बुलाए । राजपूतों में व्याप्त टीका, बहुपत्नी विवाह आदि पर तथा विवाह की आयु तय करने के प्रतिबन्ध के प्रस्ताव पारित किये गये ।

भारत में बालविवाह पर प्रतिबन्ध के प्रयास कर कानून बनवाने में जिस शख्स ने सफलता हासिल की वह हरविलास शारदा अजमेर के निवासी थे । राजस्थान के विभिन्न राज्यों मे भी 1926 से 1945 तक विवाह 1945 तक विवाह सम्बन्धी कानून बनाए गए । जिनमें लडकी तथा लड़के के विवाह की न्यूनतम आयु तय की गई । यह आयु अलग-अलग राज्यों में अलग-अलग थी । जैसे डूँगरपुर राज्य में दर की 18 व वधु की आयु 15 वर्श न्यूनतम थी, तो भरतपुर, कोटा, बीकानेर राज्यों में वर की न्यूनतम आयु 15 वर्ष तथा वधु की 11 वर्ष तय की गई थी । इन कानूनों के उल्लघंन पर सजा तथा जुर्माने का प्रावधान किया गया । बालविवाह के इन कानूनों के बावजूद इस प्रथा का अंत नहीं हो सका । राजस्थान में आज भी अक्षय तृतीया का दिन बात विवाह के महाकुम्भ का प्रतीक है ।

18.8.7 विधवा विवाह

हम जानते है कि उच्च वर्गों में विधवा विवाह पर प्रतिबन्ध था किन्तु निम्न वर्गो मे नाता, गारेचा और कटेबा के नाम से विधवा पुनर्विवाह का प्रचलन था, यह और बात हैं कि उन्हें इसके ऐवज में कर चुकाना पडता था । हालांकि अंग्रेजी भारत में 1856 में ही विधवा पुनर्विवाह का कानून पारित हो गया था, लेकिन राजस्थान में इसका प्रभाव देखने को नहीं मिला । आर्य समाज के पहल करने पर अन्य समाज सुधार संगठन भी सक्रिय हुए । राजपूताना प्रान्तीय मारवाडी अग्रवाल पंचायत, राजपूताना हिन्दु विवाह सुधारक संघ, राजपूताना लेडीज कॉन्फ्रेंस आदि संगठनों ने विशेष रूचि ली । 1933 में अजमेर में अखिल भारतीय विधवा पुनर्विवाह कॉन्फ्रेंस हुई जिसमें विधवा विवाह के अधिकार की जोरदार तरीके से मांग की गई । 1926 में भरतपुर राज्य में विधवा पुनर्विवाह कानून बना, बीकानेर में भी इसे विवाह की परिभाषा में शामिल किया गया । जयपुर में 1946 में बने कानून में विधवा को पति की सम्पत्ति की अधिकारिणी माना गया और उसकी संतान को वैधता प्रदान की गई ।

18.8.8 आर्य समाज के प्रयास

भारतीय समाज सुधार आन्दोलन के अग्रणी नेता तथा आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती ने राजस्थान के करोली, जयपुर, अजमेर, बनेड़ा चित्तौढ़ उदयपुर आदि राज्यों का भ्रमण कर समाज सुधार की प्रेरणा उत्पन्न की । उन्होंने जोधपुर यात्रा के दौरान वेश्यागमन की निन्दा कर वेश्याएं रखने की बुराईयों पर खुलकर विचार किया । समाज में विधवा विवाह तथा सामाजिक कार्यो में कम खर्च के प्रचार के लिए उदयपुर महाराणा की अध्यक्षता में परोपकारिणी सभा की स्थापना की । वे स्त्री शिक्षा तथा उन्नति के लिये पर्दा प्रथा का उन्मूलन आवश्यक मानते थे । इसके लिए आर्य समाज ने कन्या पाठशालाऐं खोली जिनमें अजमेर की आर्यपुत्री पाठशाला प्रमुख थी । इसके अलावा छः अन्य कन्या पाठशालाऐं खोली गई । 1926 में अजमेर में विधवाओं के लिए वनिता आश्रम एवं अन्य केन्द्र खोले गये जहां विधवाओं की आत्मनिर्भरता और शिक्षा की व्यवस्था की गई थी । बीकानेर, जोधपुर, भरतपुर आदि राज्यों में भी वनिता आश्रम खोले गये । इस प्रकार राजस्थान में आर्य समाज की समाज सुधार गतिविधियों का केन्द्र स्त्रियों की स्थिति में सुधार से ही जुड़ा था, जिसने इस संबंध में जागृति व सुधार के उल्लेखनीय प्रयास किये ।

18.8.9 स्त्री शिक्षा

भारत के समाज सुधार आदोलन का एक प्रमुख पक्ष स्त्री शिक्षा से जुड़ा हुआ था किन्तु देशी रियासतों में यह 'आदोलन विलम्ब से शुरू हुआ । राजस्थान में 19 वीं तथा 20वीं सदी में स्त्री शिक्षा के प्रसार में ईसाई मिशनरियों ब्रिटिश सरकार, आर्य समाज तथा गांधी आदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही । ईसाई मिशनरियों ने सर्वप्रथम ब्रिटिश अधिकृत अजमेर - मेरवाड़ा क्षेत्र के ब्यावर, नसीराबाद तथा अजमेर में लडकियों के लिए स्कूल खोले । 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में जयपुर, उदयपुर, अलवर जोधपुर, कोटा तथा देवली में भी ईसाई मिशनरी शासकों को इस हेतु मनाने में सफल रहे । दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में आर्य समाज ने स्त्री शिक्षा के लिए जागरूकता पैदा करने का महत्वपूर्ण काम किया । एंग्लो - वैदिक विद्यालय के अलावा आर्य समाजियों द्वारा खोली गयी आर्यपुत्री पाठशाला स्त्री शिक्षा में अग्रणी संस्था थी । आर्य समाज द्वारा राजस्थान में खोली गई कन्याशालाओं में पढ़ाने का तरीका भी बिल्कुल अलग था ।

गांधी आन्दोलन की प्रेरणा से राजस्थान के राष्ट्रवादियों ने स्त्री शिक्षा के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किये । गांधीवादी नेता हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा हदुन्डी में खोला गया 'महिला शिक्षा सदन' तथा वनस्थली में हीरालाल शास्त्री द्वारा शुरू किया गया जीवन शिक्षा कुटीर स्त्री शिक्षा के महत्वपूर्ण कीर्तिमान हैं । इस प्रकार स्त्री शिक्षा के लिये किये गये प्रयासों से स्त्रियों की स्थिति में सुधार के प्रयास किये गये ।

18.8.10 आजादी के आन्दोलन में स्त्रियों की भागीदारी

देश में जिस उत्साह से महिलायें गांधी के राजनीतिक आंदोलन में भाग ले रही थी, उसका असर राजस्थान में भी दिखाई दिया । राजस्थान की औरतें घर की चारदीवारी और घूँघट छोड कर आंदोलन में कूद पडी । रामनारायण चौधरी की पली अंजना देवी, जमनालाल बजाज की पली जानकी देवी बजाज के अलावा बीकानेर की खेतू बाई, जयपुर की नारंगी देवी, अजमेर की गीतादेवी तथा कोकिला

देवी आदि ऐसी कई महिआयें थी जिन्होंने राष्ट्रीय आदोलन में राजस्थान की महिलाओं का नेतृत्व किया तथा प्रजामण्डल आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया ।

इन महिलाओं ने आन्दोलन में सक्रिय भागदारी के साथ-साथ शिक्षा तथ सुधार कार्यकमों द्वारा नारी जागृति का काम किया । सशीला त्रिपाठी ने महिला परिषद की शुरूआत की तो शान्ता त्रिवेदी ने उदयपुर में राजस्थान महिला परिषद की । महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाने के लिये उन्होने महिला गृह उद्योग शुरू किये । नारायणी देवी वर्मा ने बिजौलिया में किसान महिलाओं के लिये काम किया । नारंगी देवी ने आदिवासी इलाकों में प्रौढ़ शालाऐ चलाई तो सुमित्रा खेतान और शिव देवी ने नशा बन्दी आन्दोलन में सक्रियता दिखाई । इन महिलाओं ने महिलामण्डल बनाकर, प्रभात फैरियां निकाली । उस समय रतन देवी शास्त्री जैसी शिक्षिका वनस्थली विद्यापीठ की अपनी छात्राओं के साथ जेल जाते समय स्वतंत्रता सेनानियों की विदाई और रिहाई के समय स्वागत करने जाया करती थी । इसी प्रकार अंजना चौधरी पहली महिला थी जिन्हें न केवल गिरफ्तार किया गया बल्कि बूंदी राज्य से निर्वासित भी किया गया था । इन महिलाओं ने बडे पैमाने पर राजस्थान के किसान आदोलनों और सत्याग्रह आदोलनों में भाग लिया ।

18.9 सारांश

राजस्थान में आरम्भ से ही महिलाओं की स्थिति पुरूषों के समकक्ष नहीं थी । कालान्तर में इसमें गिरावट आयी जो 19वीं सदी तक बनी रही । अंग्रेजी प्रभुसत्ता के प्रभाव से राजस्थान में परिवर्तन की प्रकिया आरम्भ हुई जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं के उत्थान के प्रयास हुये और महिलाओं ने आजादी के आदोलन में भाग लिया । महिलाओं के उत्थान के लिये कई कानून भी बनाये गये जिससे सुधार तो हुआ लेकिन अभी भी गहन प्रयासों की आवश्यकता है ।

18.10 बोध प्रश्न -2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए -

1. उन कारणों की व्याख्या कीजिये जिन्होनें सामाजिक परिवर्तन को जन्म दिया ।
2. अध्ययन काल में महिलाओं के उत्थान के लिए किये गये विभिन्न प्रयासों का वर्णन कीजिये ।

18.11 संदर्भ ग्रंथ

1. आधुनिक राजस्थान का इतिहास -जैन, एम.एस
2. आधी आबादी का संघर्ष -जैतली ममता, श्री प्रकाश
3. राजस्थान की संस्कृति में नारी -राठोड़, विक्रम सिंह
4. Social life in medieval Rajasthan -Sharma, Gopinath
5. राजस्थान का सामाजिक इतिहास -व्यास, प्रकाशचन्द

ISBN No. 978-81-8496-087-7